काश्मीर शिवाद्वयवाद की मूल अवधारणाएँ

नवजीवन रस्तोगी

काश्मीर शिवाद्वयवाद की मूल अवधारणाएँ

नवजीवन रस्तोगी

Munshiram Manoh
Publishers Pvt. Lt

ISBN 81-215-0818-5

प्रथम संस्करण 2002

मुंशीराम मनोहरलाल पब्लिशर्स प्रा० लि०,
पो० बाक्स 5715, 54 रानी झांसी रोड, नयी दिल्ली 110 055 द्वारा
प्रकाशित तथा मुद्रित।

पुण्यश्लोक

गुरुवर स्व० पं० श्यामलाल मिश्र

जिनसे

विद्या और व्यक्तित्व का संस्कार मिला

और

गुरुवर स्व० पं० जगन्नाथ पांडेय

जिनसे

संस्कृत की गरिमामयी अर्थवत्ता को समझने की दृष्टि मिली

के

श्रीचरणों में

कृतज्ञ शिष्य के नमनपूर्वक

विषयानुक्रमणिका

प्राक्कथन ix
शब्द-संक्षेप xvii

अध्याय एक

आधार-पीठिका 1

अध्याय दो

प्रकाश 34

अध्याय तीन

विमर्श 43

अध्याय चार

स्पन्द 58

अध्याय पाँच

वाक् 66

अध्याय छः

स्वातन्त्र्य 90

अध्याय सात

शक्ति 102

अध्याय आठ

पूर्णता 117

अध्याय नौ

सम्बन्ध 130

अध्याय दस

भेद 142

अध्याय ग्यारह

प्रत्यभिज्ञा 165

अध्याय बारह

भक्ति 182

अध्याय तेरह

योग 199

अध्याय चौदह

उपाय-चतुष्टय 222

सन्दर्भ-ग्रंथ-सूची 251

अनुक्रमणिका 258

प्राक्कथन

काश्मीर शैवदर्शन के विषय में किसी भी ग्रन्थ को लिखने या किसी भी परियोजना पर काम करने के लिये क्षमा मांगने की आवश्यकता नहीं है। भारतीय विद्या (Indology) और भारतीय दर्शन के नवीनतम आयाम के रूप में उभरा हुआ यह दर्शन आज अपनी महत्ता से दक्षिण एशिया के विश्वभर के गंभीर विद्वानों के ध्यान व गवेषणा का केन्द्र बन गया है। बीसवीं सदी के प्रारम्भिक चरण में जे०सी० चटर्जी की *Kashmir Shaivism* नामक कृति के प्रकाशन के साथ ही इस दर्शन से विश्व का पहला परिचय होता है। यह परिचय बहुदेशव्यापी गंभीर जिज्ञासा और आकर्षण में बदलता है जब सदी के चौथे दशक में लखनऊ विश्वविद्यालय के एक युवा शोधकर्ता कान्ति चन्द्र पांडेय की *Abhinavagupta* और उसके दो दशक के अंतराल से *Comparative Aesthetics* का प्रकाशन होता है। ये दोनों प्रकाशन अभिनवगुप्त को मध्यकालीन भारतीय इतिहास के एक ऐसे अलोकसामान्य सांस्कृतिक व्यक्तित्व के रूप में प्रस्तुत करते हैं जिसका भारतीय दर्शन, कला-शास्त्र और सौन्दर्यशास्त्र में अतुलनीय योगदान है। अभिनवगुप्त के चिन्तन का साम्प्रदायिक विरुद है काश्मीर शैवदर्शन।

काश्मीर शैवदर्शन में विद्वानों की रुचि के अनेक कारण हैं। भारतीय संस्कृति की वैदिक धारा की समानान्तर तांत्रिक धारा, साधना की विशिष्ट परम्परा, आनन्दयोग के रूप में योग की नितान्त नयी अवधारणा, जीवनाभ्युपगमपूर्वक अद्वय-दर्शन का एक नया चिन्तन-शास्त्र, भाषा-दर्शन के क्षेत्र में मौलिक प्रस्थापनाएं और फिर इन सबका काव्य, नाट्य और अन्य सर्जनात्मक कलाओं के सैद्धान्तिक पृष्ठाधार के रूप में विनियोग और इनके साथ ही हमारी धर्मनिरपेक्ष राजनीतिक अस्मिता की कसौटी बनी काश्मीर की भूमि में उसका उदय और/या विकास—इतने सारे कारण हैं काश्मीर शैवदर्शन के प्रति विश्वभर के विद्वानों की अनुदिन बढ़ती हुई प्रवृत्ति के।

इस वैशिष्ट्य और रुचि के बावजूद भी काश्मीर शैवदर्शन की दार्शनिक पदात्मक/अवधारणात्मक (terminological/conceptual) और अनुष्ठानात्मक (practical/ritualistic) संरचना पर जो काम हुआ है वह बहुमूल्य होने पर भी अत्यल्प है। इस क्षेत्र में किए गए और किए जा रहे गंभीर अध्ययनों का यदि आकलन किया जाए तो उन्हें चार भागों में बांटा जा सकता है—

1. अप्रकाशित मूल ग्रन्थों का प्रकाशन ।
2. हस्तलिखित ग्रन्थों और प्रकाशित होने पर भी असंपादित ग्रन्थों का पाठालोचनदृष्ट्या संपादन और प्रकाशन ।
3. प्रकाशित ग्रन्थों का अनुवाद ।
4. ग्रन्थ-केन्द्रित या समस्या-केन्द्रित दृष्टि से शोध कार्य ।

इन चारों ही दिशाओं में हम आगे तो बढ़े हैं पर प्रगति की गति काफ़ी धीमी रही है। गति के धीमेपन के अनेक कारणों में एक कारण रहा है गंभीर गवेषणा के लिए अपेक्षित आधार-सामग्री का अभाव। अपेक्षित आधार-सामग्री में गणना होती है, प्रथम तो तंत्र-दर्शन के सामान्य परिप्रेक्ष्य में काश्मीर शैवदर्शन के प्रामाणिक इतिहास की। दूसरी अपेक्षा है प्रकाशित, प्रकाश्यमान और हस्तलेखों के रूप में उपलब्ध संदर्भ-सामग्री के आलोचनात्मक सूची-बन्धन की। तीसरी अपेक्षा है सारे उपलब्ध ग्रन्थों के पाठालोचित पाठ के साथ सम्पादित संस्करणों की। क्रम में चौथे, पर महत्त्व में पहले, स्तर पर ही गणना होती है कि काश्मीर शैवदर्शन के कोश और/या विश्वकोश की। यदि इन अपेक्षाओं को पूरा किया जा सके तो यह मानना निराधार न होगा कि इससे काश्मीर शैवदर्शन के क्षेत्र में हो रहे अनुसंधान-कार्य में बाधाओं का निराकरण होकर एक मूल्यात्मक गुणवत्ता का मार्ग प्रशस्त होगा।

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है कि वर्तमान काल में इस दर्शन के परिचय, विज्ञापन और प्रसार में लखनऊ विश्वविद्यालय और वहाँ पर प्रो० कान्तिचन्द्र पांडेय द्वारा संस्कृत विभाग के अंतर्गत स्थापित अभिनवगुप्त संस्थान का रचनात्मक संबंध रहा है। अत: यह उचित ही लगा कि अपने अन्य कार्यों के अतिरिक्त उपरि-निर्दिष्ट चारों दिशाओं में से चौथी दिशा में एक योजना के अंतर्गत कार्य किया जाए। यद्यपि इस योजना का प्रस्ताव 1984 में ही विश्वविद्यालय अनुदान आयोग को भेजा गया था परन्तु 'श्रेयांसि बहुविघ्नानि' की उक्ति को चरितार्थ करते हुए अत्यन्त परिमितीकृत, संकुलित और अवचितसाधन रूप में अवधि-संकोच के साथ 1987 के उत्तरार्ध में यह कार्य प्रारम्भ हो सका।

काश्मीर शिवाद्वयवादी एवं तांत्रिक विचारधारा का आलोचनात्मक अध्ययन इस शीर्षक के अन्तर्गत इस परियोजना का श्रीगणेश हुआ। यह उचित समझा गया कि प्रारम्भिक चरण में इस अध्ययन को काश्मीर शिवाद्वयवादी तंत्रों एवं ग्रन्थों में विकसित आधारभूत विशिष्ट प्रत्ययों के आलोचनात्मक अध्ययन पर केन्द्रित किया जाए। चूँकि ये प्रत्यय काश्मीर शिवाद्वयवाद के मौलिक चिन्तन-क्रम और ढाँचे में अन्तरनुस्यूत हैं, अत: उनके उन्मीलन से उसकी तंत्र-दार्शनिक संरचना को समझने में आवश्यक अंतर्दृष्टि का विकास हो सकेगा, इसी समझ के साथ इस अध्ययन-क्रम में प्रवृत्त हुआ गया।

दार्शनिक/शास्त्रीय संदर्भ में प्रयुक्त शब्द देखने में भले ही कोशगत अर्थ का अपलाप न करते हों परन्तु उनकी वास्तविक अर्थवत्ता पारिभाषिक होती है। अत: सबसे पहले संदृब्ध विषय क्षेत्र को काश्मीर शिवाद्वयवाद के विशिष्ट अर्थ में ग्रहण किया गया है। प्रस्तुत ग्रन्थ के सामान्य आलेख में इसे कहीं-कहीं काश्मीर शैवमत या प्रत्यभिज्ञा या तांत्रिक दर्शन के नाम से भी संबोधित किया गया है। जैसा कि 'आधार-पीठिका' से स्पष्ट होगा कि काश्मीर शैवदर्शन को प्रत्यभिज्ञा या त्रिक कहना ऐकान्तिक होगा, क्योंकि इन शब्दों के अपने वैचारिक और साम्प्रदायिक अभिप्राय हैं परन्तु सामान्येन ये काश्मीर शिवाद्वयवाद का मूल उत्स प्रतिबिम्बित करते हैं। केन्द्रीय प्रत्ययों के चुनाव में इसी व्यापक और सामान्य पृष्ठभूमि को ही सामने रखा गया है। अत: महत्त्वपूर्ण होते हुए भी सहवर्ती (concurrent) धाराएं—जैसे 'सिद्धान्त शैव मत', 'पाशुपत'; सजातीय (cognate) धाराएं—जैसे 'क्रम', 'कुल', 'स्पन्द', 'मत' और

'कुब्जिकामत'; पर्याय (alternate) धाराएं—जैसे 'स्वच्छन्द-भैरव', आदि को छोड़ दिया गया है। केवल सजातीय और पर्याय धाराओं में जो अद्वैतमूला दृष्टि और उसकी दार्शनिक संरचना उभरती है, वही इस अध्ययन का प्रतिपाद्य है।

काश्मीर शैवदर्शन के विद्यार्थी इस तथ्य से भली-भाँति परिचित हैं कि यहाँ पर प्रत्येक पारिभाषिक शब्द के प्रयोग की अनेक भूमियां हैं। इस भूमिका-भेद से जहाँ वैचारिक प्रौढ़ता प्रकट होती है वहीं भूमिका-सांकर्य से अर्थों की चढ़ा ऊपरी के कारण अभीप्सित अर्थ-बोध में भ्रम की परिस्थिति अक्सर उत्पन्न होती रहती है। अत: 'कुंजिका-प्रत्ययों' (key concepts) का निर्धारण एक कठिन काम रहा है। यह बात इस तथ्य से और साफ हो जाएगी जब पाठक यह देखेगा कि तमाम महत्त्वपूर्ण प्रत्ययों पर यहाँ चर्चा नहीं की गयी है। इसका कारण यह नहीं है कि वे महत्त्वपूर्ण नहीं हैं बल्कि यह है कि वे अत्यन्त महत्त्वपूर्ण होते हुए भी केन्द्रीय नहीं हैं या अन्य उच्चतर केन्द्रीय प्रत्यय के अंग हैं। उदाहरणार्थ 'मोक्ष', 'अज्ञान', 'आभास', 'छत्तीस तत्त्व' आदि प्रत्ययों पर यहाँ साक्षात् विचार नहीं किया गया है या ऐसे अनेक प्रत्ययों को छोड़ दिया गया है क्योंकि ये मौलिक प्रत्यय न होकर या तो बीज अवधारणा के अंकुर हैं और या अपेक्षाकृत आधारभूत प्रत्ययों में परिघटित अथवा पर्यवसित होते हैं। इस दृष्टि से 'पूर्णता' का प्रत्यय सबसे केन्द्रीय और बीज प्रत्यय के रूप में उभरता है क्योंकि इस सम्प्रदाय में अभिमत 'अद्वय' की यह यथातथ्य परिभाष्य अवधारणा है। इस पूर्णता के घटक/नियामक प्रत्यय हैं 'प्रकाश', 'विमर्श', 'स्पन्द', 'वाक्', 'स्वातन्त्र्य', 'शक्ति', 'संबंध' और 'भेद'। काश्मीर शिवाद्वयवाद में एक मात्र अद्वयतत्त्व की स्थापना द्वारा सारी मीमांसाओं को विकसित किया गया है और उपर्युक्त सारी अवधारणाएं उस अद्वय/पूर्ण तत्त्व के ही विभिन्न आयाम हैं। 'प्रत्यभिज्ञा', 'भक्ति', 'योग' और 'उपाय' की अवधारणाएं उस अद्वैत की उपलब्धि के मार्ग-वैविध्य की व्याख्याएं हैं जो उस मौलिक प्रत्यय से उद्गत होकर उसी में विश्रान्त होती हैं। प्राय: प्रत्येक भारतीय दार्शनिक दृष्टि एक ओर तो इस जगत् व इसके कारण की ऐसी तर्कसंगत व्याख्या देने का प्रयास करती है जो व्यवहार व सिद्धान्त दोनों से प्रमाणित हो, साथ ही दूसरी ओर एक ऐसा मार्ग भी प्रस्तुत करने की चेष्टा करती है जिससे परम पुरुषार्थ को प्राप्त कर व्यक्ति सारे दु:खों से मुक्त हो सके। काश्मीर शिवाद्वयवाद में भी सारी व्याख्याएं इन्हीं दो दृष्टियों को ध्यान में रख कर की गयी हैं। एक ओर तो अद्वय तत्त्व की स्थापना व सुदृढ तर्कों से परिपोषण उसका एक लक्ष्य है, दूसरी ओर व्यक्ति को उस अद्वयात्मता का अनुभव किस प्रकार हो सके इसके लिये एक व्यवस्थित साधनापद्धति या चिन्तनविधा का विकास दूसरा लक्ष्य है। अत: प्रस्तुत ग्रन्थ में इस सम्प्रदाय की इसी दृष्टि को ध्यान में रखकर जिन मूलभूत प्रत्ययों को अध्ययन का विषय बनाया गया है उनमें से कुछ साध्य रूप परम सत् 'अद्वय' तत्त्व के स्वरूप के ख्यापक हैं, कुछ उस 'अद्वय' की पूर्णता के ख्यापक होकर इस जागतिक वैचित्र्य की स्थिति की भी व्याख्या करते हैं, कुछ उस 'अद्वय' की अनुभूति के प्रतिपादक हैं तथा कुछ साधन रूप होकर उस साध्य तक ले जाने वाले मार्ग के निदर्शक हैं।

एतदर्थ प्रस्तुत ग्रन्थ में मूल प्रत्ययों को दो वर्गों में रखा गया है—साध्य प्रत्यय और साधन प्रत्यय। साध्य प्रत्ययों के भी दो वर्ग हैं—बीज और घटक। प्रकाश, विमर्श आदि घटक प्रत्यय हैं

और बीज प्रत्यय है पूर्णता। पहले घटक प्रत्ययों पर विचार किया गया है तब बीज प्रत्यय पर। बीज और घटक के बीच भी उपचारत: एक प्रकार का साध्य-साधनभाव है। बीज प्रत्यय 'पूर्णता' के अनन्तर साधनात्मक अवधारणाएं आती हैं। यहाँ पर भी साधन-साध्य भाव का प्रयोग व्यावहारिक भाषा की आंतरिक विवशता के कारण उपचारात्मक ही है। प्रथम वर्ग का साध्यसाधन-भाव स्वरूपपरिघटन की दृष्टि से है और द्वितीय वर्ग की साधनात्मकता और बीज प्रत्यय की (और इस कारण उसके घटकों की भी) साध्यता स्वरूप-उपलाभ की दृष्टि से है। उपचारात्मक कहे जाने का अर्थ है कि सारी मीमांसाओं के अद्वैतोपजीवी होने के कारण सारे 'घटक' और 'साधन' प्रत्यय मूल प्रत्यय के साथ समरस होकर ही अर्थवान् हो पाते हैं। इन प्रत्ययों पर प्रतिज्ञात विचार को उपयुक्त संदर्भ मिल सके, इसलिए भूमिका के रूप में सबसे पहले 'आधार-पीठिका' रखी गयी है। 'आधार-पीठिका' का विशेष महत्त्व इस कारण है कि वह केवल ऐतिहासिक और उद्विकासात्मक विवरणिका ही नहीं देती, बल्कि उस दृष्टि का भी अंतरंग परिचय देती है जिसके आलोक में यह संप्रदाय स्वयं अपने को देखता है और देखे जाने का इच्छुक है। भूमिका-लेखन में एक विशिष्ट पद्धति का आश्रय लिया गया है। वह दृष्टि है, सम्प्रदाय के आत्मीय स्वरूपपरक मन्तव्यों का विश्लेषण और इसके आधार पर उभरते सैद्धान्तिक बिम्ब का आकलन। दूसरे शब्दों में, सम्प्रदाय के तमाम ग्रन्थों में स्वाभ्युपगमपूर्वक फैले हुए विचारों के आधार पर उनमें अन्विति, क्रम और व्याप्ति को ढूँढते हुए एक सैद्धान्तिक ढाँचे की खोज करना और फिर अब तक के ज्ञान के आधार पर बुद्धि में स्थापित ढाँचे से उसका मिलान करना।

यहाँ परमसत् की संरचना के प्रमुख घटक पक्ष हैं—'प्रकाश' और 'विमर्श'। अद्वयतत्त्व को प्रकाश रूप कहना उसकी प्रतिबिम्बनसामर्थ्य को द्योतित करता है। नैर्मल्य प्रकाश का अनिवार्य स्वभाव है। ऐसा स्वच्छ तत्त्व ही दर्पणनगरन्याय से सारे वैचित्र्य को अपने में अवभासित कर सकता है। यह प्रकाशमयता उस अद्वय तत्त्व की अखण्डता को भी स्थापित करती है क्योंकि किसी भी तरह का खण्डन या भेदन उस प्रकाश तत्त्व के स्वरूप का ही ह्रास कर देगा। अत: यह सत् का पर्याय है। जो सत् है वही ज्ञेय है और जो ज्ञेय है वही सत्। तब यह प्रकाश सत् का भी पर्याय है और ज्ञान का भी, यही प्रमाता है और यही प्रमेय है। अत: एक ही अखण्ड तत्त्व जो सत्-मीमांसा की दृष्टि से सत् है और ज्ञान-मीमांसा की दृष्टि से ज्ञान है इसी 'प्रकाश' संज्ञा के द्वारा सर्वाधिक उपयुक्त रूप से प्रस्तुत किया जा सकता है। उसकी प्रकाशता अस्तित्ववाची भी है व ज्ञानवाची भी। इसका दूसरा घटक 'विमर्श' सारे व्यापारों के समग्र का वाची पक्ष है। प्रकाश के सत् अर्थ को यही सत्ता देता है और ज्ञान अर्थ को ज्ञानसामर्थ्य, अर्थात् सारे ज्ञानात्मक व क्रियात्मक व्यापारों की सामर्थ्य का वाची है विमर्श। उस अद्वयतत्त्व में प्रकाशांश की चेतना इसी विमर्शांश का काम है जिसे इस सम्प्रदाय की शब्दावली में स्वप्रकाशात्मक कहा गया है। अत: परमसत् इन दोनों के समग्र रूप में ही 'अद्वय' रह कर भी सारे वैचित्र्य का निमित्त बनता है। उस अद्वयतत्त्व की विशिष्ट गत्यात्मकता को और स्फुट करने के लिये इस सम्प्रदाय में एक अन्य संज्ञा मिलती है 'स्पन्द' । स्पन्द है किञ्चित् चलन या कहें कि अचल रहते हुए भी चलवत् भासित होना। इस प्रत्यय के माध्यम से यहाँ अद्वैत की रक्षा करते हुए उस वैचित्र्य की व्याख्या करने का

प्रयास किया गया है। इस धारणा का यहाँ इतना व्यापक प्रभाव है कि यहाँ एक सम्प्रदाय ही स्पन्द नाम से विकसित होता है। इस सम्प्रदाय का अपना विशिष्ट साहित्य है जिसमें इस स्पन्द तत्त्व को मुख्यत: दृष्टि में रख कर सारे विवेचन करने का प्रयास किया गया है। यहाँ प्रथम तीन अध्यायों में प्रकाश, विमर्श व स्पन्द की अवधारणाओं के विश्लेषण के बाद अगले अध्याय में 'वाक्' की अवधारणा को अध्ययन का विषय बनाया गया है। वाक् की धारणा तांत्रिक चिन्तन में विशिष्ट स्थान रखती है क्योंकि यहाँ वाक् जगत् की व्याख्या का भी आधार है व साधना पद्धति का भी अंतरंग माध्यम है। इस शिवाद्वयवादी मीमांसा में वाक् को परमसत् के स्वरूप का अविभाज्य अंग बनाया गया है क्योंकि यहाँ अद्वैततत्त्व का नानात्व के रूप में जो भी विस्तार होता है वह विमर्शन-वृत्त्या ही घटित होता है और पुन: उस अद्वैत की ओर प्रत्यावर्तन का माध्यम भी यही विमर्श बनता है। वाक् इसी विमर्श का नामान्तर है, भेद मात्र इतना है कि जहाँ विमर्श मात्र विचार या चेतना रूप है वहीं वाक् में मुखरता भी रहती है। अत: वाक् विमर्श का ही स्फुटीभाव है जिसे स्थूल रूप प्रदान करने का निमित्त है प्राण वायु। विमर्श रूप में, जिसे कि परावाक् रूप से ही यह सम्प्रदाय सम्बोधित करता है, यह वाक् सारी अनेकता का स्रोत है और एक ही तत्त्व को बिना एकत्व से च्युत हुए नानात्व के आभासन में समर्थ बनाती है। अगले अध्याय में 'स्वातन्त्र्य' की अवधारणा का विश्लेषण किया गया है। स्वातन्त्र्य परम सत् या उस अद्वयतत्त्व की समस्त व्यापारों में किसी बाह्य निमित्त की अपेक्षा-शून्यता को सिद्ध करने के लिये मुख्यत: प्रतिपादित सिद्धान्त है जो एक ही तत्त्व को समस्त वैचित्र्य का प्रणेता सिद्ध कर भी अद्वैत से कहीं च्युत नहीं होने देता साथ ही उसे पूर्ण बनाने का प्रमुख निमित्त है। अब आती है 'शक्ति' की धारणा। इस सम्प्रदाय में उस अद्वैत की सिद्धि की यह प्रमुख पोषक युक्ति है। सारा द्वैत (वैचित्र्य) उस परमेश्वर (शक्तिमान्) की शक्ति रूप है और शक्ति शक्तिमान् का स्वभाव है फलत: भेद अपने स्वतंत्र रूप में कही नहीं घटता वरन् उस एक अद्वयतत्त्व में सामर्थ्य रूप से अन्तर्निहित रह कर उसे पूर्ण बनाता है। अगला अध्याय 'पूर्णता' की धारणा के विश्लेषण का प्रयास है। काश्मीरी शिवाद्वयवाद में प्रतिपादित अद्वैत निषेधात्मक दृष्टि से अद्वैत की व्याख्या नहीं है। यहाँ द्वैत का तिरस्कार नहीं किया गया है वरन् एक पूर्ण तत्त्व के अंश रूप में ही सारे वैचित्र्य की कल्पना है, साथ ही यह पूर्णता उसे सदैव अपने सभी व्यापारों में निरपेक्ष रखती है। अत: अब तक चर्चित सभी अवधारणाओं से जो तथ्य लगातार पोषित होता है वह यही पूर्णता की धारणा है। यही धारणा इसे अन्य अद्वैतवादी दृष्टियों से विशिष्ट स्वरूप प्रदान करती है। इस अद्वैत से द्वैत की व्याख्या करने के सन्दर्भ में सर्वप्रथम जिस धारणा का अध्ययन आवश्यक है वह है 'सम्बन्ध'। अत: अगले अध्याय में सम्बन्ध की धारणा के विश्लेषण का प्रयास है। इस सम्प्रदाय की विशिष्ट दृष्टि सम्बन्ध को भी उस अद्वैत का ही अंग बनाकर प्रस्तुत करती है जो यहाँ उस अद्वयतत्त्व के सन्दर्भ में तो प्रत्यभिज्ञा रूप है तथा जागतिक वैचित्र्य के सन्दर्भ में भेदाभेद रूप। वस्तुत: यहाँ प्रत्यभिज्ञा ही वह मूलभूत सम्बन्ध है जिसके द्वारा परमेश्वर अपने ऐश्वर्य का आस्वादन करता हुआ चमत्कृत होता रहता है। प्रकाश व विमर्श के मध्य का सम्बन्ध है प्रत्यभिज्ञा। जागतिक सन्दर्भ में यह भेदाभेद सम्बन्ध कर्तृ-कर्मभाव और ज्ञातृ-ज्ञेयभाव रूप से विकसित किया गया है। इसके बाद अगले अध्याय में 'भेद' की धारणा की चर्चा है। यहाँ भेद को विविध

सन्दर्भों में विविध संज्ञाओं से प्रस्तुत किया गया है। अज्ञान, माया, अविद्या, निषेध, अपूर्णख्याति, अपोहन, द्वैतप्रथा, विकल्प, तिरोधान आदि संज्ञाएं इस सम्प्रदाय की विशिष्ट भेद-मीमांसा को प्रस्तुत करती हैं। इस विशिष्ट दृष्टि का कारण है अद्वैत की रक्षा करते हुए भी भेद को मिथ्या या संवृतिसत् न मानना, अत: भेद यहाँ उतना ही सत् है जितना अद्वैत। फलत: भेद व अभेद की विरोधी धारणाओं को जोड़ने के लिये अद्वैत के एक ऐसे समग्र रूप की कल्पना की गयी है जिसमें संसार का क्षुद्र से क्षुद्र कण समाहित है अत: सब कुछ उसी का अंश है। यही महाद्वैत है। अत: यहाँ भेद स्वभावगत कहीं नहीं है, मात्र परिमाणात्मक है। इस परिमाणात्मक भेद का कारण है उस पूर्ण स्वभाव का विविध मात्रा में आवरण और यह आवरण भी स्वेच्छागृहीत है, किसी बाह्य निमित्त से आरोपित नहीं। अत: वह पूर्ण तत्त्व स्वत: ही आणव, कार्म व मायीय मलों की कल्पनाकर आत्मगोपनपूर्वक प्रकाशात्मना प्रकाशित होता है, अप्रकाशात्मना प्रकाशित होता है, सबके व्यतिरेक से प्रकाशित होता है, सबके अव्यतिरेक से प्रकाशित होता है, कतिपय के व्यतिरेक से प्रकाशित होता है और कतिपय के अव्यतिरेक से प्रकाशित होता है। इस प्रकार वह विविध प्रकारों से स्वात्मभेदनपूर्वक वस्तुभेदन को दर्शाता रहता है। उस अद्वयतत्त्व के अतिरिक्त अन्य सब इसी भेद का प्रारूप हैं। अत: इस अध्याय में भेद के स्वरूप, उदय व प्रकार की चर्चा का प्रयास है। अब आगे के चार अध्याय इस सम्प्रदाय में प्रतिपादित साधन सम्बन्धी दृष्टि को प्रस्तुत करते हैं। इन में उस अद्वयतत्त्व को पहचानने में उपयोगी दृष्टियों के विश्लेषण का प्रयास है। इनमें से पहले में 'प्रत्यभिज्ञा' के प्रत्यय का विश्लेषण है। प्रत्यभिज्ञा इस सम्प्रदाय का सबसे ज़्यादा तार्किक प्रत्यय है और उस अद्वयतत्त्व के अनुसंधान हेतु ऐसा सर्वजनसुकर साधन है जिसके द्वारा जागतिक प्रमाता अपने वास्तविक स्वरूप को पहचान लेता है। यह सारा जागतिक कर्तृत्व उसी पूर्ण तत्त्व के प्रत्यभिज्ञान की एक प्रक्रिया है। प्रक्रिया रूप में प्रत्यभिज्ञा साधन है और उपलब्धि या अनुभूति के रूप में साध्य भी है। इसके बाद अगले दो अध्यायों में शिवाद्वयवादी दृष्टि में 'भक्ति' और 'योग' की धारणाएं किस तरह विकसित हुई हैं और इनका क्या वैशिष्ट्य है इसके प्रतिपादन का प्रयास है। वैसे तो काश्मीर शिवाद्वयवाद में ज्ञान, योग व भक्ति की धारणाएं नितान्त ऐकान्तिक रूप से विकसित नहीं हुई हैं और यह तथ्य यहाँ की पूर्णतावादी-दृष्टि के अनुकूल ही है। ज्ञानपक्ष की प्रधानता होने पर साधक ज्ञान मार्ग की ओर प्रवृत्त होता है, क्रियापक्ष की प्रधानता होने पर योगमार्ग की ओर अग्रसर होता है तथा भावनापक्ष की प्रधानता होने पर भक्तिमार्ग की ओर उसकी प्रवृत्ति होती है, पर इन तीनों मार्गों का साध्य एक ही रहता है जो कि काश्मीर शिवाद्वयवाद में समावेशरूप ही है। उस अद्वय रूप चिदात्मता का बोध इन तीनों मार्गों का ही पार्यन्तिक प्राप्तव्य है पर भक्ति या भावना का स्थान इन सबमें श्रेष्ठ है। वस्तुत:, गुरुत: शास्त्रत: स्वत: किसी भी प्रकार से माहेश्वर्य का साक्षात्कार कर उसको सतत भावना से दृढीकृत करना ही सम्यग् आवेश का मूल है और यह दृढीकृत भावना ही, जो काय, वाक् और मन से इष्ट के साथ पूर्णत: एक रूप हो जाती है, भक्ति है। काश्मीर शिवाद्वयवाद में भक्ति है अभेद में भेद। यह भेद आरोपित है और अभेद यथार्थ। द्वैत भक्ति या भेदबुद्धि प्रधान भक्ति को तो यहाँ अपर या कृत्रिम भक्ति की कोटि में रखा गया है। इस भक्ति की धारणा को और स्फुट करने के लिये इस सम्प्रदाय के ग्रन्थों में दास्य, वाल्लभ्य व समर्पण की धारणाएं मिलती हैं पर

यहाँ भी अद्वैत के परिपोषण की दृष्टि ही प्रधान है। दास्य भाव माहेश्वर्य का पर्याय है, वाल्लभ्य अनुग्रहपात्रता को लक्षित करता है तथा समर्पण भेद-बुद्धि का अर्पण है। इस भक्ति में अहंकार का विलय न होकर उसका रूपान्तरण या उदात्तीकरण होता है जिससे पूर्णता के आस्वादन का ऐसा स्वात्मचमत्कारात्मक बोध उदित होता है कि भक्ति यहाँ एक अलग रस बन जाती है। अब भक्त को जीवन की प्रत्येक क्रिया में इस परमानन्द के अंश का ही आस्वादन होने लगता है।

यहाँ *योग* का अर्थ है प्राप्ति अर्थात् योग उन 'पद्धतियों' या 'पद्धति' की संज्ञा है जिनके द्वारा व्यक्ति परमात्मा के साथ एकत्व प्राप्ति में अग्रसर हो सके या हम यह कह सकते हैं कि योग का अर्थ है ऐसी समाधि जिसमें सारी वृत्तियों का क्षय हो जाने के कारण परमप्रमातृता या चित्प्रमातृता की अद्वयानुभूति कभी लुप्त नहीं होती। योग के सभी प्रचलित प्ररूपों को यहाँ की योग पद्धति में आत्मसात् करने का प्रयास किया गया है जिसे *मालिनीविजयतंत्र* आणव, शाक्त व शांभव के नाम से प्रस्तुत करता है। परवर्ती आचार्य इसके साथ एक अनुपाय रूप चतुर्थ कोटि और जोड़ते हैं। जयरथ व क्षेमराज इस सम्प्रदाय की योग-विधि को षडंग रूप से प्रतिपादित करते हैं जो कि पातञ्जल योग की अष्टांग योगविधि से विशिष्ट है। यहाँ सभी योगांगों का अन्तिम साध्य सत्तर्क है जबकि पातञ्जलयोग में यह समाधि है। *नेत्र-तंत्र* पर, सूक्ष्म व स्थूल रूप से योग के तीन भेद करता है। अन्तिम अध्याय अभिनवगुप्त द्वारा प्रतिपादित व उत्तरवर्ती टीकाकारों द्वारा विकसित की गयी 'उपाय-चतुष्टय' की धारणा का प्रतिपादन करता है। यह उपाय-चतुष्टय की धारणा आचार्य अभिनवगुप्त की मौलिक देन है। *मालिनीविजयतंत्र* में उपलब्ध त्रिविध समावेशों की चर्चा के आधार पर वह इन उपायों की धारणा को विकसित करते हैं तथा एक सर्वोत्तीर्ण चतुर्थ 'अनुपाय' की कल्पना कर इस उपाय-चतुष्टय की धारणा का प्रतिपादन करते हैं। उनकी दृष्टि में यहाँ सत् ज्ञान स्वरूप है और ये चार उस 'ज्ञान' तक पहुँचने के चार मार्ग हैं। इस तथ्य को वह सम्प्रदाय के स्तर पर, साधना प्रक्रिया के स्तर पर, अधिकारी के स्तर पर व शक्तिप्रसार के स्तर पर तंत्रों में बिखरी दृष्टियों में से एक व्यापकतर समन्वित दृष्टि के विकास का निमित्त बना कर प्रस्तुत करते हैं।

इन प्रत्ययों के अनुशीलन में जिस प्रविधि का आश्रय लिया गया है वह ऐतिहासिक (historical) या उद्विकासात्मक (evolutional) न होकर अवधारणात्मक (conceptual) है। इसका अर्थ यह नहीं लिया जाना चाहिए कि यहाँ उद्विकासात्मक दृष्टि का नितान्त अभाव है। क्योंकि यह विचार तो किया ही गया है कि प्रत्यय-विशेष तंत्रों या पूर्व स्रोतों से कैसे निकलता है, तदनु कैसे पल्लवित होता है और फिर कितनी दिशाओं में फैलता है। ऐतिहासिक प्रविधि का आश्रय न लिया जाने का अर्थ है इस पर ऐकान्तिक आग्रह न होना। बल्कि इस अवधारणात्मक प्रविधि में आग्रह है दर्शन-संरचनात्मक और तत्त्वमीमांसात्मक दृष्टि पर। इसी प्रकार यद्यपि भारतीय दर्शन के विभिन्न सम्प्रदायों (inter-school) के बीच तुलना से परहेज नहीं किया गया है फिर भी वह हमारी प्रविधि का अंग नहीं है। हाँ, प्रत्यय की अवधारणात्मक गवेषणा में शिवाद्वयधारा की तमाम शाखाओं (intra-school) के मध्य तुलनात्मक सम्बन्ध पर अवश्य ध्यान दिया गया है ताकि यथासंभव वह प्रत्यय अपनी समग्र सम्भावनाओं में उभर सके। इस प्रविधि की सैद्धान्तिक अन्विति इन प्रत्ययों के माध्यम से काश्मीर शैवदर्शन की मौलिक दार्शनिक संरचना के प्रति एक अंतर्दृष्टि विकसित करने में है।

प्रमुख गवेषक होने के नाते मैं उन सबका हार्दिक उपकार मानता हूँ जिनसे प्रत्यक्ष या परोक्ष किसी भी रूप में इस ग्रन्थ को पूरा करने में सहायता मिली है। सर्वप्रथम तो मैं विश्वविद्यालय अनुदान आयोग का आभारी हूँ जिसके अनुदान ने इस परियोजना को संभव बनाया। लखनऊ विश्वविद्यालय के विश्वविद्यालय अनुदान आयोग प्रकोष्ठ तथा कला संकाय के तत्कालीन अध्यक्ष प्रो० गोपाल शरण और अपने वरिष्ठ सहयोगी सेवानिवृत डॉ० मोतीलाल रस्तोगी, जिन्होंने विपरीत परिस्थितियों में भी इस योजना को जीवित रखने में योगदान दिया, का मैं ऋणी हूँ।

इस परियोजना को साकार करने में मेरी जिस टीम ने सार्थक भागीदारी निभाई है वह शुभाशंसा और धन्यवाद की अधिकारी है। श्रीमती बेला और डॉ० माधवराम यादव, जो इस परियोजना से आधिकारिक रूप में संबद्ध जूनियर रिसर्च फ़ेलो थे, ने आर्थिक बाधाओं के होने पर भी अपना उत्साह भंग नहीं होने दिया। परन्तु वास्तविक धन्यवाद की भाजन तो मेरी वे छात्राएं हैं जिन्होंने इसमें नि:स्वार्थ योगदान दिया है। इस प्रसंग में सुश्री शालिनी माथुर, सुश्री पल्लवी रस्तोगी और डॉ० (श्रीमती) मीरा रस्तोगी का नामोल्लेख किए बिना यह ज्ञापन अधूरा रह जाएगा। सुश्री शालिनी माथुर ने तो विशुद्ध विद्याव्यसन से प्रथम अध्याय के उत्तर भाग और सुश्री पल्लवी ने, जिनका अभिनवगुप्त की *ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी* पर दार्शनिक अध्ययनपरक शोध-प्रबन्ध अंतिम चरण में है, दसवें और ग्यारहवें अध्याय की पूर्ति में सार्थक सहयोग दिया है। डॉ० मीरा रस्तोगी, जो अभिनवगुप्त के वाग्दर्शन पर उच्चतर (post-doctoral) अनुसंधान में निरत हैं तथा *Encyclopaedia of Indian Philosophies* के 'काश्मीर शैवदर्शन' परक खण्ड की सह-सम्पादिका हैं, के गंभीर निर्हेतुक श्रम की छाप पद-पद पर पूरे आलेख में देखी जा सकती है। काश्मीर शैवदर्शन के प्रति डॉ० मीरा रस्तोगी का मनोऽभिनिवेश अतिरिक्त रूप से प्रूफ़ रीडिङ् तथा शब्द-सूची आदि के प्रणयन में भी सम्यक् मुखरित हुआ है। मैं इन सभी का हार्दिक शुभाशंसन करता हूँ। सर्वश्री देवेन्द्र जैन और अशोक जैन, जो देश की प्राच्य-भारतीय विद्या की अनन्य प्रकाशन संस्था मुंशीराम मनोहरलाल पब्लिशर्स प्रा० लि० के यशस्वी निदेशक हैं, का मैं आभार मानता हूँ जिन्होंने बड़े उत्साह से इस कृति का प्रकाशन इतने सुरुचिपूर्ण ढंग से संपादित किया है। तन्त्र विद्या के अधीतियों को भविष्य में भी उनसे बड़ी अपेक्षाएँ हैं। अंत में श्री कृष्ण मुरारी विश्नोई ने जिस मनोयोग से टंकण कार्य संपादित किया है उसके लिए वह धन्यवाद के पात्र हैं।

विषय प्रतिपादन में अनेक कमियां अभी भी शेष रह गयी हैं। गीताकार के प्रेरणा-वचन 'सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृता:' (*गी०*, 18.48) से सम्बल लेते हुए काश्मीर शैवदर्शन के जिज्ञासु छात्रों और मनीषी विद्वानों को कई वर्षों का यह श्रम श्रद्धापूर्वक समर्पित है। अपनी तमाम कमियों के बावजूद उनकी दृष्टि में यदि यह कृति अपने संकल्पित लक्ष्य की ओर एक पग भी बढ़ सकी तो इसे उनका औदार्य और अपने सौभाग्य का उदय मानूँगा।

इति शिवम्।

लखनऊ
वसंत पंचमी, संवत् 2057

नवजीवन रस्तोगी

शब्द-संक्षेप

अज०प्र०सि०	अजडप्रमातृसिद्धि
अ०प्र०सि०वृ०	अजडप्रमातृसिद्धिवृत्ति
अभि०शा०	अभिज्ञानशाकुन्तलम्
अभिनवगुप्त	*Abhinavagupta: An Historical and Philosophical Study*
ई०प्र०का०	ईश्वरप्रत्यभिज्ञाकारिका
ई०प्र०का०वृत्ति	ईश्वरप्रत्यभिज्ञाकारिकावृत्ति
ई०प्र०वि०	ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी
ई०प्र०वि० (भा०)	ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी (भास्करी के साथ प्रकाशित)
ई०प्र०वि०वि०	ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविवृतिविमर्शिनी
कठो०	कठोपनिषद्
का०शै०द०	काश्मीर शैवदर्शन
क्र०तां०	*Krama Tantricism of Kashmir*
चि०शा०	चित्तानुबोधशास्त्र
चि०ग०चं०	चिद्गगनचन्द्रिका
तं०/तं०आ०	तंत्रालोक
तं०वि०/तं०आ०वि०	तंत्रालोकविवेक
तं०सा०	तंत्रसार
त्रि०रा०/त्रि०र० (ज्ञान खंड)	त्रिपुरा-रहस्य (ज्ञान खण्ड)
ध्वन्या०लो०	ध्वन्यालोक-लोचन
ना०सू०	नारदीय सूत्र/नारद भक्तिसूत्र
ने०तं०	नेत्र-तंत्र
ने०तं०टी०/ने०तं०उ०	नेत्र-तंत्र-टीका/नेत्र-तंत्र-उद्योत
प०सा०का०	परमार्थसारकारिका
परमार्थसार वि०/प०सा०वि	परमार्थसारविवरण
परा०प्रा०	परा प्रावेशिका
परा०त्रि०वि०/प०त्रि०वि०	परात्रिंशिका-विवरण
पा०यो०द०	पातञ्जलयोग दर्शन

पा०/पा०अ०	पाणिनि कृत अष्टाध्यायी
पा०टि०	पाद टिप्पणी
प्र०हृ०	प्रत्यभिज्ञाहृदय
भा०	भास्करी
भा०	भाग (यथावसर)
महा०प्र०	महानयप्रकाश
मनु०स्मृ०	मनुस्मृति
मृ०आ०	मृगेन्द्र आगम
म०मं०	महार्थमंजरी
म०मं०प०	महार्थमंजरी-परिमल
म०शि०पु०	महाशिवपुराण
मा०वि०तं०	मालिनीविजयोत्तर तंत्र
मा०वि०वा०	मालिनीविजयवार्तिक
यो०सू०	योगसूत्र
यो०वा०	योग-वार्तिक
यो०वा०	योग-वाशिष्ठ
योग वा० (निर्वा०)	योग-वाशिष्ठ (निर्वाण प्रकरण)
यो०सू०	योगसूत्र
वा०प०/वाक्०	वाक्यपदीय
वि०भै०	विज्ञान-भैरव
वि०भै०उ०	विज्ञान-भैरव उद्योत
वि०भै०टी०	विज्ञान-भैरव टीका/विज्ञान-भैरवविवृति
वे०सू०	वेदान्तसूत्र
श०क०द्रु०	शब्दकल्पद्रुम
शब्दार्थ चि०	शब्दार्थ-चिन्तामणि
शि०दृ०	शिवदृष्टि
शि०दृ०वृ०	शिवदृष्टि-वृत्ति
शि०पु०/म०शि०पु०	महाशिवपुराण (शिवपुराण)
शि०पु० (वायु० सं०)	शिवपुराण वायु संहिता
शि०सू०	शिवसूत्र
शि०सू०वा०	शिवसूत्र-वार्तिक
शि०सू०वि०	शिवसूत्रविमर्शिनी
शि०स्तो०वि०	शिवस्तोत्रावली-विवृति
श्वे०उप०	श्वेताश्वतर उपनिषद्
सर्वतोभद्र	भगवद्गीता पर रामकण्ठ कृत सर्वतोभद्र नामक वृत्ति

स०द०सं०	सर्वदर्शनसंग्रह
सं०प०	सम्बन्ध-परीक्षा
सं०प०व्या०	सम्बन्ध-परीक्षा-व्याख्या
सं०सि०	सम्बन्धसिद्धि
सं०सि०वृ०	सम्बन्ध-सिद्धि-वृत्ति
स्प०का०	स्पन्दकारिका
स्प०का०वृ०	स्पन्दकारिकावृत्ति
स्प०का०वि० (रामकण्ठ)/ स्प०का०वि०	स्पन्दकारिकाविवृति
स्प०सं०/स्प०सन्दो०	स्पन्दसन्दोह
स्प०प्र०	स्पन्द-प्रदीपिका
स्प०नि०	स्पन्द-निर्णय
स्व०तं०	स्वच्छन्द तंत्र
हरि०आर०	योग-भाष्य पर हरिहरानंद आरण्यककृत *भाष्य*

अध्याय एक

आधार-पीठिका

इस ग्रन्थ का प्रतिपाद्य विषय है—काश्मीर शिवाद्वयवादी तंत्रों व दार्शनिक ग्रंथों में विकसित विशिष्ट प्रत्ययों का आलोचनात्मक अध्ययन। प्रस्तुत संदर्भ में 'काश्मीर शिवाद्वयवाद' का क्या अभिप्राय है और इसका क्या स्वरूप है, यह स्पष्ट करना अत्यन्त आवश्यक है। काश्मीर शिवाद्वयवाद का शाब्दिक अभिधेय मात्र इतना है कि इसका वाच्य वे अद्वयवादी शैव दार्शनिक दृष्टियाँ हैं जो काश्मीर में विकसित हुईं। इस प्रकार यह एक भौगोलिक संज्ञा ही सिद्ध होती है। वास्तव में यह संज्ञा पर्याप्त विवेचन का विषय है क्योंकि इसमें आया शिव शब्द मात्र शिव से सम्बन्धित दृष्टियों का ही ग्रहण न करा कर शक्ति के उपासकों की चिन्तन विधाओं को भी मिश्रित रूप में प्रस्तुत कराता है, इसी कारण सैण्डर्सन शैविज़्म शब्द में 'शैव' शब्द को मात्र शिव के उपासक की संज्ञा नहीं मानते। उनका कहना है कि शैव केवल शिव का उपासक नहीं है वरन् देवी का उपासक भी शैव कहा जाता है। यह देवी शिव की अर्धांगिनी भी हो सकती है, एक साकार शक्तिरूपा भी हो सकती है या विशिष्ट शक्ति सम्पन्न देवीरूप भी हो सकती है। वस्तुत: काश्मीर शिवाद्वयवाद पूरे तांत्रिक चिन्तन का निचोड़ है। भारत में समानान्तर रूप से दो संस्कृतियाँ विकसित हुई हैं—वैदिक तथा तांत्रिक। इन दोनों ही संस्कृतियों का एक-दूसरे पर पर्याप्त प्रभाव है। पर आज यह बता पाना बहुत कठिन है कि किसने किससे क्या लिया है क्योंकि आज पर्याप्त प्रमाणों का अभाव है। तांत्रिक संस्कृति अत्यन्त दीर्घ अवधि में फैली हुई एक लम्बी उद्विकासात्मक प्रक्रिया से गुज़र कर उस स्वरूप तक पहुँची है जिसका ज्ञान हमें तांत्रिक ग्रंथों के द्वारा प्राप्त होता है। पर उस प्रक्रिया के स्वरूप व वैशिष्ट्य के विषय में आज हम निश्चित रूप से कुछ नहीं कह सकते और न ही यह कह सकते हैं कि यह प्रक्रिया कब और कैसे प्रारम्भ हुई।

'तांत्रिक' शब्द उत्तरवर्ती वैदिक साहित्य में भी आया है। यह वहाँ तंत्रों के द्वारा प्रतिपादित चिन्तनपद्धति व साधनाविधि को प्रस्तुत करता है। अत: यह निश्चित है कि वैदिक ग्रंथों के प्रणयन के समय यह तांत्रिक विधा अपने विकसित रूप में उपस्थित थी। आज उपलब्ध तांत्रिक चिन्तन का विशाल साहित्य है जिसमें कहीं शिव को केन्द्र में रखा गया है व कहीं शक्ति को। साथ ही यह तांत्रिक चिन्तन बौद्ध व वैष्णव परम्पराओं में भी विकसित हुआ है। पर प्रकृत ग्रन्थ की जिस तांत्रिक धारा के साथ प्रतिबद्धता है वह है शिव व शक्ति से सम्बन्धित धारा। इस धारा में भी अद्वयवादी चिन्तनपद्धति ही यहाँ अध्ययन का विषय है। अत: 'काश्मीर शिवाद्वयवाद' नामक धारा इस तांत्रिक परिवेश के अन्तर्गत विकसित उन अद्वयवादी चिन्तनपद्धतियों का व्यवस्थित रूप है जो या तो काश्मीर में ही उत्पन्न होकर विकसित हुईं या काश्मीर के बाहर से आयातित होकर वहाँ पल्लवित हुईं। यद्यपि आज यह संज्ञा पर्याप्त प्रचलित

है पर सर्वप्रथम जे०सी० चटर्जी महोदय ही इसे 'काश्मीर शैविज़्म' कहते हैं। वैसे इस सम्प्रदाय के कुछ ग्रंथों में भी इस सम्प्रदाय के काश्मीर के साथ गहरे संबंध का उल्लेख मिलता है जैसे महेश्वरानन्द की *महार्थमञ्जरी* में। वहाँ इस संज्ञा को महार्थ व त्रिक का प्रतिनिधि माना गया है। अतः भौगोलिक संज्ञा को पारम्परिक आधार भी मिल जाता है। कभी-कभी अन्य सम्प्रदाय प्रत्यभिज्ञा दर्शन संज्ञा को ही इस पूरे काश्मीर शिवाद्वयवाद का प्रतिनिधि मान लेते हैं पर यह मानना भ्रामक है। वस्तुतः प्रत्यभिज्ञा सम्प्रदाय तो काश्मीर शिवाद्वयवाद का सबसे पुष्ट तर्कप्रधान अवान्तर सम्प्रदाय है। इस प्रकार यह काश्मीर शिवाद्वयवाद मूलतः अद्वैतपरक चिन्तन-विधा है जिसका पल्लवन काश्मीर में होकर भी उसका विस्तार हमें उत्तर में भी मिलता है व दक्षिण में भी, पूरब में भी मिलता है व पश्चिम में भी।

अगर इस सम्प्रदाय के ग्रंथों में उपलब्ध उल्लेखों का विश्लेषण करें तो वहाँ विविध सन्दर्भों में इसकी विविध संज्ञायें मिलती हैं। ज्ञानमीमांसा की दृष्टि से यह शास्त्र 'प्रत्यभिज्ञा-शास्त्र' है; परमार्थ-मीमांसा की दृष्टि से 'संविद्‌ब्रह्मवाद', 'स्वातन्त्र्यवाद' व 'शिवाद्वयवाद' रूप संज्ञायें हैं; विशिष्ट सत्-मीमांसा की ओर इंगित करने वाली संज्ञायें हैं—'आभासवस्तुवाद' तथा 'सर्वसर्वगततावाद'; पारम्परिक दृष्टि से संज्ञायें हैं—'त्रिकशास्त्र', 'षडर्धशास्त्र' आदि। इस सम्प्रदाय की दृष्टि मूलतः घोर अद्वैतवादी है इसीलिये इन विविध संज्ञाओं से मूलतः तो उस अद्वैतभावना को पुष्ट करने का ही बार-बार प्रयास किया गया है पर इन संज्ञाओं के कुछ अन्य प्रयोजन भी हैं। 'संविद्‌ब्रह्मवाद' संज्ञा इस सम्प्रदाय का वेदान्तियों से वैशिष्ट्य बतलाती है। वेदान्त जहाँ जडब्रह्मवादी है वहीं यह सम्प्रदाय संविद्‌ब्रह्मवादी है। 'एकप्रकाशवाद' व 'स्वातन्त्र्यवाद' संज्ञायें उस विशिष्ट अद्वैत को पुष्ट करने के साथ-साथ इस सम्प्रदाय में स्वीकृत सत् के विशिष्ट रूप को भी बतलाती हैं। सत् की प्रकाशविमर्शात्मता या ज्ञानक्रियामयता चेतना व गतिमयता के जिस समवाय को प्रस्तुत करती हैं वह वेदान्तियों से इसके वैशिष्ट्य का स्पष्ट निदर्शन हैं। 'आभासवस्तुवाद', 'आभासपरमार्थवस्तुवाद', 'सर्वसर्वगततावाद' आदि संज्ञायें भी यह स्पष्ट करती हैं कि जागतिक पदार्थ मिथ्या नहीं है वरन् एक पूर्ण तत्त्व का ही अंश है। वह अपनी इच्छा से ही इन अंश रूपों में भासित होता है। ये अंश उस पूर्ण प्रकाशतत्त्व के आभास रूप हैं। पर यह आभास शब्द वेदान्तवत् किसी मिथ्यात्व का बोधक नहीं है वरन् मात्र संकुचित प्रकाश रूप अभिप्राय को व्यक्त करता है। 'स्वातन्त्र्यवाद' संज्ञा उस अद्वैततत्त्व की पूर्णता के साधक पुष्ट प्रमाण को प्रस्तुत करती है। यह स्वातन्त्र्य सारी संभावनाओं को उसमें समेट कर उसे पूर्ण बनाता है तथा जागतिक वैचित्र्य के लिये उत्तरदायी किसी भी बाह्य निमित्त की स्थिति को तिरस्कृत कर पूर्णाद्वैत की स्थिति को संभव बनाता है। 'प्रत्यभिज्ञाशास्त्र' संज्ञा इस सम्प्रदाय में सर्वत्र 'सर्वं ममैव विभवः' की चेतना को विकसित करने की दृष्टि के प्राधान्य को व्यंजित करती है।

इस काश्मीर शिवाद्वयवाद के अन्तर्गत जिन सम्प्रदायों का विशेषतः उल्लेख मिलता है वे हैं त्रिक, क्रम, कुल, स्पन्द व प्रत्यभिज्ञा। वैसे तो काश्मीर की तांत्रिक परम्परा में बहुत सारी दृष्टियाँ विकसित होती हैं जिनकी कि झलक हमें आगम साहित्य में अनेक स्थलों पर उपलब्ध होती हैं पर जिन दृष्टियों का एक निश्चित गुरुपरम्परा में व्यवस्थित विकास हुआ, उन्हीं को

प्रधानतः सम्प्रदायों के वर्गीकरण में गिना गया है। आचार्य अभिनवगुप्त अपने *तंत्रालोक* में तंत्रों में उपलब्ध समस्त दृष्टियों को संगृहीत करने का प्रयास करते हैं अतः उन्हीं को यहाँ प्रमाण माना जा सकता है। अभिनवगुप्त सम्पूर्ण तांत्रिक परम्परा को 'तंत्रप्रक्रिया' व 'कुलप्रक्रिया' रूप से वर्गीकृत करते हैं और तंत्रप्रक्रिया के अन्तर्गत 'त्रिक', 'क्रम', 'प्रत्यभिज्ञा' व 'स्पन्द' सम्प्रदायों को तथा कुलप्रक्रिया के अन्तर्गत 'कुल' सम्प्रदाय की चर्चा करते हैं। वस्तुतः तांत्रिक परम्परा का यह वैशिष्ट्य है कि यहाँ कोई भी सम्प्रदाय दूसरों से पूर्णतया असंपृक्त होकर ऐकान्तिक रूप से विकसित नहीं हुआ है, सहोदरत्व व सजातीयत्व की चेतना यहाँ बराबर विद्यमान है, उनमें आदान-प्रदान की एक सतत प्रक्रिया निरन्तर जारी है। इसीलिये इन सम्प्रदायों के स्वतन्त्र स्वरूप की गवेषणा कई समस्याओं को जन्म देती है पर इसके बावजूद इन सम्प्रदायों के अपने अलग-अलग इतिहास, अवतारक क्रम, गुरुपरम्परा तथा साहित्य उनके स्वतन्त्र अस्तित्व को पुष्ट करते हैं। अब इन अवान्तर सम्प्रदायों को एक-एक कर देखते हैं।

त्रिक सम्प्रदाय

अभिनवगुप्त 'तंत्रप्रक्रिया' के अन्तर्गत जिस 'त्रिक' सम्प्रदाय का ग्रहण करते हैं वह उनके द्वारा विकसित 'अनुत्तरत्रिक' की धारणा से भिन्न है। उनके अनुसार द्वैत, द्वैताद्वैत तथा अद्वैत तीनों की परम्पराओं का सार जिसमें निहित है वह त्रिक शास्त्र है। यहाँ की चिन्तन प्रणाली में 'त्रिकों' का विशेष महत्त्व है इसी दृष्टि से इसे त्रिक परम्परा कहा गया है। इस सम्प्रदाय का मुख्य वैशिष्ट्य है अपरा, परापरा व परा रूप में देवियों के त्रिक की कल्पना कर इसी को केन्द्र में लेकर सारी चर्या पद्धति, योग परम्परा व साधना-विधि का विकास। इस त्रिक सम्प्रदाय के स्वतन्त्र अस्तित्व के पोषक उद्धरण तो आगमों में बिखरे पड़े हैं पर अभिनवगुप्त की रचनाओं को छोड़कर उसके स्वतन्त्र स्वरूप पर प्रकाश डालने में उपयुक्त सामग्री का आज नितान्त अभाव है। इस सम्प्रदाय का मूल स्रोत *सिद्धयोगेश्वरी तंत्र* को माना जाता है जिसका संक्षिप्त रूप आज उपलब्ध *मालिनीविजयोत्तर तंत्र* है। इसी तंत्र को आधार बना कर अभिनवगुप्त अपने ग्रंथ *तंत्रालोक* की रचना करते हैं जिसमें वे इस त्रिक को 'अनुत्तर त्रिक' रूप से विकसित करते हैं। उनके द्वारा विकसित परम्परा में त्रिक व कुल तत्त्वों का मिश्रण है जिसे वह 'अनुत्तर षडर्धार्थक्रम' कहते हैं पर यहाँ उनकी दृष्टि सारी तांत्रिक परम्परा के सार को प्रस्तुत करने पर विशेष है फलतः उनका यह अनुत्तरत्रिक उस मूल त्रिक सम्प्रदाय से कहीं अधिक विस्तृत परिधि को रखता है जिसमें शैवागमों की चारों मठिकाओं—'त्रैयम्बक', 'आमर्दक', 'श्रीनाथ' व 'अर्धत्रैयम्बक' का सार निहित है। इसी दृष्टि से उनके द्वारा प्रयुक्त त्रिक शासन या त्रिकशास्त्र शब्द पूरी काश्मीर शिवाद्वयवादी दृष्टि का पर्याय बन जाता है।

अतः आगमों में उल्लिखित त्रिक सम्प्रदाय उनकी इस अनुत्तर त्रिक की बृहत् कल्पना में तन्त्रप्रक्रिया का अंग बन कर आता है। इस त्रिक सम्प्रदाय का गुरुक्रम, स्पष्ट इतिहास व ग्रंथपरम्परा इन सभी को जानने के लिये आज विशेष सामग्री उपलब्ध नहीं है। संभवतः यह सम्प्रदाय एक मौखिक परम्परा रूप में ही विकसित हुआ। जयरथ *सिद्धा, नामक* व *मालिनी* के समवाय को त्रिक कहकर इस सम्प्रदाय के मूल आगमों की ओर संकेत करते हैं पर आज इनमें से

उपलब्ध *मालिनीविजयोत्तर तंत्र* कहीं भी न त्रिक सम्प्रदाय से अपने सम्बन्ध का उल्लेख करता है, न ही त्रिक सिद्धान्त का अलग से निर्देश करता है। इसी कारण त्रिक शब्द कई भ्रान्तियों को जन्म देता है। तीन की प्रकल्पना को ही त्रिक का वाच्य मानकर आधुनिक विद्वान् काश्मीर शिवाद्वयवाद में तीन के समूह रूप से निर्दिष्ट सभी दृष्टियों को त्रिक का वाच्य मान लेते हैं। त्रिक का वाच्य द्वैत, द्वैताद्वैत तथा अद्वैत या भेद, भेदाभेद व अभेद दृष्टियों का समवाय हो सकता है; अनुत्तर, इच्छा व उन्मेष का त्रित्व हो सकता है; इच्छा, ज्ञान, क्रिया का समूह हो सकता है या नर, शक्ति व शिव का सामरस्यभाव हो सकता है। साथ ही जिस उपाय परम्परा की कल्पना का विकास अभिनवगुप्त के ग्रंथों में हम पाते हैं उसी धारणा को आधार बनाकर तीन उपायों—आणव, शाक्त व शांभव—के त्रिक को भी इसका वाच्य माना जाता है और इसी आधार पर टीकाकारों द्वारा *शिवसूत्रों* का त्रिविध वर्गों में विभाजन अक्सर इस भ्रान्ति को जन्म देता है कि *शिवसूत्र* ही त्रिक सम्प्रदाय का ग्रंथ है। पर वास्तव में *शिवसूत्र* तो आगमिक परम्परा व व्यवस्थित दार्शनिक चिन्तन के विकास के मध्य की एक कड़ी है। त्रिक सम्प्रदाय तो क्रम व कुल की तरह पूर्णतया आगमिक सम्प्रदाय है जिसके मूल स्रोत आज लुप्त हो चुके हैं। आधुनिक विद्वान् सैण्डर्सन आगमिक स्रोतों के अध्ययन में इसके विकास के तीन स्तर पाते हैं। प्रथम स्तर में है *सिद्धयोगेश्वरीमत* व इससे सम्बद्ध तंत्र। आज उपलब्ध *मालिनीविजयोत्तर तंत्र* इसी क्रम में आता है। द्वितीय स्तर में काली को केन्द्र में रख कर अपरा, परापरा व परा से सम्बद्ध साधनापद्धति का विकास हुआ है। तृतीय स्तर में अभिनवगुप्त द्वारा विकसित त्रिक आता है। यह उनके तीन ग्रंथों—*तंत्रालोक, मालिनी-विजयवार्तिक* तथा *परात्रिंशिका-विवरण*—में विकसित होता है। इन सभी में 'कुल' तत्त्वों के साथ मिश्रित रूप में ही 'त्रिक प्रक्रिया' उपलब्ध होती है। *मालिनीविजय तंत्र* व अभिनवगुप्त के ग्रंथों से इस त्रिक मत के जो वैशिष्ट्य ज्ञात होते हैं उनके अनुसार यहाँ 'समावेश' का प्रत्यय विशेष महत्त्वपूर्ण है। यहाँ 'मालिनी' का विशेष महत्त्व है और सारी चर्या उसी के माध्यम से निष्पन्न होती है। वाच्य व वाचक रूप में ही सारी सृष्टि के विकास का विवेचन है। अभिनवगुप्त के विवरण के आधार पर यहाँ न तो किसी का निषेध है न विधान, साधक अपनी इच्छानुसार किसी भी साधनापद्धति को अपना सकता है। इस प्रकार अत्यल्प सामग्री उपलब्ध होने से इस सम्प्रदाय के सन्दर्भ में आज हमारी जानकारी बहुत सीमित है।

क्रम सम्प्रदाय

यह सम्प्रदाय काश्मीर शिवाद्वयवाद का अति प्राचीन सम्प्रदाय है। यहाँ सारी व्याख्यायें 'क्रम' की धारणा को केन्द्र में रख कर प्रवर्तित होती हैं, इसी दृष्टि से इसे 'क्रम' सम्प्रदाय कहा गया है। काश्मीर शिवाद्वयवादी ग्रंथों में इसके लिये उपलब्ध ज़्यादातर संज्ञायें जैसे 'क्रमनय', 'औत्तर क्रम', 'महार्थक्रम' आदि इस क्रम की धारणा को अपने में समाविष्ट किये हुए हैं। इस सम्प्रदाय में काली के रूप में जिस परमसत् की कल्पना की गयी उसमें भी यह क्रम की धारणा समाविष्ट है।

इस सम्प्रदाय का उद्भवस्थल काश्मीर ही है। विवरणों के आधार पर क्रम के अवतारक शिवानन्द उत्तरपीठ, जोकि काश्मीर है, में ही इसका ज्ञान प्राप्त करते हैं और उनसे यह परम्परा प्रारम्भ होकर उत्तरकाल में सुदूर चोल देश (आधुनिक तमिलनाडु) तक फैल जाती है। यद्यपि

जयरथ *देवीपंचशतिक* के विवेचन के आधार पर शिवानन्द से पूर्व भी तीन आचार्यों की परम्परा का उल्लेख करते हैं साथ ही *वातूलनाथसूत्र* के टीकाकार अनन्त शक्तिपाद तथा *विज्ञानभैरवोद्योत* के रचयिता शिवोपाध्याय के विवेचनों में भी शिवानन्द से पूर्व निष्क्रियानन्दनाथ की परम्परा का उल्लेख प्राप्त होता है। यह स्थिति यही बतलाती है कि क्रममत शिवानन्द से भी प्राचीन है। इस क्रम सम्प्रदाय का विस्तृत इतिहास व ग्रंथपरम्परा है। जयरथ द्वारा *तंत्रालोक-विवेक* में प्रस्तुत विवेचन के आधार पर शिवानन्द से यह ज्ञान तीन शिष्याओं केयूरवती, मदनिका व कल्याणिका को प्राप्त हुआ जिन्होंने इसे क्रमशः गोविन्दराज, भानुक व एरक को प्रदान किया। इनमें से गोविन्दराज व भानुक से क्रम की दो भिन्न-भिन्न धाराएं विकसित हुईं। प्रथम धारा से सोमानन्द का सम्बन्ध है और दूसरी धारा से जयरथ का। इस क्रम सम्प्रदाय के आधारभूत प्रमुख आगम हैं—*पंचशतिक* या *देवीपंचशतिक, सार्धशतिक, क्रमरहस्य, क्रमसद्भाव, कालिका-क्रम* तथा *क्रमसिद्धि* । इसके रचनात्मक काल में विविध आचार्यों की गिनती की जा सकती है जैसे उत्पल, लक्ष्मणगुप्त, ह्रस्वनाथ, सिद्धनाथ, प्रद्युम्न भट्ट, उत्पल वैष्णव, भास्कर आदि। इस क्रम में अभिनवगुप्त, क्षेमराज व रम्यदेव का योगदान विशेष उल्लेखनीय है। यह रचनात्मक प्रवाह देवभट्ट तक आकर रुकता है पर कुछ मध्यान्तर के बाद पुनः शिवानन्द द्वितीय, जयरथ व महेश्वरानन्द के माध्यम से प्रवाहित होता हुआ तेरहवीं शताब्दी में पहुँचता है जहाँ इस परम्परा में कई और आचार्य सम्मिलित होते हैं, वे हैं चक्रभानु, ह्रस्वनाथ, भोजराज, सोमराज और श्रीवत्स। इस प्रकार यह समृद्ध परम्परा नवीं शताब्दी से अठारहवीं शताब्दी तक लगातार प्रवाहित रही है। यद्यपि तेरहवीं शताब्दी में जयरथ व महेश्वरानन्द के बाद इस धारा में एक शून्य नज़र आता है पर पुनः सत्तरहवीं-अठारहवीं शताब्दी में शितिकण्ठ व शिवोपाध्याय के द्वारा यह धारा उद्बुद्ध होती है। इसके बाद धीरे-धीरे यह परम्परा प्रचलन से बाहर होती गयी या एक सीमित वर्ग में ही केन्द्रित हो गयी।

इस प्रकार इस ऐतिहासिक इतिवृत्त के विश्लेषण से यही सिद्ध होता है कि नवीं से बारहवीं शताब्दी के मध्य का समय इस सम्प्रदाय के लिए सबसे ज़्यादा सर्जनात्मक है। इस काल में न केवल नये ग्रंथों की रचना हुई वरन् इस सम्प्रदाय का अन्य सहवर्ती सम्प्रदायों पर भी पर्याप्त प्रभाव पड़ा। इस काल में साधनापरक चिन्तन के स्थान पर विशुद्ध दार्शनिक दृष्टि का विकास हुआ। इस सम्प्रदाय के प्रतिपादक आचार्यों में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है अभिनवगुप्त व उनके शिष्य क्षेमराज का। अभिनवगुप्त तो इस सम्प्रदाय में एक मौलिक चिन्तक बन कर उभरे, उन्होंने इस सम्प्रदाय को एक विश्लेषणात्मक दृष्टि प्रदान की। उन्होंने सिद्धनाथ के *क्रमस्तोत्र* पर *क्रमकेलि* नामक टीका लिखी, अपने ही *प्रकरणस्तोत्र* पर *विवरण* नामक टीका लिखी। साथ ही *तंत्रालोक, क्रमस्तोत्र, प्रकरणस्तोत्र* व *तंत्रसार* नामक ग्रंथ इस सम्प्रदाय के सन्दर्भ में उनके मौलिक योगदान हैं। इनके अतिरिक्त *मालिनीविजयवार्तिक, पर्यन्तपंचाशिका* व *परात्रिंशिका-विवरण* में भी कुछ स्थलों पर वह क्रम सिद्धान्तों का उल्लेख व विवेचन करते हैं। क्षेमराज योग्य गुरु के योग्य शिष्य हैं। वह अभिनवोत्तर काल के क्रम के प्रमुख प्रवक्ता हैं। उनके सभी ग्रंथ—*स्वच्छन्दतंत्र-उद्योत, प्रत्यभिज्ञाहृदय, शिवस्तोत्रावलीविवृति, शिवसूत्रविमर्शिनी, स्पन्दसन्दोह* व *स्पन्दनिर्णय*—इस सम्प्रदाय की पूरी छाप लिये हुए हैं। उनका इस सम्प्रदाय से इतना लगाव था कि वे स्पन्द

दर्शन का क्रम के सन्दर्भ में ही व्याख्यान करते हैं। इन दो आचार्यों के अतिरिक्त सिद्धनाथ के *क्रमस्तोत्र* पर *चिद्गगनचन्द्रिका* नामक टीका की रचना करने वाले श्रीवत्स का भी इस सम्प्रदाय के विकास में विशेष महत्त्व है। अभिनवोत्तरकाल में जब काश्मीर में यह सम्प्रदाय धीरे-धीरे प्रचलन से बाहर हो गया तब चोलदेश (वर्तमान तमिलनाडु) में इस परम्परा को विकसित करने का काम किया महेश्वरानन्द ने जिससे इस सम्प्रदाय का एक दक्षिण स्कूल ही विकसित हो गया। उनका *महार्थमञ्जरी* नामक ग्रंथ व इस पर *परिमल* नामक टीका पूरे काश्मीर शिवाद्वयवाद के परिप्रेक्ष्य में क्रम सम्प्रदाय के विविध रहस्यों को प्रस्तुत करती है।

इस सम्प्रदाय के सर्वांगीण स्वरूप को समझने के लिये इसकी मूलभूत स्थापनाओं व साधनापद्धति के विशिष्ट स्वरूप को समझना आवश्यक है। प्रथम तो यह सम्प्रदाय मूलतः शिवाद्वयवाद का अंग होते हुए भी अपनी निष्ठा में शक्तिपरक है, अतः शिवाद्वयवाद में शाक्त प्रवृत्तियों के क्रमबद्ध उद्रेक का प्रतिनिधि है। इस सम्प्रदाय में शक्ति का विशेष माहात्म्य है जिसे यहाँ 'शक्त्याविष्करण' के प्रत्यय में अभिव्यक्त किया गया है। अभिनवगुप्त शाक्तोपाय के अन्तर्गत ही इस सम्प्रदाय की चर्चा करते हैं। अतः इस परम्परा में शक्तियों के आविष्करण के द्वारा शक्तिमान् के प्रत्यभिज्ञान का प्रयास किया जाता है। इस स्थिति को भेदाभेदमयी भी कह सकते हैं। यह भेद ही अभेद तक पहुँचने का सोपान है। अतः क्रम दृष्टि में भेद व अभेद के भिन्न ध्रुवों का सामंजस्य बिठाना अनिवार्य प्रतिपाद्य है। इस दृष्टि का एक अन्य वैशिष्ट्य है 'क्रम मुक्ति' की भावना। यहाँ मुक्ति विकल्प के क्रमबद्ध संस्कार के माध्यम से ही घटित होती है, अतः वह सोपानात्मक है। यहाँ इस क्रमबद्ध संस्करण की प्रक्रिया को किसी एक उपाय से प्रतिबद्ध न कर नाना उपायों को स्वीकृति दी गयी है जिसे अभिनवगुप्त 'उपायमण्डल' कहते हैं। ईश्वर के शक्तिपात की मात्रा व साधक की सामर्थ्य उस विविधता के निमित्त हैं। यह उपायवैविध्य क्रम परम्परा का मुख्य वैशिष्ट्य है, अतः यहाँ तत्त्वचिन्तन, योग, दीक्षा तथा विविध अनुष्ठानों को समान रूप से महत्त्व दिया गया है।

यहाँ सत् के चक्रात्मक स्वरूप की कल्पना कर उसको 'क्रमचतुष्टयार्थ' व 'पंचार्थ' की धारणाओं के द्वारा व्याख्यात किया गया है और इसी आधार पर काली के बारह या तेरह रूपों की कल्पना की गयी है। ईश्वर के पंचकृत्य सृष्टि, स्थिति, संहार, तिरोधान व अनुग्रह ही पंचार्थ हैं तथा अनुग्रह को तिरोधान में अन्तर्भूत कर चतुष्टयार्थ की कल्पना की गयी है। एक ही शक्ति में चाहे वह सृष्टि रूप हो या स्थिति, संहार हो या तिरोधान, कृत्यभेद से क्रम की कल्पना करना ही इस चतुष्टयार्थ व पंचार्थ की धारणा का मूल है। क्षेमराज इन्हीं पंचकृत्यों के कर्तृत्व-भाव से अपने स्वरूप को पहचान लेनें को 'शक्तिचक्रविकास' कहते हैं। इसे ही 'पंचकृत्यपरिशीलन' भी कहा गया है। यहाँ परमसत् के रूप को कहीं 'परमशिव' व कहीं 'कालसंकर्षिणी' रूप से प्रतिपादित किया गया है। जहाँ परमसत् परमशिव है वहाँ कालसंकर्षिणी उसकी शक्ति बन जाती है। कालसंकर्षिणी का मुख्य लक्षण है कलनात्मकता जिसमें क्रम की धारणा अन्तर्व्याप्त है। इस प्रकार पंचार्थ रूप कलनपंचक या कृत्यपंचक के माध्यम से शक्ति के सातत्य व भेदन रूप दोनों ही अवधारणाओं को प्रस्तुत किया गया है। शक्ति के चक्रात्मक रूप की कल्पना के कारण परमतत्त्व को 'चक्रेश्वर' कहा गया है। ये 'चक्र' पंचकृत्यों के आधार पर पाँच माने गये हैं—

सृष्टिचक्र, स्थितिचक्र, संहारचक्र, अनाख्याचक्र और भासाचक्र। चतुष्टयार्थ के प्रतिपादक अनाख्या व भासा को एक मानते हैं।

परवर्ती विकास क्रम में इस सम्प्रदाय में 'अन्तर्याग' का महत्त्व स्वीकार कर देह को केन्द्र बनाकर विविध साधनापद्धतियों का विकास हुआ। इस सन्दर्भ में पीठनिकेतन, वृन्दचक्र, पंचवाह व नेत्रत्रितय के सिद्धान्त सामने आये। 'पीठ' है यह स्थूल देह, 'वृन्दचक्र' का संबंध सूक्ष्म देह से है और 'पंचवाह' है व्योम-वामेश्वरी, खेचरी, दिक्चरी, गोचरी व भूचरी रूप परम देह। 'नेत्रत्रितय' है सोम, सूर्य व अग्नि रूप में तीन नेत्रों की कल्पना। ये चेतना के प्रवाह के तीन मार्ग हैं और प्रमेय-प्रमाण-प्रमाता की त्रिपुटी का क्रमश: प्रतिनिधित्व करते हैं। इन्हें क्रमश: आनन्द, प्रकाश व मूर्ति चक्र से एकात्म किया जाता है। इन सभी के माध्यम से आत्मस्वरूप का प्रत्यभिज्ञान ही इस सम्प्रदाय का लक्ष्य है।

कुल सम्प्रदाय

शैवागमों में पल्लवित अद्वैतवादी दृष्टि में कुलमत का अपना एक अति विशिष्ट स्थान है। इसकी विशिष्टता को बतलाने के लिये ही अभिनवगुप्त इसे शेष तंत्रप्रक्रिया से अलग कर सारी अद्वैत दृष्टि के सार रूप में प्रस्तुत करते हैं। संभवत: अन्य तांत्रिक पद्धतियाँ जिस निर्विकल्पावस्था तक ले जाने में सोपान बनती हैं उस निर्विकल्पावस्था को प्ररूढावस्था प्राप्त करा कर उस स्वात्मतृप्ति के आनन्द का भोग कराने का प्रयोजन इस सम्प्रदाय का लक्ष्य है। कुलमत में 'सामस्त्य भाव' की चेतना प्रधान है। सब कुछ एक ही कुल का अंग है—इसी दृष्टि को लेकर अद्वैत की स्थापना का प्रयास यहाँ किया गया है। यह कुलभाव ब्रह्माण्ड के क्षुद्र से क्षुद्र अंश को 'कुलत्व' के अन्तर्गत ग्रहण कर उसे उस परमकुल का सदस्य बना देता है। फलत: यहाँ वैयक्तिकता को विलीन करने की बजाय उसे सामस्त्य भाव से भर देने की चेतना पर बल है। इसी कारण यहाँ का अद्वैत एक पूर्ण स्वात्मतृप्त प्रत्यय है जो एक साथ शान्त भी है व उदित भी। संभवत: यही दृष्टि इसे अद्वैत से पराद्वैत की कोटि में ले जाती है।

इस कुल सम्प्रदाय का एक स्पष्ट इतिहास व ग्रंथ-परम्परा उपलब्ध नहीं होती बल्कि प्राय: सभी सम्प्रदायों में ही इस सम्प्रदाय की उपस्थिति का हमें आभास मिलता है। संभवत: प्रत्येक तांत्रिक दृष्टि में एक कुल-पद्धति का विकास हुआ। प्राप्त विवेचनों से यही ज्ञात होता है कि कुल साधनाविधि शैव व शाक्त दोनों ही साधकों में समानरूप से प्रचलित थी, अत: कुलमत का विकास शांभव दृष्टि से भी मिलता है तथा शाक्त दृष्टि से भी। शांभव साधकों ने जहाँ अनुत्तर रूप सैंतीसवें तत्त्व की कल्पना की वहीं शाक्त साधकों ने कुलेश्वर व कुलेश्वरी के संघट्ट को ही परम कौलतत्त्व माना। शांभव परम्परा त्रिक धारा के ग्रंथों में उपलब्ध होती है जबकि शाक्त परम्परा में त्रिपुरा व काली की उपासना को केन्द्र में लेकर कुल प्रवृत्तियों का विकास हुआ। कुब्जिका काली की परम्परा शैव व शाक्त तत्त्वों का मिश्रित रूप है, उसमें भी कुलविधि का विकास स्पष्टत: उपलब्ध है।

अभिनवगुप्त इस कुलमत का सम्बन्ध 'अर्धत्रैयम्बक मठिका' से जोड़ते हैं जोकि त्र्यम्बक की दुहिता से उद्भूत स्रोत माना जाता है। इस आधार पर डॉ० पाण्डेय इस मठिका का संस्थापक

त्र्यम्बक के नाती को मानते हैं और उन्हें कुलमत के प्रथम अवतारक मच्छन्दनाथ से जोड़ते हैं। मच्छन्दनाथ को स्वप्न में योगिनी ने इस विशिष्ट परम्परा का ज्ञान प्रदान किया। मच्छन्दनाथ का समय लगभग पाँचवीं शताब्दी माना जाता है। मच्छन्दनाथ के बाद इस परम्परा का विकास दक्षिणपीठ में हुआ क्योंकि अभिनवगुप्त जिन सुमतिनाथ का उल्लेख करते हैं उनका सम्बन्ध दक्षिणपीठ से है। इस परम्परा में अभिनवगुप्त के गुरु थे जालन्धरपीठवासी शम्भुनाथ जिनके गुरु थे सोमदेव तथा सोमदेव के गुरु थे सुमतिनाथ। दक्षिणपीठ से यह परम्परा जालन्धर पहुँची। अभिनवगुप्त के समय जालन्धर में यह धारा पूर्ण विकसित रूप में विद्यमान थी तभी अभिनवगुप्त को इसका सैद्धान्तिक व व्यावहारिक दोनों ही स्तरों पर सम्यक् ज्ञान वहाँ प्राप्त हो सका। काश्मीर में अभिनवगुप्त से पूर्व भी यह परम्परा विद्यमान थी इसके स्पष्ट संकेत मिलते हैं। अत: ऐसा प्रतीत होता है कि यह धारा मच्छन्दनाथ से प्रारम्भ होकर, अभिनवगुप्त के समय तक लगातार प्रवाहित रही है और अभिनवगुप्त के बाद भी विविधरूपों में इसकी उपस्थिति के संकेत मिलते हैं।

अब इस कुल मत से सम्बद्ध साहित्य क्या माना जाये, इस विषय में गवेषणा अपेक्षित है। यद्यपि काफी तंत्र ऐसे मिलते हैं जिनकी संज्ञा में कुल शब्द विद्यमान है जैसे *कुलार्णव*, *कुलोड्डीश*, *कुलचूडामणि*, *कुलरत्नमाला* आदि, पर इनमें कुलसिद्धान्तों का कोई विशेष महत्त्वपूर्ण वर्णन नहीं है। कुछ तंत्र ऐसे भी हैं जो अपने को कुलसिद्धान्त से जोड़े बिना विविध सन्दर्भों में कुलसिद्धान्तों को प्रस्तुत करते जाते हैं तथा कुछ तंत्र ऐसे हैं जो किसी दूसरे सम्प्रदाय से सम्बद्ध होने पर भी अध्याय विशेष में कुलविधि या रहस्यविधि के नाम से इस प्रक्रिया का वर्णन करते हैं। अत: कुलमत के साहित्य में कुछ निश्चित ग्रंथों का आकलन कर पाना कठिन काम है क्योंकि यह मत ऐकान्तिक रूप से विकसित न होकर सभी तांत्रिक अद्वैतवादी परम्पराओं की पार्यन्तिक धारा के रूप से पल्लवित है। अत: इधर-उधर बिखरे हुए इन विवेचनों को लेकर तथा अभिनवगुप्त व उनके उत्तरवर्ती आचार्यों के द्वारा विकसित दृष्टि के आधार पर ही कुलमत का विवेचन किया जा सकता है।

यह कुल धारा अक्सर 'योगिनीवक्त्रपरम्परा' संज्ञा से भी उल्लिखित की गयी है। यह योगिनी-वक्त्र शब्द इस परम्परा के कई सन्दर्भों का संकेतक है—प्रथम तो, इस परम्परा का विस्तार योगिनी/दूती के माध्यम से ही किये जाने का नियम है। द्वितीय, यह शब्द कापालिक संस्कृति में विकसित उस प्राचीन योगिनी-परम्परा की विशिष्ट साधनापद्धति से इस धारा को जोड़ता है जहाँ भैरव की योगिनियों से घिरे हुए रूप में कल्पना की गयी है। इन योगिनियों के अलग-अलग मातृकुल हैं जिनके कुछ निश्चित लक्षण व विशिष्ट सामर्थ्य हैं। साधक अपनी पूजाविधि के अनुष्ठान में जिस माता/योगिनी के कुल से तादात्म्य स्थापित कर लेता है उसी योगिनी से उसे ज्ञान व अभीष्ट सिद्धियों की प्राप्ति होती है। तृतीय, योगिनीवक्त्र इस धारा में अनिवार्यत: स्वीकृत आदियाग रूप कुलचर्या की रहस्यविधि का अनिवार्य अधिकरण है। यह योगिनीवक्त्र संज्ञा इस सम्प्रदाय में अभ्यासपरक दृष्टि के विशेष माहात्म्य को भी बतलाती है कि यहाँ तार्किक चिन्तन की बजाय सारभूत तथ्यों को व्यावहारिक स्तर पर स्वानुभवसंवेद्य बनाने पर विशेष बल है। इसके अतिरिक्त इसे 'गुरुवक्त्रपरम्परा' या 'गुर्वाम्नाय' भी कहा गया है। इस संज्ञा के पीछे भी इसी

तथ्य की स्वीकृति है कि इस धारा में सिद्धान्त की बजाय प्रक्रिया पर विशेष बल है। अतः इस धारा की विशिष्ट विधियों को लिखकर या ग्रंथ से पढ़कर नहीं सीखा जा सकता, वरन् इस प्रक्रिया में निष्णात एक गुरु से ही सीधे सीखा जा सकता है।

इस कुल मत को प्रायः 'रहस्यविधि' कह कर प्रस्तुत किया जाना इस सम्प्रदाय की परमगोप्यता की चेतना को बतलाता है। विविध कुल-विधियों के अनुयायियों के मध्य भी किसी प्रकार का संपर्क यहाँ वर्जित है। एक कुल के सदस्य अपने ही सवर्गियों के साथ साधना कर सकते हैं, यहाँ तक कि अन्यों के साथ किसी भी प्रकार की चर्चा तक का निषेध है। इसी कारण हर कुल के विशिष्ट चिह्न 'छुम्मा', 'मुद्रा', 'पीठ' आदि का उल्लेख मिलता है। इन्हीं के द्वारा वे एक-दूसरे को पहचानते हैं। यह अतिगोप्यता की चेतना इस परम्परा को संभवतः अपात्रों से बचाने व अपने वर्ग विशेष ही में सुरक्षित रखने के उद्देश्य से इतनी प्रबल है।

इस कुलमत की अपनी एक विशिष्ट प्रक्रिया है जिसको केन्द्र में लेकर ही यहाँ के सारे सन्दर्भ निर्धारित होते हैं। 'कुण्डलिनीयोग' व 'आदियाग' इस प्रक्रिया के अनिवार्य सोपान हैं। सर्वत्र निषिद्ध पदार्थों का उपयोग इस साधना में विशेष घटक है। जो भी पदार्थ आनन्दमात्र के जनक हैं, वे कुलपूजा में उपयोगी हैं, अतः मद्य, मांस, मैथुन ये सभी कुलमार्ग के अनुयायियों के द्वारा सेव्य हैं। पर इस प्रक्रिया के अनुष्ठान रिरंसा या रमण करने की इच्छा से सम्पाद्य न होकर शिव-शक्ति के संघट्ट रूप उत्तममेलक को स्वानुभव से सिद्ध करने के लिये हैं। इनके सम्पादक निर्विकल्प चित्तवृत्ति वाले साधक ही हो सकते हैं। यह कुलप्रक्रिया चार कारणों से तन्त्रप्रक्रिया से श्रेष्ठ है—(1) तन्त्रप्रक्रिया अधिकारिसामान्य के लिये है, कुलप्रक्रिया धाराधिरूढ शिष्यों के लिये है; (2) तन्त्रप्रक्रिया के मंत्र इतने प्रभावी नहीं हैं जितने प्रभावी कुलप्रक्रिया में प्रयुक्त मंत्र हैं, वे स्वभावदीप्त व सद्यःप्रत्ययकारक हैं; (3) तंत्रप्रक्रिया में याग का अधिकरण केवल बाह्य है जबकि कुलप्रक्रिया में छह अधिकरण संभव हैं—बहिः, शक्ति, यामल, देह, प्राणपथ व बुद्धि; (4) तंत्रप्रक्रिया में स्नान, मण्डल, कुण्ड तथा छह प्रकार के न्यास आदि इतिकर्तव्यता का निर्धारण करते हैं वहीं कुलप्रक्रिया में इनकी कोई उपयोगिता नहीं है । अभिनवगुप्त इस कुलप्रक्रिया को शांभवोपाय के अन्तर्गत रखते हैं क्योंकि यह तीव्रशक्तिपात को प्राप्त साधकों के द्वारा ही सम्पाद्य है जबकि त्रिक-प्रक्रिया का कार्यक्षेत्र है आणव व शाक्त उपाय जहाँ साधक में भेदबुद्धि का संस्पर्श अभी भी अवशिष्ट है।

इस कुलचर्या की पृष्ठभूमि में एक विशिष्ट चिन्तनप्रणाली भी विद्यमान है जो इन चर्यागत अनुष्ठानों को सार्थकता प्रदान करती है। इस सम्प्रदाय के विशिष्ट पारिभाषिक शब्द हैं—कुल, अकुल, कौलिकी शक्ति व कौलिकी सिद्धि। 'कुल' का अर्थ है एक परिवार या समूह और इस समूह के द्वारा गृहीत हर व्यक्ति इसका सदस्य है, अतः कुल का अर्थ वह तत्त्व है जो नानात्व को अंगभाव से स्वीकृत कर अंगीरूप से स्थित है। 'अकुल' तत्त्व वह है जो इस नानात्व से उत्तीर्ण है। 'कौलिकी' शक्ति है इस विश्व रूप कुल का प्रथन करने की सामर्थ्य। अकुल व कौलिकी शक्ति का यामलभाव ही वह परम कौल तत्त्व है जो एक साथ शान्त व उदित दोनों अवस्थाओं में विद्यमान है। 'कौलिकीसिद्धि' है इस परमकौलतत्त्व के साथ समावेश की अवस्था। अभिनवगुप्त कुल को परमेश की शक्ति, सामर्थ्य, ऊर्ध्वता, स्वातन्त्र्य, ओज, वीर्य, पिण्ड, संवित् आदि रूपों में

व्याख्यात करते हैं। यह भैरव की असंख्य रश्मियों का सामस्त्यभाव है। अत: यह वह अंतिम तत्त्व है जिससे सब कुछ निर्गत भी होता है व जिसमें सब विश्रान्त भी होता है। कुलेश्वर तथा कुलेश्वरी के रूप में जिसकी कल्पना की जाती है वह अकुलतत्त्व तथा कौलिकी शक्ति ही है। इनके संघट्ट से विसर्गरूपता का उद्‌भव होता है जिसका विस्तार है यह सारा वाच्यवाचक रूप जागतिक विस्तार। इन्हीं को यहां 50 आमर्शों के रूप में प्रस्तुत किया गया है। इस 'विसर्गशक्ति' की विविध सन्दर्भों में विविध संज्ञाएं हैं। कभी वह शब्दराशि है, कभी मातृका, कभी मालिनी, कभी पराशक्ति व कभी कालकर्षिणी। योगप्रक्रिया में यही कुण्डलिनी है। यह विसर्गशक्ति अनिवार्यत: स्पन्दनात्मक है और कुलतत्त्व के बहि: प्रसार का अनिवार्य घटक है। यह विसर्ग पूर्णता के आनन्द का ही प्रसार है। कुलमत में आनन्द की धारणा का विशेष महत्त्व है यहाँ तक कि अभिनवगुप्त तो इस सम्प्रदाय को 'आनन्दयोग' का प्रतिपादक सम्प्रदाय ही मानते हैं। यहाँ आनन्द के विविध स्तरों की कल्पना है जिनका पर्यवसान 'जगदानन्द' में होता है। आनन्द के विविध स्तर अनुत्तर की अनुभूति के विकास की विविध अवस्थाएं हैं। अत: चर्यात्मक स्तर पर भी इस आनन्दतत्त्व का अनुसंधान ही यहाँ एक मात्र लक्ष्य है और इस आनन्द के माध्यम से ही उस चरम आनन्द के सन्दोह रूप कुलतत्त्व को पाने का सतत प्रयास किया जाता है।

स्पन्द सम्प्रदाय

तांत्रिक शिवाद्वयवाद के दार्शनिकीकरण की प्रक्रिया में दो सम्प्रदाय जन्म लेते हैं—स्पन्द व प्रत्यभिज्ञा। इन दोनों ही सम्प्रदायों का स्रोत त्रिक सम्प्रदाय माना जाता है क्योंकि यहाँ की आचार्य परम्परा का उस त्रिक धारा से घनिष्ठ सम्बन्ध है। नवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में आचार्य वसुगुप्त को एक शिला पर उत्कीर्ण *शिवसूत्रों* की प्राप्ति होती है। इसमें अति संक्षिप्त सूत्रों में अद्वैत शैवतन्त्रों में उपलब्ध दार्शनिक विचारों व योगविधि के संग्रह का प्रयास किया गया है। इसके रहस्यों को स्पष्ट करने के लिये वसुगुप्त स्वयं या उनके शिष्य कल्लट *स्पन्दकारिका* की रचना करते हैं जिसे *स्पन्दसूत्र* भी कहा गया है। कल्लट इस *स्पन्दकारिका* पर *स्पन्दसर्वस्व* नाम से एक वृत्ति भी लिखते हैं। राजानक रामकण्ठ इस पर *विवरण* नाम से एक टीका लिखते हैं। क्षेमराज इस पर *स्पन्दनिर्णय* व *स्पन्दसन्दोह* नाम से दो टीकाएं लिखते हैं तथा उत्पल वैष्णव इस पर *स्पन्दप्रदीपिका* नाम से टीका लिखते हैं। ये ही इस सम्प्रदाय के आधारभूत ग्रंथ हैं जिनमें इस धारा का विकास हुआ है। इस सम्प्रदाय ने 'स्पन्द' की धारणा को ही अपना प्राणतत्त्व माना है और इसी को केन्द्र में लेकर उस साधनाविधि का विवेचन किया है जिसके बीज शैवागमों में निहित हैं व *शिवसूत्रों* में अंकुरित हुए हैं। उत्तरवर्ती टीकाकार स्पन्द सिद्धान्त को अन्य सम्प्रदायों—क्रम व प्रत्यभिज्ञा—के साथ मिश्रित कर के प्रस्तुत करते हैं। जैसे क्षेमराज, जो क्रम परम्परा के निष्णात विद्वान् हैं, यहाँ सर्वत्र क्रमसन्दर्भों को ही खोजते हैं पर प्रत्यभिज्ञा के सिद्धान्तों की भी स्पष्ट छाया उनकी टीकाओं में विद्यमान है। रामकण्ठ की व्याख्या भी प्रत्यभिज्ञा सम्प्रदाय के विविध सन्दर्भों से व्याप्त है।

यह स्पन्द का सिद्धान्त उस 'गति' की व्याख्या है जो परमसत् की एकात्मता को बनाये रखते हुए भी उसकी अनेकता को प्रस्तुत करती है। यह गति का एक ऐसा देशकालोत्तीर्ण प्रत्यय

है जिसमें गति या चलन का आभास मात्र होता है। यह स्वरूप में ही घटित चमत्कारात्मक उच्छलत्ता है। सामान्यत: कोशों में स्पन्द शब्द का अर्थ 'ईषत् कम्पन' या 'ईषत् स्फुरण' किया गया है, अत: यह स्पन्द परमसत् की निर्विकल्परूपता व औन्मुख्यवृत्ति रूप दोनों अवस्थाओं की युगपत् स्थिति का वाचक है। इस स्पन्द साहित्य में 'स्पन्द' के स्वरूप को लेकर कुछ मत-वैभिन्न्य उपलब्ध होता है। मूल ग्रंथ *स्पन्दकारिका* में तो यह मात्र गति का प्रत्यय है जबकि क्षेमराज इसे 'स्पन्द शक्ति' के रूप में देखते हैं और क्रम सम्प्रदाय में स्वीकृत संविद्देवी के साथ इसे एकात्म करते हैं। राजानक रामकण्ठ प्रद्युम्न भट्ट के शक्तिवाद से पर्याप्त प्रभावित हैं अत: वह इसे 'शाक्ततत्त्व' कहते हैं तथा इसे ही परमेश्वरी कह कर सर्वोच्च तत्त्व मानते हैं। पर उत्पल वैष्णव यथार्थत: *स्पन्दकारिका* के अभिप्राय में ही स्पन्द शब्द की व्याख्या करते हैं।

'स्वस्वभाव' की कल्पना इस स्पन्द सम्प्रदाय का अपना वैशिष्ट्य है। यद्यपि इसका अभिधेय वही है जो अन्यत्र प्रयुक्त 'आत्म' शब्द का है पर यहाँ की शब्दावली में इसे 'स्वस्वभाव' ही कहा गया है। इस प्रत्यय में प्रत्यभिज्ञा सम्प्रदाय की मौलिक उद्भावना 'अहंभाव' की धारणा मिश्रित नहीं है (यद्यपि टीकाकारों की दृष्टि इसे भी वहाँ देख लेती है)। यह स्वस्वभाव स्पन्द ही है और इस स्वस्वभाव को जान लेना ही प्रबुद्धावस्था है। यह स्पन्द यहाँ 'उन्मेष' व 'निमेष' की शब्दावली में व्यक्त होता है। ये उन्मेष व निमेष *शिवसूत्रों* में प्रयुक्त 'विकास' व 'संकोच' के प्रत्ययों की व्याख्याएं हैं। उन्मेष है चेतना के पूर्ण विकास की स्थिति जिसमें सारे विकल्पों का ह्रास हो चुका है। ऐसी स्थिति में साधक अपने यथार्थ स्वस्वभाव को पहचान लेता है। इस उन्मेष की स्थिति की घटक है निमेष की स्थिति जिसमें कि इन्द्रिय व मन की सारी बाह्योन्मुख क्रियायें विरमित हो जाती हैं और भेदात्मक चेतना उस स्पन्दतत्त्व के निमेष में निमग्न हो जाती है। सामान्य जीवन में इस स्थिति का अनुभव हम तीव्र संवेग के उदय की स्थिति में कर सकते हैं या एक विचार से दूसरे विचार की स्थिति के बीच की अवस्था में कर सकते हैं। उन्मेष व निमेष की ये प्रक्रियायें सदा एकसाथ ही घटित होती हैं।

यह स्पन्द ही स्वातन्त्र्य है, यही औन्मुख्यभाव है, यही पंचक्रियाकारित्व है। यह स्पन्द सारे वाक्-व्यापार का मूल है व सारे विकल्पों का स्रोत है। यह वह तत्त्व है जिसके उन्मेष व निमेष से सारे जगत् का उदय व लय होता है। इसका कहीं निरोध संभव नहीं हैं। जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति रूप सभी प्रमात्रवस्थाओं में इसकी अखण्ड स्थिति बनी रहती है। यही उपलब्धृता अर्थात् ज्ञातृता है। यही आत्मतत्त्व का स्वाभाविक बल है जिसके स्पर्श के कारण ही संसारी प्रमाता में समस्त कार्यों के सम्पादन की सामर्थ्य आती है। यह स्पन्द दो प्रकार का है—'सामान्य स्पन्द' व 'विशेष स्पन्द'। आत्मतत्त्व का स्वभावभूत स्पन्द ही सामान्य स्पन्द है जोकि सबके उदय व लय का निमित्त है तथा भेदाभिमान को पैदा करने वाले विविध गुण-रूप स्पन्द विशेष स्पन्द हैं। ये विशेष स्पन्द सामान्य स्पन्द का आश्रय लेकर ही सत्ता को प्राप्त करते हैं। यही स्पन्द पूर्णता के चमत्कारात्मक आह्लाद की अनुभूति का निमित्त है।

इस प्रकार स्वस्वभाव रूप में स्पन्द तत्त्व की सिद्धि ही इस सम्प्रदाय का मुख्य लक्ष्य है। इसके ज्ञान को ही यहाँ की साधना का केन्द्र बनाया गया है।

प्रत्यभिज्ञा सम्प्रदाय

काश्मीर शिवाद्वयवाद की सबसे परिष्कृत दार्शनिक दृष्टि प्रत्यभिज्ञा सम्प्रदाय के रूप में विकसित हुई है। इस सम्प्रदाय का प्रारम्भ सोमानन्द की *शिवदृष्टि* से होकर इसे परिनिष्ठित रूप मिलता है उत्पल की *ईश्वरप्रत्यभिज्ञाकारिका* तथा अभिनवगुप्त द्वारा रचित *विमर्शिनी* नामक कृतियों में। उत्पल स्वयं अपनी *कारिका* पर *वृत्ति* तथा *विवृति* नामक टीकाएं लिखते हैं और अभिनवगुप्त *विमर्शिनी* व *विवृतिविमर्शिनी* नामक टीकाओं की रचना करते हैं। ये ही इस सम्प्रदाय के मुख्य आकर ग्रंथ हैं यद्यपि अभिनवोत्तर काल में उनकी शिष्य-परम्परा में आने वाले क्षेमराज, योगराज आदि के द्वारा भी इस सम्प्रदाय के विकास की प्रक्रिया जारी रहती है। आगे चलकर अभिनवगुप्तकृत *विमर्शिनी* पर भास्करकण्ठ *भास्करी* नामक टीका लिखते हैं। इसके अतिरिक्त इस सम्प्रदाय का ऐसा विस्तृत प्रभाव उपलब्ध होता है कि उत्तरवर्ती टीका, उपटीका रूप में लिखित सारा साहित्य इस सम्प्रदाय की विशिष्ट दृष्टि को ही मूल में लेकर विकसित होता है। इस सम्प्रदाय के विकास में कई निमित्त हैं—प्रथम तो, इस सम्प्रदाय के आचार्यों ने काश्मीर शिवाद्वयवाद को काश्मीर में उस समय प्रवर्तमान विविध दार्शनिक दृष्टियों, जिनमें बौद्ध व वेदान्त सर्वप्रमुख हैं, के सन्दर्भ में विकसित करने का प्रयास किया, अतः इसे एक सुदृढ़ तार्किक आधार प्रदान करने की चेष्टा की ताकि यह सारी आलोचनाओं का उत्तर दे सके। दूसरे, अन्य भारतीय दर्शनों में उपलब्ध मूलभूत दार्शनिक समस्याओं को आधार बनाकर इस तांत्रिक परम्परा के द्वारा उनका समाधान करने का प्रयास किया गया। तीसरे, यहाँ एक ऐसी दार्शनिक दृष्टि विकसित की गयी जो तांत्रिक परम्परा के सभी सम्प्रदायों में समान रूप से स्वीकृत हो सकी। इसी आधार पर अक्सर प्रत्यभिज्ञा मत को पूरे काश्मीर शिवाद्वयवाद का प्रतिनिधि मान लिया जाता है।

प्रत्यभिज्ञा सम्प्रदाय 'प्रत्यभिज्ञा' की धारणा को ही केन्द्र में रख कर विकसित होता है जिसे इस सम्प्रदाय के आचार्य 'नवीन उपाय' कहते हैं। यह प्रत्यभिज्ञा यहां की तत्त्वमीमांसा, ज्ञानमीमांसा व मुक्तिमीमांसा सभी का आधार है। सद्योज्योतिकृत *नरेश्वरपरीक्षा*, दिङ्नाग व धर्मकीर्ति द्वारा विकसित तार्किक चिन्तनप्रणाली व भर्तृहरि का शब्दाद्वैत इस सम्प्रदाय के विकास में मुख्य भूमिका निभाते हैं। प्रत्यभिज्ञा सम्प्रदाय कई मूलभूत धारणाएं इन सम्प्रदायों से ग्रहण करता है, जैसे शैवसिद्धान्त की ही भाँति बौद्धों की अनात्मवादी दृष्टि की आलोचना-प्रत्यालोचना रूप में इस सम्प्रदाय की स्थापना होती है; सत् का चैतन्यात्मक स्वभाव, जगत् की सत्यता की मान्यता, परमसत् व जगत् का वास्तविक सम्बन्ध आदि मत 'शैवसिद्धान्त' से ही गृहीत हैं। बौद्ध 'विज्ञानवाद' का भी इस पर काफी प्रभाव है। कई बौद्धसिद्धान्तों की आलोचना करने पर भी इस सम्प्रदाय ने उनसे काफी कुछ लिया है। भर्तृहरि का 'शब्दाद्वैत' भी इस सम्प्रदाय के रूपायन पर पर्याप्त प्रभाव डालता है। यहाँ की कारणता की धारणा, कर्ता का प्रत्यय, क्रिया का स्वरूप सभी इस शब्दाद्वैत से पर्याप्त प्रभावित हैं। भर्तृहरि से भेद मात्र यह है कि यहाँ शब्द व अर्थ दोनों ही परमसत् के स्वरूप हैं जबकि भर्तृहरि की दृष्टि में शब्द का ही अर्थ रूप में विवर्तन होता है।

इस सम्प्रदाय में परमसत् की कल्पना 'प्रकाश विमर्श के सामरस्य' रूप से की गयी है। प्रकाश है सत्त्व व विमर्श है उसका बोध। इन दोनों का समग्र ही परमतत्त्व है। इस बोध को सारी प्रक्रियाओं का समग्र माना जाता है। यह प्रत्ययवादी दृष्टि है अतः सत्ता यहाँ ज्ञानात्मक ही है।

प्रकाश पक्ष सत्त्व व ज्ञान दोनों का वाचक है पर इन सबकी प्रक्रियाएं विमर्श पक्ष से ही गृहीत हैं। परमसत् के इन दोनों घटकों के मूल में हैं 'नैर्मल्य' व 'स्वाच्छन्द्य' की धारणाएं जोकि इन दोनों प्रत्ययों को इस सम्प्रदाय की विविध समस्याओं का उत्तर देने में समर्थ बनाती हैं। प्रकाश में नैर्मल्य के कारण ही प्रतिबिम्बनसहिष्णुता है व विमर्श में स्वाच्छन्द्य के कारण ही संयोजन, वियोजन, अनुसंधान रूप स्वातन्त्र्य है। यह स्वच्छन्दता इस परमतत्त्व की आन्तरिक गतिमयता की द्योतक है जिसमें कि लय व व्यवस्था दोनों ही विद्यमान हैं। प्रकाश की प्रतिबिम्बन-सामर्थ्य ही दर्पणनगरन्याय के रूपक के माध्यम से यहाँ की आभासवादी जगत्-मीमांसा को संभव बनाती है तथा विमर्श का स्वाच्छन्द्य इसे कर्तृकर्मभाव रूप नई दृष्टि से कारणता की व्याख्या की सामर्थ्य देता है। 'प्रत्यभिज्ञा' की धारणा इस विमर्श में अन्तर्व्याप्त है। इसको और मुखरित करने के लिये ही यहाँ 'प्रत्यवमर्श' शब्द का प्रयोग किया गया है जोकि प्रमाता का निश्चयात्मक विमर्श है। जब प्रमाता सारे जगत् को स्वात्मविभव रूप से प्रत्यभिज्ञात करता है तभी उसे अपने शिवत्व का प्रत्यभिज्ञान होता है। इन प्रकाश व विमर्श रूप प्रत्ययों के मध्य के तादात्म्य का अनुसंधान ही इस सम्प्रदाय की विशिष्ट दृष्टि है जो यहाँ की सभी मीमांसाओं में आधारभूत है। इस प्रकार यह प्रकाशविमर्श का सामरस्य सत्त्व व गति को इस प्रकार जोड़ता है कि अभेद व भेद दोनों एक ही तत्त्व में समाहित हो जाते हैं ! प्रकाश पक्ष एकत्व का निमित्त है व विमर्श अनेकत्व का। अत: वेदान्त के विवर्तवाद की छाया से यह सम्प्रदाय मुक्त रहता है, सांख्य के स्वप्रकाश पुरुष व परप्रकाश्य प्रकृति के द्वैत को भी यहाँ नहीं स्वीकारना पड़ता और न बौद्धों के प्रतीत्यसमुत्पाद जैसी दृष्टि को अपनाना पड़ता है।

इस प्रकार इस सम्प्रदाय में मुख्यत: तीन धारणाओं प्रकाश, विमर्श व प्रत्यभिज्ञा को ही केन्द्र बनाकर सारे विवेचन करने का प्रयास किया गया है। तांत्रिक दृष्टि से इन्हें शिव व शक्ति की शब्दावली में भी व्यक्त कर सकते हैं।

इस प्रकार इन सम्प्रदायों के उद्विकास पर एक नजर डालने पर कुछ तथ्य सामने आते हैं कि ये सभी सम्प्रदाय अपनी तांत्रिक पृष्ठभूमि से प्रतिबद्ध हैं और एक आन्तरिक अन्विति के सूत्र में पिरोये हुए हैं। ये परस्पर विरोधी न होकर परस्पर उपकारक हैं। प्राय: सभी सम्प्रदायों में एक से दूसरे में पारिभाषिक शब्दावली व सिद्धान्तों को ग्रहण किया गया है। भेद या तो योगप्रक्रिया व साधनाविधि में है या आस्था का भेद है। कोई सम्प्रदाय किसी प्रत्यय पर विशेष बल देता है तो कोई किसी पर। इसी आधार पर उनका विशिष्ट नामकरण किया गया है। इनमें कभी व्याप्य-व्यापक भाव नजर आता है तो कहीं आनुपूर्विक आवयविक परिपूर्णता की दृष्टि दिखाई पड़ती है, फलत: सारे सम्प्रदाय एक समग्र का अंग बन जाते हैं। यह समग्र दृष्टि ही काश्मीर शिवाद्वयवाद या अभिनवगुप्त द्वारा विकसित 'अनुत्तरत्रिक' है।

अब इस सम्प्रदाय के उस मौलिक स्वरूप पर एक दृष्टिपात करना आवश्यक है जो स्वयं इस सम्प्रदाय की नज़रों में स्वीकृत है। इसे यहाँ बार-बार 'अस्मद्दर्शन', 'ईश्वराद्वयवाद', 'शिवाद्वयवाद' आदि संज्ञाओं से जोड़ कर प्रस्तुत किया गया है। इन विवेचनों के आधार पर इस सम्प्रदाय का जो मौलिक स्वरूप उभरता है उसके वैशिष्ट्य इस प्रकार हैं।

सत्-मीमांसा

जागतिक स्तर पर मायापद में पदार्थों की सत्यता, स्थैर्य तथा उपयोग के कारण सिद्ध है। काश्मीर शैव दार्शनिक न्याय दर्शन के समान सत्ता जाति के आधार पर ण्दार्थों की सत्ता नहीं मानता, क्योंकि उसमें अनवस्था तथा व्यर्थता का दोष है। इसकी दृष्टि में पदार्थों की सत्ता स्थिरता तथा उपयोग के कारण है। इस दृष्टिकोण का बौद्ध दर्शन के साथ साधर्म्य भी है और वैधर्म्य भी। बौद्ध दर्शन में पदार्थों की सत्ता अर्थक्रियाकारित्व के कारण सिद्ध है। इस दर्शन ने अर्थक्रियाकारित्व को मान्यता तो दी है पर उसे पदार्थों का सहज धर्म न मान कर उपयोगिता की दृष्टि से ग्रहण किया है[1] साथ ही पदार्थों की सत्ता में स्थैर्य को मान्यता देकर यह दर्शन बौद्धों से अपने वैषम्य की ओर संकेत करता है। क्षणिकवादी बौद्धों की दृष्टि में स्थिरता तो संभव ही नहीं है।

बौद्ध दार्शनिक जहाँ प्रमाता तथा प्रमेय सभी की सत्ता को क्षणिक व परिवर्तनशील मानते हैं वहीं यह दर्शन सत्ता की अखंडता व निरन्तरता में विश्वास करता है। बौद्ध दर्शन की सत्ता खंडित है। देश काल से अपरामृष्ट अनिर्वचनीय स्वलक्षण स्वयं नष्ट होकर दूसरे स्वलक्षण का कारण बनते हैं पर काश्मीर शैवदर्शन में स्वलक्षणाभास रूप पदार्थ देशकाल व शब्द से युक्त हैं तथा विमर्शानुवृत्ति होने तक स्थिर रहते हैं। बौद्धदर्शन सम्मत प्रमेयों की परिवर्तनशीलता इस दर्शन में गतिमत्ता के रूप में समझी जा सकती है। इस दर्शन में सत् को परिवर्तनशील व क्षणिक नहीं कह सकते क्योंकि उसमें सत्ता का विखंडन नहीं होता पर वह गतिशील अवश्य है जैसे स्पंद का प्रत्यय गतिमत्ता की ओर स्पष्ट संकेत करता है। मानव शरीर के ही मूर्ति-वैचित्र्य के द्वारा इस गतिशीलता को समझा जा सकता है। संयोजन, वियोजन और अनुसंधान के प्रत्यय इसी गतिमान् सत् की विभिन्न अवस्थाओं को परस्पर संयुक्त व सम्बन्धित करने की प्रक्रिया में सहायक हैं। इस दर्शन में अनन्त आभास वर्ग नियति शक्ति द्वारा मिश्रित होकर अर्थक्रियाकारी बनता है और उसमें प्रमाता अपनी रुचि के अनुरूप व्यवहार करता है।[2]

स्वयं को 'संविद्ब्रह्मवाद' की संज्ञा से अभिहित करने वाला यह दर्शन चेतना की अखंडता, सातत्य और सार्वभौमिकता के प्रति अति सजग है। सम्पूर्ण प्रमातृ-प्रमेयजगत् और उस जगदुत्तीर्ण परमेश्वर की चर्चा तथा व्याख्या करते समय इसकी दृष्टि यही रही है कि प्रमातृ, प्रमाण, प्रमेय सभी कुछ चिद्रूप ही है। अत: यहाँ चेतना के एक ही सूत्र में ज्ञान के विभिन्न मोती पिरोए हुए हैं।

इस सम्प्रदाय की दृष्टि में केवल प्रमाता ही चेतन नहीं है वरन् सम्पूर्ण प्रमेयजगत् भी चेतना से भिन्न नहीं है। सृष्टि-प्रक्रिया के लिए इस दर्शन में आभासन शब्द का प्रयोग हुआ है और भासित होने का अर्थ ही है ज्ञान का विषय होना। पदार्थ वस्तुत: चेतना से भिन्न नहीं हैं। इसी कारण वे स्वतन्त्ररूप से स्वयं अपने वश में रहकर भासित नहीं होते, वे चेतना पर आश्रित होकर ही भासित होते हैं। यदि वे जड़ व स्वतन्त्र होते तो उनका ज्ञान ही सम्भव न था। लोक में हम देखते हैं कि प्रमाता को नील, पीत घट आदि का ज्ञान पृथक् रूप में होता है। ये पदार्थ अन्तत: 'घटमहम् जानामि' आदि रूप ज्ञानरूपता में ही पर्यवसित होते हैं। अत: यह मानना ही होगा कि पदार्थ दूसरे पर निर्भर होकर ही प्रकाशित होते हैं और वह दूसरा चेतन ही होगा जड़ नहीं।

कर्ता की चेतनता में लगभग सभी दर्शन विश्वास रखते हैं पर यह धारणा इस सम्प्रदाय में एक वैशिष्ट्य अर्जित करती है क्योंकि यही धारणा यहाँ सम्पूर्ण विश्व को समस्त प्रमातृप्रमेयजात को

चित्, ज्ञान या प्रकाश रूप सिद्ध करने के प्रयास की आधार भूमि है। पूरी सृष्टि अभिलापात्मिका है, ज्ञानात्मिका है। ज्ञान जड़ में सम्भव ही नहीं है। ये सब बातें इसी ओर संकेत करती हैं कि चैतन्य प्रमाता का अनिवार्य स्वभाव है।

परन्तु यहीं पर शंका उपस्थित होती है कि जब प्रमाता, प्रमाण, प्रमेय सब उस परमेश्वर की सिसृक्षा का उल्लास मात्र हैं और शुद्ध चैतन्य प्रमाता का स्वभाव है तो नील, पीत आदि विकल्पात्मक ज्ञान किस प्रकार सम्भव होगा। विकल्पात्मक ज्ञान सिद्ध करने के लिए यह मानना होगा कि महेश्वर संकुचित प्रमाता के रूप में भासित होता है और तब उसे विकल्पात्मक ज्ञान होता है। यह तथ्य सम्प्रदाय की एक अन्य मान्यता की ओर भी संकेत करता है और वह है 'कर्तृकर्म-भाव' की। अपनी इस मान्यता की स्थापना के लिए शैव दार्शनिक सांख्य-सम्मत सत्कार्यवाद की चर्चा करना उपयुक्त समझते हैं। सत्कार्यवादी कारणकार्यभाव की धारणा के अनुसार कार्य अपने कारण में पहले से ही विद्यमान होता है और सृष्टि के समय वह केवल आविर्भूत होता है। इस सम्प्रदाय को आपत्ति है कि तब तो कारण व कार्य एक हैं, यदि वे एक नहीं हैं तो एक ही अधिकरण में कैसे रहेंगे। यदि एकत्व व बहुत्व दोनों ही महत् का स्वभाव है, तो यह विरोधाभासी होने के कारण मान्य नहीं हो सकता। अत: सांख्य दार्शनिक इस शास्त्र का अवलम्बन लेकर ही अपने सिद्धान्त को उपपादित कर सकेंगे। एकात्म का कालक्रमानुगत होकर बहुतया भासित होना क्रिया है। यह बहुत्व जड़ में सम्भव नहीं है क्योंकि वह सीमित होता है। अत: चेतन को ही कर्त्ता मानना होगा जो बिना अपने ऐक्य को खंडित किए हुए विभिन्न रूपों में भासित होता है।[3] वही क्रिया शक्ति का प्रयोग कर सकता है। इसका तात्पर्य ही है एक का कालक्रमादि से संलग्न होकर अनेकवत् हो जाना।

नैयायिकों द्वारा अणु की कारणता मानी गयी है परन्तु वे भी निमित्त कारण के रूप में ईश्वर की परिकल्पना करके इस शास्त्र का ही अनुसरण करते हैं। इसी प्रकार बौद्धों का कारण-कार्य-भाव भी इस सम्प्रदाय का आश्रय लेकर ही उपपन्न है अन्यथा नहीं। इसकी चर्चा करते समय वह सम्प्रदाय स्पष्ट करता है कि 'अस्मिन् सति इदं भवति' रूप कारण-कार्यभाव में जो पौर्वापर्य है उसका स्वरूप होगा—तत् एवं तत्। यह कोई सम्बन्ध नहीं है। कारणकार्यभाव तभी उपपादित होगा जब बीज की अपेक्षा अंकुर में हो। अपेक्षा जड़ में सम्भव ही नहीं है। अत: यह सिद्धान्त भी तभी सिद्ध हो सकता है जब बीज और अङ्कुर अर्थात् कारण व कार्य दोनों चेतन में ही अधिष्ठित हों।

कारण व कार्य के मध्य वही सम्बन्ध है जो कर्ता और कर्म के मध्य होता है। कर्ता जड़ नहीं हो सकता, अत: कारणता वस्तुत: चेतन की कर्तृता ही है। इस प्रकार यह सम्प्रदाय अन्य दर्शनों से तुलना करने के उपरान्त कारणकार्य-भाव को कर्तृकर्म-भाव के रूप में स्थापित करता है।

सम्प्रदाय पुन: पुन: आग्रह करता है कि जड़ में आभासन सामर्थ्य नहीं होती। ऐसे में प्रश्न हो सकता है कि क्या बीज आदि जड़ पदार्थ अंकुर का कारण ही नहीं हैं? क्या योगी अणु, रज इत्यादि जड़ कारणों के बिना ही केवल इच्छा से घट नहीं बना लेता है? इन दोनों प्रश्नों के उत्तर में हम पाते हैं कि न तो बीज आदि कारणों की उपेक्षा की जा सकती है और न ही योगी द्वारा इच्छा शक्ति से निर्माण करने की सामर्थ्य की अवहेलना की जा सकती है। अत: व्यावहारिक एवं जागतिक दृष्टिकोण से कर्तृकर्मभाव को स्थापित करने में विप्रतिपत्ति आ जाती है। ऐसे में हम

पाते हैं कि सम्प्रदाय की कर्तृकर्मभाव की धारणा उस विश्वोत्तीर्ण-विश्वमय परमशिव के इच्छास्वातन्त्र्य द्वारा अनुप्राणित है। यहीं हमारी समस्याओं का निराकरण हो जाता है—महेश्वर नियति के नियमों को मानने या न मानने के लिए स्वतन्त्र है और वही विभिन्न रूप धर लेता है। अतः इस बात में भी कोई विरोध नहीं रहता कि घटादि के निर्माण में लौकिक व्यक्ति तो सांसारिक नियमों का पालन करता है और योगी नियति के नियमों से उत्तीर्ण होकर अलौकिक सृष्टि का निर्माण करता है।

इस सम्प्रदाय का सिद्धान्त है कि परमार्थतः पंचकृत्यरूप स्वभाव वाला महेश्वर ही क्रम व अक्रम रूप सृष्टि के रूप में भासित होता है। वह चेतनकर्ता आत्मदर्पण में प्रमेय रूप जगत् को प्रतिबिम्ब रूप में भासित करता है और आधार एवं अन्य साधनों के बिना ही संसार का चित्र उकेरता है।[4]

यह सम्प्रदाय सम्पूर्ण प्रमातृ-प्रमेय जगत् को ज्ञान, संवित्, चिद्रूप ही स्वीकार करता है। प्रमेयभूत पदार्थों को भी चेतन या ज्ञानात्मक रूप में स्वीकार करने के कारण यह दर्शन विज्ञानवादियों के अधिक निकट है। यह निकटता समानता का पर्याय नहीं है क्योंकि ज्ञान रूप मानते हुए भी दोनों सम्प्रदाय इस ज्ञानरूपता को अपनी-अपनी दृष्टि से देखते हैं।

जैसा कि पहले भी संकेत किया जा चुका है सृष्टिप्रक्रिया यहाँ पर आभासन प्रक्रिया है। यहाँ पदार्थों की सृष्टि, स्थिति तथा लय तीनों ही संवित् पर विश्रान्त होकर ही सिद्ध हो सकते हैं। पदार्थ चेतन पर आश्रित होकर ही भासित होते हैं। प्रकाशित होना तो वस्तुतः इनका संविद् से भिन्न होना ही है। अतः सत् का चित् होना इस सम्प्रदाय की प्रिय धारणा है जिसकी ओर सुस्पष्ट रूप से असकृत् संकेत किया गया है।[5]

अब एक स्वाभाविक प्रश्न हो सकता है कि चिद्रूप पदार्थ अचिद्रूपतया भासित ही क्यों होते हैं। उनकी चिद्रूपता किस प्रकार आवृत हो जाती है और यह भी कि लोक में कुछ अंश चेतनरूप और कुछ अंश जडरूप क्यों भासित होता है जैसे 'घटमहम् जानामि' में घट जड़वत् व अहं चेतनरूप क्यों प्रतीत होता है। इस प्रश्न के युक्तिसंगत उत्तर प्रस्तुत करने के लिए यह सम्प्रदाय पुनः उस अप्रतिहतस्वातन्त्र्य के सिद्धान्त की सहायता लेता है जो वस्तुतः इस सम्प्रदाय की सम्पूर्ण विचारधारा में ही अनुस्यूत है।[6] उसका यह स्वातन्त्र्य है कि वह संविद्रूप है पर असंविद्रूप में भी भासित हो सकता है। प्रकाशविमर्शात्मक चिद्रूप परमेश्वर स्वातन्त्र्य के कारण नाना प्रमेयों व प्रमाताओं के रूप में भासित होता है। स्वरूप-संकोच के द्वारा वह अनतिरिक्त को अतिरिक्ततया भासित करता है। अतः चेतना प्रमेय का वास्तविक स्वभाव है ऐसा न कह कर यही कहना होगा कि चिद्रूपता स्वयं ही प्रमेय रूप में भासित होती है। प्रमेय सदा चित् की पृष्ठभूमि पर ही भासित होते हैं। इसी प्रकार संकुचित प्रमाता भी उस पर प्रमाता का संकुचित रूप ही है। घट बनाने वाला कुम्भकार भी परमेश्वर की शक्ति की विजृम्भा ही है। संकुचित प्रमाता में प्रकाशनसामर्थ्य तो है पर वह पूर्ण प्रकाशांश का संस्पर्श न करके विषयों को वेद्य या इदं रूप में ही ग्रहण करता है।[7]

सत्-मीमांसा की दृष्टि से अपना पक्ष प्रस्तुत करते हुए यह सम्प्रदाय इस तथ्य को उजागर करने की चेष्टा करता है कि यह अनेकरूपता वाला चराचर विश्व भी सत् है परन्तु वास्तविक सत् है केवल शिव। यह तथ्य विप्रतिपत्तिपूर्ण प्रतीत हो सकता है और इस प्रश्न को स्वभावतः जन्म दे

सकता है कि अनेकरूपात्मक विश्व को सत् मान लेने पर अद्वैतवाद कैसे निष्पन्न होगा। इस अवधारणा को डॉ० के०सी० पांडेय 'सद्वादी प्रत्ययवाद' (Realistic Idealism) की शब्दावली में प्रकट करते हैं। परन्तु यह केवल लाक्षणिक प्रयोग मात्र है क्योंकि अपने मूल रूप में यह दर्शन प्रत्ययवादी ही है। सद्वाद तो केवल इस रूप में है कि सत् (reality) भी वस्तुत: ज्ञानात्मक (ideal) है। सरल शब्दों में परमशिव प्रकाशमय अर्थात् ज्ञानात्मक है अत: सत् है; सम्पूर्ण पदार्थजात भी मूलत: ज्ञानात्मक है, अत: वह भी सत् है। अतएव संविद्रूप परमशिव परमसत् है और संविद्रूप सृष्टि उसी का स्फार है अत: वह भी सत् है। 'जगन् मिथ्या' कहने वाले शांकर वेदान्तियों के सिद्धान्त से इस सम्प्रदाय का यह स्पष्ट भेद है। इस प्रकार यह सम्प्रदाय स्वयं को नकारात्मक दर्शन के रूप में न प्रस्तुत करके एक सर्वग्राही दर्शन के रूप में प्रस्तुत करने की कामना रखता है। इसकी यह कामना 'सर्वसर्वगततावाद' जैसी संज्ञाओं द्वारा व्यक्त होती है। 'सर्वं सर्वात्मकम्', 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' की उक्तियाँ यहाँ सार्थक हैं। यहाँ केन्द्र भी परिधिमय है और परिधि भी केन्द्रमय। जबकि शंकर के मत में परिधि ही केन्द्रात्मक है, केन्द्र परिध्यात्मक नहीं है। यहाँ जगत् में शिव है तथा शिव में जगत् है।

षट्त्रिंशत्तत्त्वात्मक जगत् चिदानन्दघन शिव द्वारा ही अनुप्राणित है। सामान्यत: पदार्थ के दो धर्म होते हैं—एक प्राणप्रद धर्म, जैसे गो में गोत्व यानी जिसके बिना गो का गो होना ही सम्भव नहीं और दूसरा विशेषाधानहेतु धर्म, जैसे शुक्लत्व आदि गुण जो वस्तु में रहते हैं और उसे एक विशिष्ट रूप प्रदान करते हैं। इनमें से स्वरूपाधायक होने के कारण प्राणप्रद धर्म ही प्रधान धर्म है। इस सम्प्रदाय के मतानुसार शिव ही तत्त्वसमूह का प्राणप्रद धर्म है जो उसे अनश्वर, नित्य व अवियुक्त बनाता है। दूसरे शब्दों में तत्त्वसमूह को शिवता प्रदान करता है।[8]

'ईश्वराद्वयनय' संज्ञा यही प्रतिपादित करती है कि वह एक ही प्रकाशात्मा परमेश्वर सब ओर भासमान हो रहा है। उसके दो रूप हैं, विश्वमय और विश्वोत्तीर्ण। विश्वमय अवस्था में वह सर्वाकृति है और विश्वोत्तीर्ण दशा में निराकृति। वह तत्त्वों में आवृत्त भी है और उनसे उत्तीर्ण भी है। उस एक प्रकाशात्मक परमशिव का ही विश्वरूप में भासित होना दो धारणाओं की पुष्टि करता है—एक है 'अद्वयवाद' और दूसरी है 'आभासवाद'। एक अर्थात् अद्वितीय परमशिव विश्वरूप में भासित होता है, यही आभासवादी धारणा है।[9]

अब सहज प्रश्न यह है कि जब प्रकाश ही प्रकाशित होगा तो अवभासनों में व्यवस्था कैसे होगी? नील, पीत आदि परस्पर व्यावृत्त कैसे जान पड़ेंगे? इस प्रश्न पर चर्चा करते समय यह सम्प्रदाय नैयायिकों की भांति सत्ता जाति अथवा घटत्व जाति आदि की धारणा स्वीकार नहीं करता। इस दर्शन के अनुसार तो शिव की अन्यतम शक्ति नियति ही व्यवस्था के लिए उत्तरदायी है। पर इससे भी मूल प्रश्न यह है कि प्रकाश ही प्रकाशित कैसे होता है? इस प्रश्न के उत्तर में यह दर्शन प्रतिपादित करता है बिम्ब-प्रतिबिम्बवाद को, जो इस दर्शन की निजी धारणा है और अनेक आपातिक विप्रतिपत्तियों का निराकरण करने में भी सक्षम है। यहाँ प्रकाशात्मभित्ति पर ही विश्व-वैचित्र्य का अवभासन होता है। जैसे दर्पण में प्रतिबिम्बित आकार-विशेष परस्पर व्यावृत्त प्रतीत होते हैं तथापि वे दर्पण से अभिन्न होते हैं, वैसे ही आभास भी शिव से अनतिरिक्त होते हुए भी अतिरिक्ततया भासित होते हैं। यही है प्रकाश का प्रकाशित होना।[10]

'एकप्रकाशवाद' संज्ञा वाले इस सम्प्रदाय में सभी भाव पदार्थों का स्वरूप चिन्मय, ज्ञानात्मक, प्रकाशात्मक है।[11] सभी भाव पदार्थों को चिन्मय मान लेने से एक अन्य महत्त्वपूर्ण तथ्य प्रकाश में आता है कि आभासवाद में स्फुरत्ता ही वस्तुओं की सिद्धि है। सिद्धि दो प्रकार की होती है—ज्ञाननिबन्धना सिद्धि और कारणनिबन्धना सिद्धि। ज्ञान ज्ञापक होता है, कारक नहीं। अत: इस दर्शन में वस्तुओं की सिद्धि सम्भव नहीं केवल ज्ञप्ति ही सम्भव है। प्रमाता स्वयं ही प्रकाश-विमर्शात्मक शिव का परिच्छिन्न रूप है अत: वह स्वयं के अतिरिक्त किसी अन्य की सत्ता कैसे सिद्ध करेगा? इस प्रश्न पर विचार करते समय आभासवादी दार्शनिक स्पष्ट करते हैं कि वस्तुएं ज्ञानमय हैं, ज्ञान के बाहर उनकी सत्ता नहीं है। यथार्थवादियों का कथन कि वस्तुएं ज्ञान के बाहर भी सत् हैं, यहाँ मान्य नहीं हैं। इस सम्प्रदाय की दृष्टि में अविकल्पात्मक संविद् में वस्तुओं की स्फुरत्ता ही सिद्धि है। इस प्रकार आभासवाद में आभासमानता ही सिद्धि है।[12]

काश्मीर शैवदर्शन की सत्-मीमांसा प्रकाश एवं विमर्श के आधारस्तम्भों पर खड़ी है। ये आधारस्तम्भ न केवल सत्-मीमांसा अपितु ज्ञान-मीमांसा तथा परमार्थ-मीमांसा को भी सहारा देते हैं। प्रमेयता का अर्थ है अभिधान-विषयता। अभिनव इसे संवर्तिता शब्द-भावना कहते हैं। संवर्तिता शाब्दी भावना निर्विकल्प रूप है। निर्विकल्प का अर्थ है स्थूल विकल्प का अभाव क्योंकि चेतना का सातत्य तो खंडित होता ही नहीं। यह प्रमेयता जागतिक स्तर पर विकल्प है और पारमार्थिक स्तर पर विमर्श। सभी पदार्थ शब्दमय हैं, महेश्वर भी परम पदार्थ है क्योंकि विमर्श तो वहाँ भी है।

इस दर्शन में विषय विमर्शमय है, अभिलापात्मक है, वाणी का विषय है क्योंकि विमर्शमयता इनका स्वभाव है। विमर्श केवल सविकल्पक ज्ञान का ही पर्याय नहीं। वह विकल्पमय भी है व चिद्रूप भी। निर्विकल्पक ज्ञान के समय भी विमर्श होता है। यहाँ तक कि स्तैमित्य की अवस्था में भी विकल्पात्मक ज्ञान बना रहता है। विषय यदि मूलत: विमर्शमय न होता तो न तो प्रमाता का कोई व्यापार सम्भव होता, न स्मृति।[13]

ज्ञान-मीमांसा

'कर्त्ता' चेतन व स्थायी होता है, इस धारणा ने इस सम्प्रदाय में अति महत्त्वपूर्ण स्थान पाया है। हम पूछ सकते हैं कि न्याय में भी कर्त्ता चेतन है और सांख्य का पुरुष भी प्रकृति के सान्निध्य या प्रतिबिम्बन से ज्ञान प्राप्त करता है तो शैवदर्शन में ही इसका क्या वैशिष्ट्य है? इस दिशा में सोचने पर हम पाते हैं कि यह सम्प्रदाय जगत् को ज्ञान रूप में स्वीकार करने के कारण विज्ञानवादी बौद्धों के बहुत निकट है। *विवृति-विमर्शिनी* में बौद्ध दार्शनिकों को ही मुख्य पूर्वपक्ष के रूप में प्रस्तुत किया गया है और ज्ञान-मीमांसा, परमार्थ-मीमांसा, सत्-मीमांसा सभी संदर्भों में इस पूर्वपक्ष के साथ सुदीर्घ चर्चाएं मिलती हैं। विज्ञानरूपता के कारण इन दो सम्प्रदायों की समानता केवल एक-आयामी साधर्म्य की ओर ही संकेत करती है, पूर्णरूपेण एकरूपता की ओर नहीं। स्वलक्षण का स्वीकरण बौद्धदर्शन को शैवदर्शन से काफी दूर ले जाता है। स्थायिता बौद्धों को स्वीकार्य नहीं जबकि यह सम्प्रदाय चेतना व उसकी स्थायिता को स्थापित करने के लिए प्रतिबद्ध है। यह सम्प्रदाय बौद्धों से सम भी है और विषम भी। इसी दृष्टि से चेतन व स्थायीकर्त्ता की धारणा को शैव दार्शनिक अत्यधिक महत्त्व प्रदान करते दिखाई देते हैं।

शैव दार्शनिकों का कथन है कि स्थायी प्रमाता के अभाव में न तो स्मृति संभव है और न ही ज्ञान। साथ ही साथ ज्ञान होने के पश्चात् व्यक्ति की कार्य के प्रति जो प्रवृत्ति होती है वह भी स्थायी प्रमाता के बिना उपपाद्य नहीं है। पदार्थ के प्रत्यक्ष में वाणी, शरीर, मन सभी का कार्य सम्मिलित है। इसके अतिरिक्त व्यक्ति की कार्य के प्रति प्रवृत्ति केवल एक प्रमाण से ही नहीं होती वरन् प्रमाणसमूह से होती है। यदि एक स्थिर प्रमाता न हो तो इन प्रमाणों की परस्पर योजना कैसे होगी? इस दर्शन में स्वसंवेदन पर विश्रान्त होने वाली वह प्रवृत्ति सरलता से सिद्ध की जा सकती है। क्योंकि चेतन रूप प्रमाता के अधिकरण में ही प्रमाणों की योजना रूप युक्ति सम्भव है।[14]

वस्तुत: इस सम्प्रदाय की सम्पूर्ण ज्ञान-मीमांसा ही एक स्थायी व चेतन कर्ता की परिकल्पना पर आधारित है। प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम, स्मृति, इच्छा, क्रिया, ज्ञान, संस्कार, आदि सभी ज्ञानात्मक प्रत्यय एक स्थायी व चेतनकर्त्ता के पूर्वभावित्व की ओर संकेत करते हैं।

'क्रिया' की दृष्टि से शैवदर्शन की ज्ञान-मीमांसा पर विचार करने से पूर्व इस विषय में बौद्धों के विचारों पर एक दृष्टि डालना उपयुक्त होगा। बौद्धमत में स्वलक्षण सृष्टि की सूक्ष्मतम या यों कहें कि एकमात्र इकाई है। यह स्वलक्षण काल या देश का क्षण नहीं वरन् सत्ता का क्षण है। बुद्धि प्रत्ययग्राही है अत: वह भिन्न-भिन्न स्वलक्षणों में काल, क्रम, देश व क्रिया की परिकल्पना कर लेती है। उनके अनुसार क्रिया वस्तुत: क्रम है, अत: वह अनेक है। यह कहना उपयुक्त नहीं कि उनका अधिकरण तो एक ही है क्योंकि जब हम किसी क्रिया को देखते हैं तो हमें क्रमानुगत क्षणों का ही ज्ञान होता है उनसे भिन्न किसी अन्य का नहीं। यदि अधिकरण को ग्रहण करने की हम चेष्टा भी करें तो भिन्न-भिन्न, देश, काल व अन्य क्रियाओं से प्रभावित होने वाले उस अधिकरण को एक ही कैसे कहा जा सकेगा। क्रिया सत्य नहीं है क्योंकि वह स्वलक्षणों का क्रम मात्र है। प्रत्येक स्वलक्षण परस्पर पौर्वापर्य के क्रम से बद्ध प्रतीत होता है क्योंकि प्रत्यय रूप में ही ज्ञान कर पाना हमारी बुद्धि की सीमा है। निश्चयात्मक ज्ञान सत्य नहीं है, क्षणिक तथा निर्विकल्पक ज्ञान ही सत्य है। सरल उदाहरण से समझना चाहें तो पूछ सकते हैं कि एक स्थल पर खड़े होकर नीचे प्रवाहित होने वाली जलधारा को नदी नाम से जानने वाले पुरुष के पास अपने ज्ञान को सत्य सिद्ध करने का क्या आधार है? इन्द्रियार्थ-सन्निकर्ष के समय उसने जिस जल को देखा था, 'जलमहम् जानामि' रूप प्रत्यक्ष होने तक क्या उस स्थान पर वही जल रहेगा? प्रत्यक्ष व प्रत्यक्ष ज्ञान होने के मध्य वाले कुछ ही क्षणों में प्रमाता की चित्तवृत्ति, उसकी मनोदशा, यहाँ तक कि उसकी आयु में क्या कुछ परिवर्तन नहीं आ चुका होता? संवेदन मात्र से प्रत्यक्षीकरण होने तक के मध्यवर्ती समय में होने वाला यह परिवर्तन प्रत्यक्ष ज्ञान की विश्वसनीयता पर प्रश्नचिह्न लगा देता है, अत: बौद्ध-दर्शन के अनुसार सभी कुछ अस्थायी है और परिवर्तनशील भी।

शैव दार्शनिक क्रिया को केवल व्यावहारिक दृष्टि से नहीं देखते वरन् उनकी दृष्टि में सद्वादी, विज्ञानवादी, स्वातन्त्र्यवादी अनेक विचारधाराएं सम्मिलित हैं। प्रमाता व प्रमेय की बौद्धसम्मत अस्थायिता व परिवर्तनशीलता उसकी सत्ता को विखण्डित कर देती है और ज्ञान सम्भव ही नहीं हो पाता। शैव दार्शनिक की सत्ता गतिशील तो है पर उसका सातत्य खंडित नहीं है। पदार्थ या वस्तु को देखने के लिए भी शैवदर्शन पारमार्थिक दृष्टि अपनाता है। हमारी परमसत्ता इच्छा, ज्ञान व क्रियामय है। क्रिया को स्पष्ट करने के लिए शैवदर्शन कहते हैं कि हमारे यहाँ इच्छा ही क्रिया है।

यह एक मौलिक धारणा है। जहाँ कुछ दर्शन देशक्रम में चितिशक्ति की प्रक्रिया स्वीकार करते हैं वहीं यह दर्शन क्रियाशक्ति को स्वीकार करता है। वस्तुत: इच्छा ही कारण, करण तथा क्रिया है। यह धारणा जागतिक व पारमार्थिक दोनों ही स्तरों पर देखी जा सकती है। चैत्र की यह इच्छा कि मैं भात पकाऊँ, आग जलाना, बरतन रखना, चावल बीनना आदि शारीरिक क्रियाओं से संलग्न होकर पकाने की क्रिया बन जाती है। सभी क्रियाओं में वह इच्छा अनवच्छिन्न रहती है। ठीक इसी प्रकार महेश्वर की अहंचेतना ही प्रकाशित होना, गतिमान् होना, कर्तृत्ववान् होना आदि रूपों में परिलक्षित होती है। उनमें कोई क्रम नहीं है। इस प्रकार क्रियाशक्ति दो प्रकार से कार्य करती है—एक तो, वह क्रिया तथा क्रम का निर्माण करती है दूसरे, क्रिया द्वारा उपरक्त होकर वह क्रमरूप में भासित होती है।[15]

यह सम्प्रदाय जहाँ क्रम तथा क्रिया की विविधता को स्वीकार करता है वहीं वह प्रमाता के सातत्य की ओर भी इंगित करता है। क्रिया व क्रम के आरम्भ होने से पूर्व एक अन्त:स्पन्द उद्भूत होता है जो बाह्य क्रिया को जन्म देता है। क्रमबद्ध व अनेक होते हुए भी क्रिया केवल विखंडित असम्बद्ध स्वलक्षण मात्र नहीं है जिन्हें जोड़ने के लिए बुद्धि सेतु बन जाती है वरन् विविधता सहित क्रिया का ऐक्य कहीं खंडित नहीं होता क्योंकि क्रिया की उत्प्रेरिका इच्छा एक ही है और वह इच्छा भी लगातार अखंडित व एक ही रहती है क्योंकि उसका प्रयोजन एक है। क्रिया विविधता में एकता है। एकता आन्तरिक और प्रमातृनिष्ठ है, पर अनकेता बाह्य और वस्तुनिष्ठ। क्रिया सत् है क्योंकि इसका ज्ञान अबाधित भी है और अर्थक्रियाकारी भी।

इस दर्शन की अन्यतम संज्ञाएं हैं—'शिवाद्वयनय', 'शिवाद्वयदर्शन', 'ईश्वराद्वयनय' आदि। स्वयं को न्याय, नय व दर्शन संज्ञाओं से अभिहित करते हुए यह सम्प्रदाय स्वयं को एक धार्मिक सम्प्रदाय के रूप में प्रस्तुत न करके एक दार्शनिक धारा के रूप में प्रस्तुत करता है जिसकी अपनी एक निजी ज्ञान-मीमांसा, परमार्थ-मीमांसा व पदार्थ-मीमांसा है। यद्यपि इस शास्त्र के विभिन्न ग्रंथों पर दृष्टि डालने पर हम पाते हैं कि शिव के विभिन्न रूपों व अवस्थाओं का वर्णन करते समय तथा अनेक उपायों और तांत्रिक आधार पर विभिन्न क्रिया-कलापों की चर्चा करते समय शास्त्रकार इसे धर्म से सर्वथा विलग नहीं रख सके हैं और धार्मिक तथा दार्शनिक तत्त्व परस्पर घुलमिल गए हैं, तथापि ऐसा प्रतीत होता है कि यह दर्शन स्वयं को एक दर्शन व नय अर्थात् न्याय के रूप में प्रस्तुत करना अधिक पसंद करता है। अभिनवगुप्त एक तांत्रिक व योगी भी हैं पर वह अपनी छवि एक दार्शनिक की तथा अपने शास्त्र की छवि एक श्रेष्ठ व अन्य समकालीन व प्राचीन दर्शनों से उत्तीर्ण दर्शनशास्त्र के रूप में प्रस्तुत करने की चेष्टा करते प्रतीत होते हैं। अत: धार्मिक व तांत्रिक अनुष्ठानों के विवरण से भ्रमित न हो कर इसके शुद्ध दार्शनिक तत्त्वों को सत्तर्क, गुरु-शिक्षा व अपने अनुभव के द्वारा ग्रहण कर लेना ही शैव दार्शनिक की सफलता है।

काश्मीर शिवाद्वयदर्शन में प्रत्यक्ष, अनुमान तथा आगम ये तीन प्रमाण स्वीकृत हैं। जिस प्रकार छत्तीस तत्त्वों में से पच्चीस तत्त्वों की स्वीकृति के लिए शैवदर्शन सांख्यदर्शन का ऋणी है उसी प्रकार प्रमाणत्रयी की स्वीकृति भी संभवत: उसी के आधार पर की गयी है। परन्तु इस 'प्रमाण-मीमांसा' के विस्तार के प्रति शैव दार्शनिकों की दृष्टि नितान्त निजी है।[16] यह अवधारणा सम्पूर्ण प्रमाण-मीमांसा में अनुस्यूत है कि आभास ज्ञान रूप है और ज्ञान स्वयं प्रकाश रूप है,

अतः ज्ञान की सत्ता प्रमाणित करने के लिए इतर प्रमाणों की आवश्यकता ही नहीं है।[17] इसीलिए व्यावहारिक प्रमाणों की चर्चा करने का इस दर्शन में विशेष प्रयास नहीं किया गया है।[18] अभिनवगुप्त इसे स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि हमारा प्रयास तो महेश्वर के वास्तविक स्वरूप की चर्चा करने का है जोकि स्वयं-प्रकाश रूप ही है। प्रमेयों के प्रकाशित होने अथवा न होने से इसकी प्रकाशरूपता अवरुद्ध नहीं होती। प्रमाण-मीमांसा को 'नास्माकम् भरः' कह कर अभिनव उसके महत्त्व को परमार्थ-मीमांसा की तुलना में अत्यंत अल्प आँकते हैं। हम देखते हैं कि जहाँ न्यायदर्शन, सांख्यदर्शन आदि में शास्त्रों के अनेक पृष्ठ प्रमाण-मीमांसा को पूर्णतया समर्पित हैं वहीं शैव दार्शनिक प्रमाणों की चर्चा कहीं-कहीं व केवल प्रसंगवश ही करते हैं। पर प्रमाणों की ज्ञानरूपता कहीं भी खंडित न हो जाये इस बात की ओर यह सम्प्रदाय अत्यंत सजग रहा है।

सारे प्रमाण भेदबुद्धि पर आधारित हैं, पर उनकी परिणति अभेदरूप ज्ञान में ही होती है। अनुमान प्रमाण के उदाहरण से इस तथ्य को स्पष्ट किया गया है।[19] अनुमान में व्याप्तिग्रहण के अवसर तक तो विद्युत्प्रभान्याय से इदंता भासित होती है, परन्तु अनुमिति-बोध की प्रतिष्ठा के समय अहंता ही अवशिष्ट रहती है।[20] उदाहरण के लिए अग्निधूम-व्याप्ति के ग्रहण के अवसर तक प्रमाता को पर्वत तथा धूमादि इदं रूप में ही भासित होते हैं परन्तु अन्ततः जब अनुमिति सिद्ध होती है कि 'मुझे ज्ञात है कि पर्वत वह्निमान् है' उस समय पर्वतस्थ वह्नि प्रमाता के ज्ञान से अनन्यरूप में ही प्रकाशित होती है। अतः अनुमान व्यवहार भी प्रमाता व प्रमा के अभेद को बाधित नहीं करता ।

प्रत्यक्ष प्रमाण में भी यही स्थिति है। पदार्थ का ज्ञान प्रमाता को ज्ञान रूप में ही होता है। यह स्थिति भी अभेद की ही है। बाह्यार्थवादी दर्शन की भाँति पदार्थों की ज्ञान से इतर परिकल्पना शैव दार्शनिकों को स्वीकार नहीं है। प्रमेय प्रमाता की पृष्ठभूमि पर ही भासित हो सकता है, इस कारण प्रत्यक्ष प्रमाण में भी प्रमा, प्रमेय व प्रमाता में कोई भेद नहीं होता।

शब्द-प्रमाण की चिद्रूपता पर इस दर्शन में सुदीर्घ चर्चाएं हैं। इस दर्शन का स्पष्ट स्वर है कि आगम प्रमाण चिद्रूप है। गहराई से देखें तो हम पायेगें कि इस तथ्य के सम्बन्ध में सम्प्रदाय की प्रमाण-मीमांसा इसकी परमार्थ-मीमांसा द्वारा ही अनुप्राणित है। परमेश्वर प्रकाश-विमर्शमय है और वाक्, आगम, अभिलाप ये सब विमर्श के ही पर्याय हैं। चिद्रूप महेश्वर के अन्तरंग व्यापार रूप में जड़रूपता का प्रश्न ही नहीं है।

सम्प्रदाय की दृष्टि में जिस प्रकार आकाश स्वात्मप्रतिष्ठ है उसी प्रकार ज्ञान के भी स्वतःप्रकाश रूप होने के कारण ज्ञान की सत्ता सिद्ध करने के लिए कोई प्रमाण आवश्यक नहीं है।[21] परमार्थतः ज्ञान एक ही है। न तो वह पूर्वानधिगत है और न ही उसमें स्व तथा पर का भेद है।[22] ज्ञान के ज्ञानान्तर-वेद्य न होने के विषय में असकृत् चर्चा की गई है। अनुमिति के प्रकरण में भी ज्ञान का ऐक्य ही व्याप्ति-ग्रहण का आधार है। व्याप्ति का ग्रहण व्यक्तिगत प्रमाता मात्र का ही नहीं है वरन् वह सार्वभौमिक है। धूम तथा अग्नि के प्रत्यक्ष के समय धूमसामान्य व वह्निसामान्य का बोध भी हो जाता है और निरुपाधि धूममात्र व वह्निमात्र का ग्रहण होने पर यह सिद्ध हो जाता है कि उनमें व्याप्ति भी सदैव रहेगी। बौद्ध दृष्टि से प्रत्येक ज्ञान-शृंखला में धूमज्ञान भिन्न होगा, अतः वह, व्यक्तिगत होगा। वैसे भी विखंडित सत्ता में विश्वास रखने वाले

बौद्धों के दर्शन में अनुमान की अनुपपन्नता अन्य अनेक सद्वादी दर्शन सिद्ध करते रहे हैं। इस दृष्टि से इस सम्प्रदाय द्वारा मान्य अनुमान पूर्णतः उपपन्न है क्योंकि इसमें उस वह्न्याभास का ग्रहण होता है जो एक है और सर्वत्र है।[23] सांख्यदर्शन से भी इस सम्प्रदाय की धारणा भिन्न है क्योंकि उसमें चेतन पुरुष के उपराग से ही ज्ञान होता है अन्यथा जड़ प्रकृति व चेतन पुरुष के परस्पर प्रतिबिम्बन के बिना ज्ञान सम्भव नहीं है। पर इस सम्प्रदाय में ज्ञान को ऐसी किसी प्रक्रिया से गुज़रने की आवश्यकता नहीं है। ज्ञान स्वप्रकाश रूप ही है।[24]

ज्ञान के स्वरूप के विषय में इस सम्प्रदाय की धारणा स्पष्ट व विलक्षण है। इसमें वैशेषिकों के समान ज्ञान को आत्मा का धर्म नहीं माना गया वरन् आत्मा को ज्ञानस्वरूप ही माना गया है। शुद्धस्वभाव वाली संविद् किसी अर्थ से प्रकाशित नहीं होती अपितु वह स्वयंप्रकाशरूप है। जड़ प्रकृति के एक विकार बुद्धितत्त्व के स्वभाव वाला सांख्यदर्शन-सम्मत ज्ञान भी जड़ है स्वयंप्रकाशरूप नहीं।[25] इस दर्शन में ज्ञान शुद्ध स्वभाव वाला स्वयंप्रकाशरूप है। इस सम्प्रदाय का सिद्धान्त है कि ज्ञान चित्स्वरूप है। यह ज्ञान भी प्रमाता से अनतिरिक्त ही है।[26]

ज्ञान को स्वयंप्रकाशरूप, एक तथा ज्ञानान्तरावेद्य सिद्ध करके सम्प्रदाय अपनी एक अन्य धारणा की स्थापना की पृष्ठभूमि तैयार कर देता है। इस धारणा का नाम है 'स्मृति'। स्मृति ने इस सम्प्रदाय में अजडप्रमातृता को सिद्ध करने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई है। स्मृति एक मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया है जिसे शैवदर्शन भी मनोवैज्ञानिक धरातल पर रख कर ही देखता है। स्मृति ने इस दर्शन में अत्यधिक महत्त्व अर्जित किया है क्योंकि यह न केवल एक ज्ञानात्मक प्रक्रिया है वरन् एक ऐसी धारणा है जिसके आधार पर यह दर्शन एक स्थायी एवं चेतन प्रमाता की परिकल्पना को सिद्ध कर सकता है।

काश्मीर शिवाद्वयवाद जिसे 'एकप्रकाशवाद' भी कहा गया है, बौद्धों के समान प्रमाता तथा प्रमेय में किसी भेद को स्वीकार नहीं करता। वैशेषिकों की भाँति इसमें प्रमाता को अधिकरण व ज्ञान को उसमें रहने वाला गुण नहीं माना गया। परन्तु स्मृति की प्रक्रिया पर दृष्टि डालने पर हम पाते हैं कि स्थायी प्रमाता की परिकल्पना के बिना स्मृति सम्भव ही नहीं है।[27] शैवदार्शनिकों का कथन है कि केवल संस्कार तथा वासनामात्र से स्मृति को नहीं समझा जा सकता। यह धारणा दो तथ्यों पर आधारित है—प्रथम, ज्ञान स्वप्रकाशरूप है; द्वितीय, एक ज्ञान दूसरे ज्ञान का विषय नहीं हो सकता। स्मृति 'तत्' या 'वह' के रूप में व्यक्त होती है। परन्तु हम सभी जानते हैं कि स्मृति के समय न केवल पूर्वानुभूत प्रमेय का ज्ञान होता है अपितु उसके साथ जुड़े अन्य सुख-दुःखादि अनुभव भी उद्बुद्ध हो जाते हैं। पूर्वानुभूत ज्ञान के पुनः उद्भूत होने की सामर्थ्य रह जाना संस्कार है।[28] इस दृष्टि से संस्कार, स्मृति तथा पूर्वानुभूत ज्ञान के विषय के पारस्परिक सम्बन्ध की व्याख्या तो कर सकता है परन्तु उसके साथ ही जुड़े हुए पूर्व सुख-दुःख आदि अनुभवों के विषय में कोई प्रकाश नहीं डाल पाता। इसका कारण यह है कि पूर्व अनुभव स्मृति के विषय के रूप में प्रकट नहीं हो सकता क्योंकि ज्ञान स्वप्रकाश है और एक ज्ञान दूसरे ज्ञान का विषय नहीं हो सकता। अतः यदि ज्ञानमात्र के अतिरिक्त एक स्थायी प्रमाता की परिकल्पना न की जाए तो स्मृत सम्भव ही नहीं हो सकेगी। स्मृत तथा पूर्वानुभूत विषय का साम्य बौद्धों को मान्य है परन्तु एक स्थायी प्रमाता के अस्तित्व के बिना यह साम्य भी कैसे स्थापित हो सकेगा।

शैव दार्शनिकों की स्थायी प्रमाता की परिकल्पना सभी विप्रतिपत्तियों का निराकरण कर देती है। वस्तुत: स्थायी प्रमाता व स्मृति की धारणाएँ परस्पर अन्योन्याश्रित हैं। स्थायी प्रमाता के कारण ही स्मृति सम्भव है, और स्मृति सम्भव है, इसी कारण हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि प्रमाता स्थायी है। व्यावहारिक तथा मनोवैज्ञानिक दृष्टि से देखने पर भी हम पाते हैं कि स्मृति का हमारे आचरण के निर्धारण से घनिष्ठ सम्बन्ध है। विगत जीवन के आनन्ददायक क्षणों की स्मृति हृदय को हर्ष से भर देती है और विगत किसी कष्ट की स्मृति विषाद से, जबकि वास्तव में विगत विषय उपस्थित नहीं होता केवल उसका संस्कार उद्‌बुद्ध होता है। एक स्थायी व स्थिर प्रमाता इन विभिन्न अनुभवों को धारण करता है व उनमें परस्पर योजना स्थापित करता है। अत: एक स्थायी प्रमाता तो मानना ही होगा। पर यहीं एक शंका उठ खड़ी होती है कि क्या स्थायी प्रमाता में ज्ञान तथा ज्ञान के विषय दोनों रहते हैं? क्या यहाँ द्वैतापत्ति नहीं होगी? ऐसी शंकाओं के प्रति सम्प्रदाय अति सजग है और अपनी इस ज्ञान-मीमांसा की समस्या का समाधान पारमार्थिक धरातल पर देता है कि वह एक ही परमशिव, जो स्वप्रकाश-रूप है, अपने भीतर असंख्य सृष्टियों को समाहित किए हुए है तथा ज्ञान, स्मृति तथा अपोहन शक्तियों से युक्त है। ऐसे एक सर्वकर्तृत्व तथा सर्वज्ञातृत्वमान् परम प्रमाता की स्थापना इस द्वैतापत्ति का निराकरण कर देती है। एक ही परम प्रमाता में प्रमेय तथा संकुचित प्रमाता दोनों ही आभासित होते हैं। सृष्टि तथा परमशिव में वही सम्बन्ध है जो दर्पण तथा प्रतिबिम्ब में है। वह शतप्रतिबिम्ब-सहिष्णु शिव स्वयं में ही सृष्टि का आभासन करता है। इस प्रकार ज्ञान तथा ज्ञेय की द्वयता का निषेध कर एक ही चेतन प्रमाता नाना रूपों में अभिव्यक्त होता है।

परमार्थ-मीमांसा

परमार्थ-मीमांसा ही शैवदर्शन का मुख्य कथ्य है, वही प्रयोजन है, वही वास्तविक अभिधेय है। इस दर्शन ने स्वयं अपने लिए जिन अनेक संज्ञाओं का प्रयोग किया है उनमें से अधिकांश संज्ञाएं दर्शन की परमार्थ-मीमांसा से सम्बन्ध रखती हैं। ईश्वरवाद, संविद्‌ब्रह्मवाद, अद्वयनय, पारमेश्वरशास्त्र, परमेश्वराद्वयशास्त्र, ईश्वराद्वयनय, स्वातन्त्र्यवाद, ईश्वरात्मवाद, एकप्रकाशवाद, प्रत्यक्षात्मवाद, ईश्वरैकात्मवाद, परमाद्वयरूपत्रिकदर्शन, सर्वानुभवान्तर्मुखैक-स्वतन्त्रसंविद्‌दर्शन आदि विभिन्न संज्ञाएँ शैवदर्शन के स्वयं अपने प्रति दृष्टिकोण की सहज ही व्याख्या कर देती हैं।

यह सम्प्रदाय स्वयं को घोर अद्वैतवादी मानता है। 'पारमेश्वरशास्त्र' संज्ञा से ज्ञात होता है कि सम्प्रदाय का परमसत् परमेश्वर है और 'परमेश्वराद्वयशास्त्र' संज्ञा इसमें यह अर्थ जोड़ देती है कि परमेश्वर ही एक मात्र परमसत् है। 'एकप्रकाशवाद' व 'स्वातन्त्र्यवाद' संज्ञाएं परमसत् की विशेषता को भी संकेतित करती हैं। उसकी ज्ञानक्रियामयता, उसकी प्रकाशविमर्शमयता, उसकी चेतना, उसकी गतिमत्ता उस परमशिव को एक विलक्षण परम सत्ता के रूप में सुस्थापित करती हैं। 'संविद्‌ब्रह्मवाद' संज्ञा जहाँ इसकी विशेषता की ओर इंगित करती है वहीं वेदान्तियों के ब्रह्म से इसका वैषम्य भी द्योतित कर देती है कि वेदान्त का मत जडब्रह्मवाद है पर इसका संविद्‌ब्रह्मवाद।

जिससे यह विश्व प्रकाशित होता है, जिस पर विश्रान्त होकर प्रकाशित होता है, जिसकी इच्छा से प्रकाशित होता है, जो प्रकाशमान विश्व की आत्मा है, जिसके स्वातन्त्र्य से विश्व

प्रकाशित होता है वह परमार्थ तत्त्व प्रधानरूपेण उत्कृष्ट है—वही इस सम्प्रदाय का प्रधान अभिधेय है। सांव्यावहारिक प्रमाणों की चर्चा करना सम्प्रदाय का लक्ष्य नहीं है, प्रधान अभिधेय है ईश्वरस्वरूप का निरूपण जोकि स्वयंप्रकाशरूप है, प्रमेयों के प्रकाशित होने या न होने से उसके स्वरूप का बोध नहीं होता।[29]

'स्वातन्त्र्य' सम्प्रदाय की परमार्थ-मीमांसा का एक मौलिक अंग है। अपने दर्शन को असकृत् स्वातन्त्र्यवाद संज्ञा से अभिहित करके शैव दार्शनिक इस धारणा को अति महत्त्वपूर्ण बना देते हैं। काश्मीर शैवदर्शन की विभिन्न धारणाओं पर दृष्टि डालने पर हम पाते हैं कि स्वातन्त्र्य की अवधारणा का इस दर्शन में वही महत्त्व है जो शास्त्रीय गायन-पद्धति के राग में एक वादी स्वर का होता है। वादी स्वर का प्रयोग पुन: पुन: किया जाता है और विभिन्न स्वरावलियां उसी वादी स्वर पर आकर न्यस्त होती हैं। इसी प्रकार इस दर्शन की ज्ञान-मीमांसा, प्रमाण-मीमांसा, सत्-मीमांसा, सृष्टिक्रम की व्याख्या, परमार्थ-विवेचन, तत्त्वों का प्रकाशन, उनमें पारस्परिक व्यावर्तन, बिम्ब-प्रतिबिम्बवाद आदि सभी धारणाएं इस प्रत्यय के द्वारा ही अनुप्राणित हैं और इसी प्रत्यय में विश्रान्त हो जाती है। शैव दार्शनिकों ने अपने दर्शन की छवि स्वातन्त्र्यवाद के रूप में स्थापित की है जो इसकी मौलिकता दर्शाती है और इसका वैलक्षण्य भी।

शैवदर्शन अद्वयवादी है तो वेदान्त भी अद्वयवादी ही है, शैवदर्शन विज्ञानवादी है तो बौद्धदर्शन भी। परन्तु शैवदर्शन के परमसत् का स्वातन्त्र्य उसे अद्वैत व ज्ञानात्मकता के अतिरिक्त एक अनूठा वैशिष्ट्य प्रदान करता है। स्वतंत्र का अर्थ है 'स्वस्मिन् तन्त्रे स्थित:' अर्थात् केवल अपने ही अधीन रहने वाला। स्वातन्त्र्य केवल उसकी सर्वकर्तृता व सर्वज्ञातृता को ही द्योतित नहीं करता वरन् यह स्वातन्त्र्य दो बातों को लक्षित करता है। प्रथम, परमशिव ज्ञानक्रियामय है; सृष्टि, लय, संहार के लिए स्वतंत्र है, सर्वव्यापी, सर्वज्ञ व सर्वकर्तृत्वमान् है और द्वितीय यह कि वह स्वयं अपने अस्तित्व के लिए भी स्वयं पर ही निर्भर है। दूसरी बात स्पष्ट करना इसलिए आवश्यक है क्योंकि उसकी ज्ञातृता व कर्तृता का स्वातन्त्र्य उसकी बहिर्मुखी विश्वमय अवस्था की ही व्याख्या करता है और यह बात स्पष्ट करनी शेष ही रह जाती है कि अन्तर्मुखी सामरस्यपूर्ण विश्वोत्तीर्ण अवस्था में स्वातन्त्र्य के प्रत्यय का क्या महत्त्व है? इस प्रकार स्वातन्त्र्य के दो पक्ष हैं—सर्वज्ञातृत्व, सर्वकर्तृत्व और अनन्यापेक्षिता। इस 'अद्वयनय' में महेश्वर स्वातन्त्र्य के माहात्म्य से इस जगत् को स्वयं से व्यतिरिक्त रूप में भासित करता है जो वस्तुत: उससे अव्यतिरिक्त है। यह अनन्यापेक्षी स्वातन्त्र्य ही जगत् वैचित्र्य का हेतु है।[30]

प्रकाश-विमर्शात्म चिद्रूप परमेश्वर स्वातन्त्र्य के कारण प्रमेयों व प्रमाताओं के रूप में भासित होता है। वह रुद्र से लेकर स्थावर तक प्रमातृरूपों में और नील सुखादि प्रमेयरूपों में भासित होता है। अनतिरिक्त होने पर भी वह अतिरिक्ततया भासित हो सकता है। संविद्रूप होते हुए भी वह असंविद्रूप में भासित होता है, यही उसका स्वातन्त्र्य है।[31]

स्वातन्त्र्य के कारण होने वाला यह स्वरूप-संकोच एक अन्य शैव धारणा का संकेतन करता है कि इस सम्प्रदाय में 'संकोच' ही प्रकारान्तर से 'विस्तार' है। संकोच विभव का कारण है। शक्ति तो शिव का ही एक आयाम है जो निषेधव्यापाररूपा है। उसी शक्ति से शिव अपने वास्तविक संविद्स्वरूप को ओझल हो जाने देता है और पूर्ण प्रकाशविमर्शमय परमशिव संकुचित

प्रकाशविमर्शमय प्रमातृप्रमेयजगत् के रूप में भासित होने लगता है। यहाँ भी उसकी प्रकाशविमर्शमयता पूर्णत: ध्वस्त नहीं होती, उसमें गुणात्मक परिवर्तन भी नहीं होता केवल परिमाणात्मक परिवर्तन होता है। स्वातन्त्र्य से परमशिव ही पूर्णता को संकुचित कर सीमित प्रमातृप्रमेय का विस्तार करता है।

स्वातन्त्र्य की यह विलक्षण अवधारणा इस दर्शन की तीन महत्त्वपूर्ण धारणाओं की आधार भूमि है। प्रथम 'संविद्ब्रह्मवाद', द्वितीय 'परमार्थवस्तुवाद' और तृतीय 'सर्वसर्वगततावाद'। ये तीनों ही संज्ञाएँ शैवदर्शन अपने लिए प्रयोग करता है। प्रथम धारणा है कि इस दर्शन का ब्रह्म अर्थात् परमशिव संविद् है, चेतन है, जड़ नहीं। वेदान्तसम्मत ब्रह्म भी जड़ नहीं है पर शैव दार्शनिक लाक्षणिक प्रयोग करते हुए उसे 'जडब्रह्मवाद' की संज्ञा देते हैं। वस्तुत: परमशिव को संविद्ब्रह्म व वेदान्तसम्मत ब्रह्म को जडब्रह्म कहने का कारण है परमशिव की गतिमत्ता, जो वेदान्तसम्मत ब्रह्म में नहीं है। यह गतिमत्ता स्पन्द के रूप में भी जानी जा सकती है और उसकी आभासन-सामर्थ्य के रूप में भी। यह आभासन-सामर्थ्य परमशिव के इच्छा-स्वातन्त्र्य का ही एक अंग है। इसका संविद्-ब्रह्म जो ज्ञान रूप है, विश्वोत्तीर्ण दशा में एक पूर्ण सामरस्यपूर्ण अवस्था में रहता है और अपने स्वातन्त्र्य से स्वयं ही विश्वमय हो जाता है। अत: माया जैसी किसी सदसदनिर्वचनीय शक्ति की परिकल्पना इस दर्शन में वांछित ही नहीं है।

द्वितीय संज्ञा परमार्थवस्तुवाद भी स्वातन्त्र्य से ही अनुप्राणित है। पूर्ण, विश्वोत्तीर्ण, शुद्धज्ञान-क्रियामय परमशिव का विभिन्न आभासों के रूप में भासित होना स्वातन्त्र्य पर ही निर्भर है। तृतीय अवधारणा सर्वसर्वगततावाद भी द्वितीय धारणा का ही विस्तार है और स्वातन्त्र्य पर ही आधारित है। प्रकारान्तर से कहें तो कह सकते हैं कि क्योंकि परमेश्वर स्वयं अपने इच्छा-स्वातन्त्र्य से अपने भीतर ही सम्पूर्ण विश्व को भासित करता है अत: वस्तु या आभास भी परमार्थसत् का ही प्रच्छन्न रूप है और यह भी कि परमार्थ से पदार्थ तक सभी कुछ एक शिव द्वारा अनुप्राणित है, अत: सर्वसर्वगततावाद संज्ञा भी सार्थक है।

इस दर्शन में जो कुछ जिस प्रकार से प्रकाशित होता है वह उस प्रकार का ही होता है। धर्म-धर्मी आदि का भेद केवल परोपदेश काल में ही सृष्ट है[32]—यह कह कर यह दर्शन पूर्णरूप से एक विज्ञानवादी छवि प्रस्तुत करता है। परमशिव ज्ञान रूप है और एक है। चराचर जगत् उसी का स्फार है और ज्ञान रूप है। धर्म-धर्मी, प्रमातृ-प्रमेय, जड-चेतन का अन्तर करके किसी प्रकार के द्वैत का स्वीकरण इसे मान्य नहीं। वस्तुएँ ज्ञान रूप हैं और उनका प्रत्यक्ष भी ज्ञान रूप में ही होता है।

माया के प्रत्यय को स्वातन्त्र्य द्वारा स्थानापन्न करने से शैव दार्शनिक के सम्पूर्णतावादी दृष्टिकोण का आभास मिल जाता है। यह दृष्टिकोण है एक सर्वग्राही, सकारात्मक, पूर्णतावादी, जिजीविषु दर्शन का, जिसमें मिथ्या कुछ भी नहीं हैं, हेय कुछ भी नहीं है। परमशिव अपने स्वातन्त्र्य से, परमार्थ से पदार्थ तक व्याप्त है। यह स्वातन्त्र्य मूलत: है क्या, इस पर विचार करते समय कहा गया है कि प्रकाशरूपता ज्ञान है और विमर्शरूपता क्रिया।[33] परमशिव प्रकाशविमर्श स्वरूप है। ज्ञान तथा क्रिया ही उसका स्वातन्त्र्य है। विस्तार में जाने पर हम पायेंगे कि इस स्वातन्त्र्य का सम्बन्ध न केवल विमर्श अर्थात् क्रिया पक्ष से है अपितु प्रकाश अर्थात् ज्ञान पक्ष से

भी है। प्रकाश ज्ञान तथा सत् दोनों का द्योतक है। अत: 'सत्ता-स्वातन्त्र्य' का सम्बन्ध प्रकाश से है और 'कर्तृता-स्वातन्त्र्य' का सम्बन्ध विमर्श से है।

अज्ञान के कारण संकुचित प्रमाता अहं के वास्तविक रूप को नहीं जानता। इस दर्शन में महेश्वर का यह परम स्वातन्त्र्य है कि वह संकुचित प्रमाता की अवस्था में असम्भव सी लगने वाली बातों को सम्भव बनाता है।[34] ईश्वर की अप्रतिहत क्रियाशक्ति रूपी स्वातन्त्र्य की स्थापना इस दर्शन में की गई है।[35]

यहाँ 'बिम्ब-प्रतिबिम्बवाद' का प्रतिपादन शैवदर्शनसम्मत सृष्टि की व्याख्या तो करता ही है, पर इस प्रतिबिम्बन के पीछे भी स्वातन्त्र्य ही निहित है। परमेश्वर स्वात्मभिति पर विश्वाभासन करता है। वह प्रतिबिम्बसहिष्णु है। दर्पण में प्रतिबिम्बित बिम्ब जिस प्रकार व्यावृत्त प्रतीत होता हुआ भी दर्पण से अनतिरिक्त होता हैं वैसे ही उस परम प्रमाता के अधिकरण में प्रकाशित होता हुआ विश्व भी उससे अनतिरिक्त है। यह उसका स्वातन्त्र्य है कि वह नियति शक्ति की सहायता से स्वयं के स्वरूप को आच्छादित करते हुए बीज, भूमि, जलादि आभासों को प्रकट करता है।[36] अनतिरिक्त को अतिरिक्ततया भासित कर पाना इस दर्शन के परमशिव का स्वातन्त्र्य है।

स्वलक्षणवादी बौद्धों से दीर्घ व विस्तृत चर्चा करते समय यह सम्प्रदाय अपना पक्ष प्रस्तुत करता है और स्वलक्षण को भी ईश्वर के इच्छा व क्रिया स्वातन्त्र्य के अन्दर ही समाहित कर लेता है। इसका पक्ष है कि ईश्वर स्वसंविद्-मुकुर में विश्व का आभासन करते समय क्षणिकता अर्थात् स्वलक्षणता का भी आभासन कर देता है।[37]

अपरिच्छिन्नप्रकाशस्वातन्त्र्य ही चित् का लक्षण है। अत: जडब्रह्मवाद उपयुक्त नहीं है संविद्ब्रह्मवाद ही वांछनीय है।[38] वेदान्त के सन्दर्भ में काश्मीर शैवदर्शन अपना वैशिष्ट्य प्रकट करता है[39] और यही स्पष्ट करता है कि यदि शैव दार्शनिक की दृष्टि से देखा जाए तो ब्रह्मविवर्त्तवाद जडविवर्त्तवाद ही है क्योंकि ब्रह्म में स्वयं वैसा विश्वाभासनकारी स्वातन्त्र्य नहीं होता जैसा परमशिव में है।

इस सम्प्रदाय में जातिलिङ्गगत अधिकारिभेद को मान्यता नहीं दी गई है। इसमें वर्णविभाग को मान्यता नहीं दी गई है। जिस प्रकार वेदान्त में तीन वर्णों का ही अधिकार वर्णित है, काश्मीर शैवदर्शन में सभी का अधिकार है। अधिकारिभेद का न होना कोई ऐसी विशेषता नहीं है जो केवल शैवदर्शन में ही पाई जाती हो, और अन्य दर्शनों में नहीं। परन्तु हम देखते हैं कि इस दर्शन के विद्वान् पुन: पुन: इस विशेषता की ओर संकेत करते हैं।[40] इस दर्शन में प्रतिपादित की गई धारणाओं की विश्वसनीयता और महत्त्व को प्रकट करने के लिये दार्शनिक स्पष्ट करते हैं कि इस दर्शन में तो एक बालक के द्वारा कही गई उचित व युक्तिसंगत बात भी महत्त्वपूर्ण मानी गई है तो उन तथ्यों की विश्वसनीयता तो संदेह से सर्वथा परे है जिन्हें इस दर्शन के महान् दार्शनिक प्रतिपादित करते हैं। वर्ण-भेद का न होना, केवल आयु व अनुभव के आधार पर ही व्यक्तियों में छोटे-बड़े का भेद न करना, किसी भी वर्ण, आयु, वर्ग के व्यक्ति को आध्यात्मिक विकास का समान अवसर प्रदान किया जाना इस दर्शन की 'समतादृष्टि' का संकेतन है।

यद्यपि यह समदृष्टि अन्यत्र भी पाई जाती है पर इस सम्प्रदाय की समदृष्टि के मूल में पुन: इस दर्शन की परमार्थ-दृष्टि के ही दर्शन होते हैं। उस एक ही प्रकाशविमर्शमय परमशिव के विश्वमय

हो जाने पर, उसके ही अन्तर्गत भासित होने वाले विश्व के चराचर आभास अपने मूल रूप में तो समान ही हैं। एक के अनेक हो जाने पर उनका वास्तविक स्वरूप नहीं बदलता। सम्प्रदाय की समदृष्टि इस दृष्टिकोण से सर्वथा मौलिक है और अद्वितीय भी। इस दर्शन की सम्पूर्ण दृष्टि से यह स्पष्ट होता है कि इसकी समतादृष्टि केवल जागतिक सृष्टि के लिए ही नहीं है। यह समता जागतिक से पारमार्थिक स्तर तक समान रूप से व्याप्त है।

अत्यन्त जटिल व दुर्गम्य प्रतीत होने वाली पारमार्थिक समस्याओं की व्याख्या शैव दार्शनिक अत्यन्त सहज लौकिक उदाहरणों द्वारा कर देते हैं। जो प्रक्रियाएं पारमार्थिक स्तर पर घटित होती हैं वही जागतिक स्तर पर भी। आपाततः जड़तम प्रतीत होने वाला रजकण भी प्रकाशविमर्शमय है। एक कुम्भकार परम प्रमाता का ही परिच्छिन्न रूप है और कुम्भ-निर्माण की प्रक्रिया उस सृष्टि-प्रक्रिया का एक सीमित रूप।[41] यह सम्प्रदाय बाह्यार्थवादियों की भाँति बाह्य-पदार्थों को सत् नहीं मानता, सांख्य की भाँति पुरुष प्रकृति में जड चेतन का भेद आरोपित नहीं करता, वेदान्त की भाँति विश्व को मायासृष्ट मिथ्या भी नहीं मानता। अद्वैतवादी विज्ञानवादी होते हुए भी इस सम्प्रदाय ने एक नितान्त निजी, पृथक् और विशिष्ट भूमि चुनी है जिस पर खड़े हो कर वह कह सकता है कि हमारे यहाँ यथार्थ भी परमार्थ से भिन्न नहीं। विश्वोत्तीर्ण का बिना किसी बाह्य सहायता के निजी स्वातन्त्र्य से विश्वमय हो जाना और स्वात्मभिति पर जगदाभासन करना इस अद्वैतवादी दर्शन को महाद्वैतवादी के साथ ही साथ अद्वितीय भी बना देता है।

प्रत्यभिज्ञादर्शन या प्रत्यभिज्ञाशास्त्र संज्ञाएं इस दर्शन के लिए पुनः पुनः प्रयोग की गई हैं। 'प्रत्यभिज्ञा' इस सम्प्रदाय का केवल ज्ञान-मीमांसीय ही नहीं परमार्थ-मीमांसीय प्रत्यय भी है। यदि हम यह कहें तो अनुचित न होगा कि इस शास्त्र में आत्म-प्रत्यभिज्ञान ही मोक्ष है। आत्मज्ञान के स्थान पर यह सम्प्रदाय आत्मप्रत्यभिज्ञान शब्द का प्रयोग करना उचित मानता है। आत्मज्ञान शब्द से ज्ञाता व ज्ञेय के भेद का बोध होता है जो प्रत्यभिज्ञा से नहीं होता। ज्ञान शब्द प्रत्यभिज्ञान से कुछ भिन्न है क्योंकि जिसे हम साधारणतः ज्ञान समझते हैं वह अवास्तविक नहीं तो कम से कम अपूर्ण तो है ही। संकुचित प्रमाता वेद्य पदार्थ के इदं अंश का ही संस्पर्श करता है। अहमिदम् विश्व को केवल इदंतया ग्रहण करना, पूर्ण को अपूर्णतया ग्रहण करना, संकुचित प्रमाता की सीमा है। परार्थानुमानमयी प्रत्यभिज्ञा रूपी साधन द्वारा यह शास्त्र संकुचित प्रमाता में इच्छा, ज्ञान, क्रिया शक्तियों को जागृत करके सामर्थ्यबोध कराता है व तद्वत् आचरण कराता है।[42] प्रत्यभिज्ञा से पूर्व उसे अपनी सर्वकर्तृता, सर्वग्राहिता तथा पूर्णता का बोध नहीं होता। यह बोध न होना अपूर्ण ज्ञान है। अपनी सर्वमयता को पहचान लेना प्रत्यभिज्ञा है। संकुचित प्रमाता परमप्रमाता का संकुचितरूप है। सत्तर्क, गुरु-शिक्षा व स्वानुभव से प्राप्त प्रत्यभिज्ञान इस अपूर्ण ज्ञान का नाश कर उसे पूर्णताबोध कराता है। स्वयं को पहचान लेना ही प्रत्यभिज्ञा है।

यह प्रत्यभिज्ञा ही इस दर्शन में मोक्ष है। मोक्ष किसी अन्य, अब तक अप्राप्य स्थिति की प्राप्ति नहीं है वह केवल अपने वास्तविक पूर्ण स्वरूप से परिचित हो जाना है, जोकि अब तक अज्ञान (जिसे कंचुक, माया, मल आदि रूपों में व्यक्त किया गया है) के कारण आवेष्टित था।[43] *तंत्रालोक* में प्रत्यभिज्ञा को आत्मसाक्षात्कार के रूप में स्पष्ट किया गया है। स्वतंत्र चित् स्वभाव वाला जो प्रकाश हृदय में स्थित है उसे ही इस दर्शन में सर्वतत्त्वमय माना गया है। यह स्वप्रकाश

है और सूर्यादि से विलक्षण है। केले के फूल का उपमान ले कर यह दर्शन स्पष्ट करता है कि किस प्रकार आत्मज्ञ को आत्मस्थ परप्रमातृरूपता का ज्ञान होता है।[44] जैसे कदली दल में बाह्य पत्र धीरे-धीरे झड़ जाते हैं और अन्ततः परम उपादेय पुष्प ही शेष रह जाता है वैसे ही पंचभूत, तन्मात्र, इन्द्रियादि से युक्त आकार वाले संकुचित प्रमाता को जब आत्म-साक्षात्कार होता है तब बाह्य शारीरिक तत्त्व परित्यक्तप्राय हो जाते हैं और वह हृदय के मध्य स्फुरित होने वाले प्रकाश रूप स्वयं का साक्षात्कार करता है। इस सम्प्रदाय की मोक्ष के विषय में यह धारणा यह व्यक्त करती है कि यद्यपि यह दर्शन अपने यहाँ वर्णित मोक्ष को अन्य दर्शनों में मान्य मोक्ष की तुलना में श्रेष्ठतर और अतिक्रामी मानता है[45] तथापि मोक्ष प्राप्ति की प्रक्रिया में कोई जटिलता नहीं हैं। स्वयं अपने वास्तविक रूप को पहचान लेना ही मोक्ष है।

शिव-साक्षात्कार के लिए आत्मज्ञान ही करण है। अन्य दर्शनों की भाँति अन्यान्य उपायों की खोज करना व्यर्थ है।[46] यद्यपि प्रसंगवश दर्शन में अनेक उपायों की चर्चा की गई है पर मोक्ष को प्रत्यभिज्ञात्मक मानने के कारण उपायों की सरलता व सहजता को महत्त्व दिया गया है। परतत्त्व में प्रवेश के लिए जो उपाय निकटतर हो वही ग्राह्य है।[47] अन्य दर्शनों की तुलना में यह सम्प्रदाय अधिक उदारमना व सर्वग्राही है। सर्वात्मक दर्शन में न तो विधि ही है और न निषेध।[48] बल केवल इस पर है कि संसार को महेश्वर के स्फार के रूप में ही जानना चाहिए।

प्रत्यभिज्ञा मोक्ष है, अतः भेद का विगलन करना यमादि उपायों का प्रयोजन है। भेद विगलन से ही संविद् अभिव्यक्त होती है। प्रश्न हो सकता है कि क्या संविद् का संस्कार हो सकता है और यदि हाँ तब तो असंविद्रूपतापत्ति तथा द्वैतापत्ति हो सकती है। पराद्वयदर्शन की मान्यता है कि देह, प्राणादि भी मूलतः संविद्रूप हैं। स्व पर रूप को आत्मरूप से भासित करने पर संविद् ही अभिव्यक्त होती है।[49]

मोक्ष के लिए योग की महिमा इस सम्प्रदाय ने भी स्वीकार की है। 'षडंग योग' मुक्तिमार्ग के लिए उपयोगी है। परन्तु इस सम्प्रदाय ने तर्क को उत्तम योगांग माना है। प्राणायाम, ध्यान, प्रत्याहार, धारणा, तर्क तथा समाधि षडंग योग के सोपान हैं। यद्यपि तर्क भी प्राणायामादि के समकक्ष ही है परन्तु हेय तथा उपादेय में विवेक करने की सामर्थ्य रूप होने के कारण तर्क उत्तम योगांग है। तर्क द्वारा हेय तथा उपादेय में भेद करके योगी तुरन्त तत्त्वज्ञ हो जाता है।[50] अन्य दर्शनों में जो मुक्ति के अन्यान्य उपाय वर्णित हैं उनसे भ्रमित न होकर व्यक्ति तर्क द्वारा सर्वोत्तीर्ण प्रकाशात्म पर तत्त्व की ओर उन्मुख होता है।

अधिकारिभेद सम्प्रदाय में वर्णव्यवस्था के आधार पर मान्य नहीं। संसारसागर से तरने की इच्छा करने वाला व्यक्ति इस दर्शन का अधिकारी है।[51] यहाँ गुरु का महत्त्व निःसंदेह बहुत है। गुरु का कार्य है कि वह अधिकारी को उपदेश दे।[52] पर व्यक्ति को इस शास्त्र के लिए प्रेरणा देना व्यर्थ है क्योंकि व्यक्ति दो प्रकार के हैं—आयातशक्तिपात तथा अनायातशक्तिपात। आयातशक्तिपात पुरुष अन्तःप्रेरणा से स्वयं ही शास्त्राधिगम में प्रवृत्त होता है, और अनायातशक्तिपात प्रेरणा देने पर भी प्रवृत्त नहीं होता। अतः दोनों दशाओं में अभ्यर्थना करना निष्प्रयोजन है। जो अज्ञानहीन अनुत्तर परम प्रमाता के ऐकात्म्य से युक्त है वे ही अधिगम के अधिकारी हैं और वे ही उपदेश के भी।

उपदेश देते समय भी गुरु व शिष्य के मध्य द्वैतापत्ति नहीं होती। इस अद्वयनय में पारमार्थिक पूर्ण स्वभाव वाली, सभी भावों की आधार रूप संविद् ही पश्यन्ती दशा के क्रम से अवरोहण करती हुई, उसी मार्ग से वैखरी आदि रूप प्राप्त करती हुई संकुचित होकर प्रमाता रूप शिष्य के रूप में भासित होती है। प्रष्टा व वक्ता का भेद भी यहाँ अनुपपन्न है।[53] परमेश्वर की अनुग्रहशक्ति ही प्रत्यभिज्ञा का कारण है। मोक्ष की अवस्था में पूर्ण ज्ञान व क्रिया शक्तियाँ जो संकुचित प्रमाता में अन्तर्निहित हैं परन्तु मलावेष्टित होने के कारण प्रच्छन्न हैं, अभिव्यक्त हो जाती हैं। ये शक्तियाँ परमेश्वर से पुरुष में स्थानान्तरित नहीं होती वरन् आवृत्त अवस्था से अभिव्यक्त मात्र होती हैं।

अज्ञान संसरण का कारण है और ज्ञान मोक्ष का। स्वरूपख्याति ही मोक्ष है और स्वरूप अन्य कुछ नहीं वरन् परम प्रकाश ही है जो अपने इच्छा-स्वातन्त्र्य से स्वरूप गोपन कर विश्वरूपता को प्राप्त कर लेता है। सभी ज्ञेय, बन्धन, मोक्ष आदि का पारमार्थिक स्वरूप क्या है इस बात को शिव की आज्ञा से ही प्रतिपादित किया गया है। इस स्वरूप का ज्ञान कर पाने के लिए उस की शक्ति ही उपाय है यह बात सर्वमान्य है। उसी के अनुग्रह से यह ज्ञान सम्भव है। इस ज्ञान के तीन आधार हैं—'स्वानुभव', 'सत्तर्क' तथा 'शास्त्र' या 'आगम'। यह क्रम वरीयता का क्रम है।[54]

इस प्रकार अपनी एक निजी प्रमाण-मीमांसा, पदार्थ-मीमांसा, परमार्थ-मीमांसा, मोक्ष-मीमांसा आदि लेकर इस सम्प्रदाय ने अपना एक विशिष्ट स्वरूप ढाला है। यहाँ इस सम्प्रदाय के विशिष्ट सिद्धान्तों को परखने तथा विस्तार से चर्चा करने की चेष्टा नहीं की गई है, वरन् केवल उन्हीं सिद्धान्तों को रेखांकित करने का प्रयास किया गया है जिन्हें यह दर्शन अपना नितान्त निजी सिद्धान्त समझता है। यह शैवदर्शन को स्वयं उसकी ही दृष्टि से देखने का प्रयास है। या यूँ कहें कि यहाँ उन्हीं तथ्यों को प्रस्तुत किया गया है जिन्हें सम्प्रदाय स्वयं हमें दिखाना चाहता है।

काश्मीर शिवाद्वयवाद के दार्शनिक ग्रंथों में अस्मद्दर्शन, अस्मद्दृशि, अस्मिन् नये, नः सिद्धान्तः, अस्मन्मते तथा अन्य समानार्थी शब्दों का प्रयोग बार-बार दिखाई पड़ता है। इस शब्दावली से सहज ही बोध हो जाता है कि सम्प्रदाय अपने किसी निजी सिद्धान्त का प्रतिपादन कर रहा है या अन्य दर्शनों के प्रसंग में अपने सिद्धान्त का वैशिष्ट्य या वैलक्षण्य सिद्ध कर रहा है। स्वयं अपने लिए अनेक संज्ञाओं का प्रयोग करते समय भी यह दर्शन अपनी इसी आत्मदृष्टि का परिचय दे जाता है क्योंकि ये विभिन्न संज्ञाएं न केवल परिचयात्मक हैं वरन् इस सम्प्रदाय के विशिष्ट सिद्धान्तों को केवल एक ही शब्द में समाहित कर इस दर्शन के स्वरूप को प्रस्तुत करने में समर्थ हैं।

अब हम इस सम्प्रदाय में प्रतिपादित ऊपर उल्लिखित स्वरूपघटक विशिष्ट प्रत्ययों का स्वतन्त्र रूप से विश्लेषण करने का प्रयास करेंगे।

पाद-टिप्पणी

1. (अ) एवमेवार्थसिद्धिः स्यान्मातुरर्थक्रियार्थिनः ।
भेदाभेदवतार्थेन तेन न भ्रान्तिरीदृशी ।। —ई०प्र०का० 2/2/7

(ब) इह भावानां न सत्तासम्बन्धः सत्त्वम्, अव्यापकत्वाद् अनवस्थावैयर्थ्यादिदोषात्, न अर्थक्रिया वस्त्वन्तरत्वात्, न तत्कारित्वं सर्वदा तदावेशादर्शनात्, उक्तं हि—अर्थक्रियापि सहजा नार्थानाम् ··· इति। —*ई०प्र०वि० (भा०)*, भा० 2, पृ० 58-59

2. सिद्धान्तिदर्शने तावदनन्त आभासवर्गो नियतिशक्त्या मिश्रीभूतः सन् पदार्थेऽर्थक्रियाकारी, तस्य रुचितेन अंशेन व्यपदेशो भवति। —उपरिवत्, पृ० 139

3. तदेवं यतो विश्वं निर्भासते, यत्र च विश्रान्तं निर्भासते, यदिच्छया च प्रकाशते, यश्च विश्वस्य प्रकाशमानस्य आत्मा, यच्च विश्वत्रापि निर्भासमानेऽनावृतमेव, अनाधिक्येनापि च यत्र विश्वं यस्य स्वातन्त्र्यात् अधिकमिव निर्भासते, तदेव परमार्थतत्त्वं प्रधानतया उत्कृष्टं, अन्यत्तु अस्मदादि तत्प्रवणमिति अयमत्र प्रधानाभिधेः शास्त्रार्थो हृदये प्रवेशितः, येन विवर्तपरिणामप्रभृतिपक्षान्तरप्रतिक्षेपः ।—उपरिवत्, पृ० 8

4. परमार्थतस्तु स एव क्रमाक्रमरूपविश्वसृष्ट्यादिकृत्यपंचकप्रपंचस्वभावः प्रकाशते। चेतनो हि स्वात्मदर्पणे भावान् प्रतिबिम्बवदाभासयति इति सिद्धान्तः। —*ई०प्र०वि०* (भा०), भा० 2, पृ० 173

5. इह भावानां सत्त्वं, असत्त्वं वा व्यवतिष्ठमानं संविद्विश्रान्तिमन्तरेण न उपपद्यते। संविद्विश्रान्ता हि भावाः प्रकाशमाना भवन्ति। प्रकाशमानता च एषां संविदभेद एव। प्रकाश एव संविद्यतः। —*ई०प्र०वि०वि०*, भा० 1, पृ० 4-5

6. तस्मादनपह्नवनीयः प्रकाशविमर्शात्मा संवित्स्वभावः परमशिवो भगवान् स्वातंत्र्यादेव रुद्रादिस्थावरान्तप्रमातृरूपतया नीलसुखादिप्रमेयरूपतया च अनतिरिक्ततयापि अतिरिक्ततया इव स्वरूपानाच्छादिकया संविद्रूप-नान्तरीयकस्वातंत्र्यमहिम्ना प्रकाशत इति अयं स्वातंत्र्यवादः प्रोन्मीलितः। —उपरिवत्, पृ० 9

7. यावता ज्ञानादिव्यतिरिक्तः कोऽसौ अन्यो यस्य ते स्याताम् काणाददिशा हि दूषितः तदाश्रयः—''ततो भिन्नेषु धर्मेषु ...?'' इत्यादिना, तत् एतत् आशंक्य स्वदर्शनदृशा तमेकं स्वरूपत उपन्यस्यति—
या चैषा प्रतिभा तत्तत्पदार्थक्रमरूषिता ।
अक्रमानन्तचिद्रूपः प्रमाता स महेश्वरः।। —*ई०प्र०वि०* (भा०), भा० 1, पृ० 347-48

8. द्विविधो हि धर्मः पदार्थस्य—प्राणप्रदो विशेषाधानहेतुश्च। आद्यो यथा सामान्यं द्वितीयो यथा गुणः। एवमिह आत्मैव तत्त्वसमूहस्य प्राणप्रदत्वात् स्वभावभूतो धर्मः अतएव अनपायवान् नित्यावियुक्तः इत्युक्तम्। —*तं०आ०वि०*, भा० 2, पृ० 124

9. सर्वाकृतिः विश्वमयः, निराकृतिः विश्वोत्तीर्णः। आवृत्तया तत्त्वेऽपि तदुत्तीर्णः इति च। तदेवमयमेक एव प्रकाशात्मा परमेश्वरः सर्वतो जृम्भते इतीश्वराद्वयमेव परमार्थतः । —उपरिवत्, पृ० 105

10. यथा हि दर्पणादौ परस्परव्यावृत्तात्मानः प्रतिबिम्बिता आकारविशेषाः ततो नातिरिक्तत्वेऽपि अतिरिक्ता इव भासन्ते तद्वत् इहापि इति। —उपरिवत्, पृ० 356

11. सर्वेषां भावानां स्वरूपमपि चिन्मयमेवेति एकप्रकाशवाद एव सर्वत्र सुप्रतिष्ठितः। —*भा०*, भा० 1, पृ० 65

12. आभासवादे हि आभासमानतैव सिद्धिः इत्युक्तम् स्फुरत्तैव वस्तुनः सिद्धिः। —*तं०आ०वि०*, भा० 2, पृ० 213

13. अत्र तु दर्शने विषयस्यापि विमर्शमयत्वात् अभिलापमयत्वमेव वस्तुतः स्तैमित्याद्यवस्थापि यदि न परामर्शमयी तर्हि अस्यां विकल्पात्मकप्रमातृव्यापारानुल्लासात् संभवः शपथपरमार्थ एव, स्मरणं च न स्यात्, रूपविषयाध्यसायी हि यदि विकल्प उदियात् किमन्यत्, सर्वचिन्तासंहरणेन स्तैमित्यं नाम न स्यात्, इति तत्रापि अस्ति अन्तःपरामर्शः सकलेन च शब्दग्रामेण शब्दनं हि सहन्ते वस्तूनि तत्र च नियतशब्दयोजनं क्रियते। —*ई०प्र०वि०* (भा०), भा० 1, पृ० 288-89

14. नैकैकतः प्रमाणात् सा प्रवृत्तिः अपि प्रमाणसमूहादेव। समूहता च परस्य नोपपन्ना, अस्माकं तु एकस्वसंवेदनविश्रान्तमयी सा युज्यते। इति उक्तं प्राक् ''न चेदन्तः कृता (2/3/7)'' इत्यत्र।
इयमेव च सा प्रमाणानां योजना, योजिका च युक्तिरित्युच्यते। —उपरिवत्, भा० 2, पृ० 114-15

15. उभयथा अस्य क्रियाशक्तिः क्रमरूपक्रियानिर्भास-सामर्थ्यं क्रमरूपक्रियोपरागयोगश्च इति। —*ई०प्र०वि०वि०*, भा० 2, पृ० 27

16. सांख्यदर्शने यथा चिदुपरागेण पुरुषप्रतिबिम्बेन प्रकाशता, तथा न इह, अपितु तं विना स्वत एवेति। —उपरिवत्, भा० 1, पृ० 136

17. अथ स्वात्मप्रतिष्ठं नभः इति न्यायेन स्वसंवेदनसिद्धमिति भंग्या संवेदनमनुपयुज्यमानानुपपद्यमानप्रमाणमिति उच्यते। तदियमस्मद्दृष्टिः। —उपरिवत्, पृ० 62

18. सांव्यवहारिके च प्रमाणे नास्माकं भरः, प्रकृतं हि अस्माकमीश्वरस्वरूपम्, तच्च स्वप्रकाशमेव, प्रमेयोपरोधेऽपि नोपरुध्यत इत्युक्तमसकृत्। —*ई०प्र०वि०* (भा०), भा० 2, पृ० 177

19. इह तु धर्मिणोऽपि शरीरादेः स्वतो न किंचित् पारमार्थिकं वपुः अस्ति संवेदनमात्रविश्रान्तत्वात्, केवलं स्वशक्त्यैव तत्सवेदनं विचित्रवेद्यावभासमुल्लासयत् धर्म्यादिकल्पनामपि न असत्यां दर्शयति अपरसृष्टिवदिति मध्यवर्ती भवन्नपि अयमनुमानव्यवहारो न अभेदं बाधते। —*ई०प्र०वि०वि०*, भा० 1, पृ० 19

20. अनुमानं हि अत्र विद्युत्प्रभान्यायेन मध्ये परमिदंतां भासयति मूले व्याप्तिग्रहणावसरे पर्यन्ते च अनुमितप्रतिपत्तिप्रतिष्ठाकाले अहमित्यत्रैव विश्रान्तत्वात्। —उपरिवत्, पृ० 18

21. अथ 'स्वात्मप्रतिष्ठं नभः' इति न्यायेन स्वसंवेदनसिद्धमिति भंग्या संवेदनमनुपयुज्यमानानुपपद्यमानप्रमाणमिति इति उच्यते। तदियम् अस्मद्दृष्टिः। —उपरिवत्, पृ० 62

22. स्वग्रहणं परप्रमातरि अस्तु पूर्वानधिगतत्वं तावदितिकर्तव्यमपि न कृतं स्वपरविभागस्य इह दर्शने अतात्त्विकत्वात्। संवेदनं हि एकमेव परमार्थतः। —उपरिवत्, पृ० 63

23. अस्माकं तु वह्न्याभास एव वस्तु च एकश्च सर्वत्रेति न दोषः। तद्वत् प्रकृतेऽपि अनुमितमहमिति यदात्मस्वलक्षणं स्वतंत्रं, तद्रूपाध्यवसायेनैव परः प्रमाता अनुमितो भवति, व्यवहारसाधनेषु च प्रमाणेषु मौलिकप्रमाणसिद्धमेव रूपं प्रपतति। तदिहापि मौलिकं स्वप्रकाशत्वमेव विजृम्भते। —उपरिवत्, पृ० 109-10

24. सांख्यदर्शने यथा चिदुपरागेण पुरुषप्रतिबिम्बेन प्रकाशता, तथा न इह, अपितु तं विना स्वत एवेति। —उपरिवत्, पृ० 136

25. वैशेषिकादिदृशि तत् ज्ञानमात्मनो धर्मः, इह तु न तथेति भेदः इति एका शंका निरस्ता; शुद्धस्वभावसंवित् न अर्थप्रकाश इति द्वितीया; जडप्रधानविकारबुद्धिस्वभावत्वात् जडं ज्ञानं न स्वतःप्रकाशरूपमिति तृतीयेति तात्पर्यार्थः। —उपरिवत्, पृ० 146

26. ज्ञानमपि सिद्धान्तिमते प्रमातुरव्यतिरिक्तम्। —उपरिवत्, पृ० 224

27. स्थिरे तावदेतदनुकरणरूपा स्मृतिः, सा च विकल्पपर्यन्तं पूर्वदर्शनमनुकरोतीति विषयप्रकाशरूपा साभिलापा च न अन्यदियमुपयाचते इति परमगुरुपादानां मतम्। —उपरिवत्, पृ० 128-29

28. अनुकरणमात्रावशेषता हि संस्कारः इति उक्तमाचार्यपादैः। —उपरिवत्, पृ० 128

29. सांव्यवहारिके च प्रमाणे नास्माकं भरः, प्रकृतं हि अस्माकमीश्वरस्वरूपम्, तच्च स्वप्रकाशमेव, प्रमेयोपरोधेऽपि नोपरुध्यत इत्युक्तमसकृत्। —*ई०प्र०वि०* (भा०), भा० 2, पृ० 177

30. इहाद्वयनये हि भगवानेव स्वस्वातन्त्र्यमाहात्म्यात् आभासमात्रसारतया स्वाव्यतिरिक्तमपि व्यतिरिक्तत्वेनेव जगत् आभासयति-इत्यनन्यापेक्षिणः स्वातन्त्र्यस्यैव जगद्वैचित्र्यनिमित्तत्वमुक्तम् ···। —*तं०आ०वि०*, भा० 2, पृ० 6

31. तस्मादनपह्नवनीयः प्रकाशविमर्शात्मा संवित्स्वभावः परमशिवो भगवान् स्वातंत्र्यादेव रुद्रादिस्थावरान्तप्रमातृरूपतया नीलसुखादिप्रमेयरूपतया च अनतिरिक्ततयापि अतिरिक्ततया इव स्वरूपानाच्छादिकया संविद्रूप-नान्तरीयकस्वातन्त्र्यमहिम्ना प्रकाशत इति अयं स्वातंत्र्यवादः प्रोन्मीलितः। —*ई०प्र०वि०वि०*, भा० 1, पृ० 9

32. यथा 'सत्त्वं लघु प्रकाशकं' इति 'ज्ञानं क्षणिकं कार्यकारणम्' इत्यादिरेकस्यैव निरंशस्य तत्तद्व्यावृत्तिबलेन धर्मिणो धर्माणां च अन्योन्यं भेदः कल्प्यते तत्तदंशविमतिशान्तये, तथा प्रकाशरूपे संवेदनेऽवभासविमर्शादीनां प्रत्युत इह दर्शने यत् यथा अवभास्यते तत् तथा सदिति परोपदेशकाले सृष्टोऽयं धर्मधर्मिभेदः पारमार्थिक एव। —उपरिवत्, पृ० 81

33. अत्र हि प्रकाशरूपं ज्ञानं, विमर्शरूपा च क्रियेत्येतदेव स्वातंत्र्यमिति निर्णायिष्यते। —उपरिवत्, पृ० 98

34. इत्यत्र अप्रतिहतं प्रकाशस्वातन्त्र्यमेव करणमिति वक्ष्यते। ··· एवं मन्यते—कुम्भकारादिप्रवृत्तिरूपमपि यत् भेदेन निर्मातृत्वं चकास्ति, तदपि प्रकाशमानताप्राणतया परमेश्वरशक्तिविजृम्भितं न अस्माक मत्यन्तमुपेक्षणीयमिति। —उपरिवत्, पृ० 5

35. ··· अप्रतिहतमेव स्वातन्त्र्यं क्रियाशक्तिरूपम् भगवतो निर्वाह्यते परदूषितस्य क्रियासम्बन्धादिपदार्थस्य बाह्यवादे अनुपपद्यमानस्य अत्र दर्शने पूर्णैव उपपद्यमानता—इति विमृशता। —उपरिवत्, भा० 3, पृ० 28

36. एतत् हि ग्रन्थकारेणैव वितानितमीश्वरसिद्धौ, इह तु एष परमार्थः ईश्वर एव नियतिशक्तिं निजामनुरुन्धानो बीजभूमिजलाभासपुरःसरीकारेण अंकुरात्मानं स्वच्छे स्वप्रकाशे निर्भासयतीति। —उपरिवत्, पृ० 192

37. ईश्वरस्तु स्वसंविन्मुकुरे विश्वमाभासयन् क्षणिकतामपि आभासयेदिति नः पक्षः। —उपरिवत्, पृ० 214

38. ततो जडब्रह्मवादो न युक्तः, संविद्ब्रह्मवादस्तु उपपन्नः स्वदर्शन इति आवर्तयति 'चिदात्मनि' इति। अपरिच्छिन्नप्रकाशस्वातन्त्र्यमेव चिल्लक्षणम्। —उपरिवत्, पृ० 237

39. आदिशब्देन भगवति शक्तिसंचयगणनमशक्यमिति दर्शयन्नेतदाह अस्मद्दर्शनानभ्युपगमे ब्रह्मविवर्त्तवादो जडविवर्त्तवाद एव। —उपरिवत्, पृ० 237

40. अधिकारिनियमनिषेधश्चात्र वर्णविभागमपेक्ष्य कृतः। यथा वेदान्तेषूपनीतस्य त्रैवर्णिकस्यैवाधिकारस्तथा नेहेति। —*भा०*, भा० 1, पृ० 3

41. ··· इत्यत्र अप्रतिहतं प्रकाशस्वातन्त्र्यमेव करणमिति वक्ष्यते।

··· एवं मन्यते-कुम्भकारादिप्रवृत्तिरूपमपि यत् भेदेन निर्मातृत्वं चकास्ति, तदपि प्रकाशमानताप्राणतया परमेश्वरशक्तिविजृम्भितं न अस्माकमत्यन्तमुपेक्षणीयमिति। —*ई०प्र०वि०वि०*, भा० 1, पृ० 5

42. एतेन शक्तीनाम् इच्छाज्ञानक्रियाणां प्रकाशकेन प्रत्यभिज्ञारूपेण व्यवहारसाधनपरार्थानुमानात्मना शास्त्रेण तं व्यवहारं प्रवर्तयतां तत्समर्थाचरणं क्रियते। —*उपरिवत्*, भा० 2, पृ० 143

43. आत्मज्ञानमेव शिवसाक्षात्कारे निमित्तम् ··· इत्यभिदधता नात्र दर्शनान्तरवत् व्यतिरिक्तो पायान्वेषणाद्यायाससाध्यत्वम्-इत्यावेदितम्। —*तं०आ०वि०*, भा० 3, पृ० 921

44. इह खलु आत्मज्ञः 'तत्' स्वतंत्रप्रकाशात्म परं ब्रह्म आनन्दातिशयदायितया परमोपादेयत्वेन 'पुष्पमिव' ··· 'हृदयान्तःस्थमीक्षते' साक्षात्कुर्यात्—इत्यर्थः। —उपरिवत्, पृ० 947

45. यः खलु वैष्णवादीनां मते मोक्षः सोऽपि अस्मद्दर्शने प्रलयाकलतामयः इति सम्बन्धः। —उपरिवत्, पृ० 647

46. आत्मज्ञानमेव शिवतत्त्वसाक्षात्कारे निमित्तम् ··· इत्यभिदधता नात्र दर्शनान्तरवत् व्यतिरिक्तो-पायान्वेषणाद्यायाससाध्यत्वम्—इत्यावेदितम्। —उपरिवत्, पृ० 921

47. परतत्त्वप्रवेशे तु यमेव निकटं यदा।

उपायं वेत्ति स ग्राह्यस्तदा त्याज्योऽथवा क्वचित्।। —*तं०आ०* 4/273

न यन्त्रणात्र कार्येति प्रोक्तं त्रिकशासने । —उपरिवत्, 1/274

48. इह पुनः परमाद्वयरूपे त्रिकदर्शने तद्विधिना तन्निषेधेन वा न किंचित्प्रयोजनम्—इत्युक्तं-नात्र लिंगपूजा नापि तत्परित्यागः, इति। —*तं०आ०वि०*, भा० 3, पृ० 92

49. अथवा अस्मद्दृशि प्राणधीदेहादेरपि स्फुटम्।

सर्वात्मकत्वात् तत्रस्थोऽपि अभ्यासोऽन्यव्यपोहनम्।। —उपरिवत्, भा० 3, 1/98

यद्वा पराद्वयदर्शने—

''प्रदेशोऽपि ब्रह्मणः सार्वरूप्यमनतिक्रान्तश्चाविकल्प्यश्च।'' —उपरिवत्, भा० 3, पृ० 721

50. अतश्च 'इदमेव उत्तमं योगस्यांगम्' इति अस्मद्दर्शने उच्यते इत्याह—

श्रीपूर्वशास्त्रे तत्प्रोक्तं तर्को योगांगमुत्तमम्।
हेयाद्यालोचनात् तस्मात् तत्र यत्न: प्रशस्यते।। —*तं०आ०* 4/15
प्राणायामस्तथा ध्यानं प्रत्याहारोऽथ धारणा।
तर्कश्चैव समाधिश्च षडंगो योग उच्यते।। —*तं०आ०वि०*, भा० 3, पृ० 631

51. संसाराम्बुनिधिं य: स्यात्तितीर्षु: कश्चिदुत्तम:।
नात्यन्ततज्ज्ञो नो मूर्ख: सोऽस्मिन्छास्त्रेऽधिकारवान्।। —उपरिवत्, भा० 2, पृ० 314

52. इह गलितमला: परावरज्ञा: शिवसद्भावमया अधिक्रियन्ते
गुरव: प्रविचारणे यतस्तद्विफला, द्वेषकलंकहानियाञ्चा। —*तं०आ०* 1/333
(इस पर *तं०आ०वि०* भी द्रष्टव्य)

53. इह अद्वयनये 'परमार्थसती संविदेव सर्वम्' इति प्रष्टृप्रतिवक्तृरूपगुरुशिष्याद्यात्मनो भेदस्य तावदनुपपत्ति: इति। —*तं०आ०वि०*, भा० 2, पृ० 266

54. इति यज्ज्ञेयसतत्त्वं दर्श्यते तच्छिवाज्ञया।
मया स्वसंवित्सत्तर्कपतिशास्त्रत्रिकक्रमात्।। —*तं०आ०* 1/16

अध्याय दो

प्रकाश

काश्मीर शिवाद्वयवादी मीमांसा में प्रकाश की धारणा का विशिष्ट स्थान है। यह प्रकाश यहाँ सत् का भी पर्याय है और ज्ञान का भी। अत: यह परमसत् की संरचना में प्रमुख घटक तत्त्व है। परमसत् को परमप्रमाता के रूप में प्रतिपादित करने से प्रकाश सत्ता व ज्ञान के आभिन्न्य का उद्घोषक हो जाता है। अत: इस सम्प्रदाय की तत्त्वमीमांसा व ज्ञानमीमांसा जहाँ प्रकाशतत्त्व के स्वरूपानुसंधान में संलग्न प्रतीत होती हैं वहीं मोक्षमीमांसा भी उस प्रकाशात्म अद्वयतत्त्व के प्रत्यभिज्ञान में ही परिनिष्ठित होती है।

प्रकाश की धारणा यों तो वैदिक काल से ज्ञान या चेतना के सन्दर्भ में प्रयुक्त होती रही है पर इसको विशेष दार्शनिक सन्दर्भ प्रदान करने का कार्य यह सम्प्रदाय ही करता है। इससे पहले आचार्य भर्तृहरि ज्ञान के पर्याय रूप में इस प्रकाश शब्द का प्रयोग करते हैं।[1] उनके टीकाकार इस प्रकाश का व्यापार आत्मप्रकाशनपूर्वक परप्रकाशन ही बतलाते हैं। सांख्य तत्त्वमीमांसा भी इस प्रकाश की धारणा पर ही आश्रित है। वहाँ प्रकाश का मुख्य धर्म है प्रतिसंक्रान्ति या प्रतिबिम्बन। प्रकृति का मुख्य घटक, सत्त्वगुण, प्रकाशक रूप है। इसी का चरम निदर्शन है यहाँ का महत् तत्त्व[2] जिसमें एक ओर से विषय का प्रतिबिम्ब पड़ता है और दूसरी ओर से शुद्ध चैतन्य रूप पुरुष तत्त्व का, फलत: ज्ञान व्यापार सम्पन्न होता है। इसके अतिरिक्त पुरुष तत्त्व को भी शुद्ध साक्षी चैतन्य रूप माना गया है । उसकी चेतना की भी स्वप्रकाशता है पर वह प्रकाश निष्क्रिय प्रकाश है जो स्वयं कुछ प्रतिबिम्बित या प्रकाशित नहीं करता। अद्वैतवेदान्त में भी चैतन्य प्रकाशात्म है पर वहाँ भी स्वप्रकाशता मात्र में ही उसकी प्रकाशरूपता पर्यवसित है। विज्ञानवादी बौद्धों का विज्ञान भी स्वप्रकाश तत्त्व है पर वह स्वात्मनिष्ठ सत् है जिसके सन्दर्भ में परप्रकाशन की कोई चर्चा नहीं संभव है।

काश्मीर शिवाद्वयवादी प्रकाश की धारणा इन सभी मतों में सबसे ज्यादा भर्तृहरि के मत से साम्य रखती है क्योंकि परमसत् को यहाँ भी ज्ञानात्मक व प्रकाशविमर्शात्मक दोनों माना गया है। इस प्रकाश में स्वप्रकाशन व परप्रकाशन दोनों की सामर्थ्य निहित है। अत: तत्त्वमीमांसा के क्षेत्र में सांख्य दृष्टि को अपनाने पर भी यह सम्प्रदाय वहाँ के द्वैत को जब अद्वैत में पर्यवसित करता है तब प्रकाश रूप पुरुष की स्वप्रकाशता व प्रकृति की परप्रकाशनरूपता का समाहार एक ही तत्त्व में घटित हो जाता है और तब परमसत् के दो घटकों—प्रकाश व विमर्श—की कल्पना उस प्रतिबिम्बन प्रक्रिया को एक ही तत्त्व में घटित कर देती है। इस प्रकार इस सम्प्रदाय की दृष्टि इस प्रकाश की धारणा को बीज रूप में भर्तृहरि से ग्रहण कर, सांख्य तत्त्वमीमांसा की छाया में पल्लवित कर, काश्मीर शिवाद्वयवादी सन्दर्भों के अनुरूप पुष्ट आकार देती है।

इस प्रकाश शब्द की व्युत्पत्ति 'प्र' पूर्वक काश् धातु से अच् प्रत्यय लगाकर [प्र+काश् दिवादिगण/भ्वादिगण+अच्] निष्पन्न की जाती है। काश् धातु का अर्थ हेमचन्द्र विविध प्रकार से

करते हैं—प्रदीप्त, स्फुट, स्पष्ट, प्रकट, उल्वण, व्यक्त आदि। विविध विवेचनों से यह स्पष्ट है कि प्रकाश शब्द के द्विविध सन्दर्भ उपलब्ध होते हैं—प्रकाशते व प्रकाशयति—अर्थात् यह स्वयं प्रकाशित होता है और दूसरों को प्रकाशित भी करता है। इस प्रकाश के प्रत्यय में एक अन्य प्रत्यय भी मूलत: अन्तर्निहित है और वह है मलाभाव का। निर्मल वस्तु ही प्रकाशन कृत्य के योग्य है अन्यथा नहीं।[3]

इस सम्प्रदाय में प्रकाश का विशिष्ट अर्थों में प्रयोग किया किया गया है यद्यपि इसका अर्थ यहाँ भी प्रकाशित करना या प्रकाशित होना ही है। यहां 'प्रकाशते' शब्द की व्याख्या करते हुए आचार्य अभिनवगुप्त कहते हैं कि 'प्रकाशते' शब्द प्र+काश्+तिङ् रूप से व्युत्पन्न है जिसमें प्रकृति अंश नैर्मल्य अर्थ का द्योतक है और प्रत्ययांश कर्तृतालक्षण स्वातन्त्र्य का वाची है।[4] अत: 'प्रकाश' की धारणा में दो तथ्य मिश्रित दृष्ट होते हैं—(1) 'नैर्मल्य' जिसे यहाँ स्वच्छत्व[5] की शब्दावली में भी व्यक्त किया गया है और (2) 'प्रकाशन-स्वातन्त्र्य' जिसे दर्पणनगर के रूपक के माध्यम से स्पष्ट किया गया है।

प्रकाशतत्त्व में परनिष्ठता के उल्लासन की दो विधायें संभव हैं—प्रथम है, दर्पणवत् सदृशात्मता के संक्रमण से उल्लसित पररूपता और द्वितीय है स्वशक्तिबल से उल्लसित पररूपता जो स्वप्नादि की स्थिति में घटित होती है। इस काश्मीर शिवाद्वयवाद में प्रकाशतत्त्व की भेदोल्लासन-सामर्थ्य इन दोनों ही विधाओं से पुष्ट होती है।[6] वस्तुत: प्रकाशतत्त्व का अनिवार्य धर्म है प्रतिबिम्बन। इसी अर्थ में वह दर्पण के समान है। जैसे प्रतिबिम्बित आकार विशेष दर्पण से अतिरिक्तन होता हुआ भी अतिरिक्त सा मालूम पड़ता है वैसे ही यह प्रकाशतत्त्व भी नाना आभास रूप प्रतिबिम्ब-वैचित्र्यों से अनतिरिक्त होने पर भी अतिरिक्त सा प्रतीत होता है।[7] इस प्रतिबिम्बन का निमित्त है प्रकाशतत्त्व की निर्मलता। इस निर्मलता के सिद्धान्त में दो मूलभूत तथ्यों का सन्निवेश किया गया है—प्रथम है 'अन्तराल-शून्यता' तथा द्वितीय है 'विजातीय तत्त्वों का अभाव' जिसका लक्षितार्थ है सजातीयों से अत्यन्त सघन सहावस्थिति।[8] यह अन्तरालशून्य आत्मसंहति स्थपुटत्व (ऊँच-नीच) के परिहार व श्लक्ष्णता (अत्यन्त स्निग्धता) के कारण ही संभव है अत: नैर्मल्य की परिभाषा में अभिनवगुप्त इन दोनों ही कारणों को प्रस्तुत करते हैं।[9] इस नैर्मल्य का परिणाम है अपने में ही भेद के प्रदर्शन की क्षमता।[10] नैर्मल्य की मात्रा में तरतम भाव से इसके दो भेद संभव हैं—मुख्य व अमुख्य। मुख्य नैर्मल्य वह है जिसका किसी भी प्रकार से प्रतिघात संभव नहीं है, जबकि अमुख्य नैर्मल्य वह है जिसका प्रतिघात संभव है। अत: मुख्य नैर्मल्य उस परमसंवित् का है जो कि सद्विद्यात्मक है तथा अमुख्य मायीय प्रकाश से ही सम्बद्ध है। इस प्रकार परमसंवित् रूपी दर्पण, जो कि सर्वाधिक स्वच्छ है, में सारा विश्व प्रतिबिम्बित करने की क्षमता है।[11] इस अत्यंत स्वच्छता से अप्रतिहत स्वेच्छा के सिद्धान्त को प्रश्रय मिलता है अन्यथा मालिन्य की संभावना उदित होती है।[12] प्रकाश से प्रतिबिम्बों की एकात्मता का कथन एक ओर सारे विश्व को प्रकाश रूप सिद्ध करता है दूसरी ओर यह अद्वयवाद का साधक सबसे पुष्ट प्रमाण सिद्ध होता है क्योंकि इस प्रकार से 'एकप्रकाशवाद' की स्थापना होती है। इस सम्प्रदाय की प्रबल स्थापना है कि प्रकाशतत्त्व के अतिरिक्त अन्य कुछ भी अप्रकाशरूप होगा। अत: प्रकाश में यथार्थ भेद की कल्पना ही संभव है क्योंकि भेद की धारणा का अनिवार्य धर्म है

अन्यत्व की कल्पना और वैसा होने पर प्रकाश का स्वरूप ही नष्ट हो जायेगा। इस 'एकप्रकाशवाद' शब्द में स्थित 'एक' शब्द संख्यावाची न होकर मात्र उसकी निरपेक्ष स्थिति का साधक है। इसका प्रयोग तदतिरिक्त अन्य किसी की अप्रकाशरूपता सिद्ध कर उसका निषेध करने के लिये है।[13] इसमें अन्तर्निहित 'नैरन्तर्य' की धारणा प्रकाश की अहंरूप आत्मविश्रान्ति की ओर ले जाती है क्योंकि नैरन्तर्य का अर्थ है अविच्छेद। यह अविच्छिन्नतया प्रकाशन अहंरूप का ही संभव है। इदम्-रूपता तो बाह्यताभास से मिश्रित है। वह विच्छिन्नाभासन है जिसकी विश्रान्ति भी 'अहंरूप' प्रकाश में ही होती है।[14] प्रमाता में 'अहंप्रकाश' की दो स्थितियाँ हैं—प्रथम सिसृक्षा भूमि में तथा द्वितीय संस्कार भूमि में। सिसृक्षाभूमिगत अहंप्रकाश सारे विषयगत भेद-वैचित्र्यों का आधार है जबकि संस्कारगत अहंप्रकाश सारे ज्ञान व्यापारों का मूल है।[15]

यह नैर्मल्य की धारणा ही यहाँ के सौन्दर्यशास्त्रीय विवेचनों में 'सहृदयत्व' की प्रकल्पना को अग्रसारित करने का निमित्त है।[16] सहृदय वही है जो निर्मल प्रतिभा से युक्त हृदय वाला हो।[17] प्रतिभा की निर्मलता का अर्थ है कवि के हृदय से एक रूप हो सकने की योग्यता। दूसरे शब्दों में, सामाजिक हृदय द्वारा कवि हृदय को प्रतिबिम्बित कर सकने की क्षमता ही सहृदयता है।

इस प्रकाशतत्त्व के नैरन्तर्य की धारणा से 'निरुपकरणमुक्ति' की संभावना को बल मिलता है क्योंकि एक प्रकाशतत्त्व की अथ से इति तक निरन्तरता के कारण मोक्ष का प्रत्यय केवल 'आत्मप्रत्यभिज्ञान' में परिघटित होता है जिसमें किसी बाह्यसाधन की अपेक्षा न होकर इस प्रकाश की ही आत्मा विमर्श के माध्यम से प्रकाशतत्त्व का अनुसंधान किया जाता है।

नैर्मल्य की द्विविधरूपता से प्रकाश के भी द्विविध स्वरूपों की संभावना उत्पन्न होती है। इसी कारण आचार्य अभिनव द्विविध स्वरूपों की चर्चा तो करते हैं पर एकप्रकाशवाद के सन्दर्भ में इन द्विविध स्वरूपों की चर्चा पर प्रश्नचिह्न भी लगाते हैं कि प्रकाश का अन्य कौन सा स्वभाव है जिसकी अपेक्षा से यह स्वभाव मुख्य कहा जाता है? पुन: वह इसका उत्तर देते हुए कहते हैं कि घटादि पदार्थों से बोध (ज्ञान) इसीलिए विशिष्ट है क्योंकि उसमें सूर्यादि के प्रकाश से विलक्षणतया परसारूप्य अर्थात् प्रतिबिम्बित होते हुए दूसरे पदार्थ से तादात्म्य की क्षमता (प्रतिबिम्बायमानपरतादात्म्यक्षमत्व) है परन्तु यह स्वभाव तो जड़ दर्पण, स्फटिक, मणि आदि में भी रहता है, अत: यह मुख्य नहीं है।[18] इसका मुख्य स्वभाव तो विमर्श है जो कि अन्य किसी पदार्थ में संभव नहीं है। अत: परम प्रकाश इस विमर्शात्मिक सामर्थ्य के कारण सर्वदा मालिन्यरहित रहता है क्योंकि उसे अपने कर्तृत्व हेतु अन्य किसी विजातीय तत्त्व की अपेक्षा नहीं होती। यही विमर्शात्मकता परमसत् को स्वतन्त्र चित्तत्त्व रूप में सिद्ध करती है और इसी कारण दर्पणवत् उस परमप्रकाश को एक व्यतिरिक्त बिम्ब की अपेक्षा नहीं होती। अत: सर्वथा निर्मल प्रकाशतत्त्व की भित्ति पर बिना किसी वस्त्वन्तररूप समर्पक बिम्ब के, मात्र इसी विमर्शात्मि स्वभाव के माध्यम से प्रतिबिम्बन घटित होता है।[19]

इस प्रकाश की धारणा का यहाँ विविध अर्थों में प्रयोग मिलता है। सर्वप्रथम तो यह सत्ता का पर्याय है।[20] जो प्रकाशित होता है वही सत् है।[21] अत: यह प्रकाशरूपता सत्तासाधन में प्रबल प्रमाण है। इसी दृष्टि से यहाँ तम व अभाव जैसे पदार्थों को भी प्रकाशात्म कहा गया है क्योंकि तभी उनकी सत्ता सिद्ध की जा सकती है। वस्तुत: इस सम्प्रदाय में सत्ता का स्वरूप प्रत्ययात्मक

है, अत: वह प्रमाता से बाह्यतया वस्तु रूप में सत् न होकर प्रमाता के विचार रूप में ही स्थित है। जब उसमें प्रमाता की इच्छा से अन्य देश, काल, आकार आदि के आभासों के साथ बाह्यता का आभास भी संयोजित कर दिया जाता है तब वह बाह्यतया स्थित पदार्थ रूप में दृष्ट होती है। अत: मात्र काल्पनिक रूप से सत् पदार्थ भी यहाँ सत् कहे जाते हैं । इसी दृष्टि से आकाशकुसुम, शशविषाण, वन्ध्यापुत्र आदि भी ज्ञान का विषय होने से बाह्यतया स्थित वाच्य के न होने पर भी यहाँ सत् स्वीकारे गये हैं। इसी दृष्टि से यह प्रकाश महासत्त्व है और इसे 'सामान्य' रूप कहा जाता है।[22] इस प्रकार यहाँ न्याय दर्शन की भांति भावों को, सत्ता जाति से सम्बन्ध होने से सत्त्व की प्राप्ति नहीं होती और न ही बौद्धवत् अर्थक्रियाकारित्व ही सत्त्व का साधक है वरन् पदार्थों का सत्त्व, अनुन्मूलित तथोचित विमर्श से युक्त प्रकाशमानता ही है।[23]

इस सत्ता के सन्दर्भ में कई स्तरों की चर्चा यहाँ मिलती है। परमार्थसत् व व्यवहारसत् जिसे सार (essence) व सत्ता (existence) अथवा परमार्थ (real) और व्यवहार (empirical) की शब्दावली में क्रमश: प्रस्तुत करते हैं, दोनों ही स्तरों पर यह प्रकाशात्मता ही सत् का स्वभाव है।[24] परमार्थसत् से निर्गत व्यवहारसत् ही सत्य असत्य रूप ज्ञानात्मक कोटियों का भागी बनता है। उसमें 'स्थैर्य' और 'उपयोग' रूप आभासों के संयोजन के निमित्त से एकानेकाश्रयता होती है। यहाँ ये स्थैर्य व उपयोग प्रकाशमानता के ही अधीन हैं घटत्व या पटत्व मात्र के अधीन नहीं हैं। अर्थक्रिया भी आभास रूप ही है इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि इन विविध आभासों का संयोजन उस प्रमाता के प्रकाशन-स्वातन्त्र्य का ही परिणाम है जो कि प्रकाश-विमर्श की सामर्थ्य की चरम पराकाष्ठा है। प्रकाश को सत् के पर्याय के रूप में लेकर चलने से यह प्रकाश की धारणा सारी ज्ञानमीमांसा व तत्त्वमीमांसा का आधार बनती है साथ ही व्यवहार की व्यवस्था का मुख्य घटक सिद्ध होती है।

इस सम्प्रदाय में परमसत् तो प्रमातृरूप में कल्पित है और सारी विषय व विषयीकरण की प्रक्रियायें उसी प्रमाता का स्वातन्त्र्य कही गयी हैं, अत: सारे सत्त्व उस प्रमाता के स्वरूपभूत उसी महासत्त्व रूप प्रकाश के अंश हैं।[25] उनको भिन्नरूप में वेद्य बनाने का कार्य उस प्रकाश के अनिवार्य स्वभाव विमर्श के माध्यम से ही घटित होता है। इसीलिए विषयता का लक्षण है प्रकाशमानता का आपादन।[26] सारे विषय अपने सामान्य रूप में तो प्रकाश से एक रूप हैं पर व्यवहार हेतु उनके विशेष रूप की अपेक्षा होती है जिसकी सिद्धि विमर्श के माध्यम से प्रकाशमानता की प्राप्ति रूप में ही सिद्ध होती है।[27]

प्रकाश ही यहाँ ज्ञान का भी समानार्थक है। ज्ञान के सन्दर्भ में प्रकाश के प्रत्यय को यह सम्प्रदाय पूरी तरह से भर्तृहरि से लेता है। ज्ञान स्वप्रकाश भी होता है और परप्रकाशक भी। यहाँ बोध व संवेदन आदि शब्दों को प्रकाशस्वातन्त्र्य के वाचक रूप में ही प्रस्तुत किया गया है।[28] कभी-कभी परमसत् के स्वरूप का विश्लेषण कर के उसके प्रकाशांश को ज्ञान का तथा विमर्शांश को क्रिया का वाची कह दिया जाता है।[29] वस्तुत: ज्ञान की स्वप्रकाशता व प्रतिबिम्ब-सहिष्णुता ही इस प्रकार की व्याख्या को अवकाश देती है।

प्रकाश व ज्ञान का यह ऐक्य परम प्रमाता का अनिवार्य स्वरूप है जहाँ सत् वही है जिसका ज्ञान होता है और ज्ञान उसी का होता है जो प्रकाश रूप है। ज्ञान की स्वप्रकाशता[30] ही उस

प्रमातृ-प्रकाश की स्वप्रकाश-रूपता की धारणा को बल देती है। इसी स्वप्रकाशन व परप्रकाशन के सामर्थ्य के बल पर 'अजड' के चार लक्षण दिये जाते हैं—

(क) स्वात्मन: प्रकाश:—स्वरूपस्यैव सा दृक् प्रकाश:।

(ख) स्वात्मा अस्य प्रकाश:—अप्रकाशमानं अस्या न रूपम्।

(ग) स्वात्मन एव प्रकाशते न परस्य—कदाचिदपि न अस्या: प्रकाश: परप्रसादोपनत:।

(घ) परोऽस्य न प्रकाश:—नीलाद्याकारान्तरमस्या न रूपम्।[31]

इस प्रकार इससे यह निष्कृष्ट होता है कि चेतन तत्त्व स्वयं प्रकाशित होता है, बोध रूप से प्रकाशित होता है, दूसरों को प्रकाशित करता है तथा अपने स्वातन्त्र्य से अवभासित घटाद्यात्मक परभाव रूप से प्रकाशित होता है। ये ही वैशिष्ट्य अपने विपरीत रूप में जड के स्वरूप को प्रस्तुत करते हैं। अत: प्रकाश का प्रकाशन-स्वातन्त्र्य रूप वैशिष्ट्य जड व चेतन की विभाजक रेखा को खींचता है।

यहाँ यह प्रकाशतत्त्व 'निर्विकल्पक अनुभव' के पर्याय रूप में भी प्रस्तुत किया जाता है क्योंकि वहाँ विमर्श किसी योजना व्यापार को संयोजित न कर मात्र उस प्रकाशतत्त्व के स्वरूप को प्रस्तुत करता है। यही निर्विकल्पक ज्ञान या अनुभव की स्थिति है जोकि सारे विकल्पात्मक ज्ञानों का मूल है।[32] यह निर्विकल्पक स्थिति अभेदप्रधान अवस्था है और प्रमाणनिरपेक्ष है।

यही प्रकाशतत्त्व विषय-व्यवस्था का आधार है। प्रकाश पदार्थों की भावाभाव-व्यवस्था का हेतु है क्योंकि प्रकाशात्म होना ही भावात्मता है व प्रकाशभिन्न तो अभावरूप अर्थात् असत् ही है। सारे व्यापार सत् के सन्दर्भ में ही घटित होते हैं इसी कारण प्रकाश को सारी व्यवस्थाओं का मूल कहते हैं। सारे भेद-वैचित्र्यों के मूल में इसी प्रकाशतत्त्व की अवस्थिति है।[33] इसी कारण यहाँ देश, काल, आकार के भेद से उपहित प्रकाश की संज्ञा 'आभास' ही रखी गयी है। यह आभास संज्ञा भी प्रकाशनक्रियाभिधायी भास् धातु रूप प्रकृति से निर्मित है।[34] अत: आभास संज्ञा संकोचमय प्रकाश (आ ईषद् भासते) की वाचक है[35] परन्तु आभास संज्ञा की 'आसमन्ताद् भासते' व्युत्पत्ति भी संभव है जिससे आभास शब्द प्रकाशतत्त्व शिव का भी वाचक हो जाता है। यहाँ प्रकाश की एक अन्य उपलब्ध संज्ञा 'अवभास' भी है जिसकी व्याख्या 'अवभासयति अर्थानिति अवभास:' रूप से की गयी है। इस आभास के विशिष्ट सिद्धान्त का प्रतिपादन करने के कारण यह सम्प्रदाय दार्शनिक तत्त्वमीमांसा के सन्दर्भ में भी अनेक विशिष्ट स्थापनाएं करता है। जैसे आभासवादी दृष्टि के कारण यहाँ की कारणमीमांसा कर्तृकर्मभाव में परिणत हो जाती है तथा प्रमाण-मीमांसा में प्रमा का अभिप्राय मात्र मोहापसरण में पर्यवसित हो जाता है, साधनामीमांसा में अविद्या या अज्ञान का निवारण किसी अनुपलब्ध स्थिति की उपलब्धि को न बतलाकर अपूर्णताजनक आवरणों का विलय कर पूर्णरूपता की प्राप्ति को ही बतलाता है। यह प्रकाशतत्त्व की मूलरूपता 'चिदद्वैत' की सिद्धि की भी साधक है क्योंकि यहाँ प्रकाशतत्त्व की प्रधानता को दर्शाने वाली दो संज्ञायें हैं—चित्[36] व संवित्[37]। इनमें ज्ञानात्मक पक्ष की प्रधानता होने से ही प्रकाश-प्राधान्य की बात कही जाती है।

ज्ञानमीमांसा के क्षेत्र में प्रकाश को अर्थ (विषय) की आत्मा कहा गया है क्योंकि जैसे आत्मा व शरीर का अविनाभाव सम्बन्ध है वैसे ही अर्थ व प्रकाशमानता का भी अविच्छिन्न सम्बन्ध है। यदि अर्थ प्रकाशात्मा नहीं होगा तो वह ज्ञान के पूर्व की अवस्था की ही तरह ज्ञान के बाद भी

अप्रकाश रूप ही रहेगा।[38] प्रकाश के अनुग्रह के बिना किसी प्रकार की व्यवस्था संभव नहीं है। यह प्रकाश हर पदार्थ का अलग-अलग नहीं है वरन् सर्वत्र एक है पर विमर्श के माध्यम से उसमें नानारूपता लक्षित होती है।[39] परन्तु प्रकाश अर्थच्छायाधारी होने पर भी दर्पणवत् उसके व्यवहार में सक्षम नहीं है। यह कार्य तो उसकी शक्ति विमर्श का ही है।[40]

यह प्रकाश ही प्रधानत: वाच्यात्म विश्वरूप से परिस्फुरित है। अत: वाक्-सृष्टि के सन्दर्भ में सारे वाच्यों का समग्र इस प्रकाश तत्त्व से प्रस्तुत होता है। इसी कारण इसे 'महार्थ' कहा जाता है, यही सारे शब्दों का वाच्य है।[41] भर्तृहरि जहाँ शब्द को ही परमप्रकाश रूप कहते हैं वहीं यह सम्प्रदाय अर्थ को परमप्रकाश कहता है और उससे अभिन्न शब्द को विमर्श रूप में प्रस्तुत करता है। यहाँ प्रकाशतत्त्व का शक्ति रूप में भी उल्लेख मिलता है (प्रकाशरूपता चिच्छक्ति:)[42] जिससे किञ्चित् भ्रम की स्थिति उपस्थित होती है क्योंकि अन्यत्र तो शक्ति विमर्श का ही पर्याय मानी गयी है। वस्तुत: यहाँ भी विमर्शांश की ही शक्तिपदवाच्यता है, मात्र प्रकाशन कृत्य की प्रधानता के कारण ही इसे प्रकाशशक्ति कह दिया जाता है।

इस प्रकाशतत्त्व का संकोच द्विविध रूप में घटित होता है। प्रथम तो वह स्वयं ही अपनी शक्ति से अन्त:संकोच को धारण कर नाना शून्य, बुद्धि, प्राण आदि प्रमातृरूप से भासित होता है और द्वितीय वह देश, काल, आकारादिकृत बाह्य संकोच को भी धारण कर नाना प्रमेय-रूप से भासित होता है।[43] प्रकाश के एक अन्य तरह से भी द्विविध भेद किये जाते हैं—'सहज' व 'असहज'। सहज स्थिति इदन्ता के उल्लास से रहित स्वरूपमात्र के प्रथन से युक्त है जबकि असहज स्थिति में इदन्ता का उल्लास मिश्रित है। इसी असहज स्थिति की ही पूर्वापेक्षा कर विकल्पात्मक वैचित्र्य घटित होता है तथा स्मृति, उत्प्रेक्षा आदि विकल्पात्मक व्यापार संभव होते हैं।[44]

परमप्रकाश के प्रकाशन की एक अन्य तरह से भी दो स्थितियां बतलाई जा सकती हैं—तादात्म्य रूप से प्रकाशन और बाह्यरूप से प्रकाशन। तादात्म्यरूप प्रकाशन तो प्रकाशमात्र का स्वरूपप्रथन ही है पर बाह्यतया प्रकाशन नाना प्रमातृप्रमेयरूप वैचित्र्यभाव से स्थित है।[45] यही प्रकाशतत्त्व जहाँ तत्त्वमीमांसा के क्षेत्र में सदाशिवादि पद में समानाधिकरण्यभाव से अभेदविश्रान्तभेद रूप से प्रकाशित होता है वहीं माया पद में भेदप्रधानभाव से ही प्रथित होता है तथा शिवपद में अत्यन्त अभेदभाव से प्रकाशित होता है।[46] ज्ञानमीमांसा के क्षेत्र में भी इसके आभासन की विविध स्थितियाँ हैं। वहाँ परमप्रकाश से विच्छिन्नीभूत प्रकाश प्रमातारूप है, बाह्योन्मुखता को प्राप्त प्रकाश प्रमाण रूप है, पुन: स्वरूपोन्मुख होने पर प्रकाश प्रमा रूप है तथा आश्यानीभाव को प्राप्त प्रकाश प्रमेय रूप है।[47]

इस प्रकार इस सम्प्रदाय में यह प्रकाश की धारणा जहाँ जगत् की प्रत्ययरूपता की साधक है वहीं एकता को स्थिर रख कर भी अनेकता के भासित होने का निमित्त है। यही सारे जगत् की वास्तविक सत्ता है। यही जगत् की विषयरूपता और उसके निश्चयन का तात्त्विक आधार है। यह पूर्णता के प्रत्यय की सिद्धि में पुष्ट तर्क है तथा विश्व की परतत्त्व से एकता का यौक्तिक निरूपण है। यही जगत् की 'स्वरूप-व्यवस्था', 'वस्तु-व्यवस्था' और 'चिद्रूप-व्यवस्था' का निर्धारक है। परतत्त्व के प्रकाश से ही सारा अर्थजात प्रकाशित होता है। अभिनवगुप्त इसे श्रुतिवाक्यों से भी प्रमाणित करते हैं।[48]

यद्यपि प्रकाश और विमर्श परस्पर एक-दूसरे के सम्पूरक होकर ही अपने-अपने कर्तृत्वों का निष्पादन करते हैं परन्तु जिज्ञासात्मक विश्लेषण के लिये ही परतत्त्व के स्वरूप के इन दोनों घटकों का पृथक्-पृथक् विवेचन किया जाता है। प्रकाश में क्रियात्मकता विमर्श से ही आती है और विमर्श को विषय प्रकाश से ही मिलता है, अत: इस सम्प्रदाय की सारी व्याख्यायें इन दोनों के संश्लेषण में ही निहित हैं, पृथक्करण में नहीं।

पाद-टिप्पणी

1. न प्रकाश: प्रकाशेत सा हि प्रत्यवमर्शिनी। —*वा० प०* 1.116
   इस पर वृत्ति भी द्रष्टव्य—यस्त्वात्मा ज्ञानानुगतो व्यक्तप्रत्यवभासो ज्ञायते। —उपरिवत्, भा० 1, पृ० 189
2. वस्तुत: महत् तत्त्व जड़ दर्पण की भाँति है जिस में प्रतिबिम्बन-सामर्थ्य तो है पर उन प्रतिबिम्बों का उसे बोध नहीं हो रहा है।
3. छाया न मूर्च्छति मलोपहतप्रसादे।
   शुद्धे तु दर्पणतले सुलभावकाशा ।। —*अभि०शा०* 7/32
4. *ई०प्र०वि०वि०*, भा० 2, पृ० 177.
5. अनधिकस्यापि अधिकस्य इव भासन स्वच्छभाव उच्यत दर्पणस्य इव। —उपरिवत्, भा० 1, पृ० 6
6. उपरिवत्, भा० 2, पृ० 155.
7. प्रकाशस्वरूपं हि मनागपि नातिरिच्यते अतिरिच्यते इव तत् अचलमेव आभासभेदयुक्तमिव च भाति। —*ई०प्र०वि० (भा०)*, भा० 1, पृ० 257
8. नैर्मल्यं चातिनिविडसजातीयैकसंगति:। —*तं०आ०* 3/7
9. नैरन्तर्येण अवस्थानात् स्थपुटत्वादिपरिहारेण श्लक्ष्णत्वात्म संहतत्वं नैर्मल्यम्। —*तं०आ०वि०*, भा० 2, पृ० 360
10. स्वस्मिन्नभेदाद् भिन्नस्य दर्शनक्षमतैव या।
    अत्यक्तस्वप्रकाशस्य नैर्मल्यं तद्गुरूदितम्। —*तं०आ०* 3/8
11. संवित्संलग्नमेव हि विश्वं संवेद्यते, अत एव अस्या: सर्वत: स्वच्छत्वम्। —*तं०आ०वि०*, भा० 2, पृ० 363
12. मालिन्यं हि संविदोऽभीष्टप्रतीघातलक्षणम् तद्विरुद्धश्च अप्रतिहतस्वेच्छायोग इति । —*ई०प्र०वि०वि०*, भा० 1, पृ० 62
13. प्रकाशमात्रमुदितमप्रकाशनिषेधनात्।
    एकशब्दस्य नत्वर्थ: संख्या चिद्व्यक्तिभेदभाक्।। —*तं०आ०* 2/23
    एकशब्दस्यार्थ: प्रकाशमात्रमुदितम्। —*तं०आ०वि०*, भा० 2, पृ० 329
14. अविच्छेद एव च आत्मविश्रान्तिलक्षण: प्रकाशस्य अहमिति स्वरूपम्। —*ई०प्र०वि०वि०*, भा० 1, पृ० 168
15. उपरिवत्, भा० 2, पृ० 169.
16. सुकुमारता हि वैमल्यापरपर्याया सहृदयत्वं हि कविहृदयतादात्म्यापत्तियोग्यतैव उत्कर्ष:। —*अभि०भा०*, नाट्यशास्त्र, भा० 2, पृ० 339

17. अधिकारी चात्र विमलप्रतिभानशालिहृदयः। —उपरिवत्, भा० 1, पृ० 279
18. *ई०प्र०वि०वि०*, भा० 2, पृ० 176-77.
19. नाथ त्वया विना विम्बं स्वच्छे दर्शितम्।
प्रसेना दर्पणेनैव प्रभावाद्भावमण्डलम्।। —*तं०आ०वि०*, भा० 2, पृ० 3
20. वस्तुतस्तु सत्तापि प्रकाशविश्रान्तैव । —*ई०प्र०वि०वि०*, भा० 1, पृ० 65
21. स्फुरद्रूपता हि सत्ता। स्फुरद्रूपता च प्रकाशमानता प्रकाशमानता हि प्रकाशाभेदः। ··· सर्वप्रतिष्ठारूपः परमार्थः। —*शि०दृ०वृ०*, पृ० 148
22. अविकल्पात्मा महाप्रकाशः सामान्यम्। —*म०मं०प०*, पृ० 77
23. इह भावानां न सत्तासम्बन्धः सत्त्वम्, अव्यापकत्वाद् अनवस्थावैयर्थ्यादिदोषात् न अर्थक्रिया वस्त्वन्तरत्वात्, न तत्कारित्वं सर्वदा तदावेशादर्शनात् इति प्रकाशमानतैव अनुन्मूल्यमानतथोचितविमर्शपरिस्पन्दा भावस्य सत्त्वम्। —*ई०प्र०वि०वि०*, भा० 2, पृ० 58-60
24. इह प्रकाशमात्रस्वभावत्वेन प्रमातृप्रमेयाणां विश्वेषामेव तावत् तादात्म्यादेकरूपावेश एव वास्तवः। —उपरिवत्, भा० 1, पृ० 296
25. अस्तित्वं प्रकाशमानत्वमेव, तच्च प्रकाशस्वरूपे स्वनिष्ठमेव अनन्यापेक्षत्वात्। —उपरिवत्, पृ० 220
26. प्रकाशमानतानयनमेव विषयत्वम्। —*ई०प्र०वि०* (भा०), भा० 1, पृ० 51
27. इह तावत् भावराशिर्यथा विमृश्यते तथा अस्ति, अस्तित्वस्य प्रकाशं शरणीकुर्वतः। —उपरिवत्, पृ० 61-62
28. प्रकाशस्वातन्त्र्यमिह बोधसंवेदनादिशब्दवाच्यम्। —*ई०प्र०वि०वि०*, भा० 1, पृ० 82
29. प्रकाशरूपं ज्ञानं, विमर्शरूपा च क्रिया (इति एतदेव स्वातन्त्र्यम्)। —उपरिवत्, पृ० 98
30. परप्रकाशनात्मकनिजरूपप्रकाशनमेव हि स्वप्रकाशत्वं ज्ञानस्य भण्यते। —*ई०प्र०वि०* (भा०), भा० 1, पृ० 127
31. *ई०प्र०वि०वि०*, भा० 1, पृ० 215-16.
32. तत्र च विमर्शो न प्रकाशातिरिक्तं किंचित् करोति इति निर्विकल्पः प्रकाश इति अनुभव इति च उच्यते। —उपरिवत्, भा० 1, पृ० 73
33. स प्रकाशो यद्यपि बहिर्मुखतया वेद्यभेदेन तदुपरागायातेन च देशकालभेदेन संकुचितः, तथापि अन्तर्मुखप्रमातृलक्षणमपि असंकुचितमभिन्नं रूपं तत्र संकुचिते अनुगतम्। तेन विना न कश्चिदर्थानां कार्यकारणभाव-बाध्यबाधकभावादिसमन्वयो लोकयात्रास्वभावः परमार्थोपदेशपर्यन्तः स्यात्। —उपरिवत्, पृ० 218
34. आभासनं न प्रकाशरूपादधिकं किञ्चिदिति अनेन प्रकाशक्रियाभिधायिधातुप्रकृतिकेन स्पष्टीकृतम्। —उपरिवत्, पृ० 421
35. उपरिवत्, पृ० 74.
36. यत् स्वयमेव प्रकाशते न अन्यत्र प्रकाशत एव च, न तु प्रकाश्यतेऽन्येनेति तदेव तत्त्वतश्चिद्रूपम्। —उपरिवत्, पृ० 91
37. (अ) प्रकाशस्वातन्त्र्यमिह बोधसंवेदनादिशब्दवाच्यम्। स्वातन्त्र्यं च नाम यथेच्छं तत्र इच्छाप्रसरस्य अविघातः, तेन स्वयं प्रकाशते परात्मना प्रकाशते इति अनवच्छेदनया प्रकाशमानता, तदेव स्वातन्त्र्यं परात्मना प्रकाशते इति। एतदेव उच्यते परं प्रकाशयतीति। —उपरिवत्, पृ० 82

(आ) महाप्रकाशरूपा हि
येयं संविद्विजृम्भते ।
स शिवः शिवतैवास्य
वैश्वरूप्यावभासिता ।। —*तं०आ०* 15/265-66

38. *ई०प्र०का०* 1/5/2.
39. *ई०प्र०वि०वि०*, भा० 1, पृ० 23.
40. उपरिवत्, भा० 2, पृ० 175-76.
41. अस्यां भूमौ सुखं दुःखं बन्धो मोक्षश्चितिर्जडः।
घटकुम्भवदेकार्थाः शब्दास्तेप्येकमेव च।। —*तं०आ०* 2/19
परमाद्वयदशायाम् एकः प्रकाश एवार्थोभिधेयः। —*तं०आ०वि०*, भा० 2, पृ० 325
42. *तं०सा०*, पृ० 5.
43. *ई०प्र०वि०वि०*, भा० 1, पृ० 218.
44. उपरिवत्, भा० 2, पृ० 168.
45. तादात्म्येन तु प्रकाशने प्रकाशांश एव। प्रकाशमानरूपाधिकं च बाह्यत्वमिति बाह्यत्वस्य न प्रकाशमात्रमुच्यते अपितु अध्यवसायः। —उपरिवत्, भा० 1, पृ० 73
46. उपरिवत्, भा० 2, पृ० 32.
47. *भा०*, भा० 2, पृ० 74.
48. तमेव भान्तमनुभाति सर्वं
तस्य भासा सर्वमिदं विभाति। —*ई०प्र०वि०* (भा०), भा० 1, पृ० 350 पर उद्धृत

अध्याय तीन

विमर्श

काश्मीर शिवाद्वयवादी सम्प्रदाय में प्रकाशविमर्श की धारणा वह मूलभूत सिद्धान्त है जो कि यहाँ के सारे दार्शनिक चिन्तन का आधार-बिन्दु है। यहाँ विशुद्ध दार्शनिक भाषा में जिस सत् के अन्वेषण का प्रयास किया गया है, उसकी संज्ञा 'प्रकाशविमर्शात्म' है। यद्यपि 'प्रकाश-विमर्श' का प्रत्यय अपने समग्र रूप में ही इस परमसत् के पूर्ण स्वरूप को प्रस्तुत करता है फिर भी तार्किक विश्लेषणात्मक दृष्टि से इस अवधारणा का भेदन कर उसके दो रूपों की कल्पना की जाती है— प्रकाश व विमर्श। अत: अब इन रूपों के स्वतन्त्र स्वरूप व कर्तृत्व की गवेषणा करना अपेक्षित हो जाता है। आचार्य अभिनवगुप्त इस भेदन के पीछे व्युत्पत्ति या परप्रतिपादनहेतुता को ही उत्तरदायी मानते हैं।[1]

वि + मृश् (आमर्शने) + घञ् से निष्पन्न विमर्श शब्द का सामान्यत: अर्थ 'विचार करने की सामर्थ्य' से लिया जाता है और चैतन्य का अनिवार्य लक्षण इसी को माना जाता है। *शब्दकल्पद्रुम* भी इस शब्द की व्याख्या परामर्श, वितर्क, ज्ञान आदि रूप में करता है। यद्यपि मृश् धातु का अर्थ 'स्पर्श' है। हार्वे पी० आल्पर के मतानुसार[2] आचार्य उत्पल ने इसी स्पर्श के अर्थ में इस शब्द का प्रयोग किया है। उनके अनुसार आचार्य उत्पल का मन्तव्य ऐसे ज्ञान के सिद्धान्त का विकास करना था जिसमें ज्ञाता और ज्ञेय के मध्य अभेद की धारणा का निषेध किये बिना ज्ञाता व ज्ञेय के मध्य घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित किया जा सके। अत: वह बार-बार इस मृश् धातु से निर्वाच्य शब्दावली का प्रयोग करते हैं।

काश्मीर शिवाद्वयवाद में विमर्श का अभिप्राय प्राय: संवेदन-सामर्थ्य ही है। इस संवेदन-सामर्थ्य के साथ यहाँ आत्म शब्द अनिवार्यतया संपृक्त किया गया है यद्यपि परमसत् से कुछ भी भिन्न न होने से वहाँ आत्मरूपता या परता की बात ही नहीं उठती। वस्तुत: तो यह आत्मभाव मिलता है प्रकाशांश से, जिसका संवेदन होता है विमर्शांश में। अद्वयवादी शैव तत्त्वमीमांसा में विमर्श की धारणा परमसत् के स्वरूप का घटक तथ्य है। अन्य प्रत्ययवादी सम्प्रदायों की तरह यह सम्प्रदाय भी परमसत् को अनिवार्यत: चैतन्य (consciousness) रूप कहता है। संभवत: यह दृष्टि बहुत प्राचीन है और वेदों से चली आ रही है। परन्तु यहाँ की पराद्वैतवादी दृष्टि (Absolutistic approach) इसके चैतन्य को परमाद्वय (Absolute) भी सिद्ध करती है। यह पराद्वैत सारे द्वैतों की संभावनाएं समाप्त कर देता है तब एक अद्वयवादी के लिये जागतिक वैचित्र्य, जो कि ज्ञान-ज्ञेय रूप है, की व्याख्या करना मुश्किल हो जाता है। चैतन्य तो सारी ज्ञानज्ञेयरूप नानारूपता से मुक्त होकर ही परमाद्वय हो सकता है। परन्तु यहाँ यह भी द्रष्टव्य है कि यह पराद्वैतवाद (Absolutism) मात्र निषेधों का समग्र नहीं है वरन् स्वयं में पूर्ण आत्मनिष्ठ

सत् है। ये निषेध तो मात्र उसकी तर्कोत्तीर्णता व अतीन्द्रियता के साधक हैं तथा उसकी सर्वनिरपेक्षता को सिद्ध करते हैं।

इस पराद्वैतवाद के सन्दर्भ में जब जगत् की व्याख्या का प्रश्न उपस्थित होता है तब विविध दर्शन/सम्प्रदाय प्रत्ययवाद (idealism) का आश्रय लेते हैं पर प्रत्ययवादी तत्त्वमीमांसा में कर्त्ता व कर्म दोनों साथ-साथ नहीं रह सकते, उनमें से एक ही शेष रहता है। इसी दृष्टि से काश्मीर शिवाद्वयवाद में प्रत्ययवाद की चरम परिणति रूप में जिस तत्त्व की कल्पना की गयी है वह सर्वमय व निरपेक्ष सत्ता है जिसकी कल्पना यहाँ प्रमाता (subject) के रूप में ही की गयी है। ज्ञेय जगत् को उसके विचार रूप में सत् सिद्ध किया गया है। इसकी सर्वोत्कृष्टता सिद्ध करने के लिये ही उसमें उस कर्तृत्व को स्वीकारा गया है जो सारी अनेकताओं को जन्म देता है।

अत: यहाँ परम सत् के जिस चैतन्य स्वरूप की परिकल्पना की गयी है उसमें ज्ञेयीकरण (objectification), ज्ञेय की चेतना (consciousness of object) तथा उस चैतन्य की चेतना (awareness of this consciousness) इन तीनों तथ्यों को समेटा गया है। अत: परमसत् की परम्परागत परिभाषा—सत्+चित्+आनन्द को स्वीकृत न कर प्रकाश-विमर्श की शब्दावली में एक विशिष्ट परिभाषा प्रस्तुत की गयी है। सत् व चित् के अविभाज्य सामरस्य का प्रस्तोता है प्रकाश तथा चित् व आनन्द की एकात्मता को प्रस्तुत करता है विमर्श। अर्थात् सत् के अन्त:सार या अन्तर्सत्त्व (content) का प्रतिनिधि है प्रकाशांश तथा ज्ञेयीकरण की प्रक्रिया का वाचक है विमर्शांश। परन्तु यहाँ विमर्श को उस आनन्द का भी वाची कहा गया है जो कि सारे भारतीय अध्यात्म का ऊर्जास्रोत है। भारत में सारा दार्शनिक चिन्तन इसी आनन्द के अन्वेषण का एक प्रयास है, अत: काश्मीर शिवाद्वयवादी दार्शनिकों ने परमसत् के स्वरूप विधान में उन समस्त सन्दर्भों को ध्यान में रखा है जो कि तांत्रिक पृष्ठभूमि के अन्दर पराद्वैत की समस्त संभावनाओं के प्रतिपादन में सक्षम हों तथा प्रचलित भारतीय चिन्तनधारा से मेल खा सकें।

यह सम्प्रदाय एक विशुद्ध दार्शनिक विधा न होकर दर्शन व धर्म का सम्मिश्रण है जिसे पाश्चात्य चिन्तक 'ईश्वरविज्ञान' (theology) की संज्ञा देते हैं। अत: यह परमसत् की धारणा भी इस सम्प्रदाय की इसी विशिष्ट दृष्टि को लेकर ही प्रसृत होती है। संभवत: इस सम्प्रदाय के आचार्य एक स्पष्ट दार्शनिक पद्धति को प्रस्तुत करने की प्रकल्पना को लेकर अग्रसर होते हैं पर बार-बार तांत्रिक धारा से सदैव अपने को जोड़े रहने की चेतना उनकी इस विशुद्ध दार्शनिक दृष्टि को प्रभावित करती है, अत: वे विशुद्ध सत् के अन्वेषण के समय भी उन सन्दर्भों के निरूपण का लोभ संवरण नहीं कर पाते जिनका दर्शन की दृष्टि से कोई स्थान नहीं है। यहाँ ज्ञान-क्रियामय रूप में परमसत् का लक्षण, शक्ति-शक्तिमान् की अवधारणा, ईश्वर/महेश्वर/परमेश्वर की अवधारणाएं उनके इसी झुकाव को इंगित करती हैं।

'शक्ति' का प्रत्यय इस प्रकाश-विमर्श की धारणा को इसी दृष्टि से शक्तिमान् व शक्ति रूप में कल्पित करने से उद्विकसित होता है। प्रकाशांश शक्तिमान् बन जाता है और विमर्शांश शक्ति। इन्हीं को पूज्याकार दिव्य व्यक्तित्व प्रदान करने पर शिव व शक्ति रूप संज्ञाएं स्थान प्राप्त करती हैं।

इस प्रकार परमसत् की व्याख्या यहाँ प्राय: प्रकाश-विमर्श के ऐक्य रूप में, ज्ञान-क्रिया के सामरस्य के रूप में तथा शक्ति-शक्तिमान् के समग्र के रूप में की गयी मिलती है जिसमें पूर्णतया

मौलिक प्रत्यय है प्रकाश-विमर्श। ये सारे सन्दर्भ इस विमर्श के सन्दर्भ में प्रस्तुत नाना विवेचनों का मार्ग प्रशस्त करते हैं, फलत: इस सम्प्रदाय के आचार्य कहीं विमर्श को क्रिया कहते हैं, कहीं परमा शक्ति और कहीं स्वात्मावमर्शमात्र।

संभवत: इस विमर्श के प्रत्यय को सर्वप्रथम आचार्य भर्तृहरि से गृहीत कर आचार्य उत्पल ने अपने प्रत्यभिज्ञा सम्प्रदाय के प्रस्थान ग्रन्थ *ईश्वरप्रत्यभिज्ञाकारिका* में स्थान दिया। उनसे पहले आचार्य सोमानन्द इस प्रकाश-विमर्श की शब्दावली का प्रयोग नहीं करते और न ही उनसे पूर्व के आगमों में इसका स्पष्ट विवेचन मिलता है।[3] यद्यपि इन शब्दों के द्वारा कथ्य अभिप्राय के बीज वहाँ उपलब्ध हैं। आचार्य सोमानन्द परमसत् को 'परमशिव' कहते हैं और उसे 'निर्वृतचित्' की शब्दावली में परिभाषित करते हैं।[4] वहाँ 'निर्वृत' पूर्ण परितृप्ति या स्वात्मविश्रान्ति की अवस्था है जिससे विशुद्ध आनन्द की अवस्थिति की अभिव्यंजना होती है और 'चित्' है प्रकाशरूपता की। इस प्रकार यहाँ विमर्श का स्पष्ट अभिधान न होने पर भी चमत्कारानुप्राणित विमर्शात्मिका वृत्ति 'निर्वृत' अंश से लक्षित है, साथ ही 'चित्' का चित्त्व भी उसी विमर्श के कर्तृत्व से अनुप्राणित है।

आचार्य उत्पल *ईश्वरप्रत्यभिज्ञाकारिका* में ज्ञानाधिकार के पाँचवें आह्निक की ग्यारहवीं कारिका में प्रकाश के अनिवार्य स्वभाव के रूप में इसका प्रथम बार निर्देश करते हैं। उनके मत में विमर्श प्रकाश का स्वभाव है। स्वभाव का अर्थ है आत्मीय भाव। यह आत्मीयता इसकी अनन्यापेक्षिता, अव्यभिचरणीयता व स्वात्ममात्र-विश्रान्ति की सूचक है। इसी प्रकार विमर्श को प्रकाश की आत्मा भी कहा गया है। यही चैतन्य का भी प्रतिनिधि है।

चेतन तत्त्व में चार तरह की सामर्थ्य संभव है—

(क) वह स्वात्ममात्र में चमत्कृत हो सकता है।

(ख) वह स्वात्मपरामर्श कर सकता है।

(ग) वह स्वात्मप्रकाशन कर सकता है।

(घ) वह अपरिच्छिन्नतया भासित हो सकता है।

विमर्श इन चारों तरह की सामर्थ्यों के लिए उत्तरदायी है। जिन पदार्थों में इन सामर्थ्यों का अभाव है वे चेतन नहीं हैं।

इस विवेचन से विमर्श की कर्तृता चार रूपों में नि:स्पन्दित होती प्रतीत होती है—

(क) **स्वात्मचमत्कार**—स्वात्मचमत्कार की धारणा विमर्श का मुख्य संघटक तत्त्व है। यह शब्द अपने व्युत्पन्न रूप में स्वात्मास्वादन कृत्य का संकेतक है तथा अखण्ड रूप में उस मानसिक अवस्था का व्यंजक है जो कि आन्तरिक छन्दन से ओतप्रोत है। दार्शनिक शब्दावली में इसे आत्मस्वरूप की पूर्णता की आनन्दमयता का अलौकिक आस्वाद कहा जा सकता है। इस चमत्कार की अभिव्यक्ति है अहंविमर्श। अत: चमत्कार की धारणा की पूर्वदशा है पूर्णता या सर्वभरितत्व की अवस्था। इसी दृष्टि से परमसत् के स्वरूपनिदर्शन में इस धारणा का विशेष महत्त्व है क्योंकि यह इस सम्प्रदाय की कई धारणाओं के विकास का पथ प्रशस्त करती है। इस 'चमत्कार' की धारणा से कई समानान्तर धारणायें विकसित होती हैं—'पूर्णता', 'आनन्द', 'स्वातन्त्र्य', 'स्पन्दन'। ये सभी सिद्धान्त इसी चमत्करण से अनुप्राणित हैं। पूर्णता की अभिव्यक्ति चमत्कार के माध्यम से ही होती है तथा उस चमत्कारात्मक अवस्था की अनुभूति का नाम ही

आनन्द है। इस आनन्दात्मिका दशा की व्याख्या स्वात्मोच्छलन की शब्दावली में ही संभव है जिसे आधार बना कर स्पन्द सिद्धान्त विकसित होता है और उसी का विभवन स्वातन्त्र्य रूप में घटित होता है। यही चमत्कृति यौगिक सन्दर्भ में 'विस्मय' संज्ञा से संकेतित है। पर विस्मय में जहाँ आश्चर्य का भाव विशेष है वहीं इस चमत्कार में परम तृप्ति का भाव ही निहित है। इसीलिए *शिवदृष्टि-वृत्ति* में आचार्य उत्पल इस आनन्द को अनवच्छिन्ना निर्वृति रूप कहते हैं। यह चमत्कार जहाँ चित् के स्वरूप में निमग्न आनन्द की व्याख्या करता है वहीं कला व भक्ति की स्थिति में उपलब्ध सहृदयजनसंवेद्य आनन्द की कल्पना को भी पुष्ट करता है।

(ख) **स्वात्मपरामर्शन**—विमर्श की धारणा का संघटक द्वितीय तथ्य है स्वात्मपरामर्श अर्थात् अपनी सत्ता का बोध। इसके बिना तो प्रकाश स्फटिकादि की तरह जड़ होगा। चेतन होने के लिए स्वात्मावबोधन अनिवार्य दशा है।

(ग) **स्वात्मप्रकाशन**—विमर्श का संघटक तृतीय तथ्य है—स्वात्मप्रकाशन। इस प्रकाशन की व्याख्या ज्ञानक्रियास्वातन्त्र्य रूप में भी की जाती है अर्थात् चेतन तत्त्व में स्वातन्त्र्य रहना अनिवार्य है।

(घ) **अपरिच्छिन्न भासन**—विमर्शमय सत् समस्त इदन्तारूप परिच्छिन्न भासनों से उत्तीर्ण होकर अखण्ड अहं रूप से भासित हो रहा है, अत: उसका अनिवार्य स्वरूप है अहन्तया भासन।

इन चारों तथ्यों के विश्लेषण से परमसत् की जो कल्पना उभर कर सामने आती है उसमें आनन्द, पूर्णता, स्वातन्त्र्य व अविच्छिन्न भासमानता रूप चार स्थितियाँ अनिवार्य हैं जो कि एक अद्वयवादी मीमांसा में प्रकल्पित परमसत् के स्वरूप से ही निर्गत होकर पूरी तत्त्वमीमांसा को अपने अन्दर समेट लेती हैं। प्रकाश अंश सत्त्वमात्र को प्रसृत करता है जिसका विकास 'आभासवाद' व 'तत्त्वनिरूपण' में उपलब्ध होता है जब कि विमर्श अंश 'स्वातन्त्र्यवाद' का अनुप्रेरक है। ज्ञानमीमांसा तो प्रकाश-विमर्श के सामरस्य को लेकर ही प्रवृत्त होती है।

इस विमर्श की धारणा के भी मूल में स्वच्छन्दत्व की धारणा है। *शिवसूत्रविमर्शिनी* चित् को 'स्वच्छत्व' व 'स्वच्छन्दत्व' इन दो वैशिष्ट्यों से युक्त बतलाती है। वहाँ स्वच्छत्व, उच्छलत्ता आदि से युक्त परामृत समुद्र को विश्व प्रवाह के प्रसार का हेतु बतलाया गया है। यहाँ इस बात पर विशेष बल है कि यह इस सम्प्रदाय की अपनी मौलिक उद्भावना है। इस स्वच्छन्द की धारणा में स्थित 'छन्दन' गति, लय व व्यवस्था इन तीनों के समग्र को प्रस्तुत करता है। इसी स्वाच्छन्द्य को बतलाने वाला एक अन्य प्रत्यय है—'कलन', जिसका अभिप्राय भी इस गत्यात्मकता के विविध आयामों को अभिव्यंजित करना है। शैव शब्दावली में प्रयुक्त शिव के नर्तक, नट, शैलूष आदि विशेषण इसी आत्मविषयक आनन्द से उत्फुल्लित होकर आत्मस्वाच्छन्द्यजन्य नृत्य की स्थिति की ओर संकेत करते हैं। संभवत: विमर्श का प्रत्यय इसी स्वाच्छन्द्य से निर्गत एक दार्शनिक प्रकल्पना है। जागतिक प्रसार की व्याख्या के सन्दर्भ में यह विमर्श जहाँ स्वाच्छन्द्य की चेतना है वहीं विश्वोत्तीर्ण अवस्था में विशुद्ध परमसत् की स्थिति में इस स्वाच्छन्द्य का अंश गौण है। वहाँ मात्र स्वात्ममात्र की चेतना है। यद्यपि यह परमसत् गति के संस्पर्श से कभी च्युत नहीं होता पर सांख्य के सदृशपरिणाम की ही तरह वहाँ उस गति की स्थिति अव्याख्येय है। आचार्य अभिनवगुप्त भी स्वच्छन्दवृत्ति की व्याख्या विमर्श की ही शब्दावली में करते हैं।[5]

इस विमर्श की अनुभूति 'अहंबोध' में ही निहित है। यह अहं अन्त:करणजन्य सीमितप्रमातृत्व का सूचक न होकर मात्र स्वरूपविमर्श का ही बोधक है। वस्तुत: तो यह संकेतोत्तीर्ण आन्तराभिलपन की सांकेतिक अभिव्यक्ति मात्र है। यद्यपि काश्मीर शिवाद्वयवादी अपने वाक् तत्त्व के विवेचन में आचार्य भर्तृहरि से पर्याप्त रूप में प्रभावित हैं पर भर्तृहरि इस आन्तराभिलपन के बोध हेतु ऐसे किसी अहंपरामर्श की कल्पना नहीं करते। संभवत: आचार्य उत्पल ही इस प्रकल्पना को प्रथम बार काश्मीर शैव तत्त्वमीमांसा में स्थान देते हैं और परवर्ती शैव दार्शनिक इसका यथेष्ट विकास करते हैं।[6] विमर्श का यह अहंभाव दो रूपों में प्रस्तुत होता है—

(अ) वाग्रूपता/शब्दन

(आ) आनन्द

इसका विवेचन आगे यथास्थान किया जायेगा। पूर्णप्रमाता की इस अहंभाव में एकरस विश्रान्ति होती है जबकि संसारी प्रमाता की माया-शक्ति के व्यापार के द्वारा आहत भेदैकरस-भाव से होती है। काश्मीर शिवाद्वयवाद के कुल व त्रिक सम्प्रदाय इस 'अहम्' को जागतिक प्रसार की अभिव्यक्ति मानते हैं तथा इससे उल्टे 'महअ' को जागतिक संहार की। यह अहंरूपता ही प्रकाश का मुख्य धर्म या जीवन कहा गया है जिसका अभिप्राय है इसके प्रकाशनस्वातन्त्र्य को लक्षित करना।[7] इसी को अन्य सीमित अहन्ताओं से भिन्न करने के लिये 'पराहन्ता' कहा गया है। यही अहं-विमर्श यथार्थ प्रमातृत्व का अभिव्यंजक है क्योंकि यही समस्त इदन्ता-विमर्शों के उदय व लय के लिये उत्तरदायी है। सभी इदन्ता-विमर्श अपनी उत्पित्सावस्था-रूप पूर्व अवस्था में तथा 'मया एतत् ज्ञातम्' रूप पर अवस्था में इसी अहंविमर्श में विश्रान्त रहते हैं, मात्र मध्यावस्था में इदन्तया भासित होते हैं। इस 'अहंविमर्श' की इदन्ता-रूपता किस प्रकार घटित होती है, इसके लिये यह विमर्श ही अपने एक रूप, जिसको कि माया शक्ति का नाम दिया गया है, के द्वारा उत्तरदायी है। 'विमर्शन'-अंशगत स्वातन्त्र्य के कारण ही परमसत् 'अहंप्रकाशन' की क्रीडा में प्रवृत्त होकर इस स्वातन्त्र्य के प्रसार रूप में माया शक्ति का विकास कर उसके द्वारा इदन्ता-रूप विच्छिन्न कोटियों के रूप में भासित होता है।

यह विमर्श ही प्रकाशांश के द्वारा 'प्रसृत सत्' अंश की सत्ता को प्रमाणित करता है। इस सम्प्रदाय में 'एकप्रकाशवाद' की स्थापना के द्वारा एक ही प्रकाश की नाना रूपों में कल्पना की गयी है पर सत्त्व का मुख्य निर्माता तत्त्व होने पर भी प्रकाश की सिद्धि विमर्श के माध्यम से ही घटित होती है, अत: सत् की सद्रूपता का साधक विमर्श ही है। कोई भी पदार्थ सत् है या असत्, इसका साधक प्रमाता का विमर्श ही है। प्रमाता जिस रूप में उस वस्तुप्रकाश का विमर्श करता है उसी रूप में उसकी सत्ता का निर्धारण होता है।[8] अत: 'सत्ता' है भवत्ता जिसे स्फुरणशीलता या भासमानता/प्रकाशमानता की शब्दावली में यह सम्प्रदाय अभिव्यक्त करता है और इस भवत्ता का अनिवार्य स्वरूप है 'भवनक्रिया-कर्तृता'। अत: प्रमेयता या वेद्यता वस्तु के स्वाभाविक धर्म नहीं है। वरन् उनका स्वरूप तो प्रमातृसंवेदन पर ही आधारित है। संवेद्यमानता ही सर्जन है।[9] अत: विमर्श ही सत् को सत्त्व प्रदान करता है, अस्तित्व के स्तर पर भी व ज्ञान के स्तर पर भी। दूसरे शब्दों में विमर्श ही सत् के सत्त्व का आख्यान है। प्रकाशांश की सर्वता ही इस विमर्श के माध्यम से सारे भाव, अभाव रूप पदार्थों को अवकाश देती है फलत: विमर्श की एक संज्ञा यहाँ

'महासत्ता' के रूप में उपलब्ध होती है। क्योंकि सत्ता के परिघटन का मुख्य कारण विमर्श है, अत: उसी को महासत्ता रूप से वर्णित किया जाता है। इसके 'महा' विशेषण का अभिधेय है इसकी असंभव को संभव बनाने की क्षमता। प्रकाश अपने मूल रूप में देश-काल-आकारगत सभी सम्वन्धों से उत्तीर्ण है परन्तु इसी विमर्श के माध्यम से नाना रूपों में भासित होता है। अत: यह विमर्श विशुद्ध सत् का स्वरूप होने पर 'सामान्य सत्त्व' का साधक है तथा स्वातन्त्र्य-स्फूर्त क्रीडा के निमित्त, नाना रूपों में भासनार्थ विशिष्टरूपों में सत्ता का अवबोधन करने से 'विशिष्ट सत्त्व' का भी साधक है।

यह विमर्श सारी क्रिया-सामर्थ्य का स्रोत है। इस सम्प्रदाय में परमसत् की उद्‌भावना एक प्रमाता के रूप में की गयी है, अत: ज्ञानक्रिया या ज्ञानात्मक व्यापार ही यहाँ सर्वाधिक मौलिक माना गया है। सारे क्रियात्मक व्यापार ज्ञानपल्लवभूत ही हैं। यहाँ यह क्रिया-सामर्थ्य अन्तर्बहिष्करण-स्वातन्त्र्यरूप है। वस्तुत: परमसत् की स्वातन्त्र्यरूपा क्रिया के वाचक 'जानामि' व 'करोमि' ही हैं। किसी भी शब्द में स्थित प्रकृति-अंश प्रकाशांश को और प्रत्यय-अंश विमर्शांश को ध्वनित करता है, अत: सारे ज्ञानात्मक व क्रियात्मक व्यापारों के मूल में वह प्रमाता का अन्त:संरम्भात्मक विमर्श ही रहता है।[10] इस ज्ञानक्रियासामर्थ्य की संयुक्त संज्ञा है 'स्वातन्त्र्य' जिसे कि सर्वसहत्व की शब्दावली में भी व्यक्त किया जाता है। इस स्वातन्त्र्य के अभिव्यक्तीकरण की चार विधाएं सम्भव हैं—'संयोजन', 'वियोजन', 'अनुसंधान' तथा इन तीनों से 'उत्तीर्ण' विधा। अत: विमर्श की क्रियात्मकता इन चार रूपों में घटित हो सकती है—

(अ) परमपि आत्मीकरोति = संश्लेषणप्रधान = अभेदबुद्धिप्रधान

(आ) आत्मानं च परीकरोति = विश्लेषणप्रधान = भेदबुद्धिप्रधान

(इ) उभयम् एकीकरोति = संश्लेषणविश्लेषणमय = भेदाभेदबुद्धिप्रधान

(ई) एकीकृतं द्वयमपि न्यग्भावयति = संश्लेषणविश्लेषण से उत्तीर्ण = भेद व अभेद से उत्तीर्ण बुद्धि

इस प्रकार यह विमर्श 'बोध' के सन्दर्भ में संयोजन, वियोजन, अनुसंधान तथा स्वात्ममात्रपरामर्श के कर्तृत्व का सम्पादन करता है और 'सत्ता' के सन्दर्भ में भेदन, भेदाभेदन, अभेदन तथा इन तीनों रूपों से उत्तीर्णतया व्यापार के लिये उत्तरदायी है। अत: यह विमर्श सारी सामर्थ्यों का संवलित रूप है इसी को यह सम्प्रदाय 'शक्तिसामरस्य' की शब्दावली में व्यक्त करता है। यही सर्वमयता है पूर्णचिद्रूप का प्रकाशन। यह पूर्णता का परामर्श पूर्णतृप्तिकारी है अत: स्वात्मविश्रान्ति का हेतु है।[11] विमर्श की यह अन्यनिरपेक्षता स्वातन्त्र्यवाची नाना संज्ञाओं को स्थान देती है जैसे स्वातन्त्र्य, ऐश्वर्य, ईशितृत्व आदि। यही इसकी 'आनन्द' रूप संज्ञा का भी कारण है।

इस विवेचन से ऐसा प्रतीत होता है कि विमर्श व स्वातन्त्र्य परस्पर पर्याय हैं परन्तु ऐसा नहीं है। सूक्ष्म विश्लेषण करने पर दोनों में कुछ भेदक तत्त्व मिल जाते हैं। 'स्वातन्त्र्य' विमर्श की अपेक्षा अधिक व्यापक प्रत्यय है क्योंकि यह परतत्त्व के पूर्णस्वरूप (प्रकाश + विमर्श) का लक्षण है जबकि विमर्श परतत्त्व के स्वरूप का घटक मात्र है। यद्यपि स्वातन्त्र्य की धारणा इसी से अग्रसर होती है तथापि जहाँ स्वातन्त्र्य में विषय व प्रक्रिया दोनों विद्यमान हैं वहीं विमर्श केवल

सारी प्रक्रियाओं का आत्मसंकुल रूप है, उसमें प्रक्रियाओं का अधिकरण रूप विषय विद्यमान नहीं है। उसकी उपस्थिति तो प्रकाशांश के द्वारा ही करायी जाती है। वस्तुत: स्वातन्त्र्य जगत्-प्रसार का निमित्त तो है पर कारण है विमर्श। यह स्वातन्त्र्य एक तटस्थ अवधारणा है जो परतत्त्व की गत्यात्मकता को अभिव्यंजित नहीं करती, मात्र सर्वभावभरितत्व की अवस्था की संकेतक है जबकि विमर्श का प्राण है गत्यात्मकता। इसी कारण इस सम्प्रदाय में स्वातन्त्र्य का इतना गुणगान होने पर भी परतत्त्व की परिभाषा प्रकाश-विमर्श की शब्दावली में ही दी गयी है। वस्तुत: प्रकाश-विमर्शमयता रूप लक्षण सत् का स्वरूपख्यापक लक्षण है जबकि स्वातन्त्र्य या पंचकृत्यकारित्व उसका आधायक तत्त्व है।

इस स्वातन्त्र्य का स्फार है 'कर्तृता'। इसी कर्तृप्रथा के कारण ही परतत्त्व में ज्ञानक्रियायोग[12] की संभावना संभव हो पाती है तथा उन्मेषनिमेषमयी इच्छा को अवकाश मिलता है। यह कर्तृता वस्तुत: क्रियासामान्य के स्वातन्त्र्य की अभिधायक है, पर विश्लेषण करने पर दो प्रकार की सिद्ध होती है—ज्ञान रूप व क्रिया रूप। इसी दृष्टि से प्रकाश-विमर्श को क्रमश: ज्ञान व क्रिया रूप कह कर भी परिभाषित किया जाता है। यह कर्तृता यहाँ प्रमातृता की ही शब्दावली में व्याख्यात है। परमसत् प्रमाता होने से इन दोनों प्रकार के कर्तृत्वों का निष्पादक है पर परमसत् के स्वरूप के अनुसंधान में हम जिस विमर्श की चर्चा करते हैं वह सारे क्रियासामर्थ्यों का समग्र है, चाहे वे ज्ञानपरक हों या क्रियापरक, फिर प्रकाशांश को ज्ञानात्मक क्रिया के लिये उत्तरदायी कहना उपयुक्त नहीं लगता। वस्तुत: स्वातन्त्र्य के सन्दर्भ को लेकर निरूपित माहेश्वर्य की धारणा प्रकाश व विमर्श को कर्तृता के सन्दर्भ में व्याख्यात करती है फलत: प्रकाश में चिदंश की प्रधानता होने से उसे 'ज्ञान' रूप तथा विमर्श में 'स्वात्मचमत्करण', 'स्वात्मप्रकाशन', 'स्वात्मपरामर्शन' आदि की सामर्थ्य होने से उसे 'क्रिया' रूप कहा जाता है।

'चित्' की धारणा का यहाँ विशिष्टतया प्रयोग उपलब्ध होता है। चित् है 'चैतन्य' और चैतन्य की व्याख्या यहाँ ज्ञानक्रियासामर्थ्य के रूप में की जाती है।[13] इसी दृष्टि से विमर्श का अभिधान यहाँ चैतन्य संज्ञा से भी किया गया है। प्राचीन आगम विमर्श संज्ञा का प्रयोग न कर आत्मा के स्वरूप का वाचक चैतन्य को ही मानते हैं। चैतन्य एक सर्वजनसंवेद्य तथ्य है, अत: जब इस दृष्टि को ध्यान में रख कर परमसत् के स्वरूप की गवेषणा की जाती है तब जीवन को ज्ञानक्रियासामर्थ्य रूप में ही देखा जाता है।[14] फलत: परम आत्मा जो सबका जीवन है उस की व्याख्या भी ज्ञानक्रियामयरूप में की जाती है।[15] अब प्रकाश-विमर्श की शब्दावली भी वहां नियोजित करने पर प्रकाश ज्ञानपक्ष का व विमर्श क्रियापक्ष का वाचक हो जाता है। यह ज्ञान यहाँ स्वात्ममात्र के ज्ञान रूप अभिप्राय में पर्यवसित है तथा क्रिया स्वसंवेदन रूप है। इन्हीं का उत्तरकाल में ज्ञानशक्ति व क्रियाशक्ति रूप से विभवन होता है। अब ज्ञानशक्ति का अभिधेय है आन्तर का बहिरवभासन तथा क्रिया-शक्ति का कार्य उन आभासों का नाना प्रकार से संयोजन (संयोजन, वियोजन व अनुसंधान) करना हो जाता है। इस प्रकार परमेश्वर में स्थित यह अक्रमा क्रिया ही मायापद में सांसारिक प्रमातृगत क्रम के आरोपण से सक्रमा रूप से भासित होती है। इसी चित् को 'संवित्' की शब्दावली में भी व्यक्त किया जाता है। वस्तुत: काश्मीर शिवाद्वयवाद में चित् व संवित् आदि संज्ञाएं उस स्वतन्त्र प्रमातृतत्त्व की वाचक हैं जिस पर प्रतिष्ठित होकर ही

सारे जागतिक व्यवहार निष्पन्न होते हैं; ज्ञाता-ज्ञान-ज्ञेय व कर्ता-क्रिया-कर्म के भेद संभव होते हैं। यह संविद् एक है व सबका प्रतिष्ठा-स्थान है।

यह विमर्श की धारणा ही यहाँ की अद्वयवादी मीमांसा के पोषण की साधक विशिष्ट युक्ति है। एक अद्वय-तत्त्व के नानात्व के लिये उत्तरदायी किसी अन्य बाह्य समर्पक तत्त्व की अन्वेषणा से प्राप्त द्वैत की आशंका से अद्वैततत्त्व को मुक्त रखने में यह विमर्श एक समर्थ हेतु है। जहाँ प्रकाशांश उस महासत्त्व को बतलाता है जो सर्वता का प्रतिनिधि है वहीं विमर्शांश उसमें विशिष्टरूपता का विधान करता है। इस प्रकार यहाँ नानात्व के आभासनार्थ वेदान्त, बौद्ध आदि मतों की तरह अविद्या, वासना आदि किसी बाहरी साधन को स्वीकारने की आवश्यकता नहीं पड़ती। परमसत् के स्वरूपसंघटन में ही एकता व अनेकता का रहस्य ग्रथित हो जाता है। प्रकाशांश जहाँ 'एकता' के लिये उत्तरदायी है वहीं विमर्श 'अनेकता' के लिये। इस प्रकार भेदाभेद-व्यवस्था का आधार इसी में निहित सिद्ध होता है। इस अद्वयवाद की सिद्धि हेतु यहाँ सारी व्यक्तियाँ (अभिव्यक्ति) शक्ति रूप से कथित है, फलतः शक्तिमान् रूप अद्वयतत्त्व समग्रताहारी प्रत्यय सिद्ध होता है। यही सर्वमयता उसका वैभव है।[16] प्रकाश व विमर्श की शक्तिमान् व शक्ति रूप से कल्पना करने में भी यही रहस्य निहित है कि शक्ति-शक्तिमान् का करण है। जागतिक प्रसार के समय ज्ञातृज्ञेय के भेदनार्थ शक्ति अंश की प्रधानता रहती है तथा जागतिक संहार के समय शक्तिमान् अंश प्रधान रहता है, यद्यपि दोनों ही अवस्थाओं में शक्ति ही करण बनती है।

विमर्श के माध्यम से अनेकता का निबन्धन भी होता है व व्यवस्थापन भी। एक ही अद्वयतत्त्व सारे विश्व का स्रोत है इस कारण उसी के स्वरूप के घटक दोनों पक्ष ही सारे वैचित्र्य के उद्भव व व्यवस्थापन के कर्तृत्व को निभाते हैं। प्रकाशांश जहाँ इस व्यवस्था को अस्तित्व के सन्दर्भ में निष्पादित करता है ('भावाभावव्यस्था') वहीं विमर्शांश उसको ज्ञानात्मक स्तर पर घटित करता है ('भेदाभेदव्यवस्था')।

यह विमर्श काश्मीर शिवाद्वयवादी सम्प्रदाय की वाक् तत्त्व से अनुप्राणित तत्त्वमीमांसा का मूल आधार है। चैतन्य में वाक्-रूपता का अनुगम ही विमर्श की धारणा है। इसी विशिष्ट संदर्भ में विमर्श की संज्ञा यहाँ 'प्रत्यवमर्श' रूप में पर्यवसित हो गयी है। चित् का अनिवार्य स्वभाव है आत्मविमर्शन, वही है आन्तराभिलापात्मक शब्दन। विमर्शन है संवेदन और संवेदन या बोध शब्दन के माध्यम से ही घटित होता है। अतः विमर्श को 'परावाक्' संज्ञा से अभिव्यक्त करना इसी विशिष्ट अभिप्राय का द्योतक है। वस्तुतः विमर्श का सामान्य अर्थ है विचार करने की सामर्थ्य। सामान्य दृष्टि से भी विचार शब्दों का ठोस रूप ही है, वही जब द्रवित होकर स्थूल वाणी के द्वारा अभिव्यक्त होकर इन्द्रियवेद्यता को प्राप्त करता है तभी सामान्य भाषा में शब्द संज्ञा से वाच्य होता है। इस दृष्टि से विचार को शब्द की पूर्वावस्था ही माना जा सकता है। अहं-चेतना विचार की भी पूर्ववर्ती है जो किसी प्रकार के विभेदन से रहित अस्तित्व मात्र की अनुभूति की बोधक है। विमर्श उसी स्थिति का वाचक है। अतः विमर्श को वाक् कहना उपपन्न ही है तथा काश्मीर शिवाद्वयवाद की सूक्ष्म विश्लेषण-सामर्थ्य का द्योतक है। वस्तुतः यहाँ प्रमाता रूप अहं-प्रकाश की करणता संवेदन व शब्दन रूप में घटित होती है। अतः ये दोनों उसके स्वरूप में

ही ग्रथित हैं और विमर्श इन दोनों की समग्र संज्ञा है। इसी प्रकार प्रकाशांश जहाँ नाना आभासों के 'रूप' का निमित्त है वहीं विमर्शांश उनकी 'वाचकरूपता' या 'नाम' का हेतु है। ऐसी यह शैव वाक्-मीमांसा विमर्श के अहं भाव से उद्विकसित होकर अन्ततःस्वात्मचमत्कार में ही पर्यवसित होती है।

यही विमर्श यहाँ 'प्रतिभा' रूप से भी निरूपित किया गया है। प्रमाता की नाना पदार्थों के क्रम व अक्रम से रूषित संवित् का नाम ही प्रतिभा है। परन्तु इस सम्प्रदाय में संवित् व प्रमाता पर्याय ही हैं अत: प्रतिभा को भी प्रमाता कहा गया है। वस्तुत: प्रतिभा शब्द की व्युत्पत्ति है 'प्रतिभाति' (प्रति+भा) अर्थात् यह प्रमातृप्रधान व्यापार है जिसमें विषयात्मक सन्दर्भ गौण है। यह प्रतिभा प्रमाता की उस सर्वावभासन-सामर्थ्य की द्योतक है जिसमें सर्वभावभरितत्व है। इसी दृष्टि से इसे 'नवनवोन्मेषशालिनी प्रज्ञा' कहा जाता है।[17] प्रतिभा के सामर्थ्य की पराकाष्ठा यही है कि इसके अधिकार क्षेत्र में सारी इन्द्रियोत्तीर्ण व तर्कोत्तीर्ण संभावनाएं भी सिमट आती है। यह इन्द्रियोत्तीर्ण व बुद्धि से उत्तीर्ण वह चेतन तत्त्व है जो सारी सीमाओं से मुक्त होकर स्वावभासन व स्वावबोधन में समर्थ है। इसी कारण प्राय: दार्शनिक सम्प्रदाय सर्वज्ञता व अन्तर्दृष्टि के सन्दर्भ में प्रतिभा की चर्चा करते हैं। यह बुद्धि की सीमाओं से परे के पदार्थों की व्याख्या में प्रमुख हेतु है। इसी तात्कालिकता, नित्यनवीनरूपता तथा अगम्य को गम्य बना देने की क्षमता के कारण साहित्यशास्त्र में काव्य के हेतुओं में 'प्रतिभा' का विशेष स्थान है। अत: अन्य सम्प्रदायों में प्रस्तुत 'प्रतिभा' संज्ञा के कर्तृत्व को भी यह विमर्श संज्ञा व्याप्त कर लेती है क्योंकि यह सर्वभरितत्व की भी चेतना है तथा सर्वावभासन की भी। यहाँ प्रथम प्रातिभ ज्ञान 'पारमेश्वर विमर्श' रूप ही कहा गया है क्योंकि यह संकेतन, शाब्दिक व्युत्पत्ति तथा किसी भी प्रकार के कालक्रम पर निर्भर नहीं है।

विमर्श की ही एक अन्य संज्ञा यहाँ 'आगम' रूप में भी मिलती है। विमर्श की वाक्रूपता या आन्तराभिलापात्मकता की उद्भावना से ही इसकी आगमरूपता पल्लवित होती है। आन्तरिक विमर्श रूप में जो वाक् चित्स्वभाव का अन्तरंग रूप है वही आगम संज्ञा का वाच्य है। आगम का अर्थ है—आ समन्ताद् अर्थं गमयति इति आगम:। अत: यह अर्थ के यथार्थ स्वरूप का अनुवदन है। अर्थ है प्रकाशांश और उसका बोधन व संप्रेषण ये दोनों ही विमर्श के माध्यम से ही घटित होते हैं। आगम शब्द की 'आसमन्ताद् वृत्ति' इसी प्रकाश की सर्वता में निहित है और उसकी 'गमनात्मिका' प्रक्रिया विमर्शांश से रूपायित होकर आकार ग्रहण करती है, फलत: परमसत् रूप परमेश्वर को ही यहाँ आगम कह दिया जाता है। यही अर्थ या महार्थ विमर्श की स्वात्मप्रसारात्मक प्रक्रिया के बल पर विवर्तित होकर परावाक्, पश्यन्ती, मध्यमा, वैखरी के सोपानक्रम के द्वारा स्फुट स्वरूप को प्राप्त कर जागतिक सन्दर्भ में शास्त्रादि रूपों मे अभिव्यक्त होता है। इसी कारण आगमों को महेश्वर का विमर्श रूप कहा जाता है। इसी प्रकार अर्थ सम्बन्धी समस्त संभाव्य प्रकल्पनाओं का समग्र होने के कारण आगम प्रतिभा संज्ञा से भी वाच्य होता है। आगमों की लोक-प्रसिद्ध संज्ञा 'प्रसिद्धि' की अन्वर्थता भी परम प्रमाता के विमर्श रूप से ही सिद्ध होती है। सभी प्रसिद्धियों का आधार वही मूल विमर्श है जिसका स्वातन्त्र्य इस प्रकार की सभी संभावनाओं को आधार प्रदान करता है।

इस विमर्श का वर्णन कभी-कभी 'इच्छा' रूप में भी मिलता है। परमेश्वर की अप्रतिहत स्वातन्त्र्यरूपा, अविच्छिन्नस्वात्मविमर्शमयी, अनन्योन्मुखरूपता ही इच्छा है, वही हेतुता भी है और उसी की कर्तृता भी है।[18] आत्मविमर्शनमात्ररूप 'अहं' इच्छात्मक विमर्श है जिसमें कोई क्रम नहीं है। यह भगवान् की नित्य इच्छा है। इसका मुख्य कर्तृत्व है—

(अ) प्रमातृ प्रमेय वर्ग का आभासन ।

(आ) पुन: उस भेदवैचित्र्य रूप आनन्त्य का संवित् तत्त्व में विश्रान्ति-संपादन।[19]

स्पन्द सम्प्रदाय इस स्वभावभूता इच्छा को उन्मेष-निमेष रूप द्वित्व से उपचरित बतलाता है।

इस सम्प्रदाय में विमर्श के नाना नामान्तर उपलब्ध होते हैं जिनमें प्रमुख है 'प्रत्यवमर्श'। इस प्रत्यवमर्श को यहां प्राय: आन्तराभिलापात्मक शब्दनस्वभाव रूप से वर्णित किया गया है और इस शब्दन को संकेतनिरपेक्ष, अनवच्छिन्नचमत्कारात्मक, अन्तर्मुखशिरोनिर्देशप्रख्य, अकारादि मायीय सांकेतिक शब्दों का जीवन रूप तथा नाना भेदमयी प्रतीतियों की आन्तरिक भित्ति रूप से विवेचित कर उसे अन्तत: 'परावाक्' संज्ञा से निर्दिष्ट किया गया है। इस परावाक् संज्ञा में परा विशेषण पूर्णता का बोधक है तथा वाक् का अभिप्राय है—'वक्ति विश्वम् अभिलपति प्रत्यवमर्शेन इति च वाक्'। इस प्रकार परावाक् का अभिधेय है अपने पूर्ण विश्वमय स्वरूप का प्रत्यवमर्शेन अभिलपन। इस प्रकार परावाक् का मूल वह प्रत्यवमर्श ही है जो कि परमसत् के घटक विमर्शांश का ही वाक्-सृष्टि के सन्दर्भ में प्रस्तुत अभिधान है। संभवत: प्रत्यभिज्ञा सम्प्रदाय के दार्शनिकों ने शब्दब्रह्मवादियों से उनकी शब्दमीमांसा को ग्रहण करते समय उनसे इस संज्ञा को भी आयातित कर अपने परमसत् के सन्दर्भ में इस अभिधान का प्रयोग प्रारम्भ किया। वाक्-सृष्टि का मूल है प्रत्यवमर्श और प्रत्यवमर्श का प्राण है चमत्कारात्मकता। यद्यपि इस प्रत्यवमर्श का शाब्दिक अर्थ लेने पर उसका अर्थ होता है किसी के प्रति होने वाला अवमर्श। इस दृष्टि से परमसत् के विमर्शांश का पर्याय होने पर यह पूर्ण स्वात्मरूप का ही अवमर्श है फलत: चमत्कारात्मकता स्वत: सिद्ध हो जाती है और इस चमत्कारात्मकता की प्रतीति का साधन है आन्तराभिलापात्मक शब्दन। प्रत्यवमर्श का यहाँ किया गया कई तरह का विवेचन कोई सैद्धान्तिक दोष उपस्थित नहीं करता। इसी प्रत्यवमर्शन में ही आनन्द की अनुभूति का रहस्य भी निहित है।

आचार्य अभिनवगुप्त एकाध स्थान पर विमर्श की प्रक्रिया से प्रत्यवमर्श की प्रक्रिया को अलग करते हैं। उनका मत है कि विमर्श स्वात्म-मात्र परामर्श है और प्रत्यवमर्श में हेय-उपादेय का विनिश्चयन भी निहित है।[20] जहाँ विमर्श संज्ञा मात्र विचार या चेतना रूप अभिप्राय को प्रस्तुत करती है वहीं प्रत्यवमर्श संज्ञा विषयात्मक सन्दर्भ को भी संकेतित करती चलती है। यह किसी के प्रति होने वाला अवमर्श है, जो 'स्व' के प्रति भी हो सकता है और 'पर' के प्रति भी। स्व के प्रति होने पर यह विमर्शवत् मात्र आत्मचेतना का ही संकेतक है जब कि पर के प्रति होने पर यह अपोहनात्मक हेयोपादेय का ग्रहण कर निश्चयात्मक अभिमर्श का ही वाचक है। तब यहाँ विषयात्मक विनिश्चयन प्रधान रहता है। प्रत्यवमर्श को एक ओर वाक्-रूपता से तथा दूसरी ओर विनिश्चयात्मकता से जोड़ना, इस संज्ञा में विमर्श के 'व्यवस्थापन' पक्ष की प्रधानता को द्योतित करता है। संभवत: इसी निश्चयात्मक धर्म के विनियोजन के कारण इस संज्ञा को अनिवार्यत: शब्दन से जोड़ा गया है क्योंकि शब्द आभासों के नियत रूप में व्यवहार का प्रमुख कारण है।

काश्मीर शिवाद्वयवाद वैसे भी वाक्तत्त्व की असीम सामर्थ्य से अनुप्राणित है। यहाँ वाक्तत्त्व—शिव, शक्ति व जीव—इन तीनों स्तरों पर सक्रिय है। शिव रूप में प्रत्यवमर्शवपुषा अवस्थित रह कर मात्र स्वात्मचमत्कार से चमत्कृत होने में ही इसकी कृतकार्यता है। शक्ति रूप में यह जगत्-विकास व जगत्-संहार इन दोनों का कारण है तथा जीव के स्तर पर सारे जागतिक व्यवहार के निष्पादन का मुख्य साधन है। इसी कारण आचार्य अभिनवगुप्त इस प्रत्यवमर्शात्मक विमर्श को 'विसर्ग' रूप में 'मातृका' व 'मालिनी' संज्ञाओं का भी अभिधेय मानते हैं।[21]

इसके अतिरिक्त भी विमर्श की अन्य कई संज्ञाएं यहाँ प्राप्त होती हैं—'परामर्श', 'आमर्श', 'अवमर्श' आदि। परामर्श है पर का आमर्श। यद्यपि परामर्श को भी प्रकाश का स्वभाव कहा गया है तथापि शुद्ध चित्तत्त्व के सन्दर्भ में परामर्श संज्ञा की जगह विमर्श संज्ञा का ही प्रयोग किया गया है क्योंकि परामर्श संज्ञा द्वैत का संस्पर्श ला उपस्थित करती है। परमसत् का प्रथम स्पन्दन तो बहि: स्फुरणरूप इच्छा है, इस को आचार्य अभिनवगुप्त 'परामर्श विशेष' कहते हैं। यह परामर्श शब्द यहाँ क़िसी अपूर्णभाव को न द्योतित कर इच्छा की पूर्वावस्था अभ्युपगमरूपा निर्मातृतावस्था का ही अभिव्यंजक है। इसी प्रकार परतत्त्व की पूर्णता के बोधक 'अहंपरामर्श' में परामर्श का 'पर' उस 'अहं' मात्र के लिये प्रयुक्त है अत: यहां इस पर शब्द से मात्र शाब्दिक निर्वचन अभीष्ट है, किसी प्रकार का प्रत्ययगत अन्तरण नहीं। अवमर्श व आमर्श संज्ञाएं किसी निश्चित अवधारणा को व्यक्त नहीं करती। 'अवमर्श' संज्ञा का प्रयोग जहां नियत सन्दर्भ में घटित चेतना की अभिव्यक्ति के लिये किया गया है वहीं 'आमर्श' संज्ञा चेतना व पदार्थ के घनिष्ठ सम्बन्ध को व्यंजित करती है। परन्तु ये सभी अवधारणाएं एक निश्चित मर्यादा में नहीं बाँधी जा सकती क्योंकि इस सम्प्रदाय के आचार्य इनका प्रयोग करने में किसी निश्चित नियम का पालन नहीं करते।

इस विमर्श की व्याख्या यहाँ 'स्पन्द' की शब्दावली में भी की गयी है। स्पन्द संज्ञा का अर्थ है किंचित् चलन तथा किंचित्त्व का अर्थ है अचल का चलवत् भासित होना। प्रकाशतत्त्व सारे जागतिक सर्जन में पदार्थों के अतिरेक व अनतिरेक से कहीं भी जरा सा आत्मस्वरूप से च्युत नहीं होता, अत: वह अपने पूर्ण रूप में स्थित रह कर भी नाना भेदों से भिन्नवत् भासित होता है। वास्तव में, विमर्श को स्पन्द संज्ञा से अभिहित करने के पीछे सत् की गत्यात्मकता को संकेतित करने की ही दृष्टि रही है। पूर्ण व स्वच्छ संवित्सागर में जो स्वात्मोच्छलन सदैव परिघटमान है, वही बोधपरक दृष्टि से विमर्श व गतिपरक दृष्टि से स्पन्द संज्ञा से वाच्य है। इस स्पन्द को स्पन्द सम्प्रदाय सामान्य व विशेष दो प्रकार का बतला कर परमसत् में सामान्य स्पन्द की स्थिति व जागतिक सन्दर्भ में विशेष स्पन्द की स्थिति निरूपित करता है।

विमर्श को यहाँ सारे जगत् का 'सार' भी कहा गया है क्योंकि यही सारे जगत् की सत्ता का अवबोध कराने के कारण सर्वाधिक मौलिक है। सबका प्रतिष्ठा स्थान होने से ही इसे 'हृदय' कहा जाता है।[22] विश्व की वाग्रूपता को प्रमाणित करने वाली इसकी एक अन्य संज्ञा है 'मन्त्र'।[23] इस सन्दर्भ में इसको विशिष्ट पारिभाषिक शब्दावली में 'मातृका' भी कहा जाता है। मातृका वह ऊर्जा है जो सारे वर्णों की आत्मा है। इन पचास वर्णों के रूप में अभिव्यक्त यह ऊर्जा उस परावाक् के कर्तृत्व-सामर्थ्य के पचास पक्षों की प्रतिनिधि है। इसमें प्रथम वर्ण 'अ' उस पूर्णता का

सूचक है तो 'ह' उस प्रसार के अन्तिम सोपान का। सारे जागतिक व्यवहार का आधार शब्द है और जागतिक प्रक्रिया में शब्दन इन पचास वर्णों के माध्यम से ही घटित होता है। अत: इन वर्णों की ही सामर्थ्य से जीव पशुत्व व शिवत्व को प्राप्त करता है। इस प्रकार सारे आरोहण व अवरोहण का क्रम इन वर्णों में ही विश्रान्त होकर उस अन्तिम मातृका तत्त्व के माध्यम से ही घटित माना जा सकता है। इस ऊर्जा को एक अन्य सम्प्रदाय 'मालिनी' संज्ञा से अभिहित करता है।[24] यहाँ वर्ण-क्रम में भेद है तथा स्वर व व्यंजन, जो कि क्रमश: शिव एवं शक्ति एवं बीज व योनि के प्रतिनिधि माने जाते हैं, मिश्रित अवस्था में उपलब्ध होते हैं। अत: यह मालिनी एक साथ संहारात्मक व विकासात्मक कृत्य की सम्पादिका है। क्रम दर्शन में इसी मालिनी तत्त्व की संज्ञा 'कालकर्षिणी' है।

यही विमर्श दूसरे प्रतियोगी का भी आक्षेप करने पर 'विकल्प' रूप में आभासित होता है क्योंकि विकल्प है द्वयाक्षेपी निश्चय। इस विकल्प में विविध कल्पनाओं की अवस्थिति तथा अन्य का व्यवच्छेदन अनिवार्यत: निहित है अत: विकल्प का अनिवार्य स्वभाव है तत् का निश्चय और 'अतत्' का परिहार। इसी कारण विकल्प को सदैव अपोहनजीवी कहा गया है। अपोहन शक्ति का कार्य है अतद्-निषेध अर्थात् व्यवच्छेदन। अत: विमर्श के व्यवस्थापन धर्म का ही प्रसार अपोहन व विकल्प रूप में प्रतिफलित होता है। जब तक एक मात्र विशुद्ध सत् की अवस्थिति है वहां कोई प्रतियोगी न होने से विमर्श का स्वात्मपरामर्शमात्र रूप अवस्थित है पर जब प्रमाता के अपने स्वातन्त्र्य से जनित आत्म-वैभव के प्रसार की इच्छा नानात्व को उपस्थित करती है तभी विमर्श विकल्प रूप में रूपायित होता है। प्रमाता का विमर्शन-स्वातन्त्र्य ही उसका स्वाच्छन्द्य है जिसमें अनन्त संभावनाएं अन्तर्गर्भित हैं पर जब उनमें से कुछ को ही वह ज्ञानात्मक व क्रियात्मक व्यापारों का विषय बनाने के लिये व्यक्तावस्था में लाता है तभी विमर्श विकल्प रूप में अवरोहण करके उस नानात्व में अपोहनात्मक तद्-अतद्-भिन्न स्वरूपनिर्णय का कर्तृत्व भी निभाता है। इसी दृष्टि से विमर्श के दो रूप कहे जा सकते हैं—

(अ) **शुद्ध विमर्श**—यह विश्व की छाया से छुरित स्वच्छ स्वरूप में स्थित है।

(आ) **मायीय विमर्श**—यह वेद्य रूप माया प्रमाता के शरीरादि में स्थित है।

यद्यपि इन दोनों ही विमर्शों की वाचक अभिव्यक्ति 'अहंविमर्श' है पर इसे शुद्ध व अशुद्ध रूप से भिन्न किया जा सकता है। पुन: उसके 'अनुभव' व 'अनुसंधानमय' रूप[25] से दो-दो प्रकार हो सकते हैं। शुद्ध अनुभव रूप अहंविमर्श मात्र शिव प्रमाता में रहता है जबकि शुद्ध अनुसंधान रूप अहंविमर्श सदाशिव, ईश्वर रूप प्रमाताओं में रहता है। अशुद्ध अनुभवात्मक अहंविमर्श मायीय प्रमाता में ही स्थित है। यह 'मैं मोटा हूँ', 'मैं दुबला हूँ' आदि रूप है जबकि अशुद्ध अनुसंधानात्मक अहंविमर्श 'जो मैं मोटा था अब दुबला हो गया हूँ' आदि रूप है। यह अशुद्ध विमर्श मायीय विमर्श भी कहा जाता है। इसमें ज्ञानवृत्ति के उन्मूलित होने/ न होने से दो भेद हो सकते हैं—

(क) अनुन्मूलित मायीय विमर्श—यह यथार्थ ज्ञान में स्थित रहता है।

(ख) उन्मूलित मायीय विमर्श—यह मिथ्या ज्ञान व भ्रम में उपलब्ध होता हैं।

इस प्रकार यह विमर्श यहां सारे जागतिक सम्बन्धों का आधार है। ज्ञाता-ज्ञान-ज्ञेय, कर्ता-क्रिया-कर्म, प्रमाता-प्रमाण-प्रमेय की त्रिपुटियाँ इसी से अपना जीवन प्राप्त करती हैं।[26]

इस प्रकार यह सम्प्रदाय मूलत: इन्हीं प्रकाश व विमर्श की अवधारणाओं में समस्त संभाव्य प्रश्नों के उत्तर खोजता है, अत: यहां का सारा दार्शनिक प्राणायाम प्रकाश से विमर्श तक और विमर्श से प्रकाश तक पहुँचने की प्रक्रिया में पर्यवसित है। इस सम्प्रदाय के एक वर्ग विशेष की संज्ञा 'प्रत्यभिज्ञा' भी इन्हीं 'प्रकाश-विमर्श' के तादात्म्य के अनुसंधान रूप अभिप्राय से ही अनुप्राणित है। इस प्रकार 'शक्त्याविष्करण', 'शक्तिसंधान', 'शक्तिचक्रविकास' आदि कथन इसी विमर्श के माध्यम से प्रकाश के यथार्थ स्वरूप के परिज्ञान में सार्थकता प्राप्त करते हैं। फलत: यहाँ की साधना-मीमांसा इसी विमर्श के माध्यम से रूपायित होती है और विमर्श के संधान के द्वारा प्रकाशात्मस्वरूप का लाभ कराती है। कहीं कुछ बाहर से न आता है, न ही कहीं कुछ बाहर घटित होता है। प्रमाता या साधक के अन्दर ही सारी मीमांसाएं विमर्श के परिस्पन्द रूप में घटित होती हैं। इसी कारण यहाँ मोक्ष व बन्ध स्वरूपलाभ व स्वरूपहानि रूप से परिभाषित है। स्वसंवेदन या स्वविमर्श का विस्तार ही उस मुक्ति लाभ की अवस्था की ओर ले जाता है।

पाद-टिप्पणी

1. *ई०प्र०वि०* (भा०), भा० 1, पृ० 397-98.
2. Svabhāvamavabhāsasya vimarśaṁ, "Judgement as a Transcendental Category in Utpaladeva's Shaiva Theology", शीर्षक अप्रकाशित लेख, पृ० 9.
3. पूर्ववर्ती तांत्रिक साहित्य में गिने-चुने स्थलों पर ही विमर्श शब्द का प्रयोग उपलब्ध होता है पर वहां उसका अर्थ इतना व्यापक व जटिल नहीं है जैसा कि उत्पल ने प्रस्तुत किया है। यह विमर्श का सिद्धान्त प्राय: कौलमत के तन्त्रों में उपलब्ध होता है और कहीं-कहीं भैरवतन्त्रों में भी इसके छुटपुट प्रयोग मिलते हैं।
4. आत्मैव सर्वभावेषु स्फुरन्निर्वृतचिद्विभु: ।

   अनिरुद्धेच्छाप्रसर: प्रसरद्दृक्क्रिय: शिव: ।। —*शि०दृ०* 1/2

   उत्पल की *वृत्ति* के आधार पर कह सकते हैं कि सोमानन्द इस 'निर्वृतचित्' रूप परिभाषा की व्याप्ति परमसत् के भासन के तीनों स्तरों पर मानते हैं—

   परावस्था—यह पूर्ण सामरस्य की अवस्था है जहाँ कोई विभागकलन संभव नहीं है। अत: यहाँ यह परिभाषा अपने मुख्यार्थ में ही घटित है।

   परापरावस्था—यहाँ भिन्नविषयात्मक 'इदम्' बोध का उद्विकास निष्पन्न हो जाने से इच्छा, ज्ञान, क्रिया रूप शक्तियों का विकास घटित हो चुका है, अत: यहाँ 'अहम्' रूप सहज प्रत्यवमर्शात्मा प्रकाश की ही निर्वृत चिन्मयता है।

   अपरावस्था—यह स्फुट भेद की अवस्था है जहाँ नानाज्ञातृज्ञेयवैचित्र्य सम्पन्न हो चुका है। इस अवस्था में ज्ञातृ-अंश में इस निर्वृतचिद्रूपता की सिद्धि होती है। —*शि०दृ०वृ०*, पृ० 5-9
5. स्वच्छन्दा पार्यन्तिकप्रतिष्ठास्थानविमर्शाशून्यतया तद्विमर्श-स्थानान्तरोपयाच्ञालक्षणपारतन्त्र्यवियुक्ता वृत्तिर्वर्तनम्। —*ई०प्र०वि०वि०*, भा० 1, पृ० 7

   या स्वच्छन्देति विमर्शस्वातन्त्र्ययोग: । —उपरिवत्
6. यद्यपि परावाक् की धारणा हमें सोमानन्द की *शिवदृष्टि* में भी उपलब्ध होती है पर वहाँ परावाक् का

सिद्धान्त विश्वमय व विश्वोत्तीर्ण रूपों के समग्र के रूप में विकसित नहीं किया गया है। परावाक् वहाँ मात्र सबके बीज रूप में ही व्याख्यात है।

7. प्रकाशस्यात्मविश्रान्तिरहंभावो हि कीर्तित: ।
उक्ता स सैव विश्रान्ति: सर्वापेक्षानिरोधत: ।।
स्वातन्त्र्यमथ कर्तृत्वं मुख्यमीश्वरतापि च । —*अज०प्र०सि०*, श्लो० 22-23

8. इह तावत् भावराशिर्यथा विमृश्यते तथा अस्ति, अस्तित्वस्य प्रकाशं शरणीकुर्वत: प्रकाशप्राणितदेशीयं विमर्शम् आश्रित्य समुन्मेषात्, अविमृष्टं हि यदि वस्तु तन्न नीलं न पीतं न सत् न असत् ···। —*ई०प्र०वि०* (भा०), भा० 1, पृ० 61-62

9. अयं स्वविषयं संविदन्नेव समुद्भावयति सृजति, संवेद्यमानमेव हि वस्तु स्वरूपं लभते, न तु असंवेद्यमानं, संवेद्यमानता च तेन तेन रूपेण प्रकाशमानता ···। —*स्प०नि०*, पृ० 89

इसी दृष्टि से इस सम्प्रदाय में भ्रान्ति की अवस्था में सत् का स्वरूप वही रहता है, मात्र अज्ञानजन्य विमर्शवृत्ति की अपूर्णता ही इसके लिये उत्तरदायी होती है और उसके आवरण का नाश ही पूर्ण स्वरूप के ज्ञान के लिये उत्तरदायी ठहरता है।

10. स च संरम्भो विमर्श: क्रियाशक्तिर्भवति । —*भा०*, भा० 1, पृ० 73-74
क्रियापि आन्तरी संवेदनादव्यतिरिक्ता विमर्शरूपा स्वप्रकाशा । —*ई०प्र०वि०वि०*, भा० 1, पृ० 101
वस्तुत एकैव ईश्वरस्य स्वभावप्रत्यवमर्शरूपा शक्ति: सा संवेदनरूपत्वात् ज्ञानशब्देन उच्यते, तावन्मात्रसंरम्भरूपत्वात् क्रियाशब्देन च उद्घोष्यते। स च एवंविधो धर्म: अस्य वेद्यतत्त्वप्रतीत्युपप्लवासंस्पृष्टे वेदकैकलक्षणे स्वभावे स्थितस्य सर्वज्ञतया सर्वकर्तृतया च विजृम्भते। —*स्प०का०वि०*, पृ० 42

11. इस तृप्तिजन्य आनन्द के तरंगण या उच्छलन की अभिव्यक्ति क्रीडा रूप में होती है। क्रीडा है हर्षानुसारी स्पन्द।

12. कर्तृतानुसारी ज्ञानक्रियायोग:। —*शि०दृ०वृ०*, पृ० 3; और भी देखें, *स्प०का०वि०*, पृ० 4

13. यतो ज्ञाने कृतौ च स्वातन्त्र्यमेव चित्त्वं ···। —*ई०प्र०वि०* (भा०), भा० 1, पृ० 28

14. जीवनं च जीवनकर्तृत्वं तच्च ज्ञानक्रियात्मकं, यो हि जानाति च करोति च स जीवति ···। —*ई०प्र०वि०* (भा०), भा० 1, पृ० 67

15. चितिक्रिया सर्वसामान्यरूपा। चेतयते इति चेतन: सर्वज्ञानक्रियास्वतन्त्र: तस्य भाव: चैतन्यं सर्वज्ञानक्रियासम्बन्धमयं परिपूर्णं स्वातन्त्र्यम् उच्यते। —*शि०सू०वि०*, पृ० 2

16. *स्प०का०वि०* (रामकण्ठ), पृ० 85.

17. नवनवोल्लेखशालिनी बुद्धि: उदित: वाक्तत्त्वविषय: अवमर्श: परामर्श: । —*भा०*, भा० 1, पृ० 23
अधिकृतप्रेरणानिर्माणनिपुणनिजहृदयगगनसदोदितबोधादित्यप्रभाप्रतिभारूपा —*ई०प्र०वि०वि०*, भा० 1, पृ० 15

18. एवं या निर्मातृतामयी अभ्युपगमलक्षणा प्रमातृता सैवेच्छा—सा च सहृदयानां स्वसंवेदनसिद्ध ···। —*शि०दृ०वृ०*, पृ० 11, पा० टि० 6

19. *ई०प्र०वि०वि०*, भाग 1, पृ० 56.

20. उपरिवत्, भा० 2, पृ० 21.

21. तदेवं विसर्गशक्तिरेव तत्तदामर्शात्मनो स्वात्मनि विश्वरूपतामाभासयन्ती आगमेषु तत्तच्छब्दव्यपदेश्या भवतीत्याह—

शब्दराशि: स एवोक्तो मातृका सा एव कीर्तिता।
क्षोभ्यक्षोभकतावेशान्मालिनीं तां प्रचक्षते।। —*तं०आ०* 3/232

22. विश्वप्रतिष्ठास्थानत्वात् चित्प्रकाशो हृदयम्। —*शि०सू०वि०*, पृ० 15

23. अन्तर् अभेदेन विमृश्यते परमेश्वररूपम् अनेन इति कृत्वा मन्त्र: —अतएव च परस्फुरत्तात्मकमननधर्मात्मता, भेदमयसंसारप्रशमनात्मकत्राणधर्मता च अस्य निरूप्यते। —उपरिवत्, पृ० 23

24. मन्त्रशरीरं बोधतत्त्वं श्रीमातृकाश्रीमालिन्यादितत्त्वं मन्यन्ते। —*ई०प्र०वि०वि०*, भा० 2, पृ० 174

25. अनुभव है संवेदनमात्र। यह विमर्श संज्ञा का ही वाच्य है। इसे निर्विकल्पक ज्ञान भी कह सकते हैं। यही सारे ज्ञानात्मक व क्रियात्मक व्यापारों के मूल में रहता है। अनुसंधान है दो विमर्शों का एकीकरण। किसी पदार्थ का प्रथम साक्षात्कार ही अनुभव है जो कि नामरूप से रहित विशुद्ध चेतना मात्र है।

26. त्रिक सम्प्रदाय में स्वीकृत खेचरी शक्ति व कुलमत में स्वीकृत कौलिकी शक्ति भी उसी कर्तृत्व का निर्वाह करती है जो कि प्रत्यभिज्ञा सम्प्रदाय में विमर्श के माध्यम से घटित होता है। पर कौलिकी व खेचरी शक्तियाँ जहाँ तांत्रिक प्रत्यय हैं वहीं विमर्श विशुद्ध दार्शनिक प्रत्यय हैं। वे जहाँ सांकेतिक संज्ञाएं हैं वहीं विमर्श स्पष्टत: परमसत् के स्वरूप का उपलक्षक है।

अध्याय चार

स्पन्द

काश्मीर शिवाद्वयवाद में स्पन्द का सिद्धान्त विशेष महत्त्वपूर्ण है। यह स्पन्द शब्द यहाँ सम्प्रदाय-विशेष की संज्ञा भी है, साथ ही काश्मीर शिवाद्वयवाद के सारतत्त्व 'गति' की विशिष्ट प्रस्तुति भी है। यहाँ इस शब्द का प्रवेश *स्पन्दकारिका* नामक ग्रंथ के आविर्भाव के साथ होता है। यद्यपि यह 'गति' का प्रत्यय पूरी तांत्रिक धारा का आत्मतत्त्व है पर इस विशिष्ट शब्दावली के द्वारा इसकी प्रस्तुति इसी सम्प्रदाय विशेष की मौलिक उद्‌भावना है।

स्पन्द सम्प्रदाय का मूल स्रोत है *स्पन्दकारिका* नामक ग्रंथ जिसे *शिवसूत्रों* की व्याख्या माना जाता है। यद्यपि *स्पन्दकारिका* के कर्तृत्व के विषय में दो दृष्टियाँ उपलब्ध होती हैं। एक मत है भास्कर[1] व उत्पल वैष्णव[2] (भट्ट उत्पल) का, कि ये कारिकाएं वसुगुप्त के प्रमुख शिष्य कल्लट के द्वारा रची गयीं तथा दूसरा मत है क्षेमराज व महेश्वरानन्द का, जिनके अनुसार वसुगुप्त ने स्वयं इनकी रचना की।[3] वसुगुप्त को सोमानन्द के अनुयायी इसलिए *स्पन्दकारिका* का रचयिता मानते हैं क्योंकि ऐसा माना जाता है कि कल्लट ने इस ज्ञान को प्रद्युम्नभट्ट को दिया जो कि सोमानन्द की दृष्टि में शाक्ताद्वयवादी हैं। इससे कल्लट के भी शाक्ताद्वयवाद का समर्थक होने की शंका होती है। अत: *शिवसूत्रों* के टीका ग्रंथ रूप में स्वीकृत *स्पन्दकारिका* को शैवों से ही सम्बद्ध रखने हेतु वसुगुप्त को ही उसका उद्‌भावक मानना इनके लिये आवश्यक है। कल्लट स्वयं भी *स्पन्दकारिका* पर अपनी वृत्ति के अन्तिम श्लोक में यह दृष्टि प्रस्तुत करते हैं--

> दृब्धं महादेवगिरौ महेशस्वप्नोपदिष्टाच्छिवसूत्रसिन्धो:।
> स्पन्दामृतं यद्वसुगुप्तपादै: श्रीकल्लटस्तत्प्रकटीचकार।।

इस श्लोक के आधार पर यही निर्णीत होता है कि वसुगुप्त ने यद्यपि कारिकाओं की रचना कर उनका ज्ञान कल्लट को बतलाया पर कल्लट ने ही उन्हें वर्तमान रूप में प्रकट किया।

इस स्पन्दकारिका पर चार टीकाएं उपलब्ध हैं—(1) कल्लटकृत *वृत्ति,* (2) रामकण्ठकृत *विवृत्ति,* (3)भट्ट उत्पलकृत *स्पन्दप्रदीपिका,* (4) क्षेमराजकृत *स्पन्दसन्दोह* तथा *स्पन्दनिर्णय* ।

काश्मीर शिवाद्वयवाद में प्राय: दो दृष्टियाँ व्याप्त दिखाई पड़ती हैं—प्रथम दृष्टि तो शिव की सर्वोत्कृष्टता की पोषक है व द्वितीय शक्ति की। अत: प्रथम दृष्टि के अनुसार *स्पन्दकारिका* एक शैव ग्रंथ है जबकि द्वितीय दृष्टि के अनुसार यह शाक्त ग्रंथ है। *स्पन्दकारिका* को शैव दृष्टि से जोड़ने वालों में प्रमुख हैं क्षेमराज तथा शाक्त दृष्टि से जोड़ने में प्रमुख हैं उत्पल वैष्णव व भास्कर। क्षेमराज क्रम दर्शन के प्रमुख विद्वान् हैं अत: उनकी दृष्टि सदैव क्रमपरक विवेचन करने का ही प्रयास करती है। वे स्पन्द व क्रम इन दो सम्प्रदायों के मध्य घनिष्ठ सम्बन्ध पाते हैं तथा स्पन्द सिद्धान्तों का क्रमपरक विश्लेषण करते हैं। इसी प्रकार उत्पलवैष्णवकृत टीका में भी क्रम के विविध सन्दर्भ इधर-उधर बिखरे हुए हैं। वस्तुत: स्पन्द सम्प्रदाय को शाक्त दृष्टि से जोड़ना

अप्रामाणिक है क्योंकि कल्लट, क्षेमराज, उत्पल, भास्कर, रामकण्ठ ये सभी विद्वान् अन्ततः शिव को ही सर्वोच्च तत्त्व मानकर स्पन्द तत्त्व को उसके अधीन स्वीकारते हैं, अतः *स्पन्दकारिका* की टीकाओं में स्पन्दशक्ति का पर्याप्त विवेचन होने पर भी इसे हम शक्ति को प्रधानता देने वाला सम्प्रदाय नहीं कह सकते। यह शिवाद्वयवाद का ही विवेचक सम्प्रदाय है जो परमशिव के स्पन्द पक्ष पर विशेष बल देता है।

इस तरह काश्मीर शैवमत का दार्शनिक विकास *शिवसूत्रों* से प्रारम्भ होकर दो दिशाओं में उपलब्ध होता है—एक तो सोमानन्द की *शिवदृष्टि* से उद्भूत होकर उत्पल व अभिनव के ग्रंथों में विकसित व पल्लवित प्रत्यभिज्ञा सम्प्रदाय की धारा व द्वितीय स्पन्द ग्रंथों के माध्यम से विकसित स्पन्द धारा। जहाँ प्रत्यभिज्ञा सम्प्रदाय अद्वैतवादी दृष्टि को दार्शनिक आधार पर सुप्रतिष्ठित करने का सुदृढ प्रयास है, वहीं स्पन्द सम्प्रदाय काश्मीर की आगम परम्परा में वर्णित योग की प्रक्रिया का व्यावहारिक विवेचन है। ये दोनों सम्प्रदाय नितान्त भिन्न न होकर परस्पर पूरक हैं और एक-दूसरे को पर्याप्त प्रभावित करते हैं। प्रत्यभिज्ञा सम्प्रदाय की मूल आधारभित्ति जहाँ प्रत्यभिज्ञा है वहीं स्पन्द सम्प्रदाय में मूल तत्त्व है स्पन्द, यद्यपि उत्तरकालिक टीकाकारों के ग्रंथों में प्रत्यभिज्ञा व स्पन्द सम्प्रदायों के स्वतन्त्र स्वरूप का पोषण न हो प्रायः इन दोनों के सिद्धान्तों को मिश्रित रूप में प्रस्तुत किया गया है। फलतः जहाँ प्रकाश व विमर्श के प्रत्यय, जो कि प्रत्यभिज्ञा सम्प्रदाय की निजी विशेषता हैं, स्पन्द टीकाओं में उपलब्ध होते हैं वहीं स्पन्द का प्रत्यय प्रत्यभिज्ञा विचारकों के ग्रंथों में विमर्श के पर्याय रूप से वर्णित होता है। इस दृष्टि से दोनों ही सम्प्रदाय के ग्रंथों में एक-दूसरे से उद्धरणों को लेकर प्रस्तुत किया गया है। वस्तुतः स्पन्द का सिद्धान्त उस 'गति' की व्याख्या है जो परमसत् की एकात्मता को बनाये रखते हुए भी उसकी अनेकता को प्रस्तुत करती है। स्पन्द की व्याख्या प्रायः किञ्चिच्चलन रूप से की जाती है। अभिनवगुप्त अपने ग्रंथों में स्पन्द शब्द का प्रयोग अक्सर करते हैं। उनकी दृष्टि में स्पन्द एक ऐसी देशकालोत्तीर्ण गति का प्रत्यय है जिसमें कि गति या चलन का आभास मात्र होता है। फलतः गतिमान् अचल रहते हुए भी चलवत् आभासित होता है।[4] स्पन्द को 'किंचित् चलनम्' कहने का अभिप्राय ही है कि गति में देश से देशान्तर-क्रमण रूप कोई क्रम नहीं है, अतः पदार्थ के स्वरूप में इसके द्वारा कोई भेद नहीं आता। यह स्वरूप में ही परिघटित चमत्कारात्मक उच्छलता है।[5] सामान्य कोशों[6] में स्पन्द शब्द का अर्थ ईषत् कम्पन, ईषत् स्फुरण, ईषत् चलन रूप से किया गया है। दार्शनिक सन्दर्भ में इसका अभिप्राय है अत्यन्त सूक्ष्म गति। *स्पन्दकारिका* के टीकाकार भट्ट उत्पल भी स्पन्द को स्पदि धातु से ही व्युत्पन्न मानकर इसकी व्याख्या किञ्चिच्चलन रूप से करते हैं। उनके अनुसार स्पन्द निस्तरंग परमात्मा की युगपत् निर्विकल्परूपता व औन्मुख्यवृत्तिता है।[7] नट जिस तरह नाना रूपों को धारण कर भी अन्ततः वही रहता है वैसे ही परमात्मा की स्पन्दक्रिया उसे नाना रूपों में आभासित करती हुई भी तात्त्विक रूप से कहीं च्युत नहीं होने देती। परन्तु इस विरोधाभासी शब्दावली में स्पन्द की व्याख्या करने से उत्पन्न स्थिति को सुस्पष्ट करने के लिये स्पन्द की स्थिति की कल्पना उसी स्तर पर की जाती है जहाँ एकमात्र सर्वोच्च तत्त्व की ही सत्ता है। उस अद्वैततत्त्व में नानात्व के संयोजन का प्रयास ही स्पन्द नामक वैशिष्ट्य को उस तत्त्व का अनिवार्य स्वभाव बना देता है। जहाँ ज्ञानात्मक सन्दर्भ

विमर्श के माध्यम से उस अद्वैततत्त्व में समाहित हो जाते हैं वहीं सारे क्रियात्मक सन्दर्भ स्पन्द के माध्यम से उस एकत्व के स्वभाव का अविभाज्य अंग बन जाते हैं। अत: वेदान्त के कूटस्थ ब्रह्म के विरोध में गत्यात्मक सत् के अद्वयवादी सिद्धान्त की स्थापना का मूल आधार यही स्पन्द की धारणा है।

इस स्पन्द शब्द के स्वरूप को लेकर जहाँ प्रत्यभिज्ञा व स्पन्द दोनों सम्प्रदाय एकमत हैं वहीं स्पन्द ग्रंथों में इसकी सर्वोच्च सत्ता को लेकर कई मत उपलब्ध होते हैं। मूल ग्रन्थ *स्पन्दकारिका* स्पन्द शब्द की 'गति/क्रिया' मात्र रूप में ही चर्चा करता है पर इसके टीकाकार अपनी-अपनी दृष्टि से इसका विवेचन करते हैं। क्षेमराज इस स्पन्द को 'स्पन्दशक्ति' के रूप में देखते हैं और क्रम सम्प्रदाय में स्वीकृत 'संविद्देवी' के साथ इसे एकात्म करने का प्रयास करते हैं। राजानक रामकण्ठ प्रद्युम्न भट्ट के शक्तिवाद से पर्याप्त प्रभावित हैं, अत: वह इसे 'शाक्त तत्त्व' कहते हैं तथा इसे ही सर्वोच्च तत्त्व मानते हैं जिसे कि वह परमेश्वरी कहते हैं। पर उत्पल वैष्णव न ही क्रम के सन्दर्भों से प्रभावित होते हैं और न शाक्त परम्परा से। वह यथार्थत: *स्पन्दकारिका* के ही अभिप्राय में स्पन्द शब्द की व्याख्या करते हैं।

स्पन्द का सिद्धान्त पूरी आगमिक परम्परा में कई रूपों में विविध शब्दावली से वर्णित मिलता है।[8] तन्त्र सर्वोच्च आत्मिक ज्ञान को स्फुरणात्मक चेतना की अनुभूति रूप से ही वर्णित करते हैं। यही सारे आभासनों का 'सार' या 'हृदय' है। इसी स्पन्दनात्मक चेतना को 'ऊर्मि' भी कहा गया है जिसका अर्थ है तरंग। संवित् के महासागर में स्पन्दन इसी तरंगात्मता का पर्याय है।[9]

क्षेमराज का मत है कि स्फुरत्ता, ऊर्मि, बल, सार, हृदय ये सभी तंत्रों में स्पन्द के पर्याय रूप में उपलब्ध होते हैं।[10] इनके अतिरिक्त एक अन्य शब्द मिलता है 'घूर्णि' जिसका अभिप्राय है पूर्णता के आन्तरिक आनन्द के परम आस्वाद का उच्छलन।[11]

स्पन्द ग्रंथों में स्वस्वभाव का प्रत्यय विशेष महत्त्वपूर्ण है यद्यपि इसका अभिधेय वही है जो अन्यत्र प्रयुक्त 'आत्म' शब्द का है पर यहाँ की विशेष शब्दावली में इसे 'स्वस्वभाव' ही कहा गया है। इस स्वस्वभाव में प्रत्यभिज्ञा सम्प्रदाय की मौलिक उद्भावना 'अहंभाव' की धारणा मिश्रित नहीं है, यद्यपि उत्तरवर्ती टीकाकार इन *कारिकाओं* में भी इस धारणा की अन्तर्गूढ रूप से कल्पना करते हैं। क्षेमराज इस स्वस्वभाव का अनिवार्य स्वरूप मानते हैं स्पन्दशक्ति को और इस स्पन्दशक्ति का सार है स्फुरण-सामर्थ्य। स्वस्वभाव का अर्थ है स्व का स्वभाव अर्थात् सारे सत्त्व का स्वभाव। अत: सत्ता के व्यष्टि व समष्टि इन दोनों ही पक्षों का स्वभाव यह स्पन्द है। अत: यहाँ स्पन्द का अभिप्राय मात्र गति से न लेकर उस औन्मुख्यावस्था से लिया जाता है जिसमें अनन्त संभावनाएं गर्भीकृत हैं। इसी को किञ्चिदुच्छूनता रूप से भी व्यक्त किया गया है।

इस स्पन्द सिद्धान्त की व्याख्या में प्राय: उन्मेष व निमेष की शब्दावली का प्रयोग मिलता है जो *शिवसूत्रों* में प्रयुक्त विकास व संकाच के अभिप्राय को ही व्यक्त करती है। 'उन्मेष' है चेतना के पूर्ण विकास की स्थिति जिसमें सारे विकल्पों का ह्रास हो चुका है। इसी स्थिति में एकतानता को प्राप्त चित्त को जिस पूर्णता का आस्वाद होता है वही सीमित प्रमाता और उसके स्वस्वभाव के मध्य एकत्वलाभ या योग की स्थिति है। इस उन्मेष की स्थिति की घटक है 'निमेष' की स्थिति जबकि इन्द्रिय व मन की सारी बाह्योन्मुख क्रियाएं विरमित हो जाती हैं और भेदात्मक

चेतना उस स्पन्द तत्त्व के 'निमेष' में निमग्न हो जाती है। सामान्य जीवन में इस स्थिति का अनुभव हम तीव्र संवेग के उदय की स्थिति में कर सकते हैं (*स्प०का०* 22) या एक पदार्थ से दूसरे पदार्थ के प्रत्यक्ष के बीच (*स्प०का०* 36) या एक विचार से दूसरे विचार के बीच (*स्प०का०* 41) की अवस्था में कर सकते हैं।[12] ये उन्मेष व निमेष लय व उदय रूप से जागतिक गति के दो बिन्दुओं के भी पर्याय हैं।[13] फलतः स्पन्दन क्रिया, जो कि सृष्टि व लय की सतत प्रक्रिया की वाचक है, उन्मेष व निमेष के प्रत्ययद्वय रूप से ही व्याख्यात होती है।[14] ये उन्मेष व निमेष की प्रक्रियाएं क्रमिक न होकर युगपत् घटित होती हैं।[15] जो एक दृष्टि से उन्मेष है वही अन्य दृष्टि से निमेष है जैसे स्वरूप का उन्मेष बाह्यता का निमेष है और स्वरूप का निमेष बाह्यता का उन्मेष है।

इस स्पन्द के प्रत्यय के विविध सन्दर्भों में प्रयोग के विवरण उपलब्ध होते हैं। स्पन्द को 'स्वातन्त्र्य' के प्रत्यय से जोड़ा जाता है। क्षेमराज तो स्पन्द तत्त्व की व्याख्या स्वातन्त्र्य शब्द से ही करते हैं,[16] क्योंकि स्पन्द उस गतिसामर्थ्य के सामान्यरूप का पर्याय है जिसका विकास अवान्तरकाल में नाना रूपों में घटित होता है। 'पंचविधकृत्य' इसी का प्रतिफलन है। इस प्रकार स्पन्द के प्रत्यय में क्रिया का प्रत्यय अनिवार्यतः गुँथा हुआ है। पर इस स्पन्द का उस स्थूल क्रिया से भेद है। इसी कारण उसे 'औन्मुख्य' या 'किंचिदुच्छूनता' की स्थिति रूप से व्याख्यात किया गया है। *स्पन्दकारिका* 'स्पन्द क्या है' यह समझाने के लिए इसी औन्मुख्यभाव[17] का ही निर्देश करती है जिसमें कि 'किं करोमि' का विमर्शन चल रहा है[18], कार्यसम्पादन के लिये स्पष्ट दृष्टि तक अभी प्रमाता नहीं पहुँच पाया है। यद्यपि समस्त इतर वृत्तियों का प्रशम हो जाने से उसमें एकाग्रीभाव है, उस कार्य के प्रति उन्मुखता है पर कार्य के सम्पादन हेतु स्फुट क्रिया का अभाव है अर्थात् यह स्पन्द उससे पूर्व का सोपान है जिसका कि उत्तरकाल में उस विशिष्ट क्रिया रूप से विकास होता है।

इसी प्रकार स्पन्द को अक्सर 'पराशक्ति' या 'चितिशक्ति' रूप से भी प्रस्तुत करते हैं। वस्तुतः 'शक्ति' तो सम्पूर्ण तांत्रिक धारा में समस्त सामर्थ्यों के समग्र भाव रूप से स्वीकृत है, अतः स्पन्द का प्रत्यय जो सारी संभावनाओं व सामर्थ्यों को गर्भीकृत करके स्थिर है को शक्ति रूप से प्रस्तुत करना किसी भी तरह अनुपपन्न नहीं है। पर समस्या तब आती है जब इसे हम शिव व शक्ति की प्रकल्पना के साथ जोड़ने लगते हैं, क्योंकि तब अद्वयवादी दृष्टि से शक्ति को शक्तिमान् के अधीन मानने पर शक्ति की सर्वोत्कृष्टता का सिद्धान्त भंग होता है और स्वतंत्र मानने पर या तो अद्वैत खण्डित होता है और या यह दृष्टि शाक्ताद्वयवाद के अधिकार क्षेत्र में सिमटने लगती है। मूल ग्रंथ *स्पन्दकारिका* कहीं भी स्पन्द को शक्ति नहीं कहता। यहाँ यह स्पन्द तत्त्व है, स्वस्वभाव है, आत्मबल है। पर टीकाकार शक्ति की भाषा में इसकी व्याख्या करते हैं। संभवतः वहाँ उनकी दृष्टि इसके प्रक्रियात्मक स्वरूप पर ही केन्द्रित है इसके निजी स्वरूप पर नहीं। साथ ही उन पर उस आगमिक धारा का पर्याप्त प्रभाव है जो शक्ति व शक्तिमान् के एकत्व की कल्पना को ही सर्वोच्च तत्त्व के रूप में मान्यता देती है अतः स्पन्द तत्त्व का ही सर्वोच्च तत्त्व के रूप में विवेचन उन्हें नहीं रुचता। क्रम सम्प्रदाय में भी गति के ही पर्याय 'कलन' का विशेष माहात्म्य है पर उसे भी सर्वोच्च पद काली के रूप में ही मिलता है। वस्तुतः स्पन्द सम्प्रदाय में जो कर्तृत्व स्पन्द का

है वही क्रम सम्प्रदाय में कलन का है। इसी दृष्टि से क्षेमराज क्रम व स्पन्द को बहुत करीब पाते हैं और स्पन्द सिद्धान्तों की व्याख्या में क्रम के सिद्धान्तों व पारिभाषिक शब्दावली का प्रयोग बहुतायत से करते हैं।

प्रत्यभिज्ञा सम्प्रदाय इस स्पन्द को 'विमर्श' के पर्याय रूप से प्रस्तुत करता है[19] क्योंकि यहाँ सत् की परिभाषा प्रकाश व विमर्श की शब्दावली में की गयी है। विमर्श को प्रत्यभिज्ञानात्मक अभिप्राय में प्रत्यवमर्श कहा गया है तथा सत्मीमांसा के क्षेत्र में इसे स्पन्द कह कर सत्ता को स्फुरत्ता रूप से परिभाषित किया गया है।[20] वस्तुत: प्रत्यभिज्ञा सम्प्रदाय अद्वयवादी आगमिक दृष्टि का विशुद्ध दार्शनिक निचोड़ है, अत: वहाँ आत्मतत्त्व के चैतन्य की व्याख्या हेतु जिस 'विमर्श' की कल्पना की गयी वह मात्र 'आत्मानुभूति' का वाचक है। पर उस एकत्व से अनेकत्व की व्याख्या के लिये उसे गतिमयता से संपृक्त करने के लिये 'स्पन्द' कहा गया जिसका अभिप्राय मात्र ईषत् कम्पन से है, इसे समझाने के लिये यहाँ सागरवीचि के दृष्टान्त का सहारा लिया गया है। इसीलिये सत्ता को स्फुरत्ता रूप कहा गया।[21] साथ ही इस सम्प्रदाय के मूल कथ्य प्रत्यभिज्ञान की धारणा को भी सत् के स्वभाव में अनुस्यूत करने के लिये इसे प्रत्यवमर्श की शब्दावली में भी व्यक्त किया गया।

अभिनवगुप्त कुल सम्प्रदाय के प्रमुख प्रत्यय 'विसर्ग' को भी स्पन्द से जोड़ते हैं।[22] वे आगमों से भी इस मान्यता को प्रमाणित करते हैं।[23] *मालिनीविजयवार्तिक* व *तंत्रालोक* में वे त्रिविध लिङ्गों को इसी स्पन्द का ही त्रिधा प्रकाशन बतलाते हैं। ये 'त्रिविध लिङ्ग' हैं—व्यक्त लिङ्ग, व्यक्ताव्यक्त लिङ्ग तथा अव्यक्त लिङ्ग जो कि क्रमश: भेददशा, भेदाभेद दशा व अभेद दशा के पर्याय हैं।[24]

इसी प्रकार स्पन्द की चर्चा 'परावाक्' रूप से भी उपलब्ध होती है। वस्तुत: यह अद्वयवादी आगमधारा जिस दार्शनिक दृष्टि का विकास करती है उस पर भर्तृहरि के शब्दाद्वयवाद का पर्याप्त प्रभाव है। फलत: सत् की ज्ञानात्मक सत्ता पर ही यहाँ विशेष बल है। वह ज्ञान वाक् के माध्यम से ही अभिव्यक्त होता है, अत: सारे नानात्व के सर्जन का जो निमित्त है उसे वाक् के रूप से प्रस्तुत करना सर्वथा उचित है। अत: स्पन्द तत्त्व वाक् की उस परम अवस्था से एकात्म किया जाता है जो परमेश्वर के स्वरूप प्रकाश का प्रत्यवमर्शनमात्र है। इस परावाक् का ही विवर्तन पश्यन्ती, मध्यमा व वैखरी रूप से होता है।[25] *स्पन्दकारिका* में इसी स्वस्वभाव रूप में स्थित स्पन्द तत्त्व को शिव की क्रियात्मिका शक्ति बतलाया गया है[26] जो कि अपना बन्ध व मोक्ष का व्यापार विकल्पों के द्वारा करती है। सारे व्यवहार प्रत्यय पर आधारित हैं और प्रत्यय शब्दानुवेध के बिना संभव नहीं है।[27] यह प्रत्यय-निर्माण ही विकल्प है फलत: स्पन्द तत्त्व परावाक् के अपर पर्याय 'पराभट्टारिका' रूप से भी अभिव्यक्त किया जाता है।[28]

स्पन्द सम्प्रदाय की दृष्टि में यह स्पन्द ही वह तत्त्व है जिसके उन्मेष व निमेष से सारे जगत् का उदय व प्रलय होता है, जो सम्पूर्ण शक्तिचक्र के उदय का कारण है। इसी स्पन्द से सारे कार्य निर्गत होते हैं व इसी में सब स्थित भी हैं। उसके अनावृतरूप होने के कारण उसका कहीं निरोध संभव नहीं है। जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति रूप प्रमात्रवस्थाओं में उसकी अखण्ड स्थिति बनी रहती है। यही उपलब्धृता अर्थात् ज्ञातृता है। यही आत्मतत्त्व का अकृत्रिम स्वातन्त्र्य है। संसारी प्रमाता में

इसी आत्मबल के स्पर्श के कारण समस्त वस्तुओं के सम्पादन की सामर्थ्य आती है। यह स्पन्द दो प्रकार का है—'सामान्यस्पन्द' व 'विशेष स्पन्द'।[29] आत्मस्वरूप का सबके प्रभव व प्रलय के निमित्त रूप में प्रत्यवमर्शन ही सामान्य स्पन्द है और अनात्मभूत पदार्थों में आत्माभिमान को पैदा करने वाले विविध गुणरूप स्पन्द विशेष स्पन्द हैं। ये विशेष स्पन्द सामान्य स्पन्द का आश्रय लेकर ही सत्ता को प्राप्त करते हैं।[30] यह स्पन्द तत्त्व युक्ति, अनुभव तथा आगम इन तीनों से ही सिद्ध है।

इस प्रकार स्पन्द वह स्वातन्त्र्य है जिसमें सारी सामर्थ्यों की संभाव्यरूप में अनिवार्यतया स्थिति है। अत: यह प्रत्यय पूर्णता के आभोग का निमित्त है, उस चमत्कारात्मक आह्लाद की अनुभूति का हेतु है जो चेतना का अनिवार्य स्वभाव है। इसी पूर्णता का उच्छलन ही गति है, यही स्पन्द है, यही स्फुरण है। यह स्पन्दन कभी विरमित नहीं होता क्योंकि वह तो स्वस्वभाव है। अत: तांत्रिक शिवाद्वयवादी धारा को अन्य दार्शनिक सम्प्रदायों के मध्य विशिष्ट स्थान प्रदान कराने में स्पन्द का प्रत्यय उस आधारस्तम्भ का कार्य करता है जिसके बिना इस धारा का मूलभूत ढांचा ही ध्वस्त हो जायेगा। यद्यपि इस धारा में इसके कई नामान्तर हैं पर मूलभूत प्रत्यय की अनिवार्य स्थिति कहीं खण्डित नहीं होती।

पाद-टिप्पणी

1. भास्कर *शिवसूत्रवार्तिक* में कहते हैं कि कल्लट ने *शिवसूत्रों* के तीन भागों पर *स्पन्दसूत्र* नाम से टीका लिखी तथा चतुर्थ भाग पर *तत्त्वार्थचिन्तामणि* नामक टीका की रचना की—
   व्याकरोत्त्रिकमेतेभ्य स्पन्दसूत्रै: स्वकैस्तत:।
   तत्त्वार्थचिन्तामण्याख्यटीकया खण्डमन्तिमम्।। —*शि०सू०वा०*, पृ० 2-3
2. भट्ट उत्पल द्वारा प्रस्तुत *स्पन्दकारिका* के संस्करण में उपलब्ध तिरपनवीं *कारिका* के अनुसार भट्ट कल्लट ने अपने गुरु वसुगुप्त से इस ज्ञान को प्राप्त कर इस ग्रन्थ की रचना की—
   वसुगुप्तादवाप्येदं गुरोस्तत्त्वार्थदर्शिन:।
   रहस्यं श्लोकयामास सम्यक् श्रीभट्टकल्लट:।। —*स्प०का०* 53 (*स्प०प्र०* संस्करण)
3. क्षेमराज व महेश्वरानन्द दोनों निम्न श्लोक उद्धृत करते हैं—
   लब्ध्वाप्यलभ्यमेतज्ज्ञानधनं हृद्गुहान्तकृतनिहितै:।
   वसुगुप्तवच्छिवाय हि भवति सदा सर्वलोकस्य।।
   पर यह श्लोक भट्ट उत्पल, कल्लट व रामकण्ठ की रचनाओं में उपलब्ध नहीं होता है।
4. स्पन्दनं च किञ्चित् चलनम्। एषैव च किञ्चिद्रूपता यद् अचलमपि चलम् आभासते इति, प्रकाशस्वरूपं हि मनागपि नातिरिच्यते अतिरिच्यते इव इति अचलमेव आभासभेदयुक्तमेव च भाति इति। —*ई०प्र०वि०* (भा०), भा० 1, पृ० 208
5. स्वरूपाच्च यदि वस्त्वन्तराक्रमणं, तच्चलनमेव, न किञ्चित्त्वम्। नोचेत् चलनमेव न किञ्चित्। तस्मात् स्वरूप एव क्रमादिपरिहारेण चमत्कारात्मिका उच्छलत्ता स्पन्द इत्युच्यते। —*परा०त्रि०वि०*, पृ० 207
6. *शब्दकल्पद्रुम*, भा० 5, पृ० 457; *वाचस्पत्यम्*, भा० 5, पृ० 366.
7. *स्पन्दप्रदीपिका*, पृ० 3.
8. इह परमेश्वरस्य महाप्रकाशात्मनो विमलस्यापि एकैव परामर्शशक्ति: किंचिच्चलत्ताभासरूपतया स्पन्द:

इति, स्फुरत्ता इति, ऊर्मिः इति, बलम् इति, उद्योगः इति, हृदयम् इति, सारम् इति, मालिनी इति, परा इत्याद्यनन्तसंज्ञाभिः आगमेषु उद्घोष्यते। —*स्प०सं०*, पृ० 5

9. *तं०आ०* 4/182-84.

10. *स्प०सन्दो०*, पृ० 5; *स्प०नि०*, पृ० 66.

11. *शि०स्तो०* 13/15, *शि०दृ०*, पृ० 10 पर उद्धृत।

12. एकचिन्ताप्रसक्तस्य यतः स्यादपरोदयः।
उन्मेषः स तु विज्ञेयः स्वयं तमुपलक्षयेत्।। —*स्प०का०* 41

13. यस्योन्मेषनिमेषाभ्यां जगतः प्रलयोदयौ।
तं शक्तिचक्रविभवप्रभवं शंकरं स्तुमः।। —उपरिवत् 1

14. उदयात्मकोन्मेषहेतुत्वात् उन्मेषशब्देन निमेशब्देन च उपचर्यते। —*स्प०का०वि०* (रामकण्ठ), पृ० 5.

15. सा चैषा स्पन्दशक्तिर्गर्भीकृतानन्तसर्गसंहारैकघनाहन्ताचमत्कारानन्दरूपा युगपदेवोन्मेषनिमेषमयी। —*स्प०नि०*, पृ० 3-4

16. चित्स्वाभाव्यादचलस्यापि श्रीभगवतः स्वातन्त्र्यशक्तिरविभक्ताप्यशेषसर्गसंहारादिपरम्परां दर्पणनगरवत्स्वभित्तावेव भावियुक्त्यानधिकामप्यधिकामिव दर्शयन्ती किंचिच्चलत्तात्मकधात्वर्थानुगमात्स्पन्द इत्यभिहिता तेन भगवान्सदा स्पन्दतत्त्वसतत्त्वो न त्वस्पन्दः । —उपरिवत्, पृ० 3

17. प्रत्यभिज्ञा सम्प्रदाय भी औन्मुख्यभाव को ही स्पन्द शब्द से निर्दिष्ट करता है—
विघूर्णनं तदौन्मुख्येनोच्छलनात्मकं स्पन्दनं । —*तं०आ०वि०*, भा० 5, पृ० 1996

18. अतिक्रुद्धः प्रहृष्टो वा
किं करोमीति वा मृशन्।
धावन्वा यत्पदं गच्छे
त्तत्र स्पन्दः प्रतिष्ठितः।। —*स्प०का०* 22

19. *ई०प्र०का०* 1/5/13-14—

'हृदयं बोध पर्यायः ' इत्युक्त्या बोधे स्वात्मभूते योऽसौ विमर्शः, स द्रावितं-बहीरूपतया प्रसारितम्, अथ च गालितम्—अन्तःशान्तीकृतमशेषं विश्वं येनासौ, अत एव भावग्रहस्य—विश्वात्मतास्वीकारस्यादौ निर्मित्सावसरे पर्यन्ते—संजिहीर्षासमये च भवनशीलः, अतएव स्वात्मविकाससंकोचमयतयोच्छलत्तारूपः, अतएव विशेषरूपतया अनुल्लासात् प्रशमाच्च सामान्यशब्दवाच्यः स्पन्दशास्त्रादौ 'स्पन्दः' कथ्यतेकिंचिच्चलनात्मकोच्छलत्तारूपानुगमात् स्पन्दशब्दाभिधेयतयोच्यते इत्यर्थः। —*तं०आ०वि०*, भा० 3, पृ० 829

20. आभासवादे हि आभासमानतैव सिद्धिः इत्युक्तं स्फुरत्तैव वस्तुनः सिद्धिः। —उपरिवत्, भा० 2, पृ० 213

21. *ई०प्र०का०* 1/5/14.

22. यद्वा बिन्दुरकारः अकाराद्यास्तिथयस्तदन्ते विसर्ग इत्यपि व्याचक्षते तदेव संवित्सतत्त्वं 'स्पन्द' इत्युपदिशति। —*प०त्रि०वि०*, पृ० 207

23. स्वरूप एव क्रमादिपरिहारेण चमत्कारात्मिका-उच्छलत्ता उर्मिरिति मत्स्योदरीतिप्रभृतिशब्दैरागमेषु निदर्शितः 'स्पन्द' इत्युच्यते—किंचिच्चलनात्मकत्वात्, स च शिवशक्तिरूपः सामान्यविशेषात्मा। —उपरिवत्, पृ० 207-8

24. एतदव्यक्तलिंङ्गं तन्नरशक्तिशिवात्मकम्।
यत्र विश्वमिदं लीनं यदन्तःस्थं च गम्यते।। —*मा०वि०वा०* 2/61

शाक्तसमुल्लासभरादन्त:कृतमन्त्रवीर्यपरासार:।
नरशक्तिमयमिदं तद्व्यक्ताव्यक्तं भवेल्लिङ्गम्।। —2/63-64
व्यक्तलिङ्गं तदुक्तं तु यत्केवलनरात्मकम। —2/65

25. तदेवम् इयं पारमेश्वरी परा शक्ति: स्वभावप्रत्यवमर्शक्रियादिना सांकेतिकशब्दपर्यन्तेन निरवधिना स्वमहिम्ना प्रसृतापि, सर्वस्यैव पदार्थजातस्य सामान्यसंवित्प्रकाशव्यतिरेकेण अनुपपन्नस्वात्मलाभस्य प्रत्यवमर्शिनी सती सर्वदा स्वमार्गस्थत्वं न व्यभिचरति। —*स्प०का०वि०* (रामकण्ठ), पृ० 151-52

26. सेयं क्रियात्मिका शक्ति:
शिवस्य पशुवर्तिनी।
वन्धयित्री स्वमार्गस्था
ज्ञाता सिद्ध्युपपादिका।। —*स्प०का०* 48

27. स्वरूपावरणे चास्य शक्तय: सततोत्थिता:।
यत: शब्दानुवेधेन न विना प्रत्ययोद्भव: ।। —उपरिवत्, 47

28. प्रमेयपर्यन्तेन रूपेण स्फुरन्ती स्वस्वभावरूपस्य चिदात्मन: शिवस्य सम्बन्धिनी स्पन्दतत्त्वात्मिका पराभट्टारिकैव विश्ववैचित्र्यावस्थितिकारित्वात् क्रियाशक्ति:। —*स्प०नि०*, पृ० 71-72

29. स्पन्दस्य परस्य शाक्तस्य तत्त्वस्य उपचरितसामान्यविशेषात्मकतया द्विप्रकारत्वेन व्याख्यास्यमानस्य ··· एष उपादेयतम: परमकारणभूतस्य सत्यस्य आत्मस्वरूपस्य—अयमहमस्मि, अत: सर्वं प्रभवति, अत्रैव च प्रलीयते—इति प्रत्यवमर्शात्मको निजो धर्म: सामान्यस्पन्द:, विशेषस्पन्दा अनात्मभूतेषु देहादिषु आत्माभिमानमुदभावयन्त: परस्परभिन्नमायीयप्रमातृविषया:—सुखितोऽहम् दु:खितोऽहम् इत्यादयो गुणमया: प्रत्ययप्रवाहा: संसारहेतव: । —*स्प०का०वि०*, पृ० 63-64

30. गुणादिस्पन्दनि:ष्यन्दा: सामान्यस्पन्दसंश्रयात्।
लब्धात्मलाभा: सततं स्युर्ज्ञस्यापरिपन्थिन:।। —*स्प०का०* 19

अध्याय पाँच

वाक्

वाक् का प्रत्यय काश्मीर शिवाद्वयवाद में एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण धारणा है। यह यहाँ के सत् का स्वरूपाधायक तत्त्व है,[1] अत: यहाँ समष्टि व व्यष्टि का प्रत्येक कण इस वाक् तत्त्व से अनुप्राणित है। वस्तुत: काश्मीर शिवाद्वयवाद जिस तांत्रिक पृष्ठभूमि में विकसित हुआ है वहाँ वाक् तत्त्व का सर्वत्र विशेष महत्त्व है। यद्यपि उस तांत्रिक धारा में उत्तरवर्ती सम्प्रदाय के स्तर पर विकसित विमर्श व अहंभाव की धारणा उपलब्ध नहीं होती पर वाक् तत्त्व के विविध रूपों के, साधना के स्तर पर, उपयोगों के उल्लेख बराबर मिलते हैं। इस दृष्टि के पीछे यही कारण है कि अद्वैततत्त्व का नानात्व के रूप में जो भी विस्तार होता है वह विमर्शनवृत्त्या ही घटित होता है अत: पुन: उस अद्वैत की ओर प्रत्यावर्तन का माध्यम भी यही विमर्श बनता है। वाक् इसी विमर्श का नामान्तर है, भेद मात्र इतना है कि जहाँ विमर्श मात्र विचार या चेतना रूप है वहीं वाक् में मुखरता भी रहती है।[2] वस्तुत: विमर्श का विवर्तन प्रारम्भ होने पर स्फुटरूपता मिलती है प्राण शक्ति रूप में और प्राण शक्ति ही अपने विविध रूपों व व्यापारों के माध्यम से इस मुखरता के लिए उत्तरदायी बनती है। इस प्रकार वाक् विमर्श का ही स्फुटीभाव है[3] जिसे स्थूल रूप प्रदान करने का निमित्त है प्राण वायु।[4]

काश्मीर शिवाद्वयवाद वाक् तत्त्व को परमसत् के स्वरूप में अनुस्यूत क्यों मानता है इस प्रश्न का उत्तर ढूँढने पर उसके कई प्रयोजन मिलते हैं। प्रथम, परम्परागत दृष्टि से वाक् तत्त्व परमतत्त्व का स्वभाव ही है, तभी प्राचीन तंत्रों में परमशिव अक्सर शब्दराशि कहा गया है। उसकी मंत्ररूपता[5] भी इसी वाक् तत्त्व की अनुप्राणकता को ही दर्शाती है।[6] दूसरे, परमसत् के जिस पूर्ण स्वरूप की स्थापना वह करता है वहाँ उस पूर्णता का संवाहक वाक् तत्त्व को मानना अनिवार्य है अन्यथा किसी बाह्य निमित्त को मानने से वह पूर्णता सिद्ध कर पाना संभव नहीं होगा। विमर्श रूप में, जिसे कि परावाक् रूप से ही यह सम्प्रदाय सम्बोधित करता है, यह वाक् सारी अनेकता का स्रोत है और एक ही तत्त्व को बिना एकत्व से च्युत हुए नानात्व के आभासन में समर्थ बनाती है।[7] तीसरे, इस सम्प्रदाय के विकास पर भर्तृहरि के शब्दाद्वैत का पर्याप्त प्रभाव है, अत: तांत्रिक परिवेश से गृहीत इस धारणा को विकसित करने के लिये इस सम्प्रदाय के आचार्य भर्तृहरि द्वारा प्रस्तुत दृष्टि[8] का कई बार अनुसरण करते हैं।

अब देखना है कि इस सम्प्रदाय में वाक् तत्त्व की कल्पना को किस प्रकार विकसित किया गया है। सर्वप्रथम परमार्थ स्तर पर इस वाक् तत्त्व की चर्चा से प्रारम्भ करते हैं। वाक् का अभिप्राय है—''वक्ति स्वरूपं विमृशतीति वाक् ...।''[9] जो स्वरूप का विमर्शन करती है वह वाक् है। अत: परमसत् का जो अनिवार्य स्वरूप है—प्रकाशविमर्शमयता, उसमें वाक् इसी 'विमर्श' के प्रत्यय में अनुस्यूत घटक है।[10] सत् की प्रकाशात्मता की प्रकल्पना को लेकर जो

अस्तित्व व ज्ञान के स्तरों को जोड़ने की कोशिश की गयी है उसमें मुख्य भूमिका यही वाक् तत्त्व निभाता है।[11] यहाँ जो भासित है वही सत् है, जो सत् है वही ज्ञेय है, जो ज्ञेय है वह अनिवार्यतया अभिधेय है। इस प्रकार भासन, सत्ता, ज्ञेयता व अभिधेयता परस्पर अन्योन्याश्रित प्रत्यय हैं। काश्मीर शिवाद्वयवाद 'प्रकाश' तत्त्व के अवरोहण व आरोहण की क्रीड़ा का निमित्त इसी वाक् तत्त्व को ही मान कर चलता है।[12]

विमर्श की वाक्-रूपता को प्रमाणित करने के लिये यहाँ अनेक प्रमाण दिये गये हैं। वस्तुत: तो विमर्श का अभिप्राय है विचार करना और 'विचार' की प्रक्रिया शब्दों के बिना घटित नहीं हो सकती यद्यपि शब्द उच्चरित अवस्था में वहाँ नहीं रहते।[13] अत: जहाँ से विचार की प्रक्रिया प्रारम्भ होती है वहीं से वाक्-रूपता का भी प्रवेश हो जाता है। अत: विमर्श को वाक् का पर्याय कहना उपपन्न ही है।[14] यह विमर्श गति का घटक है क्योंकि यह सारे व्यापारों का स्रोत है।[15] पर इस गति पक्ष को और स्फुट करने के लिये यहाँ एक अन्य पारिभाषिक शब्द का प्रयोग मिलता है और वह है—'स्पन्द'।[16] यह स्पन्द वाक् की गत्यात्मकता का भी प्रतिनिधि है क्योंकि वाक् का सबसे मौलिक व्यापार है कम्पन उत्पन्न करना और स्पन्द इसी कम्पन का पर्याय है। इसी कम्पन के द्वारा मूलभूत ऊर्जा सारे आकार-प्रकारों को गढ़ने में समर्थ है, अत: विमर्श के इस स्पन्द पक्ष के माध्यम से वाक् की गत्यात्मकता का ही द्योतन होता है। वाक् की गत्यात्मकता का साधक एक और तर्क यह भी है कि यहाँ सारी क्रियाएं विमर्शसारा मानी गयी हैं,[17] अत: विमर्श ही क्रिया रूप में प्रतिफलित होता है। यह विमर्श वाक् का ही पर्याय है। अत: सारे व्यापार शब्दनात्मक ही सिद्ध होते हैं।[18]

यद्यपि यहाँ यह भ्रम संभव है कि विमर्श व वाक् का कर्तृत्व अगर एक ही है तो फिर इन दो प्रत्ययों की क्या आवश्यकता है। वाक् का कर्तृत्व विमर्श ही निभा सकता है, तो वाक् को अलग से स्वीकारने की क्या आवश्यकता है। इस सम्प्रदाय की सूक्ष्म विश्लेषणात्मक दृष्टि ही इस प्रश्न का उत्तर दे सकती है जिसके अनुसार जो परमसत् के स्वरूप में विमर्श रूप है वही नानात्व के रूप में स्फुरित होने पर वाक्-रूपता में परिणत हो जाता है।[19] वैसे विमर्श व वाक् के स्थूल रूप के मध्य का भेद तो सुस्पष्ट हो जाता है, पर वाक् सूक्ष्म रूप में तो विमर्श रूप ही है वहाँ इसे 'प्रत्यवमर्श' संज्ञा से कहा गया है।[20] इस स्तर पर वाक् को विमर्श से किस तरह अलग किया जाये इस सन्दर्भ में कोई विश्लेषणात्मक विवरण नहीं मिलता है, अत: वाक् की धारणा अपने सूक्ष्म स्तर पर विमर्श की धारणा में ही अन्तर्भूत हो जाती है। यह वाक् विमर्श रूप में सारे जड़ चेतन विश्व का स्वरूप है, अत: सारे विश्व को एक सूत्र में बाँधने का निमित्त है। अभिनवगुप्त इसे प्रत्यवमर्श कहते हैं। उनके अनुसार वाक् का अभिप्राय मात्र स्थूल शब्दन नहीं हैं वरन् इसके भी मूल स्रोत प्रत्यवमर्शमात्र में ही इसकी कृतकार्यता है।[21] प्रत्यवमर्श का एक सामान्य अर्थ है चेतना मात्र। इसमें किसी वैशिष्ट्य का ग्रहण न होकर मात्र सत् की चेतना रहती है और वह परम सत् जो कि परमसंवित् भी कहा गया है, इसी प्रत्यवमर्शात्मक वाक् से सदैव संतृप्त रहता है। यहाँ किसी द्वैतात्मक चेतना का उदय न होने के कारण किसी 'पर' का तो स्थान ही नहीं है, अत: वाक् यहाँ मात्र स्वात्मप्रत्यवमर्श के रूप में स्थित है।[22] यह 'स्व' भी किसी विभेद से रहित विश्वात्मता की चेतना का प्रतिनिधि है इसी कारण यहाँ स्थित वाक् को सारे विश्व का प्रत्यवमर्शक भी कहा

जाता है। वाक् का जो अनिवार्य स्वभाव माना जाता है वह अभिलाप तो यहाँ स्थूल रूप में विद्यमान नहीं है पर आन्तरिक रूप से प्रत्यवमर्शात्मक अभिलाप की स्थिति यहाँ भी है जिसे कि अन्तर्मुख शिरोनिर्देश रूप से बतलाया गया है। इस स्थिति को इस प्रकार बतला सकते हैं कि जब कभी हम किसी शब्द को स्फुटतया न बोलकर मात्र सिर हिलाकर वस्तुनिर्देश करते हैं, ऐसी स्थिति में जो मात्र आन्तराभिलाप रहता है वही इस अवस्था का वाच्य है।[23] यह वाक् संकेत-निरपेक्ष है। संकेत का अभिप्राय है शब्द-विशेष का अर्थ विशेष से सम्बन्ध स्थापित हो जाना। इससे वह शब्द उस अर्थ में संकेतित हो जाता है जिसका कि ज्ञान कोश, आप्तवाक्य, आवापोद्वाप व्यापार, उपमान, व्याकरण आदि के माध्यम से होता है। अब उस शब्द का अर्थ ज्ञात होता है। पर परमसत् में स्थित वाक् ऐसे संकेत से शून्य है क्योंकि यहाँ किसी प्रकार का विभेदन नहीं है, यहाँ तो मात्र 'अहं' की चेतना है।[24] यह 'अहं' अन्त:करण व देहादि के परिणामरूप में फलित सीमित अहं न होकर उस परम संवित् की अस्मिता का वाचक है जो सारे द्वैतों से परे है, सारी सीमाओं से उत्तीर्ण है। इन्हीं सब वैशिष्ट्यों के कारण इस स्थिति को परावाक् कहा गया है। आचार्य अभिनव इस परत्व की व्याख्या 'पूर्णता' के अभिप्राय में करते हैं और इस पूर्णता का निमित्त है इसका समस्त भेदात्मक व्यवहार में प्रयुक्त संकेत-प्रधान शब्दों के जीवनरूप बाह्य व आन्तरिक विकल्परूप प्रत्यवमर्शों का मूलस्रोत या आधार होना।[25] सारा भेदात्मक व्यवहार शब्दात्मक है और उन शब्दों का मूल वे प्रत्यवमर्श ही हैं जो नाना विकल्पात्मक पदार्थों से जन्य हैं। इन सभी प्रत्यवमर्शों का मूल प्रतिष्ठास्थान प्रमाता की अहंचेतना है और वह अहंचेतना शब्द व वर्ण की सीमा से उत्तीर्णतया मात्र आत्मसत्ता की संकेतक है। यही परावाक् की प्रतिनिधि स्थिति है। प्रत्यवमर्श सामान्यत: विचारमात्र रूप में ही व्याख्यात किया जा सकता है और विचार में शब्दन आन्तराभिलाप रूप ही रहता है परन्तु जब तक किसी प्रकार का विभेदन नहीं घटित होता तब तक वह प्रत्यवमर्श स्वात्ममात्र की चेतना में ही पर्यवसित रहता है। अत: प्रमाता, जो कि परम संवित् का ही संकोचगृहीत रूप है, की प्रथम सामर्थ्य इसी आत्मप्रत्यवमर्शरूप में घटित होती है जिसे वाक् की प्रथम व मौलिक अवस्था कहा जा सकता है।[26] इसी चेतना का क्रम से विकास होते हुए उस स्थूल शब्द तक पहुँचा जा सकता है जो उच्चारण व श्रवण का विषय है और जिसे हम वाचक और वाच्य के परिप्रेक्ष्य में प्रस्तुत करते हैं। यह प्रत्यवमर्श ही परावस्था में शब्दरूप चेतना है, प्रमाता की सूक्ष्मावस्था में वागिन्द्रियरूप करण है तथा स्थूलावस्था में प्रमेयरूप शब्द है।[27]

वस्तुत: प्रकाशतत्त्व में अन्तर्गर्भित जो कर्तृता रूप संरम्भ है वही उसे जड़ पदार्थ से अलग करता है। यही आत्मविश्रान्ति रूप निरपेक्ष अहंविमर्श है। यह कर्तृता में स्थित संरम्भ वस्तुत: वाक्-रूप में ही घटित होता है[28] तथा वाक् के उद्विकास की यात्रा के विविध पड़ावों से गुजरता हुआ बाह्यतया संवेद्य पदार्थों के रूप में सत्ता लाभ करता है।[29] यह निर्विकल्प के विकल्पीकरण की प्रक्रिया विमर्श में पुञ्जीभूत होकर शब्दन के माध्यम से पूर्ण विकास को प्राप्त करती है फलत: जो विकल्पातीत है वही विकल्पित प्रतीत होता है।[30] इस विकल्पन का निमित्त कोई बाध्यता न होकर स्वेच्छा ही है और इस स्वेच्छा की व्याख्या इसके पूर्णत्व के आयाम के माध्यम से ही घटित होती है। परतत्त्व की पूर्णता की यह मान्यता स्वातन्त्र्य की धारणा को अग्रसारित

करती है और वह स्वातन्त्र्य स्वात्मचमत्कार के आभोग से उस परतत्त्व को आपूरित करता है।[31] उस स्वात्माह्लाद का तरंगण वाक् के विकास की प्रक्रिया के माध्यम से उन्मेष व निमेष रूप दो स्पन्दों के रूप में घटमान हो विश्वात्मिका क्रीड़ा रूप में परिणमित हो जाता है।[32] इस प्रकार इस अद्वयवादी दृष्टि में सारे प्रत्यय एक सूत्र में पिरोये हुए ही प्रस्तुत होते हैं। एक क्रमिक उद्विकासात्मक दृष्टि से कह सकते हैं कि स्वातन्त्र्य आनन्द को, आनन्द स्वाच्छन्द्य को, स्वाच्छन्द्य विमर्श को और विमर्श की धारणा वाक् की धारणा को अग्रसारित करती है। यद्यपि यह क्रम तार्किक स्तर पर ही घटित होता है। देश काल की सीमाओं से मुक्त परमसत् में न तो उस क्रम के लिये कोई स्थान है और न ही इन प्रत्ययों की भिन्न-भिन्न अवस्थिति का। वहाँ तो सब कुछ देश, काल, आकार रहित रूप से स्थित है परन्तु जगदाभासन की प्रक्रिया के तार्किक आधार को खोजने की प्रक्रिया में इन विविध आयामों की परिकल्पना को स्थान मिलता है।

इस प्रकार परम प्रमाता, जो अनिवार्यत: अहंप्रकाश रूप है, की करणता संवेदन व शब्दन रूप से परिघटित होती है।[33] करण वह है जो क्रियासम्पादन में साधकतम है। यह साधकतमता ही अनन्यापेक्षा को इंगित करती है। साथ ही करण की विश्रान्ति तो सदैव कर्ता में होती है, अत: करण कर्ता के स्वातन्त्र्य से सदैव परिस्पन्दित रहता है। वस्तुत: यह कर्ता का क्रियात्मक रूप ही है। कर्ता ही अपने अभीप्सित व्यापार के सम्पादनार्थ करण बन जाता है। यहाँ कथित शब्दन की करणता शब्द को करणरूप नहीं सिद्ध करती वरन् बोलने वाले का वह परिस्पन्द ही करण है जिसके कि कारण वह अभिलाप करता है।[34] इसी दृष्टि का अनुसरण करके वाक् को कर्ता रूप ही कहा गया है। यह नहीं कहा गया है कि परतत्त्व वाक् को बोलता है।

इस प्रकार प्रमाता का सर्जन यहाँ दो स्तरों पर घटित होता है, ज्ञानात्मक तथा शब्दनात्मक। संभवत: प्रमाता के स्वरूप के द्विविध पक्ष प्रकाश व विमर्श ही इन दोनों प्रकारों के लिये उत्तरदायी हैं। प्रथम प्रकाश पक्ष जहाँ ज्ञानपरक उद्विकास को स्थान देता है वही द्वितीय विमर्श पक्ष शब्दनपरक उद्विकास को। प्रकाशांश की वेद्योपरक्तता ज्ञान के उदय का कारण है और विमर्शांश की शब्दनात्मकता उन आभासों की वाच्यरूपता का निमित्त है।

आचार्य अभिनव के मत में परतत्त्व की क्रिया-सामर्थ्य सर्वाधिक सूक्ष्मावस्था में विमर्श के रूप में प्रतिष्ठित है। इसी की अभिव्यक्ति उत्तरकालिक स्थूल अवस्थाओं में होती है। यही विमर्श उत्तरकाल में अन्त:करण व बाह्यकरण—ज्ञानेन्द्रिय तथा कर्मेन्द्रिय—रूप में विकसित होता है, अत: यही समस्त कर्तृत्व का मूल है।[35] इस अद्वैतवादी सम्प्रदाय में उस अद्वैततत्त्व के अतिरिक्त न कोई प्रमाता है न प्रमेय। अत: सारे जागतिक जड़ और चेतन पदार्थ इसी पारतात्त्विक विमर्शमय कर्तृत्व से अभिषिक्त होकर अपने-अपने कार्यों में समर्थ होते हैं। मात्र इसके परिमाण का भेद उनकी जडता व अजडता की सीमा का निर्धारण करता है। अत: शब्द के उच्चारण का निमित्त उच्चारण-अवयवों का व्यापार भी इस विमर्श को मूल में लेकर चलता है।[36] इस प्रकार अहंविमर्श रूप स्फुरण ही उन नाना पदार्थों को स्फुरत्ता प्रदान करता है[37] अत: प्रमाता ही उन-उन रूपों में स्फुरित होता हुआ कहा जा सकता है। इस शुद्ध या परा अहन्ता को ही सांकेतिक शब्दावली में 'हृदय' कहा जाता है।[38] हृदय संज्ञा इसी पार्यन्तिक प्रतिष्ठा स्थान की वाचक है। तंत्र इसे शब्द, अर्थ व चिति के व्यापार का मूल कहते हैं।[39]

आचार्य अभिनवगुप्त ने परमसत् के क्रियात्मक पक्ष के विविध आयामों को बतलाने के लिये यों तो विविध संज्ञाओं विमर्श, अवमर्श, प्रत्यवमर्श, आमर्श, परामर्श आदि का प्रयोग किया है पर वे वाक् के सन्दर्भ में प्राय: दो ही संज्ञाओं का प्रयोग करते हैं—'विमर्श' व 'प्रत्यवमर्श'। वाक् की प्रकल्पना का मूल आधार इन्हीं संज्ञाओं से व्यंजित आत्मचेतना है अत: विविध सन्दर्भों में वह भले भिन्न-भिन्न संज्ञाओं का प्रयोग करें पर अपनी वाक् सम्बन्धी दृष्टि को प्रस्तुत करते हुए वह मूलत: विमर्श तथा उसके व्याख्यापरक सन्दर्भ में प्रत्यवमर्श को प्रस्तुत करते हैं।[40] उनके द्वारा इस प्रत्यवमर्श संज्ञा के प्रयोग की पृष्ठभूमि में आचार्य भर्तृहरि की अवधारणा[41] का पर्याप्त प्रभाव है तथा अपने परम गुरु आचार्य उत्पल के द्वारा स्वीकृत मत[42] का परिपोषण भी उनका मूल मन्तव्य है।

काश्मीर शिवाद्वयवाद में वाक्-मीमांसा दो स्तरों पर मिलती है—प्रथम, तो उद्विकासात्मक सन्दर्भ में तथा द्वितीय, स्थूल शब्द में। इसके अतिरिक्त एक तीसरा स्तर है—आगम प्रमाण के सन्दर्भ में।

वाक् के उद्विकास की चर्चा में वाक् के चार प्ररूपों का विवरण मिलता है। वस्तुत: वाक् की तीन अवस्थाओं की कल्पना आगमविद् कहे जाने वाले आचार्य भर्तृहरि से ग्रहण कर आचार्य सोमानन्द उसमें एक चतुर्थ अवस्था, जिसे कि परा कहा गया है, और जोड़ देते हैं। वह भर्तृहरि के पश्यन्ती तत्त्व को परमसत् रूप मानने की पर्याप्त आलोचना करते हुए उस चतुर्थ तत्त्व को स्वीकारने की अनिवार्यता पर विशेष बल देते हैं।[43] आचार्य उत्पल भी इस परावाक् को स्वीकार कर इसे परमात्मा का ऐश्वर्य रूप ही बतलाते हैं। उनके मत में यह परावाक् प्रकाशतत्त्व के अभिन्न अंग विमर्श का ही अपर पर्याय है[44] या यह भी कह सकते हैं कि उस विमर्श के स्वरूप का एक घटक है। आचार्य अभिनव वाक् के इन चारों रूपों के स्वरूप को परिभाषित करने व व्याख्या करने का एक वृहत् प्रयास करते हैं। उनके ग्रंथ *परात्रिंशिका-विवरण* तथा *ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविवृति-विमर्शिनी* दोनों में इसके पर्याप्त प्रमाण उपलब्ध हैं कि इन चारों अवस्थाओं के क्रमिक उद्विकास को कैसे समझा जाये।

प्रथम 'परा' अवस्था परमेश्वर की अभिन्न शक्ति है जो कि सृष्टि-प्रसार व संकोच के दुर्घट व्यापार का स्रोत है। इसे विमर्शमय स्पन्द रूप से भी बतलाया गया है। परावाक् में सारी सृष्टि असांकेतिक, शाश्वत व अकृत्रिम संविद् रूप से स्थित है।[45] उसमें सर्वसर्वात्मता है। यही प्रथम प्रतिभा है।[46] प्रथम प्रातिभ ज्ञान का रूप केवल विशुद्ध निर्विकल्पक है क्योंकि यह संकेतन, शाब्दिक व्युत्पत्ति और किसी प्रकार के कालक्रम पर निर्भर नहीं है। यही पारमेश्वर विमर्श है। वह प्रातिभ ज्ञान ही समस्त सविकल्पक ज्ञानों की पूर्वकोटि, मध्यकोटि व अन्तकोटि है। *ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविवृति-विमर्शिनी* में एक स्थल पर इसे अक्रमता को प्राप्त समस्त अभिधान-रूप शब्दों का सार बतलाया गया है।[47] इसे वाक् का ही रूप मानने से इसकी अभिलापात्मता तो सहज सिद्ध ही है पर यह अभिलपन यहाँ संकेतनिरपेक्ष व आन्तरिक है तथा विमर्शनात्मक है। वस्तुत: यहाँ शब्दन अनाहत है।[48] अनाहत का अभिप्राय है वह शब्दन जो दो चीजों के टकराने से उत्पन्न नहीं है अर्थात् यह उच्चारण अवयवों की क्रिया से उच्चरित न होकर सृष्टि का मूल स्रोत रूप है। वस्तुत: यह वाच्य-वाचक भाव से अथवा ग्राह्य-ग्राहक भाव से उभयात्मक है अर्थात् सबको अन्तर्गर्भित करके स्थित है। अत: वह स्वात्मपूर्णता के आस्वाद से जन्य चमत्कार

से नित्य संतृप्त है।[49] इसमें 'मालिनी' व 'मातृका' रूप समस्त शब्दन व्यापार अन्तर्गर्भित है परन्तु *परात्रिंशिका-विवरण* में ही एक जगह परावाक् को मात्र मालिनी रूप कहा गया है।[50] मालिनी सृष्टि के संकोच पक्ष की ही द्योतक है और यह अवस्था भी सब कुछ अपने में अन्तर्गर्भित करने के कारण सृष्टि की संकोचावस्था की ही प्रतिनिधि है। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि जहाँ इसे मातृका व मालिनी दोनों का स्रोत कहा गया है[51] वहाँ इसे सृष्टिप्रक्रिया के आरोहक्रम व अवरोहक्रम दोनों का स्रोत मानकर चर्चा की गयी है और जहाँ मात्र मालिनी रूप कहा गया है वहाँ इसके स्वरूपगत सन्दर्भों को ही दृष्टि में रखा गया है। *तंत्रालोक* में अभिनव कहते हैं कि परावाक् परिपूर्ण अहम् रूप प्रत्यवमर्श है जो कि स्वातन्त्र्य के कारण अपने में ही विभाग का अवभासन करती है। यह स्वात्मास्वाद-परामर्श है।[52]

वस्तुत: परा की परता का अर्थ है पूर्णता। इस 'पूर्णता' का नकारात्मक अर्थ है किसी भी प्रतियोगी का अभाव तथा सकारात्मक अर्थ है इसमें सबकी विश्रान्ति होने से प्रतिफलित सर्वमयता। परा के अतिरिक्त अन्य तीनों वाक्-अवस्थाएं अपरा संज्ञा से वाच्य हैं। वाक् की पश्यन्ती आदि तीन अवस्थाओं में वाच्य के अनुसार भेद विद्यमान है पर परा में ऐसा कोई भेद आसूत्रित नहीं है।[53]

द्वितीय अवस्था है 'पश्यन्ती' जो कि परा का प्रथम विवर्त है। इस को उन्मुखता की स्थिति से एकात्म कर सकते हैं। यह वह अवस्था है जिसमें भेद का आसूत्रण हो गया है पर अभी उल्लेखन नहीं हुआ है।[54] उसी औन्मुख्य के कारण आचार्य अभिनव इसे कहीं इच्छा से एकात्म करते हैं और कहीं इसमें ज्ञानात्मक दर्शन के विषय रूप से सारे वाच्यवाचकात्म जगत् की अवस्थिति के कारण इसे ज्ञानशक्तिमय कहते हैं। इस स्थिति में वाच्य-वाचक अविभक्त भाव से ही स्थित रहते हैं। यह अवस्था स्फुट भेद से शून्य होकर सारे भेदात्मक क्रमों की उपसंहृतावस्था है।[55] *तंत्रालोक* में इसे प्रथम नाद रूप कहा गया है।[56] इस अवस्था की पश्यन्ती संज्ञा इसके अविरत दर्शन स्वभाव को बतलाती है जो कि प्रकाश के अप्रतिहत प्रसार को ही ध्वनित करती है।[57] यहाँ अभिलाप अति सूक्ष्मावस्था में ही स्वीकारा जा सकता है जिसे कि यहाँ 'सूक्ष्मसंजल्पस्वभावा' की शब्दावली में व्यक्त किया गया है।[58]

'मध्यमावस्था' वाक् के उद्विकास की प्रक्रिया का तीसरा चरण है यहाँ भेदावस्था का उन्मीलन प्रारम्भ हो जाता है। अत: यहाँ इदन्ता का विमर्श ही प्रधान है। यद्यपि यह श्रोत्रग्राह्य वर्णाभिव्यक्ति से रहित है पर मानसिक वर्णोच्चारणक्रम यहाँ विद्यमान है अर्थात् यहाँ मानसिक स्तर पर वेद्यवेदक-प्रपंच तथा वाच्य-वाचक शब्दों का उदय घटित हो जाता है। फलत: यह अवस्था क्रममय कही गयी है। यहाँ सारी प्रक्रिया मन, बुद्धि, अहंकार रूप अन्त:करण के स्तर पर ही घटित होती है, अत: इसे अन्त:संकल्परूपा भी कहा गया है। यह मध्यमा भूमि विद्या, माया दोनों का स्पर्श करने वाली कही गयी है क्योंकि इस अवस्था में अभेद व भेद दोनों ही अवस्थित हैं।[59] इस अवस्था को आचार्य अभिनवगुप्त कभी ज्ञानशक्ति से एकात्म करते हैं व कभी क्रियाशक्ति से। वस्तुत: जब वह पश्यन्ती को इच्छाशक्तिरूपा कहते हैं[60] तब इसे ज्ञानशक्ति से एकात्म करते हैं[61] और जब पश्यन्ती को ज्ञानशक्तिरूपा कहते हैं[62] तब इसे क्रियाशक्ति से अभिन्न पाते हैं। इस अवस्था में ज्ञानशक्ति की सर्वदर्शनक्षमता भी विद्यमान है क्योंकि यहाँ सारे वाच्य-

वाचक विद्यमान हैं पर यह भेदन यहाँ आन्तरिक स्तर पर ही है। इस भेदन के कारण ही यह क्रियाशक्तिरूपा भी है।

यहाँ यह द्रष्टव्य है कि पश्यन्ती व मध्यमा दोनों ही अवस्थाएं ज्ञान के स्तर पर ही घटित होती हैं, पर जहाँ पश्यन्ती में शब्दन सूक्ष्म रूप में स्थित है वहीं मध्यमा में स्थूल रूप में।[63] यद्यपि यहाँ भी वह आत्ममात्रग्राह्य है, स्फुटतया श्रवणेन्द्रियग्राह्य नहीं। यहाँ वाच्य और वाचक का परस्पर अध्यास होता रहता है अर्थात् दोनों यहाँ एक-दूसरे को आच्छादित करके स्थित रहते हैं। इस अध्यास में कोई क्रम नहीं है। वाच्य और वाचक दोनों विश्वात्मक हैं। कभी वाचक रूप शिव वाच्य रूप विश्व को आच्छादित कर लेता है और कभी वाच्य विश्व वाचक शिव को। वाचक शब्द माया प्रमाता का त्याग कर बाह्यतया अवस्थित नहीं होता वरन् मात्र प्रमाता के अहंभाव को ही शवलित करता है।[64] यहाँ अर्थ भी परामृश्यमान अवस्था में स्थित है और शब्द भी। शब्द अपने स्वरूप व वाच्य दोनों का ही स्वयं परामर्श करता है। इस अवस्था में सुनने व कहने के लिए श्रोता व वक्ता दो का होना आवश्यक नहीं है। एक ही व्यक्ति वक्ता व श्रोता दोनों है। यहाँ आत्मा ही बोलती है, आत्मा ही सुनती है।

'वैखरी' अवस्था वाक् के विकास का सबसे स्थूल रूप है जो कि सर्वजन-संवेद्य है। यह स्फुट भेद-प्रधान होने से माया का क्षेत्र है।[65] यहाँ प्राणक्रिया के माध्यम से वाक्-व्यापार पूर्ण स्फुटता को प्राप्त कर लेता है।[66] विखर है शरीर तथा उसमें होने वाली चेष्टा अर्थात् स्थान, करण[67] व प्रयत्न के माध्यम से घटित उच्चारणेन्द्रिय के व्यापार का परिणाम है वैखरी वाक्।[68] फलत: विविध वर्णभेदों का स्फुटीकरण हो जाता है और ये ही वर्ण पदों व वाक्यों की संरचना कर जागतिक व्यवहार के निर्वहण में सहायक होते हैं। इसी अवस्था में विविध वाचक शब्द, उनसे संकेतित अर्थ, संकेतनप्रक्रिया, संकेत के विषय आदि विविध समस्याओं के अध्ययन की आवश्यकता सम्मुख उपस्थित होती है। आधुनिक भाषा-शास्त्री इन्हीं समस्याओं के अध्ययन में अपनी कृतकार्यता मानता है पर भारतीय दर्शनों में वाक् की अवधारणा इससे कहीं व्यापक परिधि को लेकर प्रस्तुत होती है! यहाँ चिन्तकों की दृष्टि उस मूल उत्स तक जाती है जहाँ से इस भाषा का उद्गम हुआ है साथ ही उन मध्यवर्ती पड़ावों को भी विश्लेषित करती चलती है जिन्हें अपने उद्विकास क्रम में पार करती हुई वह इस इन्द्रियसंवेद्य रूप तक पहुँचती है।

ये चारों अवस्थाएं प्रमाता के सन्दर्भ में ही घटित होती है। यद्यपि इन सभी में भिन्न-भिन्न प्रकार की क्रियात्मता चलती रहती है पर इन सबके मूल में आत्मचेतना का एक अभिन्न व अखण्ड अनुसंधान ऊपर से नीचे तक व्याप्त रहता है जो कि इन चारों अवस्थाओं की एकता के लिये उत्तरदायी है। परा से लेकर वैखरी तक के वाणी-प्रपंच में ऊपर से नीचे तक ऐसा स्वाभाविक और सुव्यवस्थित विमर्शमय तार बँधा है कि परा वाणी में जिस बात का स्पन्दन होने लगता है, ठीक वही वैखरी के स्तर पर पहुँच कर स्पष्ट अभिलाप के रूप में अभिव्यक्त हो जाता है।[69]

शब्दब्रह्मवादी पश्यन्ती को परतत्त्व मानते हैं न कि परा को, इसकी आलोचना आचार्य सोमानन्द ने अपने ग्रंथ *शिवदृष्टि* में की है। इसी आलोचना को आगे बढ़ाते हुए आचार्य अभिनव का कहना है कि पश्यन्ती का परतत्त्व होना संभव नहीं है क्योंकि विकल्प-प्रधान मध्यमा की पूर्वावस्था होने के कारण पश्यन्ती विकल्प-शून्य नहीं हो सकती, अन्यथा निर्विकल्प या

असंकुचित का ही पश्यन्ती में दर्शन करते हुए उस असंकुचित का ही मध्यमावस्था में विकल्पन किया जायेगा जो कि उचित नहीं है। कोई नीलदर्शन करके पीत का विकल्पन नहीं करता। अत: मध्यमा स्थित संकोच की सूक्ष्म स्थिति पश्यन्ती में भी स्वीकरणीय है।[70] यह संकोच देश, काल, आकार कृत ही है। इसी प्रकार पश्यन्ती की चिन्तामयता भी उसमें संकोच का उपराग उपस्थित करती है। आचार्य अभिनव के मतानुसार पश्यन्ती की सर्वमयता एकैकरूपता से व्यवच्छिन्न रूप से स्थित है अर्थात् कोई भी एक शब्द यहां सर्व का ग्राहक है पर द्वैत का अस्फुट प्ररोह तो इससे ध्वनित होता ही है फलत: इसकी पररूपता अनुपपन्न है।[71] आचार्य अभिनव 'महापश्यन्ती'[72] व 'परममहापश्यन्ती' रूप से भी वाक् की अन्तिम अवस्था का कहीं-कहीं उल्लेख करते हैं। वह परममहापश्यन्ती सभी महापश्यन्तियों की अविभागावस्था है।[73]

आगमों में वाक् तत्त्व को इस जगत् का मूल मानकर जागतिक तत्त्वों को विविध वर्ण रूप इन परामर्शों से एकात्म किया गया है।[74] इसी विचार को आगे काश्मीर शिवाद्वयवाद में भी विशेष रूप से विकसित करने की चेष्टा की गयी है। *परात्रिंशिकाविवरण* व *तंत्रालोक* में अभिनवगुप्त 'अ' से 'क्ष' तक के वर्णसमुदाय के माध्यम से सारी जागतिक सृष्टि के प्रसार की व्याख्या करने का प्रयास करते हैं। इसी को वे 'आक्षरी सृष्टि' कहते हैं। इस आक्षरी सृष्टि में समूचा स्वरवर्ग बीजरूप तथा व्यंजनवर्ग योनिरूप है। दूसरे शब्दों में स्वरवर्ग शिव का तथा व्यंजनवर्ग शक्ति का प्रतिनिधि है।[75] 'अ' समस्त सृष्टि का मूल उद्‌गम व विश्रान्ति स्थान है। यह सृष्टिप्रक्रिया 'क्ष' वर्ण पर पहुँच कर विश्रान्त हो जाती है। 'अ' अपने में पूर्ण व शाश्वत अनुत्तर रूप है। यह सृष्टि व संहार से परे है तथा अपने सभी प्रसारों में अन्तर्गर्भित है।[76] यह वस्तुत: 'अ' अकेला ही समस्त वर्णों का मूल है इसी कारण किसी भी वर्ण का उच्चारण करते समय पहले 'अ' ध्वनि ही सुनाई पड़ती है।

वर्ण सृष्टि के दो स्तर हैं—पहला 'अ' से लेकर 'औ' तक, दूसरा 'क' से लेकर 'क्ष' तक। पहले स्तर का नाम 'महासृष्टि' अथवा 'बिम्बात्मिका सृष्टि' और दूसरे का नाम 'मितसृष्टि' अथवा 'प्रतिबिम्बात्मिका सृष्टि' है। 'अं' वर्ण पहले प्रकार की सृष्टि के संहार को सूचित करता है और 'अ:' सृष्टि के प्रसार का संकेतक है। यह प्रसार दो प्रकार से सम्भव है—'संहारात्मक' व 'सृष्ट्यात्मक'। संहारात्मक का अर्थ है स्वरूप में प्रवेशात्मक तथा सृष्ट्यात्मक है स्वरूप से निर्गत होकर जगत् रूप में प्रसारात्मक । 'अ:' के विसर्ग की दो बिन्दियाँ प्रसार के इन्हीं दो रूपों की प्रतीक हैं। इनमें से ऊपर वाली प्रवेशरूपी प्रसार तथा नीचेवाली निर्गमरूपी प्रसार का संकेत देती है।[77] यह स्वर-वर्ग विशुद्ध शिव रूप है जिसमें मायीयता का स्पर्श नहीं है। क से लेकर क्ष तक के पच्चीस वर्ण पृथ्वी तत्त्व से लेकर पुरुष तत्त्व तक के पच्चीस तत्त्वों के प्रतीक हैं। य, र, ल, व,—ये चार वर्ण क्रमश: राग, विद्या, कला व माया नामक चार तत्त्वों के प्रतीक हैं। श, ष, स, ह, क्ष—ये पाँच वर्ण क्रमश: पाँच शुद्ध तत्त्वों के प्रतीक हैं।[78] व्यंजनों की अपेक्षा स्वर अधिक मौलिक हैं—इस कथन की पुष्टि तो सामान्य अनुभव के आधार पर भी संभव है क्योंकि किसी भी व्यंजन के उच्चारण में स्वर की सहायता अनिवार्यत: अपेक्षित है।[79]

इस प्रकार यह 'अ' से लेकर 'क्ष' तक का मातृका-समुदाय (सारी वर्णमाला) परमेश्वर की क्रिया शक्ति के स्पन्दन का ही बहिर्मुखीन प्रसार है[80] परन्तु यह द्रष्टव्य है कि यहाँ यह सारा सृष्टिविकास स्थूलतया घटित न होकर मात्र पारतात्त्विक विमर्श रूप में ही सम्पन्न होता है।

मातृका वर्णक्रम में स्वरवर्ग और व्यंजनवर्ग बिल्कुल अलग-अलग रहते हैं अर्थात् वहाँ सृष्टि का मूल कारण बीज-योनि का संघट्ट प्रारम्भ नहीं हुआ है जबकि मालिनी वर्णक्रम उसी बीज-योनि संघट्ट की अवस्था का प्रतिनिधि है।[81] यहाँ स्वर व व्यंजन सम्मिश्रित अवस्था में रखे गये हैं। इस प्रकार मातृकाक्रम शिवभाव का तथा मालिनीक्रम शक्तिभाव का अभिव्यंजक है। *मालिनीविजयोत्तर तंत्र* मालिनी के दो रूप मानता है—'अभिन्नयोनिमालिनी' तथा 'भिन्नयोनिमालिनी'।[82] जहाँ अभिन्नयोनिमालिनी वर्णों के वैज्ञानिक उद्विकासात्मक क्रम को प्रस्तुत करती है, जो कि वर्तमान वर्णमालाक्रम है, वहीं भिन्न योनि मालिनी वर्णों के भिन्न क्रम की प्रस्तोता है जिसमें 'न' प्रथम वर्ण तथा 'फ' अन्तिम है। यद्यपि कुल वर्ण-संख्या तो पचास दोनों जगह है।

वैखरी स्तर पर अभिव्यक्त शब्द के सम्बन्ध में विचार करने पर हम पाते हैं कि यहाँ पर शब्द की सर्वोच्च स्थिति 'आगम' रूप से स्वीकृत है। इस रूप में शब्द को शाश्वत व आदि अन्त से रहित सर्वप्रामाणिक माना गया है। यद्यपि आगम प्राय: उन ग्रंथों की संज्ञा है जो कि आज दैवी वाक् के प्रतिनिधि रूप में हमको लिपिबद्ध रूप में प्राप्त हैं पर आचार्य अभिनवगुप्त आगम शब्द को परिभाषित करते हुए उसे मात्र इसमें सीमित न कर उसका अभिप्राय उस मूल परावाक् को सिद्ध करते हैं जो कि शब्दनात्मकता का उत्स है।[83] आगम शब्द के विविध पक्षों का निदर्शन कराने के लिये ही आचार्य अभिनव इसे अलग-अलग तरह से परिभाषित करते हैं। वे कहीं इसे मात्र परम्परा कहते हैं कहीं प्रसिद्धि,[84] कहीं प्रतिभा[85] व कहीं विमर्श।[86] अत: उनका लक्ष्य यही बतलाना है कि आगम रूप में जो शाश्वत वाक् स्वीकृत है वह मात्र लिपिबद्ध रूप से उपलब्ध ग्रंथों में उपनिबद्ध शब्द नहीं है वरन् उन शब्दों के मूल में रहने वाली वह चेतना है जो इन सभी शब्दों के माध्यम से अभिव्यक्त हुई है।

भारतीय संस्कृति शब्दप्राण संस्कृति रही है, इसी कारण यहाँ परम्परा का हस्तान्तरण श्रवण व उच्चारण के माध्यम से ही माना गया है। आगम संस्कृति का यह अनन्य विश्वास है कि शब्द ही सारे सर्जन व कर्तृत्व का स्रोत है अत: भाषा के मौखिक रूप की सर्जनात्मकता पर ही यहाँ विशेष बल दिया गया है। आगम का अर्थ है ''आ समन्ताद् अर्थं गमयति इति आगम:'' अत: यह अर्थ के यथार्थ स्वरूप का प्रतिपादक है।[87] पर इसका सारा व्यापार शब्द के माध्यम से ही घटित होता है इसीलिये उसे 'शब्दन-संक्रान्ति-शरीर' भी कहा गया है।[88] दूसरों तक अपनी बात पहुँचाने के लिये चिरन्तन सत्यों का शब्दों के माध्यम से ही यहाँ निरूपण किया जाता है। आन्तरिक विमर्श रूप में जो शब्दन चित्स्वभाव का अन्तरंग रूप है वह भी आगम रूप है।[89] साथ ही उस विमर्श से प्रतिफलित शब्द-राशि भी आगम रूप ही है क्योंकि आगम का अभिप्राय प्राय: उस परम्परा से लिया जाता है जो श्रौत परम्परा से अविच्छिन्न रूप से अब तक चली आ रही है।[90] पर इसके घटक तत्त्व शब्द ही हैं और शब्दन का मूल है विमर्श।[91] इसी विमर्श के माध्यम से उस पूर्ण प्रकाशतत्त्व तक पहुँचना ही आगम प्रमाण का स्वरूप है।

ये आगम पारमेश्वरी वाक् हैं। परमेश्वर जैसे विश्वप्रकाशात्मा है वैसे ही विश्वविमर्शात्मा भी है। ईश्वरेच्छा से जो जिस विमर्शांश में एकीकृत है वह उस विमर्शांश को छोड़ नहीं सकता। ईश्वर ही सभी रूपों में भासित होता है, विमर्शन करता है और विमर्शन कराता है, अत: ईश्वर की इच्छा से जो जिस शब्दन में निरूढ है वही उसका आगम है।[92]

आगम को प्रतिभा रूप भी कहा जाता है।[93] 'प्रतिभा' वह प्रज्ञा-चक्षु है जो इन्द्रियसंवेद्यता की परिधि के बाहर जाकर देशकाल की सीमाओं से उत्तीर्ण पदार्थों के ग्रहण में समर्थ है।[94] आगम भी उन्हीं सीमाओं से रहित चिरन्तन सत्य के अवभासक हैं, अत: प्रतिभा से उनका ऐकात्म्य उचित ही है।[95]

यहाँ शब्दविमर्शन अर्थविमर्शन की अनिवार्य पूर्वदशा नहीं है क्योंकि तब तो आगम प्रमाण की भी सापेक्षता होगी।[96] वस्तुत: शब्दविमर्शन अपने में ही अर्थविमर्शात्मक है। शब्द स्वपरविमर्शात्मक है, अत: वही स्व (शब्दरूप) तथा पर (अर्थ) दोनों का ग्रहण कराने में समर्थ है।[97] प्रतिपादक वक्ता जिस शब्द का सक्रमावस्था में उच्चारण करता है, उसके मूल में क्रमरहित विमर्शात्मिका प्रतीति है। यह प्रतिपाद्यरूप श्रोता में संक्रमित होती हुई उसकी क्रमशून्यविमर्शात्मा प्रतीति में पर्यवसित होती है।[98] वक्ता व श्रोता के भेद से इस विमर्शात्मा प्रतीति में कोई अन्तर नहीं आता क्योंकि देहादिभेद तो औपचारिक है। नित्य संवित् तो देशकालशून्य है, अत: वहाँ स्थित विमर्श में ही सारे जागतिक विमर्श पर्यवसित होते हैं। फलत: अभेद ही सारे वाच्य व वाचकों का मौलिक तत्त्व सिद्ध होता है। मैं शब्द को जानता हूँ व करता हूँ—यह कथन श्रवण व उच्चारण की सामर्थ्य को बतलाता है। ये दोनों 'अहंविमर्श' की ही शक्तियाँ हैं और विमर्श परतत्त्व की शक्ति है।[99] आगमों में भी प्रकाशात्मा ईश्वर का शरीर विमर्शात्मा शब्दन माना गया है, अत: ये मायीय वर्ण परतत्त्व का शरीर हैं। ये समस्त जागतिक प्रमातृ-प्रमेय वर्ग के अवभासक हैं।

अब वाक् के उस स्फुटतम स्वरूप का विवेचन शेष रह जाता है जो जनसामान्य के भाव-संप्रेषण का माध्यम है। स्थूल विकल्प-जगत् वैखरी वाणी का कार्यक्षेत्र है जहाँ परतत्त्व की विमर्श शक्ति ही नामरूप से व्याकृत होकर इस भेदन की संघटक होती है। यहाँ वाचक व वाच्य पूर्णतया भिन्न सत्ता को प्राप्त कर प्रमाता से भिन्नतया भासित होते हैं।[100]

शब्द व अर्थ के परस्पर व्यवहार के लिए तीन चीजों की अपेक्षा होती है—शब्द, अर्थ तथा ज्ञान। इसे पद, वाच्य तथा परामर्श की शब्दावली में भी क्रमश: व्यक्त कर सकते हैं। सामान्यत: ज्ञान ही शब्दों के प्रयोग का आधार है। शब्द अर्थ को उसी रूप में सूचित करते हैं जैसे वे हमारे ज्ञान में आते हैं। इससे यही निकलता है कि शब्द उसी अर्थ को अपना विषय बनाते हैं जिसकी मानसिक या बौद्धिक सत्ता है, बाह्यत: वह सत् है या नहीं इसका शब्द-व्यवहार में कोई उपयोग नहीं है। जब तक हमारी बुद्धि में कुछ प्रतिभासित नहीं होता तब तक हम उसके लिये शब्द का उपयोग नहीं करते। जो वस्तु हमारे नेत्रों के सामने है वह भी तब तक शब्द-प्रयोग का विषय नहीं बनती जब तक कि बुद्धि द्वारा उसके स्वरूप का निर्धारण न हो जाये। यह निर्धारण ही 'परामर्शन' है।[101] श्रोता तथा वक्ता अपनी बुद्धि में प्रतिभासित आकार/बिम्ब को ही शब्दों के द्वारा बाहर प्रकट करते हैं। परामर्श के माध्यम से उस अर्थ पर आरोपित होकर शब्द वाचक बनता है।[102] वाचक शब्द का वाच्य रूप अर्थ पर अध्यास किया जाता है जिसके फलस्वरूप वाच्य-वाचकभाव सम्बन्ध की सिद्धि होती है।[103]

आचार्य अभिनवगुप्त के अनुसार वाचक शब्द का अर्थ वे ध्वनियाँ नहीं हैं जो श्रोत्रग्राह्य स्वलक्षणरूप हैं और उच्चारण-अवयवों के द्वारा उच्चरित हैं वरन् भर्तृहरि की ही भाँति वे इन ध्वनियों के माध्यम से बुद्धि द्वारा गृहीत स्फोट की ही वाचकता बतलाते हैं।[104] यह स्फोट वक्ता

व श्रोता की बुद्धि में ही रहता है। इसी प्रकार वाच्य भी प्रत्यक्षग्राह्य स्वलक्षण से भिन्न बुद्धिग्राह्य स्फोट रूप ही है।[105] यह भी सामान्य रूप ही है। जब इन दोनों की एक ही परामर्श में विश्रान्ति होती है तभी उनका वाचकवाच्यभाव सम्बन्ध सिद्ध होता है। इस प्रकार वाचक व वाच्य की न तो ज्ञेयवत् विषयरूपता है और न इन्द्रियगोचरता वरन् इनका मुख्य स्वरूपलक्षण है परामृश्यता।[106] परामर्श ही अन्तिम विश्रान्ति स्थान है, अत: इनकी परामृश्यता ही सिद्ध है। परामर्शन प्रमाता के स्वातन्त्र्य से घटित कर्तृत्व है। वह प्रमाता शब्दनस्वभाव वाला ही है तथा प्रयोक्ता-प्रतिपत्ता रूप है।[107] यहाँ यह द्रष्टव्य है कि यद्यपि सीमित प्रमाता विविध वाचक-वाच्यों का इदन्तया ही ग्रहण व प्रयोग करता है पर इसका अध्यवसाय सदैव अहंविमर्शात्मक ही होता है। शब्द स्वयं अध्यवसाय नहीं है वरन् शब्द से जन्य परामर्श ही अध्यवसाय है। 'अध्यवसाय' का अर्थ है निश्चय। इस निश्चय का विषय है अध्यास जिसमें कि इदन्ता रूप से परामृश्य घटसंज्ञा तथा भिन्नतया स्थित घटरूप का परस्पर अध्यास किया जाता है। अध्यवसाय तो परमेश्वर की एक शक्ति है जो कि नाम रूप के अतिरेक से व्यापार करती है अत: यह घटरूप व घटनाम दोनों को अपने व्यापार का विषय बनाती है।[108] कोई भी शब्द प्राय: तीन चीजों को प्रस्तुत करता है—

(क) श्रोत्रग्राह्य व उच्चार्यमाण ध्वनियाँ

(ख) वाचक शब्द

(ग) वाच्य रूप अर्थ

यह अर्थ भी दो तथ्यों को प्रस्तुत करता है, घट रूप को तथा घट अर्थ को। जब वाचक शब्द का वाच्य रूप अर्थ पर अध्यास किया जाता है तभी वाच्य-वाचकभाव सम्बन्ध की सिद्धि होती है।[109] अत: यहाँ शब्द व अर्थ में विशेषणविशेष्यभाव न होकर अध्यासरूपता ही होती है।[110] वाचक स्वभावत: या संकेत काल से ही वाच्य पर अध्यस्त होकर भासित होता है। 'अध्यास' का अर्थ है आरोपण, इसके लिये आरोप्यमाण व आरोपस्थानी का सामानाधिकरण्य आवश्यक है। उनकी भिन्न परामर्शविषयता होने पर अध्यास नहीं होता। भेद होने पर भी अभेद की प्रतीति कराना ही इस अध्यास का वाच्य है। वाच्य-वाचक परामर्श के अवसर पर शब्द, शब्दनरूपता को प्राप्त अर्थ को बाह्यत: प्रकाशमान अर्थ रूप से एकीकृत करता है, अपने को उस बाह्य पदार्थ से तन्मय करता है तथा इस पदार्थ को स्वात्ममय अर्थात् शब्दमय करता है। फिर भी बाहर प्रकाश भूमि पर इन दोनों का भेद होने से उनमें अध्यास का व्यवहार होता हैं अन्यथा यदि आत्यन्तिक ऐक्य कहें तो यह व्यवहार संभव नहीं होगा।[111] शब्द व अर्थ एक ही शब्द से शब्दित होने से अध्यास के विषय हैं अन्यथा अध्यास संभव नहीं होगा। वस्तुत: वाचक स्वरूप का अध्यास ही वाच्यता है और वह अध्यास वाचक को उत्थापित करता है। व्यवहार्य वस्तु सदैव नामरूप लक्षण है। शब्द व अर्थ यहां सदैव अत्यन्त अवियोग से प्रतीतिपथ पर भासित होते हैं।[112] यदि वाचक का श्रवण होता है तो अध्यस्त अर्थ बोध का विषय बन जाता है और वाच्य रूप अर्थ का यदि दर्शन हो तो उस अध्यास के वाचक शब्द का ग्रहण हो जाता है। सारा लोक व्यवहार इसी अध्यास पर आश्रित है।

वैखरी अवस्था में ही नहीं वरन् मध्यमावस्था में भी वाचक-वाच्य के मध्य अध्यास सम्बन्ध विद्यमान है क्योंकि यहाँ अर्थ वेद्यतया पृथक् भासित हो रहा है तथा शब्द भी अहन्ता को चित्रित

करता हुआ स्थित है परन्तु दोनों में कोई भी प्रमाता से जरा भी भिन्नतया स्थित नहीं है।[113] फलतः वाचक-वाच्य रूप से शब्द व अर्थ का अध्यास भी वहाँ परामृष्ट होता है। इसी अध्यास के विद्यमान रहने से विविध वाचक शब्दों का शान्ति, अभिचारादि कर्मों में प्रयोग करने पर अर्थ का भी तथाभाव होता है अन्यथा शब्द अर्थ को प्रभावित करने में समर्थ नहीं होंगे।[114] पश्यन्ती भूमि में किसी अध्यास की स्थिति नहीं है क्योंकि वहाँ भिन्नतया अवभासन नहीं है जबकि अध्यास के लिये भिन्नतया अवभासन आवश्यक है।

इस अध्यास के परिणामस्वरूप ही वाच्य अर्थ का जो इदन्ताभासन है वह वाचक शब्द पर भी आरोपित हो जाता है जिससे उसका भी इदन्तया ग्रहण होता है, अन्यथा तो वाचक शब्द का भासन अहम् रूप में ही होगा। पर यह बात व्यवहार की साधक नहीं होगी। शब्द तो बुद्धि का व्यापार है अतः उसकी सत्ता बौद्धिक ही रहती है। उसका बाह्यतः कोई अस्तित्व नहीं है इसी कारण उसकी अहंरूपता ही प्रामाणिक है पर वाच्य अर्थ की इदन्ता उस पर आरोपित होकर उसकी इदंग्राह्यता की साधक बनती है। यहाँ यह द्रष्टव्य है कि रूप का तो बाह्यतया इदन्तारूप में भासन होता है पर नाम (शब्द) का नहीं। नाम तो मात्र प्रमाता के परामर्शरूप से ही स्थित है। वाच्य अर्थ का जो इदन्तारूप परामर्श है वही वाचक शब्द पर आरोपित हो जाता है। अनेक शब्दों के प्राप्त होने पर जिस अर्थाभास का जिस प्रत्यवमृश्यमान वाचक शब्द के साथ समानाधिकरण्य होता है वही उसका वाचक बन जाता है और उस अर्थाभास की तरह इदन्तया भासित प्रतीत होता है। इस वाचक-वाच्य सम्बन्ध की निष्पत्ति बोध के स्तर पर होती है।[115]

इस शब्दन-क्रिया की कर्तृता उस प्रमाता के स्वातन्त्र्य में ही अन्तर्निहित है जो अहंरूप से ही प्रकाशित है। वस्तुतः वह प्रमातृतत्त्व ही वेद्योपरक्त संविद् के माध्यम से ज्ञान व प्रमाण रूपता को प्राप्त करता है तथा वाच्योपरक्त विमर्शन के माध्यम से अभिलाप या शब्दन का हेतु बनता है। विमर्शनमात्र इस अभिलपन क्रिया का सामान्य रूप है तथा शब्दनात्मक विकल्पन इसका विशिष्ट रूप है।

इस प्रकार वाचक शब्द परामर्श-सार है। शब्दन का अभिप्राय वागिन्द्रियजन्यता नहीं है वरन् मात्र वचनरूपता है। वह केवल श्रवण का विषय रूप नहीं है।[116] वस्तुतः शब्दनसामर्थ्य तो प्रत्येक प्राणी में स्वाभाविक रूप से अन्तःस्थ है और जगत् के सभी विकल्पात्मक व्यापार इसी पर आधारित हैं। इसी दृष्टि से शब्द को प्रत्यवमर्श रूप कहा गया है। यह प्रत्यवमर्शरूपता इसे श्रवण व उच्चारण के विषय रूप शब्द का मूल सिद्ध करती है। अतः प्रत्यवमर्श सूक्ष्मशब्दन की अवस्था है। यह प्रत्यवमर्श ही पर भूमि में आत्मरूप शब्द है, प्रमाता की सूक्ष्मावस्था में वागीन्द्रिय रूप करण है तथा स्थूलावस्था में प्रमेय रूप शब्द के रूप में भासित होता है।

शब्द के उच्चारण में प्राण-व्यापार का विशेष योगदान है। 'प्राण' ही सारी इन्द्रियों का अधिष्ठान है। यह सभी ज्ञानात्मक व क्रियात्मक व्यापारों में आन्तरिक रूप से वर्तमान रहता है अतः यही प्रमाता की जीवनी शक्ति का उपलक्षक माना गया है। यही संकल्पन, अभिमनन व निश्चयन वृत्तिमय अन्तःकरण का सारतत्त्व है। यही सीमित प्रमाता की चिद्रूपता का उपलक्षक तथा स्वातन्त्र्यांश का अभिद्योतक है।[117] जब प्राणवायु उच्चारण अवयवों से टकराती है तो उन अवयवों की क्रिया-विशेष से विशिष्ट ध्वनियों की अभिव्यक्ति होती है। वर्णों के उच्चारण स्थान

यहाँ वैयाकरणों की ही भाँति स्वीकृत हैं। उन्हीं के सम्मिलित व्यापार से विविध वर्णों का उच्चारण होता है।

शब्द का उच्चारण दो प्रकार से हो सकता है—सघोष तथा अघोष। सघोष उच्चारण में स्वयं व दूसरों के द्वारा श्रूयमाणता विद्यमान रहती है। अघोष उच्चारण स्वयं अपने द्वारा ही सुना जा सकता है। इसे उपाँशु भी कहा जाता है।[118] वस्तुत: इस प्रकार के सघोष-अघोष उच्चारण, जिसे स्फुट-अस्फुट उच्चारण भी कह सकते हैं, का कर्तृत्व मात्र श्रवणेन्द्रिय की क्रिया में ही विद्यमान न रह कर अन्य कर्मेन्द्रियों व ज्ञानेन्द्रियों के व्यापार में भी विद्यमान रहता है क्योंकि किसी भी क्रिया के मूल में विमर्शन ही रहता है।[119] विमर्शन का स्फुट विकास उस क्रिया के माध्यम से ही घटित होता है। अत: शब्द यहाँ मात्र उच्चारण व श्रवण के विषय में न होकर उससे भी व्यापक परिधि को रखता हुआ इस मूल क्रियात्मकता के स्रोत रूप में स्वीकृत है[120] जिससे कि शब्द की सर्जनात्मकता तथा वाक् की पारतात्त्विक कल्पना को ही बल मिलता है।

वैसे स्थूल रूप में किसी शब्द को ग्रहण करने के लिये वर्ण व पद का श्रवण आवश्यक है परन्तु इससे अर्थबोध संभव नहीं होता। आचार्य भर्तृहरि की तरह ही अभिनवगुप्त भी मानते हैं कि वाक्य को श्रवण-गृहीत नहीं माना जा सकता। वाक्य तो संकलना, स्मरण, अनुव्यवसाय आदि रूप बुद्धि से गृहीत है।[121] कोई भी शब्द जो उच्चारण व श्रवण का विषय है वह वक्ता व श्रोता दोनों में एक ही भासित होता है।[122] इसी कारण वक्ता व श्रोता के विमर्श की एकरूपता रहती है।

आचार्य अभिनव शब्द व शब्दन में भेद करते हैं। 'शब्द' प्रमेय है जबकि 'शब्दन' उसका व्यापार है जो कि विमर्शनात्मक है।[123] इसका लक्ष्य है उस अर्थ की प्राप्ति कराना। इसी दृष्टि से शब्दार्थ 'शब्द-क्रिया' कहे जाते हैं।[124] शब्द प्रमातृभूमि को प्राप्त कर प्रमाता के विमर्श में लोलीभूत हो जाते हैं और पूर्वापरीभूत विमर्श के द्वारा उपबृंहित होते हुए क्रियारूपता के भागी होते हैं।[125] यह क्रिया ही शब्दन है। आचार्य अभिनव की दृष्टि में यह शब्द-प्रक्रिया अपोहन व्यापार को लेकर ही प्रवृत्त होती है[126] अर्थात् तद्-अतद् के व्यवधान से रहित नियत अर्थ का ग्रहण ही इसका प्रयोजन है। यह स्थिति बौद्ध मत के अपोहात्मक अर्थ की धारणा से पर्याप्त साम्य रखती है। प्रमाता की चेतना, जिसे पारिभाषिक शब्दावली में प्रत्यवमर्श कहा जाता है, ही वस्तु (अर्थ) और शब्द को तद्भिन्न जातियों से अलग करती हुई एक नियत शब्द से नियत अर्थ का ग्रहण कराती है।[127] एक ही शब्द विविध वक्ताओं के भेद से नाना प्रकार का हो सकता है पर इन सबमें जो एक समान आकार की प्रतीति होती है उसी सामान्य रूप की ही वाचकता है।

'अर्थ' भी यहाँ विशिष्ट सन्दर्भों में प्रयुक्त है। आचार्य अभिनव कहते हैं कि जो अभिलाप का विषय है वह अर्थ है[128] अथवा यह भी कह सकते हैं कि जो अभिलाप-संवलित है वही अर्थ है।[129] यह अर्थ भगवान् द्वारा ही निर्मित है अर्थात् उसी परमसत् की स्वात्मप्रच्छादन की इच्छा का परिणाम है।[130] वह यह भी लिखते हैं कि अर्थ एक ही अभिलाप का विषय है तथा अपने सामान्य रूप में ही शब्द द्वारा वाच्य होता है।[131] इसका अभिप्राय यही है कि शब्द से सामान्य का ही बोध होता है, व्यक्ति का नहीं।[132] जो भी वस्तु है उसके दो सामान्य वैशिष्ट्य हैं कि वह ज्ञान का विषय है तथा वाणी का विषय है। इसी दृष्टि से सर्जनात्मक माध्यम के रूप में 'बुद्धि' व 'पश्यन्ती' की कल्पना की जाती है। जहाँ बुद्धि तत्त्व इसकी प्रमेयता के लिये उत्तरदायी है वहीं पश्यन्ती तत्त्व उसकी वाच्यता के लिये।[133]

इस प्रकार यहाँ 'अर्थ' दो अभिप्रायों को व्यक्त करता है—

(क) अर्थ्यते इति अर्थ : जो कि वस्तु जगत् का प्रतिनिधि है।[134]

(ख) शब्द का वाच्य अर्थ : यह मानसिक सत्ता का ही प्रस्तोता है यद्यपि इसका अध्यास बाह्य वस्तु पर किया जा सकता है। भर्तृहरि भी वाच्य की मानसिक सत्ता ही मानते हैं और उसे 'उपचार सत्ता' नाम से अभिहित करते हैं। वस्तु की मुख्य सत्ता है, परंतु अर्थ या पदार्थ की उपचार सत्ता है अर्थात् वह उन अर्थों को सूचित करता है जो कि बुद्धि में प्रतिभासित रूप में ही सत् हैं, बाह्यतया सत् हों या न हों।

अर्थ के अस्तित्व का प्रमाण है उसकी 'प्रकाशमानता'।[135] यही है सत्ता जिसे अभिनव 'भवत्ता' व 'भवनक्रियाकर्तृता' रूप में व्याख्यात करते हैं।[136] यद्यपि अर्थ प्रकाशरूप है पर जब वह प्रमाता से अभिमुखीरूपता को प्राप्त करता है तभी उसकी प्रकाशरूपता प्रमाणित होती है। प्रमाता का अध्यवसायपर्यन्त संवेदन ही उस अर्थ की सत्ता को सिद्ध करता है[137] अत: प्रमाता का मनस्कार ही नियत शब्द से नियत अर्थ का संयोजन कर उसे व्यवहार योग्य बनाता है। वाच्य अर्थ सदैव अपने विशिष्ट स्वरूप के निर्धारण के लिये उस वस्तुरूप स्वलक्षण का ही ऋणी है जिसका वह प्रतिबिम्ब है, पर कहीं यह साक्षात् होता है व कहीं कल्पना से।

इस वाच्य-वाचक भाव सम्बन्ध के लिये प्राय: संकेत-नियम की नियामकता को स्वीकारा जाता है। यद्यपि एक नवजात शिशु के सन्दर्भ में यह स्थिति सम्भव नहीं होगी परन्तु अभिनवगुप्त वहाँ भी उसमें होने वाले प्रथम परामर्श को चैतन्य रूप कह कर उसे 'सहज' परामर्श कहते हैं[138] जिसकी पृष्ठभूमि पर सारे उत्तरकालिक संयोजनात्मक-वियोजनात्मक व्यापार घटित होते हैं।[139] यह चैतन्य सभी संभावनाओं की सामर्थ्य से युक्त है, अत: उस शिशु में भी परामर्श की स्थिति संभव है यद्यपि स्थूल अभिलाप वहाँ नहीं रहता। यह संकेतनिरपेक्ष संवेदन से प्राप्त शब्दन तो सारी उत्तरवर्ती सांकेतिक शब्दयोजना का आधार है।[140] यह संकेतनिरपेक्ष सूक्ष्म शब्दन ही निर्विकल्पक ज्ञान में भी स्थित है तभी आचार्य अभिनव, उत्पल की इस मान्यता को बार-बार पुष्ट करते हैं कि ज्ञान की सभी अवस्थाएं विमर्शमय हैं। यही त्वरितता से की जाने वाली क्रियाओं का सार है।[141] स्तिमिति या जडता की अवस्था भी सूक्ष्मप्रत्यवमर्शमय है। इस सूक्ष्मता का अभिप्राय है जिसकी 'शब्द-भावना' संवर्तित या लिपटी हुई है। यही सूक्ष्म प्रत्यवमर्श नवजात शिशु में रहता है और उसके समस्त आलोचन को परामर्शमय बनाता है। इसी संवर्तित शब्द-भावना का विवर्तन अर्थात् प्रसार होने पर स्फुट विकल्प-परम्परा को स्थान मिलता है।[142] अत: यही निष्कर्ष निकलता है कि सभी ज्ञानात्मक व क्रियात्मक अवस्थाओं में अन्त:परामर्श अनिवार्यतया रहता है।

इस प्रकार भर्तृहरि[143] की भाँति यहाँ भी सब कुछ शब्दमय ही सिद्ध किया गया है। वाक् तत्त्व यहाँ सबका अनुप्राणक व सब में समाहित है, पर यह परमसत् की सामर्थ्य ही है स्वयं परमसत् नहीं। परमसत् तो परम अर्थ रूप है जिसके विवर्तन की सामर्थ्य इस वाक् के माध्यम से घटित होती है। फलत: इसी के माध्यम से वह पंचकृत्यों का सम्पादन कर आरोहण अवरोहण की क्रीड़ा करता है। वस्तुत: इस अर्थ का पारम्य शब्द और अर्थ के सामरस्य में ही परिघटित होता है। यह शब्दार्थमयता ही परमार्थता है, महार्थता है, प्रकाशविमर्शमयता है।

पाद-टिप्पणी

1. चितिः प्रत्यवमर्शात्मा परावाक् स्वरसोदिता ।
स्वातन्त्र्यमेतन्मुख्यं तदैश्वर्यं परमात्मनः ।। —*ई०प्र०का०* 1/5/13
2. विमर्शस्य च संवेदनावलम्बित्वात् शब्दनरूपतास्वीकारेण विमर्शरूपताभिधानाय वाक्पदमुपात्तम् । —*ई०प्र०वि०वि०*, भा० 1, पृ० 15
3. परमेश्वरस्वरूपप्रकाशप्रत्यवमर्शमात्ररूपा परैव शक्तिः वाग्रूपतया प्रसृता । —*स्प०का०वि०*, पृ० 148
4. विशिष्टं खमाकाशं मुखरूपं राति गृह्णाति इति विखरः प्राणवायुसंचारविशिष्टो वर्णोच्चारस्तेनाभिव्यक्ता वैखरीति । —*अलङ्कारसर्वस्व*, *सञ्जीवनी* टीका, पृ० 2
5. एवं शब्दनशरीरो मन्त्रात्मा हृदयाकाशे विमर्शरूपतया विपरिवर्तमानः, अत एव अनाहतशब्दवाच्यो नित्योदितो मन्त्रः । —*ई०प्र०वि०वि०*, भा० 3, पृ० 283
6. इह तावत्परमेश्वरः शब्दराशिः । शक्तिरस्य भिन्नाभिन्नरूपा विचित्रा । मातृकादेवीवर्गाष्टकं पञ्चाशद्वर्णाः पञ्चाशद्रुद्रशक्तयः ।
"पंचमन्त्रमहामूर्तिर्भगवान् ।" इत्यादि वदता भगवता तावदागमेषु शब्दनैकशरीरत्वं विमर्शनात्मतया भगवतः प्रकाशवपुषोऽङ्गीकृतम् । —उपरिवत्, भा० 2, पृ० 195-96
7. अन्तर्विभाति सकलं जगदात्मनीह
यद्वद्विचित्ररचना मकुरान्तराले ।
बोधः परं निजविमर्शनसारयुक्त्या
विश्वं परामृशति नो मकुरस्तथा तु ।। *तंत्रसार* (3 आ०) —उपरिवत्, भा० 2, पृ० 223 पर उद्धृत
8. न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यः शब्दानुगमादृते ।
अनुविद्धमिव ज्ञानं सर्वं शब्देन गम्यते ।।
वाग्रूपता चेदुत्क्रामेदवबोधस्य शाश्वती ।
न प्रकाशः प्रकाशेत सा हि प्रत्यवमर्शिनी ।। —*वा०प०* 1/115-16
9. *ई०प्र०वि०वि०*, भा० 2, पृ० 15; वक्ति विश्वम् अभिलपति प्रत्यवमर्शेन इति च वाक् *ई०प्र०वि०* (भा०), भा० 1, पृ० 253
10. परामर्शमयी विमर्शनलक्षणैव या कर्तृता सैव मन्त्राणामुत्पत्तिस्थितिलयस्थानत्वेन समाप्यायनोपबृंहणादिकारित्वेन च मान्त्री महामन्त्रतनोश्च भगवतः सम्बन्धिनी शब्दनरूपा, न तु पाशवर्गमध्यपतिता कर्मेन्द्रियविशेषरूपा तत्कार्यशब्दरूपा वा वाक् । —*ई०प्र०वि०वि०*, भा० 2, पृ० 187
11. तदयं तिङन्तार्थ एव स्वातन्त्र्यात्मा विमर्शः प्रकाशस्य अहेयं वपुर्बोधस्य या वाग्रूपता शब्दनशब्दयितृरूपता शाश्वती संकेतादिवत् । —उपरिवत्, पृ० 183
विमर्शेनैव हि प्रकाशस्य भावानां च स्वरूपव्यवस्था भवति, तत्र प्रतिष्ठितस्पन्दरूपया प्रकाशव्यवस्था 'स्वभावमवभासस्य' इति न्यायेन विशेषस्पन्दरूपया भावव्यवस्थेति विभागः । —*भा०*, भा० 1, पृ० 263
12. स्वरूपावरणे चास्य शक्तयः सततोत्थिताः ।
यतः शब्दानुवेधेन न विना प्रत्ययोद्भवः ।।
सेयं क्रियात्मिका शक्तिः शिवस्य पशुवर्तिनी ।
बन्धयित्री स्वमार्गस्था ज्ञाता सिद्ध्युपपादिका ।। —*स्प०का०* 47-48

13. विमर्शश्च शब्दं देशकालविशेषाभासानालिङ्गितसामान्यरूपाभासविश्रान्तं जीवितत्वेन अपेक्षते। —*ई०प्र०वि०वि०*, भा० 3, पृ० 72

14. सा हि क्रिया मूलभूमौ संवेदनमेव अवलम्बते विमर्शरूपत्वात् । विमर्शस्य च संवेदनावलम्बित्वात् शब्दनरूपतास्वीकारेण विमर्शरूपताभिधानाय वाक् पदमुपात्तम् । —उपरिवत्, भा० 1, पृ० 105

15. एतदेव हि परमेश्वरस्य तत् पारमैश्वर्यम्, यदन्तर्बहिश्च ज्ञानक्रियाप्रतिबिम्बनानुप्राणिताशेषविश्वविलासत्वम्। तच्च स्वातन्त्र्यस्पन्दस्फुरत्तोदयमादिशब्दैरागमेषूद्घोष्यते । नित्यशुद्धया च तयोर्वक्ष्यमाणविमर्शानुप्राणितत्वं प्रत्याय्यते । —*म०मं०*, पृ० 5

16. ... स्फुरन्निवृतचित् ... । (*शि०दृ०* 1/2) इति स्फुरत्ताशब्देन सा विमर्शशक्तिरुक्ता । ... स्फुरणस्पन्दनादिकं हि किंचिच्चलनं प्रसिद्धम्, किंचित्त्वं च इदमेव यदचलेऽपि चलत्वावभासः । —*ई०प्र०वि०वि०*, भा० 2, पृ० 199

17. ... क्रियापि आन्तरी संवेदनादव्यतिरिक्ता विमर्शरूपा स्वप्रकाशा । ... वाग्रूपा वृत्तिर्विमर्शक्रिया । ... तथैव परं प्रति जिज्ञापयिषुः। —उपरिवत्, भा० 1, पृ० 101

प्राणे स्फुटीभूता वैखरी शरीरे तु स्पन्दरूपा क्रिया । इयति च सर्वत्र विमर्शरूपता अनुगता । —उपरिवत्, पृ० 105

18. शब्दनरूपत्वं विमर्शनं यदान्तरं चित्स्वभावस्य अन्तरङ्गं रूपं प्रत्यक्षादेरपि जीवितकल्पं, तेन यत् विमृष्टं, तत् तथैव भवति

ततः स एव विमर्श आगम इति उच्यते मुख्यतया, तदुपयोगितया तु उपचारेण तज्जनकोऽपि शब्दराशिः । —उपरिवत्, भा० 3, पृ० 84

19. वक्ति स्वरूपं विमर्शतीति वाक् तस्यां च परिदृश्यमानवाङ्मयं प्रमितिलक्षणपरामर्शरूपसंवेदनानुविद्धतया शब्दनैकशरीरं विश्वं यथाक्रमेण विकसितं, पश्यन्त्यां विकासोन्मुखं, मध्यमायां विकसत्, वैखर्यां पृथक्तया परामृश्यमानत्वेन लब्धविकासम् । —उपरिवत्, भा० 1, पृ० 15

20. ... परमेश्वरस्वरूपप्रकाशप्रत्यवमर्शमात्ररूपा परैव शक्तिः वाग्रूपतया प्रसृता ... । —*स्प०का०वि०*, पृ० 148

21. नहि श्रोत्रगोचर एव शब्दः, अपितु प्रत्यवमर्शरूपः ... । —*ई०प्र०वि०वि०*, भा० 2, पृ० 258

22. ... प्रत्यवमर्शः स्वात्मचमत्कारलक्षण आत्मा स्वभावः । —*ई०प्र०वि०* (भा०), भा० 1, पृ० 250

23. सर्वशब्दवाच्यता हि सर्वस्य अर्थस्येति अन्ततो वर्णमात्रात्मनाऽपि हुंकारांशेन असामयिक एव परामर्शः, पुनर्व्यवहारनियमाय नियतः शब्दः संकेत्यते, तस्यापि प्रमातृसात्त्वे अन्य इति हि संकेतपरमार्थः । —*ई०प्र०वि०वि०*, भा० 2, पृ० 228

24. प्रत्यवमर्शश्च आन्तराभिलापात्मकशब्दनस्वभावः, तच्च शब्दनं सङ्केतरपेक्षमेव अविच्छिन्नचमत्कारात्मकम् अन्तर्मुखशिरोनिर्देशप्रख्यम् अकारादिमायीयसाङ्केतिकशब्दजीवितभूतनीलमिदंचैत्रोऽ हमित्यादि प्रत्यव मर्शान्तर भित्तिभूतत्वात्, पूर्णत्वात् परा वक्ति विश्वम् अभिलपति प्रत्यवमर्शेन इति च वाक्, अत एव सा स्वरसेन चिद्रूपतया स्वात्मविश्रान्तिवपुषा उदिता सदानस्तमिता नित्या अहमित्येव। —*ई०प्र०वि०* (भा०), भा० 2, पृ० 253-54

25. तत्संकेतानपेक्षसहजपरामर्शोचितं यदेतत् शब्दनं, तदेव संकेतकृतानां च शब्दान्तराणां च तदुपजीविनां च विकल्पान्तराणां तद्विकल्पविकल्पनीयतया सृष्टानां च आभासान्तराणां भित्तिकल्पत्वेन निर्भासमानं व्यवधायकमिति ... । —*ई०प्र०वि०वि०*, भा० 1, पृ० 56

26. तथाहि अव्यतिरिक्तप्रकाशस्य या स्वात्मनि विश्रान्तिरहमिति अनुल्लिखितप्रतियोगिकल्पनतदारोपण-

तदपसारणादिका, सा परा पूर्णा सर्वस्य स्वरूपपरमार्थरक्षणे पालनेन सर्वोत्कृष्टा च वाग्रूपा वृत्तिर्विमर्शक्रिया। —उपरिवत्, पृ० 105

27. प्रत्यवमर्श एव हि शब्दात्मा परभूमौ प्रमातुः सूक्ष्मभुवि वागिन्द्रियं करणं स्थूलदशायां प्रमेयरूपः शब्दः । —उपरिवत्, भा० 1, पृ० 275

28. ··· प्रकाशस्य जडवैलक्षण्यं संरम्भः कर्तृतारूपो यः, स एव आत्मविश्रान्तिलक्षणो निरपेक्षत्वेन विमर्शोऽहमिति कथ्यते । ··· तदयं तिङन्तार्थ एव स्वातन्त्र्यात्मा विमर्शः प्रकाशस्य अहेयं वपुर्बोधस्य या वाग्रूपता शब्दनशब्दयितृरूपता शाश्वती संकेतादिवत् ।—उपरिवत्, भा० 2, पृ० 182-83

29. तस्यासाधारणी सृष्टिरीशसृष्ट्युपजीविनी ।
सैषाप्यज्ञतया सत्येवेशशक्त्या तदात्मनः ।।
स्वविश्रान्त्युपरोधाय चलया प्राणरूपया ।
विकल्पक्रियया तत्तद्वर्णवैचित्र्यरूपया ।। —*ई०प्र०का०* 4/1/9-1

30. विमर्शश्च मायापदे विकल्पात्मा प्रत्याभासं विश्रान्तः शब्दैकशरीरत्वात् शब्दस्य प्रत्याभासं संकेतनात्। —*ई०प्र०वि०वि०*, भा० 2, पृ० 27

31. उपरिवत्, भा० 1, पृ० 15.

··· तथा परामर्शनमेव अजाड्यजीवितम् अन्तर्बहिष्करणस्वातन्त्र्यरूपं स्वाभाविकम् अवभासस्य स्वात्मविश्रान्तिलक्षणम् अनन्यमुखप्रेक्षित्वं नाम । —उपरिवत्, भा० 2, पृ० 242-43

32. एवमियम् एकैव अविभागा विमर्शभूमिः उन्मेषनिमेषमयी । —*स्प०सं०*, पृ० 9

33. ··· अहमित्यवभासनोचितं प्रमातृतत्त्वं ज्ञानमिति प्रमाणमिति च वेद्योपरक्तमिति कृत्वा करणतया व्यपदिश्यते संवेदनभागेन, तथा वाच्योपरक्तमिति कृत्वा विमर्शांशे अभिधानं शब्दनमिति करणतया व्यपदिश्यते, न तु कर्मतया पारतन्त्र्येण शुद्धेन । करणस्य हि कर्तृविश्रान्तितयैव स्वातन्त्र्यरूपपार्यन्तिकपरिस्पन्दास्पदत्वादेव अनन्यापेक्षया साधकतमत्वम् । —*ई०प्र०वि०वि०*, भा० 2, पृ० 252-53

34. येन परिस्पन्देन प्रमाता अभिलपिता सन्नभिलपति—इत्येवं व्यवस्थाप्यते सोऽभिलपनक्रियात्मा परिस्पन्दः करणतया उपदिश्यमानोऽभिलाप इति यावत् । अभिलपने प्रमातुः क्रियैव करणं प्रमातृकरणत्वात् प्रमाक्रियावदिति । —उपरिवत्, पृ० 276

35. प्रसृतरूपो यः क्रियाशक्तिलक्षणो विमर्शः, स एव वागादिकरणवर्गमाविशन् जडमपि स्वाभिषेकेण अजडमिव संपादयति येन स्वतन्त्रतयैव स्वकृत्ये स्थूले वा सूक्ष्मे वा झटित्येव प्रवर्तते यावत्कार्यनिर्वर्तनं च अवस्थाय निवर्तते, पुनः कार्यान्तरेऽपि एवमिति । —उपरिवत्, पृ० 187

36. जिह्वाव्यापारस्य हि तत्कार्यस्य शब्दः कार्यः । जिह्वाव्यापारोऽपि वस्तुतस्तथा विमर्शस्वभाव एव । विमर्शरूपानधिकस्वभावा हि समस्ता क्रियेति उक्तम् । —उपरिवत्, भा० 2, पृ० 187-88

37. सा स्फुरत्ता महासत्ता देशकालाविशेषिणी ।
सैषा सारतया प्रोक्ता हृदयं परमेष्ठिनः ।। —*ई०प्र०का०* 1/5/14

38. सा परा विमर्शशक्तिः परमेश्वरस्य 'प्रतिष्ठा' इत्यनेन शब्देन परमेश्वरस्य 'हृदयम्' इत्यनेन च शब्देन वाच्या । —*ई०प्र०वि०वि०*, भा० 2, पृ० 25

39. न तैर्विना भवेच्छब्दो नार्थो नापि चितेर्गतिः ।—*ई०प्र०वि०* (भा०), भा० 1, पृ० 264 पर उद्धृत

40. ··· तत्र एकत्र विश्रान्तः प्रमाता स्वयं स्वेनैव प्रमातृतामहिम्ना तत्कार्यतत्कारिराशिद्वितयसंस्कारवानतत्कारिवर्गात् हेयात् तत्कारिवर्गमुपादेयत्वेन विभजति तत एव प्रमातृव्यापाररूपेण उपादेयाभिमुखतया हातव्यमवाङ्कुर्वन्

विमर्श: प्रत्यवमर्श इति उच्यते । —*ई०प्र०वि०वि०*, भा० 2, पृ० 29

41. *वा०प०* 1/115-16.

42. *ई०प्र०का०* 1/5/13.

43. *ई०प्र०वि०वि०*, भा० 2, पृ० 192-93.

44. चिति: प्रत्यवमर्शात्मा परावाक् स्वरसोदिता ।
स्वातन्त्र्यमेतन्मुख्यं तदैश्वर्यं परमात्मन: ।। —*ई०प्र०का०* 1/5/13

45. तेन संवित्तिकात्मैव मातृमानप्रमेयता ।
गृह्णती स्वप्रकाशत्वं स्वभावादेव भासते ।।
सा चान्त:स्थितमन्त्रात्मशब्दनामर्शसुन्दरा ।
अनपेक्षान्यविरहात्प्रमाणं स्वत एव हि ।। —*मा०वि०वा०* 1/433-34

46. एकैव सा पारमेश्वरीप्रतिभा अस्मदुक्तिमाहात्म्यकल्पिता एवंविधा, अपरिच्छिन्नस्वभावापि सर्वात्मैव ।—*प०त्रि०वि०*, पृ० 169 (नीलकण्ठ गुरुटू)

47. अक्रमतां प्राप्तं यत् नि:शेषं समस्तर्माभिधानानां शब्दानामभिधेयं विमृश्यमानं रूपं ग्राह्यग्राहकात्मकमुभयं, तेन गर्भिणी तत्सर्वं क्रोडीकृत्य अवतिष्ठमाना, न तु शक्तिमद्रूपपरमशिवदशा इव अनुन्मिषितग्राह्यग्राहकादिवैचित्र्या, अत एव भगवत: स्वाभोगं प्रति य आस्वादश्चमत्कारो निजाभोगपरामर्शात्मा, तन्मयी । —*ई०प्र०वि०वि०*, भा० 2, पृ० 19

48. इति सततानस्तमितत्वेन अनाहतशब्दवाच्यो यो महान् विश्वव्यापी मननत्राणधर्मा गुप्तीकृत विश्व-शब्दनव्यापारस्तन्मयी । —उपरिवत्, पृ० 19

49. उपरिवत् ।

50. तदेवं भगवती पराभट्टारिका पदभेदशालिनी, मध्यमया मुख्यया वृत्तया, भगवन्मालिनीरूपैव अनन्ता । —*प०त्रिं०वि०*, पृ० 259-66 (नीलकण्ठ गुरुटू)

51. शब्दराशि: स एवोक्तो
मातृका सा च कीर्तिता ।
क्षोभ्यक्षोभकतावेशा-
न्मालिनीं तां प्रचक्षते ।। —*तं०आ०* 3/232

52. तस्य प्रत्यवमर्शो य:
परिपूर्णोऽहमात्मक: ।
स स्वात्मनि स्वतन्त्रत्वा-
द्विभागमवभासयेत् ।।
विभागाभासने चास्य
त्रिधा वपुरुदाहृतम् ।
पश्यन्ती मध्यमा स्थूला
वैखरीत्यभिशब्दितम् ।। —उपरिवत् 3/235-36

53. 'एका' इति पश्यन्त्यादिकं त्रयमपि प्रतिवाच्यं भिद्यते, न तु तथा इयमित्यर्थ: । —*ई०प्र०वि०वि०*, भा० 2, पृ० 189-99

54. यथा परवाक्तत्त्वे विभागहान्या विश्वं स्थितं, पश्यन्त्यामासूत्रितभेदं, मध्यमायामुन्मीलितभेदं, वैखर्यां भिन्नपरामृश्यमानरूपतया स्फुटीभूतभेदावभासं ··· । —उपरिवत्, भा० 1, पृ० 16

55. यथाह तत्रभवान्

''प्रतिसंहतक्रमा तु सत्यपि भेदे समाविष्टक्रमशक्तिः पश्यन्ती''। —उपरिवत्, भा० 2, पृ० 189

56. तत्र या स्वरसन्दर्भ-

सुभगा नादरूपिणी ।

सा स्थूला खलु पश्यन्ती

वर्णाद्यप्रविभागतः ।। —*तं०आ०* 3/237-38

57. 'पश्यन्ती' इति अविरतदर्शनस्वभावत्वेन अप्रतिहतप्रकाशरूपत्वमिच्छाशक्तेः प्रकाशप्रसररूपत्वाभिधानाय उक्तम् । —*ई०प्र०वि०वि०*, भा० 2, पृ० 189

58. 'स्वरूपात्' इति पश्यन्तीलक्षणात् वाचकात् सूक्ष्मसंजल्पस्वभावात् । —उपरिवत्, भा० 2, पृ० 19

··· स पदवाक्यात्मा अभिजल्पः सूत्रस्थानीयेन वपुषा सूक्ष्म इति यावत् । —उपरिवत्, पृ० 189

59. ··· मध्यमाभूमिर्विद्यामायोभयस्पर्शिनी । —उपरिवत्, पृ० 258

60. प्रथमः पश्यन्तीशब्दवाच्यः इच्छालक्षणः ··· । —उपरिवत्, पृ० 169

61. ··· यतस्ततश्चिन्तनशब्दवाच्या मध्यभवत्वात् मध्यमा ज्ञानशक्तिरूपा । —उपरिवत्, पृ० 188

62. ··· पश्यन्तीशब्देन श्रीसदाशिवभूमिर्ज्ञानशक्तिस्वभावा उक्ता । —उपरिवत्, पृ० 197

63. योऽसौ चिन्त्यमानो मध्यमायां स्फुटचिन्ताविषयतामेष्यतीत्यर्थः । —उपरिवत्, पृ० 191

तत् शब्दनरूपतया यत् शब्दरूपत्वं क्रमिकं, तत मध्यमावस्थायामेव स्फुटत्वेन विश्रान्तम् । —उपरिवत्, पृ० 192

64. ··· वाचकेन शब्देन मायाप्रमातृभूमिर्न त्यज्यते मध्यमादशायाम् ।

वेद्यत्वेन हि तदानीमर्थ एव पृथगवभासते, शब्दस्तु अहंभावमेव शवलयति परं, न तु ततः पृथक् भवति मनागपि ईदृशः संकल्पयिता । अहमिति हि तदानीं मायाप्रमातुरवभासः । ··· अहन्ताशवलीकारणभूतो हि असौ वाचकः परामृश्यमान एव अर्थस्य परामर्शकः । —उपरिवत्, पृ० 260

65. स्थानकरणाभिहरणात्मकं यत् प्रमातुर्व्यापारान्तरं, तद्रूपतां प्राप्य तद्व्यापारसंपादितशब्दरूपतां प्रतिपद्य, श्रोत्रेन्द्रियग्राह्येन भिन्नेन रूपेण निर्भासमाना, भिन्ने च वेद्ये स्वभावाध्यासनतद्वेद्यरूपतां स्पृशन्ती सुपरिस्फुटाकारा भवति । वैखरी हि व्यापाररूपा च कार्यरूपा च । —उपरिवत्, पृ० 260-61

66. ··· वैखरीति प्रसिद्धा वाक् ताल्वादिकरणव्यापारोपारूढस्फुरणतया क्रियाशक्तिरित्यध्यवसीयते । —*म०मं०प०*, पृ० 124 (व्रजवल्लभ द्विवेदी)

67. स्थानं मूर्धताल्वादि, करणं जिह्वाग्रादि, तयोः । परस्परं स्पर्शे सति वर्णनिष्पत्तिर्यतः स्पष्टताद्युदयः । —*ई०प्र०वि०वि०*, भा० 2, पृ० 233

68. विखरः शरीरं, तत्र भवा तत्पर्यन्तचेष्टासंपादिकेत्यर्थः । —उपरिवत्, पृ० 187

69. वक्ति स्वरूपं विमृशतीति वाक्, तस्यां च एतत् इति परिदृश्यमानं वाङ्मयं प्रमिति लक्षणपरामर्श-रूपसंवेदनानुविद्धतया शब्दैकशरीरं विश्वं यथाक्रमेण विकसितं, पश्यन्त्यां विकासोन्मुखं, मध्यमायां विकसत्, वैखर्यां पृथक्तया परामृश्यमानत्वेन लब्धविकासम् । —उपरिवत्, भा० 2, पृ० 15

70. उपरिवत्, भा० 2, पृ० 192-93.

71. एकैकतारूपव्यवच्छेदेन साकल्यं, घटादिशब्दव्यवच्छिदा च विश्वशब्दमभिसंदधाना, सापि संकुचितैवेति यावत् । —उपरिवत्, पृ० 194

72. एवं ग्रामं गच्छामीति महापश्यन्ती, गृहात् निःसरामीति पश्यन्तीमपेक्ष्य तावद्यावत् सदाशिवेश्वरदशा महापश्यन्ती मायाप्रमातृवर्त्यशेषपश्यन्त्यपेक्षयेति मन्तव्यम् । —उपरिवत्, पृ० 195

73. याऽसौ महापश्यन्तीनां प्रत्यगात्मरूपानामविभागात्मिका परममहापश्यन्ती तथा च योऽसावानन्दमहिमा परस्वातन्त्र्यात्मा उल्लासनीयः, सा भगवतः परावागिति दर्शितम् । —उपरिवत्, पृ० 197

74. ... तावत्परमेश्वरः शब्दराशिः। शक्तिरस्य भिन्नाभिन्नारूपा विचित्रा। मातृकादेवीवर्गाष्टकं रुद्रशक्त्यष्टकं पञ्चाशद्वर्णाः पञ्चाशद्रुद्रशक्तयः। ये पुनरमी मायीया वर्णाः शब्दात्मानस्ते घटादिस्थानीयाः। —उपरिवत्, पृ० 196

एवं पञ्चाशदामर्शपूर्णशक्तिर्महेश्वरः ।

विमर्शात्मैक एवान्याः शक्तयोऽत्रैव निष्ठिताः ।। —*तं०आ०* 3/196-97

75. बीजात्मनां स्वराणां वाचकत्वं योनिरूपाणां च व्यञ्जनानां वाच्यत्वं क्रमेण शिवशक्त्यात्मकत्वात्— बीजमत्र शिवः शक्तिर्योनिरित्यभिधीयते । —*प०त्रि०वि०*, पृ० 238-39

76. अमूला तत्क्रमाज्ज्ञेया क्षान्ता सृष्टिरुदाहृता ।

सर्वेषामेव मन्त्राणां विद्यानाञ्च यशस्विनि ।।

इयं योनिः समाख्याता सर्वतन्त्रेषु सर्वदा । —*प०त्रि०* 8-8 1/2

77. विसर्गता च सैवास्या यदानन्दोदयक्रमात् ।

स्पष्टीभूतक्रियाशक्तिपर्यन्ता प्रोच्छलत्स्थितिः ।। —*तं०आ०* 3/144

78. अकारादिविसर्गान्तं शिवतत्त्वम्, कादिङान्तं धरादिनभोऽन्तं भूतपञ्चकम्, चादिञान्तं गन्धादिशब्दान्तं तन्मात्रपञ्चकम्, टादिणान्तं पादादिवागन्तं कर्माक्षपञ्चकम्, तादिनान्तं घ्राणादिश्रोत्रान्तं बुद्धिकरणपञ्चकम्, पादिमान्तं मनोऽहंकारबुद्धिप्रकृतिपुरुषाख्यं पञ्चकम्, वायवादिशब्दवाच्या यादयो वकारान्ता रागविद्याकलामायाख्यानि तत्त्वानि । —*प०त्रिं०वि०*, पृ० 175 (नीलकण्ठ गुरुटू)

79. कादिहान्तं वर्णजातं स्वरानुप्राणितमेव ... । —*तं०आ०वि०*, भा० 2, पृ० 531

... अभिव्यक्तमेव एतदवर्णजातं स्वरानुप्राणितमेव भवत् । अन्यथा हि अनच्कतया अस्य उच्चार एव न भवेत् । —उपरिवत्, पृ० 532

80. क्रियाशक्त्यात्मकं विश्वमयं तस्मात्स्फुरेद्यतः । —*तं०आ०* 3/172

81. पदवाक्याद्यात्मना विभक्तानां स्थूलानां शब्दानामविभागस्वभावः कारणात्मा राशिः मातृकेति पशुभिः ..., स्वेन रूपेण अज्ञाता माता इत्यर्थः । तदेवं स्वात्ममात्रावस्थानादक्षुब्धाया विसर्गशक्तेरागमिको द्विधा व्यपदेशो दर्शितः ... । क्षोभ्या योनयः, क्षोभकाणि बीजानि तेषां भावः क्षुभिक्रियायां कर्तृकर्मरूपः सम्बन्धस्तत्र य आवेशः परस्परसंघट्टात्मा लोलीभावः, ततो भिन्ना बीजैर्भेदिता, योनयो व्यञ्जनानि यस्याः सा तथाविधा सती, मालिनी-मलते विश्वं स्वरूपं धत्ते इति विश्वस्वरूपिणी इत्यर्थः। —*तं०आ०वि०*, भा० 2, पृ० 574

82. *मा०वि०तं०* 19/2-3.

83. शब्दनरूपत्वं विमर्शनं यदान्तरं चित्स्वभावस्य अन्तरङ्गं रूपं प्रत्यक्षादेरपि जीवितकल्पं ... अतः स एव विमर्श आगम इति उच्यते मुख्यतया तदुपयोगितया तु उपचारेण तज्जनकोऽपि शब्दराशिः। —*ई०प्र०वि०वि०*, भा० 3, पृ० 84

84. अविगीता च प्रसिद्धिरागम एवेति उक्तम् । —उपरिवत्, पृ० 217

85. प्रतिभानलक्षणा इयं शब्दभावनाख्य आगम एवेति यावत् ।—उपरिवत्, पृ० 93

86. तथाहि दृढविमर्शरूपं शब्दनमागमः ... ।—उपरिवत्, पृ० 85

87. तथाहि दृढविमर्शरूपं शब्दनमागमः आसमन्तादर्थं गमयतीति ... सर्व एव हि आगमो नियताधिकारि देशकाल-दशासहकारिप्रभृतीनामृश्य विधिनिषेधादिविमर्शमयः ।—उपरिवत्

88. आगमो हि नाम अयं शब्दनसंक्रान्तिशरीरः ।—उपरिवत्, भा० 3, पृ० 89

89. शब्दनरूपत्वं विमर्शनं यदान्तरं चित्स्वभावस्य अन्तरङ्गं रूपं ।—उपरिवत्, पृ० 84

90. प्रसिद्धिः स्वयमेव विमर्शजीविता आगमप्रमाणरूपा ।—उपरिवत्, भा० 1, पृ० 36

91. उपरिवत्, पृ० 92

92. यथैव विश्वप्रकाशात्मा परमेश्वरः तथा विश्वविमर्शात्मा । तत्र बाह्यत्वग्राह्यत्वार्थक्रियातत्सहकारिवर्गस्य यथा प्रकाशः तथैव विमर्शः । तत् ईश्वरेच्छयैव यो यत्र विमर्शांशे एकीकृतः समुज्झितुमिच्छुरपि न उज्झितुं शक्नोति ... ईश्वरेच्छयैव यत् यस्य निरूढं शब्दनं स एव तस्य आगम ... ईश्वर एव हि तथा भाति विमृशति विमर्शयति च ।—उपरिवत्, भा० 3, पृ० 94

93. उपरिवत्, पृ० 93.

94. *भा०*, भा० 1, पृ० 93.

95. प्रतिभारूपवेदादिप्रसिद्धिरूपसदोदितलोकप्रसिद्धात्मकमृषिणासम्यक् दृष्टमभिमतेन आप्तेन उत्थापितमनुमानस्य बाधकमेव ।—*ई०प्र०वि०वि०*, भा० 3, पृ० 13

96. न च वाच्यमागमेऽपि शब्दविमर्शनपूर्वकमर्थविमर्शनमिति तत्रापि सापेक्षतादि भवेदिति । नहि शब्दविमर्श-नादपरमर्थविमर्शनं किंचित् शब्दस्य स्वपरविमर्शात्मकत्वात् ।—उपरिवत्, पृ० 104

97. ततश्च यथा बाह्यस्य नीलस्य प्रकाशमानस्य नीलमिति वाचकपरामर्शस्तथा वाचकस्यापि प्रकाशस्य अवश्यभाव्यं विमर्शेन । न च तत्स्वरूपव्यतिरेकेण तत् विजातीयं शब्दान्तरमस्ति सामान्यरूपं वा विशेषरूपं वा येन तत् नीलवाचकविशेषरूपं विमृष्टं भवेत् । न च अनेकशब्दत्वाश्रयेण तत्सदृशेन शब्दान्तरेण तद्विमर्शोऽनवस्थया नीलपरामर्शस्यैव अभावप्रसङ्गे नीलप्रकाशायोगात् । तस्मात् स्वरूपपरामर्शस्वभाव एव अर्थस्य । यतो नीलशब्दः परामर्शकस्ततः स्वपरपरामर्शकत्वमेव अस्य स्वप्रकाशत्वम् ।—उपरिवत्, भा० 2, पृ० 247

98. प्रतिपादयितरि हि असौ सक्रमः शब्दोऽक्रमविमर्शात्मकप्रतीतिमूल इति तथैव प्रतिपाद्ये संक्राम प्रतीतिपर्यवसायी ततोऽनन्यत्वात् तस्य ।—*ई०प्र०वि०वि०*, भा० 2, पृ० 106

99. मायाप्रमातुरपि परमार्थतश्चिदेव तत्त्वमिति शिवस्य एव एताः शक्तयः । ... वस्तुतस्तु स एव सर्वं जानाति करोति ... । अहं शब्दं जानामि करोमीति हि श्रोत्रवाक्शक्त्योस्तत्त्वम् । ... अहमितिविमर्शस्य विशेषरूपा एताः । विमर्शश्च भगवत एव शक्तिः ... ।—उपरिवत्, भा० 3, पृ० 271

100. वाचकशब्दस्वरूपेण परामृश्यमानेन यतः समानाधिकरणः सन्नर्थाभास आभासेन विमर्शाक्षेपात् प्रत्यवमृश्यमानार्थः, तस्मात्तदपि तथेति इदन्तया प्रतीयते एव ।—उपरिवत्, भा० 2, पृ० 252

101. आभिमुख्येन यथारुचिकरणस्वातन्त्र्यपर्यन्ततया शब्दनस्वभावे प्रयोक्तृप्रतिपत्तृलक्षणे प्रमातरि धारणं प्ररोपणं विश्रमणा परामर्शनमित्येकोऽर्थः ।—उपरिवत्, पृ० 249

102. तेन परामर्शावसरे शब्दः शब्दनरूपतां गतोऽर्थमपि बहिष्प्रकाशमानं घट इति तन्मयीकुर्वन्नात्मानं वस्तुमयमिव वस्तु च स्वात्ममयमिव संपादयति तदपि च बहिष्प्रकाशभूमौ तयोर्भेदादेव अध्यासव्यवहारः, अन्यथा आत्यन्तिके ऐक्ये कथं तद्व्यवहारः ।—उपरिवत्, पृ० 266

103. तदयं वाचकस्वरूपाध्यास एव वाच्यत्वं, तदध्यासश्च वाचकत्वमुत्थापयति ।—उपरिवत्, पृ० 267

104. वाचक: शब्द: श्रोत्रग्राह्ययस्वलक्षणरूपतात्यागेन बुद्धिनिर्ग्राह्यं स्फोटरूपं सामान्यरूपं वा शब्दं दर्शयति ।—उपरिवत्, पृ० 244

105. 'वाच्यम्' इति प्रत्यक्षतोचितां स्वलक्षणतां शब्दाच्च वाचकात् पृथग्भावमस्य निरस्यन् बुद्धिग्राह्यमेव निरंशं स्फोटात्मानं सामान्यलक्षणं तदवन्मात्रं वा रूपं निरूपयति ।—उपरिवत्

106. 'वाचक:' इति परामर्शसारो, न तु केवल श्रवणविषयरूप: शब्दविशेषो मायीयवर्णानुप्राणनकृदमायीय:। —उपरिवत्, भा० 3, पृ० 282

107. ··· शब्दप्रमाणरूपतयैव शब्द: स्वरूपमिव नीलादिमिव च प्रयोक्तृगतं शब्दनात्मकं परामर्शमपि स्वपरामर्शाभेदेनैव परामृशन्, परस्य तत्स्वरूपपरामर्शमयतामिव तन्नीलाद्यर्थपरामर्शमयतामिव च तत्प्रयोक्तृपरामर्शपरामर्शनमयतामपि विधत्ते ।—उपरिवत्, भा० 2, पृ० 263

108. घटोऽयमित्याध्यवसा नामरूपातिरेकिणी ।
परेशशक्तिरात्मेव भासते नत्विदन्तया ।। —ई०प्र०का० 1/5/2

109. वक्ति अर्थं स्वाध्यासेन सोऽयमित्यभिसंधानेन ।—ई०प्र०वि०, भा० 1, पृ० 303

110. तथाहि अयं घट इति घटशब्देन वाचकरूपेण एकीकृतस्यैव अध्यासबलात् तदावेशभाजोऽर्थात्मनो य इदन्तापरामर्श:, स तस्य वाचकरूपस्य अपि भवत्येव, अन्यथा घटशब्दस्यापि उक्तेन नयेन अहमिति निर्भास ··· । पृथक्परामर्शे तु वाचकरूपता गुणकर्मादिरूपता च प्रत्युत न परामृष्टा भवेत् । ··· घटोऽयमितिपरामर्शे घटशब्दस्य अर्थे गुणभावगमनात् तदभेदेनैव इदंपरामर्श: ··· कृतसंकेत: ··· स्वभावत एव वा संकेतकालात्प्रभृति वा वाच्याध्यस्तस्यैव तस्य प्रकाशनात्, अतएव अत्र न विशेषणविशेष्यभाव:, अपितु अध्यास इति व्यवहार: ।—ई०प्र०वि०वि०, भा० 2, पृ० 246-47

111. उपरिवत्, भा० 2, पृ० 266.

112. वस्तुतो हि शब्दार्थावत्यन्तावियोगेनैव प्रतीतिपथे भासेते ततोऽयमध्यास: ।—उपरिवत्, पृ० 268

113. 'तेन' इति वाचकेन शब्देन मायाप्रमातृभूमिर्न त्यज्यते मध्यमादशायाम् । वेद्यत्वेन हि तदानीमर्थ एव पृथगवभासते, शब्दस्तु अहंभावमेव शवलयति परं, न तु तथा पृथक् भवति मनागपि ईदृश: संकल्पयिता। अहमिति हि तदानीं मायाप्रमातुरवभास: ।—उपरिवत्, पृ० 26

114. अर्थाध्यासादेव वाचकस्य शान्त्यभिचारादिप्रयोगेऽर्थस्य तथाभाव: ··· ।—उपरिवत्

115. नहि अर्थे काचन शब्दयोजना विकल्पसमये संवेद्यते । यदपि इदं सामानाधिकरण्यं—अयं गौरिति, तदपि विमर्शद्वययोजनामात्रलक्षणं विमर्शान्तरमेव, न तु शब्दार्थयोर्बाह्यस्वलक्षणरूपयोरन्योन्यमत्र मेलनमवभाति किञ्चित् । यस्तु शब्दस्य अर्थे अध्यासो वक्ष्यते, स बोधभूमावेव ··· ।—उपरिवत्, पृ० 235

116. उपरिवत्, भा० 3, पृ० 282.

117. उपरिवत्, भा० 2, पृ० 296.

118. 'सघोष:' इति स्थूल: । ··· 'उपांशु' इति अघोषो य: स्वयमेव श्रूयते, न परेण उपगता: स्वसमीपमेव प्रविष्टा अंशव: प्रसरा यस्येति ।—उपरिवत्, भा० 2, पृ० 188

119. अनेन पाण्यादीनामपि स्थूलसूक्ष्मरूपस्य स्वकार्यस्य उपलक्षणम् । सर्वत्र च अत्र सघोषाघोष रूप-वाग्व्यापारशब्दानुविद्धता प्राधान्येन दृश्यते । तदिदं ग्रहीष्यामि गृह्णासि, गृहीतमिति तत एवमुक्तम् । वर्णपदग्रहणं च तथैव श्रूयमाणताभिमानात् ।—उपरिवत्

120. जिह्वाव्यापारोऽपि च वस्तुतस्तथाविमर्शस्वभाव एव । विमर्शरूपानधिकस्वभावा हि समस्ता क्रियेति उक्तम्। —उपरिवत्, पृ० 187-88

121. वर्णे एव हि तावत् श्रूयमाणताबुद्धिरतिस्फुटा, पदे तु अल्पवर्णे स्यादप्येषा वाक्ये तु संकलना-स्मरणानुव्यवसायादिरूपबुद्धिनिर्ग्राह्ये श्रूयमाणता न स्फुटा—इत्येवमुक्तम्। तथा च वैयाकरणैरपि

वाक्यस्फोटस्य प्रायशो बुद्धिनिर्ग्राह्य तैव दर्शिता । —उपरिवत्, पृ० 188

122. एवं च श्रोत्रपथगामी योऽसौ घटमानय इति शब्द:, स तावत् व्याहरणशब्दवाच्यो द्वयोरपि एक एव अवभासते । —उपरिवत्, पृ० 151

123. . वचनं हि शब्दनं, न वागिन्द्रियजन्य: शब्द इत्यर्थ: । ··· श्रुतिगोचरीकार्या या शब्दनक्रिया शब्दोत्थापिका क्रिया ब्रूते जल्पति वक्ति इत्येवं ··· । —उपरिवत्, भा० 2, पृ० 275

124. वाच्यं शब्दलक्षणं कर्म निर्वर्त्यमर्थलक्षणं च प्राप्यं येषां, तथाविधा अपि शब्दार्था: शब्दक्रियाश्च उक्ता: । यदि हि शब्द: क्रियारूपतां न आश्रयेत् कथमीप्सिततमं धातोर्वाच्यं स्यात् । —उपरिवत्, पृ० 278

125. श्वेतगुणसत्ताशब्दाश्च प्रमातृभूमिपतिता: प्रमात्रा विमृश्यमाना विमर्शे लोलीभूता: पूर्वापरीभूतेन विमर्शरूपेण उपबृंहिता: श्वेतते-भवति-ब्रूते इत्यादिक्रियारूपभाज: । —उपरिवत्

126. शब्दा अन्तर्लीनीकृतप्रतियोग्यभावविशिष्टविधिप्रधानवस्तुनिष्ठा एव यथा, तथैव घटादय: सर्वे शब्दा: । —उपरिवत्, पृ० 289

127. सर्वा प्रमेयेषु प्रतिपत्तिरपोह्याभासारोपनिषेधव्यापारान्त:कारिणी निश्चयप्रतीतिरूपत्वात् ··· । —उपरिवत्, पृ० 29

128. अभिलापेन साधारणो य एव अभिलापविषय:, स एव अर्थो ··· । —उपरिवत्, भा० 3, पृ० 78

129. अभिलापसाधारणश्च अभिलापेन सह तस्य य: प्रथते, सोऽभिलापसंवलित इति यावत् । —उपरिवत्

130. अस्मदादिदृश्या हि अर्थास्तेनैव भगवता निर्मीयन्ते । प्रजापतिमातापितृकुम्भकारादेस्तु निर्मातृताभिमानो य:, सोऽपि तस्यैव सृष्टिरिति । —उपरिवत्, पृ० 369

131. ··· शब्दश्च आभासान्तरै: देशकालादिरूपैरनामृष्टे एकत्रैव आभासमात्रे प्रवर्तते । —*ई०प्र०वि०* (भा०), भा० 2, पृ० 75; विमर्शश्च शब्दं देशकालविशेषाभासानालिङ्गितसामान्यरूपाभासविश्रान्तं जीवितत्वेन अपेक्षते । —*ई०प्र०वि०वि०*, भा० 3, पृ० 72

132. एकस्मिन्नपि स्वलक्षणे अस्फुटावभासे सामान्यनाम, तस्मिन्नेव स्फुटावभासे विशेषनामेति अवभासभेदात् परामर्शभेदो ··· । विशेषोऽपि हि तत्र अवमृश्यमान: परमार्थत: सामान्यात्मनैव संपद्यते । अत्र उच्यते घट इति विशेषरूपतां सर्वतोनिराकाङ्क्षां संपूर्णवाक्यार्थविकल्पसमुचितामयमिति सामान्यररूपतां पदार्थ विकल्पोचितामुपलक्षयति । —उपरिवत्, भा० 2, पृ० 243

133. 'बुद्धि:' इति प्रकाशभागेन, 'पश्यन्ती' इति विमर्शांशेन । तत एव प्रमेयता वाच्यता च प्राक् पृथगुक्ता। —उपरिवत्, भा० 3, पृ० 284

134. अर्थ्यते इति, विशेषेण सिन्वन्ति बध्नन्ति हृदयमिति, प्रमीयन्ते इति, आलम्ब्यन्ते इत्यादि निर्वचनयोगादर्थादिशब्दैर्व्यपदिश्यन्ते । —उपरिवत्, भा० 2, पृ० 423

135. अर्थस्य या प्रकाशमानता, सा प्रकाशोऽनुभव:; न तु असौ प्रकाशमानतात्मा प्रकाशोऽर्थस्य स्वरूपभूतोऽर्थशरीरमग्न: । —उपरिवत्, पृ० 69

136. सत्ता च भवत्ता भवनक्रियाकर्तृतैवेति पुनरपि स एव अर्थ: । —उपरिवत्, पृ० 186

137. प्रतिसंवेदनं हि प्रमातृरूपताभिमुखभावगमनेन सम्यगध्यवसायपर्यन्तं वेदनं प्रकाशनमुच्यते । प्रकाशस्वसंवेदनादेव हि अर्थ: प्रकाशित:, संवेदनं च प्रकाशितम् ··· । —उपरिवत्, पृ० 250

138. बालस्य पुर: पिण्डे सहजो य: परामर्श: ··· । —*ई०प्र०वि०* (भा०), भा० 1, पृ० 289

139. *ई०प्र०वि०वि०*, भा० 1, पृ० 56.

140. तत पर्यन्तवर्तिना समयानपेक्षिणा संवेदनबलायातेन शब्देन बिना सांकेतिकशब्दयोजनैव न उपपद्येत । सर्वशब्दवाच्यता हि सर्वस्य अर्थस्येति अन्ततो वर्णमात्रात्मना अपि हुंकारांशेन असामयिक एव परामर्श:, पुनर्व्यवहारनियमाय नियत: शब्द: संकेत्यते, तस्यापि प्रमातृसात्त्वे अन्य इति हि संकेतपरमार्थ: । —उपरिवत्, पृ० 227-28

141. भवतु वा क्षणमात्रस्वभावः साक्षात्कारः, तत्रापि अस्ति विमर्शः । ··· यदि स न स्यात् तत् एकाभिसंधानेन जवात् गच्छन्, त्वरितं च वर्णान् पठन्, द्रुतं च मन्त्रपुस्तकं वाचयन्, न अभिमतमेव गच्छेत्, उच्चारयेत् वाचयेत् वा । अत्र च यतः पश्चाद्भाविस्थूलविकल्पना न संवेद्यते, तत एव त्वरितत्वम् इति सूक्ष्मेण प्रत्यवमर्शेन संवर्तितशब्दभावनामयेन भाव्यमेव । —*ई०प्र०वि०* (भा०), भा० 1, पृ० 29-93

142. संवर्तिता हि शब्दभावना प्रसारणेन विवर्त्यमाना स्थूलो विकल्पः, यथा इदमित्यस्य प्रसारणा घटः शुक्ल इत्यादि, तस्यापि पृथुबुध्नोदराकारः शुक्लत्वजातियुक्तगुणसमवायी इत्यादिः । —उपरिवत्, पृ० 293

143. न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यः शब्दानुगमादृते ।
अनुविद्धमिव ज्ञानं सर्वं शब्देन गम्यते ।। —*वाक्*० 1/115

अध्याय छः

स्वातन्त्र्य

स्वातन्त्र्य काश्मीर शिवाद्वयवाद के आधारभूत प्रत्ययों में से एक है। यह यहाँ प्रतिपादित तत्त्वमीमांसा के पूर्णतावादी ढाँचे का प्रमुख आधार स्तम्भ है। यहाँ इसके इतने माहात्म्य को देख कर ही इस सम्प्रदाय को अक्सर 'स्वातन्त्र्यवाद' संज्ञा से भी अभिहित किया जाता है। यों तो आगमिक परम्परा के प्राय: सभी सम्प्रदाय इस स्वातन्त्र्य के प्रत्यय को मान्यता प्रदान करते हैं पर उनकी अद्वैतात्मक, द्वैतात्मक तथा द्वैताद्वैतात्मक प्रवृत्तियों के अनुरूप इस प्रत्यय के स्वरूप में परिवर्तन आते रहते हैं। इस सन्दर्भ में नन्दिकेश्वर दर्शन विशेषत: उल्लेखनीय है जो कि प्रथम स्वातन्त्र्यवादी दर्शन कहलाने का अधिकारी है। संभवत: काश्मीर शिवाद्वयवाद यहीं से इस प्रत्यय को ग्रहण कर अपनी तत्त्वमीमांसा को एक नूतन दिशा प्रदान करता है। यह स्वातन्त्र्य की धारणा अन्यत्र भी मिलती है जैसे आचार्य पाणिनि 'स्वतन्त्र:कर्ता' के द्वारा स्वातन्त्र्यवाद का ही पोषण करते हैं; वाक्-दर्शन के प्रमुख आचार्य भर्तृहरि काल-शक्ति के रूप में इस स्वातन्त्र्य को स्वीकारते हैं; *श्वेताश्वतर उपनिषद्* में आनन्द के व्याज से (आनन्दाद्धयेव खलु इमानि भूतानि जायन्ते) इस स्वातन्त्र्य के महत्त्व को स्वीकारा गया है क्योंकि पूर्ण आनन्द की स्थिति पूर्ण स्वातन्त्र्य के माध्यम से ही संभव है।

विचारणीय है कि स्वातन्त्र्य शब्द का अभिधेय क्या है। स्वतन्त्र शब्द का कोशगत अभिप्राय है—स्वाधीन, स्वैरी, स्वच्छन्द, निरवग्रह आदि।[1] इसकी व्युत्पत्ति 'स्वस्य तन्त्रं प्राधान्यं यत्र' रूप में तथा 'स्वं तनोति विस्तारयति इति'[2] रूप में की जा सकती है। इन दोनों ही निरुक्तियों में स्व के ही प्राधान्य या विस्तार को स्वतन्त्र शब्द का अभिधेय कहा गया है।

काश्मीर शिवाद्वयवाद में स्वातन्त्र्य/स्वतन्त्र शब्द के विविध प्रयोग उपलब्ध होते हैं—

1. चित्तत्त्व ही स्वातन्त्र्य है।[3]
2. स्वातन्त्र्य अप्रतिहत इच्छा या अवच्छेदरहित प्रकाशमानता है।[4]
3. स्वातन्त्र्य प्रकाशविमर्श द्वय का सार है और रुचि के अनुसार संयोजन एवं वियोजन करना इसका स्वभाव है।[5]
4. स्वातन्त्र्य संयोजन, वियोजन एवं अनुसंधानरूप है। यह जड के समान केवल अपने आप में ही विश्रान्त नहीं होता, अपरिच्छिन्नप्रकाशसारत्व एवं अनन्यमुखप्रेक्षित्व ही स्वातन्त्र्य है।[6]
5. प्रकाशमानता ही स्वातन्त्र्य है।[7]
6. इच्छा के अधीन समस्त कार्यों के कर्तृत्व को स्वातन्त्र्य कहते हैं।[8]
7. स्वातन्त्र्य शक्ति है[9] जिसके विसर्ग, कौलिकी शक्ति आदि नामान्तर हैं।[10]
8. स्वातन्त्र्य नियति नामक शक्ति है जिसके कारण रुद्र भी पशुवत् भासित होता है।[11]

9. आन्तरी प्रतिभा ही स्वातन्त्र्य शक्ति है।[12]
10. क्रीड़ा, स्पन्द व ऐश्वर्य भी स्वातन्त्र्य के पर्याय हैं।[13]

इन प्रयोगों से जो मुख्य तथ्य उभर कर सामने आते हैं वे इस प्रकार हैं —

(क) चित् की चित्त्वरूपता स्वातन्त्र्य रूप से ही विवेच्य है। यह प्रकाशन व विमर्शन दोनों से सम्बद्ध सामर्थ्य की वाचक है।

(ख) अनन्योन्मुखता या अन्यनिरपेक्षता स्वातन्त्र्य का अनिवार्य अभिधेय है।

(ग) स्वातन्त्र्य संयोजन, वियोजन व अनुसंधान रूप सामर्थ्य का समग्र समवाय है।

(घ) स्वातन्त्र्य में इच्छा की विशेष कर्तृता है।

(ङ) स्वातन्त्र्य अधिकार व सामर्थ्य दोनों की असीमता को बतलाने वाली धारणा है।

(च) अनन्योन्मुखता या अन्यनिरपेक्षता स्वतन्त्र तत्त्व में स्वात्ममात्रविश्रान्ति की संभावना को अनिवार्य बनाती है फलत: प्रकाशतत्त्व की स्वप्रकाशता की धारणा का यह स्वातन्त्र्य घटक बनता है।

वस्तुत: इस प्रत्यय में चार तत्त्व प्रमुख हैं—'अन्यनिरपेक्षता', 'आत्मविश्रान्ति', 'सर्वकर्तृत्वसामर्थ्य' एवं 'ईशितृत्व' या 'ऐश्वर्य'। ये चारों ऐकान्तिक रूप से उपस्थित न होकर इस स्वातन्त्र्य की धारणा के समग्र रूप के निर्धारण में घटक बनते हैं। स्वातन्त्र्य एक ओर तो जहाँ अपने अधिकारक्षेत्र को बतलाता है वहीं सारी सामर्थ्यों की संभावना को भी व्यक्त करता है। इस अधिकारक्षेत्र की असीमता व सामर्थ्य की अनन्त रूपों में प्रसरणशीलता इस धारणा को अन्यनिरपेक्षता व आत्मविश्रान्ति की स्थितियों से संवलित करती है। अब ऐसे सीमाहीन सामर्थ्यों से संवलित तत्त्व का ही ईशितृत्व संभव है और यह सामर्थ्य ही उस ईश्वर का ऐश्वर्य है। यहाँ एक अन्य घटक शेष रह जाता है जो कि इस स्वातन्त्र्य की धारणा का आत्मतत्त्व है, यह है 'इच्छा'।[14] स्वातन्त्र्य का प्रत्यय जहाँ पूर्ण वैभव का परिचायक है, वहीं इच्छा है उस स्वातन्त्र्य की परिचायिका।[15] ये दोनों प्रत्यय परस्पर इतने अन्तर्ग्रथित हैं कि इनको अलग कर सकना संभव ही नहीं है। स्वातन्त्र्य का सामान्यत: अभिप्राय ज्ञानात्मक व क्रियात्मक स्वातन्त्र्य से लिया जाता है और प्रत्येक ज्ञानात्मक व क्रियात्मक अवस्था के लिये इच्छा अनिवार्य पूर्वदशा है। यह सम्प्रदाय न्याय के 'जानाति-इच्छति-यतते' के विपरीत 'इच्छति-जानाति-यतते' को ही स्वीकार करता है। अत: स्वातन्त्र्य का उल्लेख होने पर 'इच्छा-स्वातन्त्र्य' की धारणा स्वत: आ उपस्थित होती है। यूँ तो इच्छा की गणना प्राय: परतत्त्व की नाना शक्तियों के मध्य ही की गयी है पर अन्य समस्त शक्तियों से अपेक्षाकृत अधिक माहात्म्य रखने के कारण अथवा अन्य शक्तियों के इसका ही विवर्तित रूप होने के कारण इसे स्वातन्त्र्य की सामान्य संज्ञा से भी अभिहित किया जाता है। इस सम्प्रदाय में परमसत् के जिस पूर्ण रूप की कल्पना है उसके निज विभव के आभोग का करण है इच्छा। पर इच्छा संज्ञा में एक अपूर्णता का भाव निहित है इसी कारण यहाँ परमसत् के प्रकाशन के कई स्तरों की कल्पना कर 'इच्छा' के लिये अलग-अलग संज्ञाओं का प्रयोग किया गया है। परमसत् में इच्छा की त्रिविध स्थितियाँ हैं—

(क) परदशा में चमत्कारात्मक विमर्शरूप स्वातन्त्र्य मात्र।

(ख) परापर दशा में इच्छा रूप।

(ग) इष्यमाण का उदय हो जाने के कारण अपरदशा में अपूर्णता मिश्रित इच्छा।[16]

इस प्रकार परमसत् के पूर्ण स्वरूप के स्तर पर जो स्वातन्त्र्य है वही परापर व अपर दशा में इच्छा की द्विविध अवस्थाओं को प्राप्त होता हुआ अन्ततः क्रियारूप में अभिव्यक्त होता है।

स्वातन्त्र्य की शक्ति रूप में कल्पना इसे परतत्त्व का स्वभाव ही बना देती है क्योंकि यह सम्प्रदाय शक्ति व शक्तिमान् में ऐकात्म्य ही मानता है। अब इस सम्प्रदाय में गति तत्त्व की व्याख्या के लिये जिन जिन संज्ञाओं—स्पन्द, क्रीडा, विमर्श, स्वाच्छन्द्य आदि—का प्रयोग मिलता है वे सभी इस स्वातन्त्र्य की धारणा से ही जीवन प्राप्त करती हैं, क्योंकि जहाँ वे गति की प्रक्रिया की व्याख्या करती हैं वहीं यह स्वातन्त्र्य उस गति के क्षेत्र व परिधि को बतलाता है।

यहाँ एक बात और द्रष्टव्य है कि अक्सर काश्मीर शिवाद्वयवादी विद्वान् 'अपरिच्छिन्नता' की धारणा को इस स्वातन्त्र्य का पर्याय बनाते हैं। 'अपरिच्छिन्नप्रकाशत्व' की धारणा वस्तुतः इस 'स्वातन्त्र्य' की धारणा की ही ओर परोक्षतः संकेत करती है क्योंकि वह पूर्णतत्त्व प्रकाशमात्रसार है और उसका स्वातन्त्र्य है अविच्छिन्न रूप से सतत भासन व विमर्शन। अतः स्वतन्त्र तत्त्व के लिये यह अनिवार्य दशा है कि उसका व्यापार किसी भी तरह के विच्छेद से शून्य हो। उसका व्यापार उसकी इच्छा से ही प्रारम्भ भी हो सकता है और उसकी इच्छा से विरमित भी हो सकता है पर इस प्रक्रिया में अन्य किसी निमित्त की कृतकार्यता नहीं है। इसी सन्दर्भ में एक अन्य विशेषण भी मिलता है 'स्वप्रकाशता' जो कि इसी अन्यनिरपेक्ष मात्र स्वेच्छावभासित अवभासनसामर्थ्य का ही संकेतक है।

इस स्वातन्त्र्य की धारणा को विमर्श की धारणा से किस तरह से अलग किया जाये, इस पर विचार आवश्यक है। क्योंकि परमसत् तो है 'प्रकाश + विमर्श' (प्रकाशविमर्शमय)। सारा जागतिक वैचित्र्य इन्हीं दो रूपों में अंतर्भूत है, फिर स्वातन्त्र्य को परमसत् के स्वरूप में किस जगह रखा जाये। यह प्रकाशांश से समीकृत है या विमर्शांश से। यह सम्प्रदाय तो प्रकाश-स्वातन्त्र्य की भी बात करता है, और विमर्श-स्वातन्त्र्य की भी। अतः ऐसा प्रतीत होता है कि स्वातन्त्र्य 'प्रकाश-स्वातन्त्र्य' व 'विमर्श-स्वातन्त्र्य' के सामरस्य का ही नाम है। वस्तुतः जिन 'स्वच्छता' व 'स्वच्छन्दता' की धारणाओं को मूल में लेकर यह सम्प्रदाय प्रकाशविमर्शात्मक परमसत् की कल्पना करता है उन में ही इस स्वातन्त्र्य की धारणा का सारतत्त्व निहित है। स्वच्छत्व 'प्रतिबिम्बन-सामर्थ्य' को बतलाता है व स्वच्छन्दत्व (अपने में ही छन्दन) स्वरूप से च्युत हुए बिना 'गति-सामर्थ्य' को। ये दोनों तरह की सामर्थ्य मिलकर स्वातन्त्र्य की धारणा को जन्म देती हैं। स्वातन्त्र्य परमसत् की वस्तुतः एक 'अवस्थापरक' व्याख्या है जबकि प्रकाशविमर्शमयता उसका 'स्वरूपपरक' आख्यान है। स्वातन्त्र्य व विमर्श में यही अन्तर संभव है कि स्वातन्त्र्य जहाँ विषय व प्रक्रिया दोनों ही दृष्टियों से परमसत् के अधिकार-क्षेत्र का ख्यापक है, वहीं विमर्श मात्र प्रक्रियापरक आख्या है और परमसत् की पूर्णता का करण होते हुए भी परमसत् के पूर्णस्वरूप का प्रस्तोता नहीं है। इसे विषय तो प्रकाश पक्ष से ही मिलता है।

इस स्वातन्त्र्य को 'क्रीडा' की धारणा से जोड़ कर यह सम्प्रदाय उस 'क्यों' का उत्तर देने की चेष्टा करता है जिसकी व्याख्या के लिये अन्य दर्शन-सम्प्रदाय प्रकृति-पुरुष के संयोग अथवा अविद्या या अनिर्वचनीय माया जैसे तत्त्वों की कल्पना करते हैं। यहाँ आत्मोल्लासन की प्रक्रिया

उस परमसत् का हर्षानुसारी स्पन्द ही है।[17] यह सर्वोत्कर्षपूर्वक विद्यमान होने की इच्छा है।[18] यहाँ कुछ लेना या त्यागना इन पंचकृत्यों का प्रयोजन नहीं हैं।[19] ऐसा विविध क्रियाकारित्व उसे उस आत्मतृप्ति का गौरव प्रदान करता है जो उसमें किसी तरह के पारतन्त्र्य भाव की आशंका को उत्पन्न नहीं करता क्योंकि यह उसी के स्वातन्त्र्य का स्फार है। इस क्रीड़ा का निमित्त मात्र स्वात्मनिवेदन है। यह नहीं कहा जा सकता कि वह निष्प्रयोजन क्रीड़ा क्यों करता है क्योंकि यह तो उसका स्वभाव है, उसके निरर्गल व असीमित स्वातन्त्र्य की अभिव्यक्ति ही है। जैसे कोई राजा समस्त वैभव व समृद्धि से सम्पन्न होने पर भी क्रीड़ावश पैदल ही अपने सैनिकों के साथ चलता है वैसे ही यह परतत्त्व भी क्रीड़ा करता है।[20] इसी को अभिनवगुप्त इस तरह से भी कहते हैं कि यह तो पूर्णतत्त्व की छलकन है, न इसमें कोई कारण है न प्रयोजन। यहाँ के परमसत् को तांत्रिक भाषा में 'महेश्वर', 'देव', 'नर्तक' आदि संज्ञाओं से अभिहित करने के पीछे इसी सत्य का प्रत्यायन ही लक्ष्य है। 'देव' संज्ञा[21] इसी ऐश्वर्यमय क्रीडन व्यापार को द्योतित करती है। इसी तरह शिवाद्वयवादी ग्रंथों में आयी 'नर्तक' संज्ञा इसी स्पन्दसामर्थ्य को सूचित करती है। साथ ही शिव के प्रतीकात्मक चित्रों में प्रस्तुत उस परतत्त्व का योनि व लिंग के संघट्ट रूप में चित्रण भी इस स्वातन्त्र्य व उसके विभव का संकेतक है। योनि माया-रूप स्वातन्त्र्य है और लिंग है उसका पंचकृत्यकारित्व।

यह क्रीड़ा उस परतत्त्व के आनन्द का ही प्रसार है, या स्वात्मभोग की प्रक्रिया है फलत: 'आनन्द' की धारणा से भी स्वातन्त्र्य का सम्बन्ध जुड़ जाता है। ये दोनों धारणाएं परस्पर सापेक्ष धारणायें हैं, जहाँ स्वातन्त्र्य है वहीं आनन्द है और जहाँ आनन्द है वहीं स्वातन्त्र्य है। परतत्त्व को परमानन्द रूप बतलाने का अभिप्राय ही है उसको स्वातन्त्र्यमय बतलाना।[22] वस्तुत: इन दोनों प्रत्ययों में मात्र दृष्टिकोण के भेद से संज्ञान्तर है। अनुभूति की दृष्टि से उसकी संज्ञा आनन्द है तथा अभिव्यक्ति की दृष्टि से स्वातन्त्र्य। अक्सर इन दोनों पक्षों को मिश्रित रूप में भी प्रस्तुत किया जाता है अत: इनकी विशिष्ट संज्ञाएं प्राप्त होती हैं जैसे 'चमत्कार', 'स्वरसोदय' आदि। परमानन्दावस्था पूर्ण तृप्ति या आत्मसन्तुष्टि की अवस्था है जो सर्वाप्तत्व की भावना से परिपूर्ण है, फलत: वहाँ किंचित् भी काम्य न रहने से वह परनिरपेक्ष तत्त्व ही सिद्ध होता है। यह परनिरपेक्षता ही उसके स्वातन्त्र्य की अग्रसारिका है। फलत: वह मनोवांछित कृत्यों को मात्र अपनी इच्छा से सम्पादित करने में समर्थ सिद्ध होता है।[23]

यह स्वातन्त्र्य की धारणा सर्वजनसंवेद्य प्रत्यय है। हर किसी को इसकी कुछ न कुछ मात्रा में अनुभूति अवश्य होती है। सीमित प्रमाता का स्वातन्त्र्य जहाँ सीमित है वहीं परमप्रमाता का स्वातन्त्र्य सीमोत्तीर्ण है। प्राय: किसी भी क्रिया के सन्दर्भ में तीन विकल्प संभव है—की जा सकती है, नहीं की जा सकती है और अन्य प्रकार से की जा सकती है। परम प्रमाता उन तीनों तरह की स्थितियों में स्वतन्त्र है जब कि सीमित प्रमाता कई तरह की सीमाओं में बँधा रहता है। यह सम्प्रदाय उसी स्थिति को 'कर्तुम्, अकर्तुम् तथा अन्यथाकर्तुम्' की शब्दावली में व्यक्त करता है। जहाँ सीमित प्रमाता इन तीनों स्थितियों में किसी एक या दो के सन्दर्भ में ही स्वतन्त्र होता है वहीं परम प्रमाता इन तीनों अवस्थाओं के सन्दर्भ में स्वतन्त्र है। जागतिक स्थितियों में दृष्ट स्वातन्त्र्य के कुछ उदाहरण हैं—कोई कलात्मक या काव्यात्मक अभिव्यक्ति, कोई खेल खेलने

की इच्छा, अकस्मात् किसी प्रिय के दर्शन से जन्य उल्लास आदि।[24] वैसे ये सब जागतिक स्थितियाँ उसी पारतात्त्विक स्वातन्त्र्य का ही अंश हैं। यद्यपि ये तो स्वातन्त्र्य की विशिष्ट स्थितियाँ हैं पर सामान्य दृष्टि से भी सभी स्वतन्त्र अर्थात् स्व के शासन में रहना चाहते हैं। यह 'स्व' है उसकी इच्छा जो कि उसके अपने व्यक्तित्व और परिवेश से निर्धारित होती है, पर चयन-स्वातन्त्र्य उसका अपना होता है। यही है उसका स्वातन्त्र्य।

स्वातन्त्र्य परमसत् का स्वभाव है अत: यह उसकी पूर्णता व गति दोनों का घटक तत्त्व है।[25] इसी प्रत्यय के द्वारा यह सम्प्रदाय अन्य दार्शनिक तत्त्वमीमांसाओं से पृथक् रूप में इस सम्प्रदाय को स्थापित करता है क्योंकि यह एकता व अनेकता के दो कभी न मिल सकने वाले छोरों को जोड़ने में अद्भुत सेतु का कार्य करता है। अत: यहाँ अद्वयवाद की रक्षा करते हुए नानावाद की सफल व्याख्या प्रस्तुत हो जाती है तथा अद्वैतवेदान्त व सांख्यवत् विवर्त व परिणाम की अनुपपन्न सरणियों का आश्रय नहीं लेना पड़ता। अन्य कई दर्शनों में गति व गतिमान् के मध्य सम्बन्ध-स्थापन की समस्या इतनी जटिल है कि कहीं गति को छोड़ना पड़ता है (वेदान्त) तो कहीं गतिमान् को (बौद्ध) और या इन दोनों को साथ लेकर चलने पर भी उन दोनों को एक नदी के दो पुलों की भाँति ही परस्पर विविक्त स्वीकारना पड़ता है (सांख्य) अथवा अद्वयवाद का ही सम्बल छोड़कर द्वैत, द्वैताद्वैत या बहुत्ववाद की अद्वयघाती मीमांसाओं का आश्रय लेना पड़ता है।[26] वस्तुत: अन्यत्र तो, जो अव्याख्येय है, जागतिक मेधा के द्वारा अगम्य है, पारमिता प्रज्ञा का क्षेत्र है, उस सबको प्राय: 'माया' जैसे एक शब्द के द्वारा समेटने का प्रयास किया जाता है पर यह काश्मीर शिवाद्वयवाद उसे स्वातन्त्र्य संज्ञा से अभिहित करता है जो कि एक स्वसंवेदनसिद्ध प्रत्यय है। भेद मात्र यह है कि 'माया' अनिर्वचनीय होकर दार्शनिक दृष्टि से बच जाती है फलत: उसका जगत् से सम्बन्ध भी अव्याख्येय रह जाता है, या द्वैतभावापन्न होकर आधारभूत प्रतिज्ञेय अद्वैत को ही खंडित कर बैठती है, अत: वे दार्शनिक सरणियाँ अपूर्ण ही रह जाती हैं जबकि स्वातन्त्र्य उस तत्त्वमीमांसात्मक 'क्यों' की सार्वभौमिक पर अव्याख्येय समस्या का एक विशुद्ध दार्शनिक समाधान प्रस्तुत करने का प्रयास करता है। वस्तुत: तो यहाँ स्वातन्त्र्य मानवीय बुद्धि की सीमा से बाहर की सभी समस्याओं का मानवीय बुद्धि के द्वारा खोजा हुआ सबल युक्तिसंगत समाधान है।

यह शिवाद्वयवादी स्वातन्त्र्य की धारणा सारे नियमों की स्वयं उत्प्रेरक है फलत: यहाँ का सीमाहीन स्वातन्त्र्य निरंकुश उच्छृंखलता के आरोप से मुक्त रहता है और इससे किसी प्रकार की दायित्वहीन अस्तव्यस्तता जन्म नहीं लेती। यह तो स्वयं ही सारी व्यवस्थाओं व तथा-कथित अव्यवस्थाओं का जन्मदाता है।[27] कभी वह स्वयं को सीमाओं में बाँधता है व कभी मुक्त करता है, कभी भोक्ता बनता है तो कभी ज्ञाता या कर्ता। इसी कारण परतत्त्व स्वयं मुक्ति भी है, भुक्ति भी; स्वयं देवी भी है, प्रभु भी।[28]

इस स्वातन्त्र्य को वैसे तो अवस्थापरक प्रत्यय ही माना गया है पर इस सम्प्रदाय के आचार्य कभी-कभी इसे 'गतिपरक' प्रत्यय रूप में भी प्रस्तुत करते हैं और इस की व्याख्या संयोजन, वियोजन व अनुसंधान रूप से[29] या भेदन, अभेदन व भेदाभेदन रूप से करते हैं।[30] इसी प्रसंग में 'स्पन्द' को भी इसके पर्याय के रूप में प्रस्तुत किया गया है। विविध आभास रूपों में

भासित होकर उन आभासों का विविध सन्दर्भों में संयोजन, वियोजन व अनुसंधान करके ही यह स्वातन्त्र्य-स्वभावी परतत्त्व सारे जागतिक वैचित्र्य के निष्पादन को संभव बनाता है। वह कहीं विविध आभासों को संयुक्त कर उन्हें विशिष्टरूपता प्रदान करने का कारण बनता है और कहीं उन्हें बाह्यता, कहीं आन्तरिकता, कहीं स्फुटता, कहीं अस्फुटता के आभासों से संयुक्त करता हुआ विचित्र प्रतीतियों का निमित्त बनता है। दुर्घट-घटना-नैपुण्य से जब इस स्वातन्त्र्य को जोड़ा जाता है तो इस धारणा का असीम सामर्थ्य बतलाना ही एक मात्र मन्तव्य होता है।[31-32] दुर्घट है अखण्ड प्रकाश-स्वभाव के साथ ही प्रकाश के निषेध का अवभास।[33] यह दुर्घटना संभव होती है निषेध को निषेधात्मक के स्थान पर तिरोभावात्मक मानकर। तिरोभाव की मात्रा-भेद से ही ग्राहकांश व ग्राह्यांश भासित होते हैं। फलत: चित्तत्त्व के संकोच की मात्रा के आधार पर नाना विविधताएं दृष्ट होती हैं जिनके कि स्वातन्त्र्य में भी भेद दृष्ट होता है। परमसंविद् परमस्वातन्त्र्यवती है, अत: वह परमेश्वर कही जाती है। पर अन्य जीव जितने अंशों में ज्ञाता व कर्ता होते हैं, उतने ही अंशों में ईश्वर कहे जाते हैं।[34] सीमित चिति व असीमित चिति के स्वातन्त्र्य का भेद मात्र इतना है कि जहाँ सीमित चिति का स्वातन्त्र्य मात्र 'योजना' अंश में है वहीं परम या असीमित चिति का 'योजना' व 'योज्यमान' दोनों अंशों में है।[35] वैसे तो चिति की सीमितता की मात्रा अपनी पराकाष्ठा पर पहुँच कर जड़ कहलाती है और स्वातन्त्र्य को जड़ का नहीं, मात्र चेतन का ही स्वभाव माना गया है पर जड़ भी यहाँ ज्ञान, क्रिया शक्तियों का आवरित रूप ही है अत: स्वातन्त्र्य की वहाँ शून्यता न होकर तिरोभाव ही है।[36]

अब एक बात और द्रष्टव्य है कि यह सम्प्रदाय परमसत् के दो रूपों की कल्पना करता है— 'विश्वोत्तीर्ण' व 'विश्वमय'। प्रश्न किया जा सकता है कि यह स्वातन्त्र्य अपने पंचक्रियाकारित्व रूप में विश्वमय पक्ष में तो स्फुटतया विद्यमान है पर विश्वोत्तीर्ण रूप में किस प्रकार से स्थित कहा जा सकता है, तो उत्तर होगा कि यहाँ इसे योग्यता या सामर्थ्य रूप में ही स्वीकारा गया है। जहाँ परतत्त्व के स्तर पर यह स्वातन्त्र्य है वहीं जागतिक कर्तृत्व में यही स्वातन्त्र्य 'माया शक्ति' संज्ञा से अभिहित होकर नाना जागतिक कृत्यों का सम्पादन करता है।[37] इसका ही 'नियति' रूप पक्ष नाना आभासों को विविध प्रकार से नियत रूप में बाँध कर एक व्यवस्था को प्रस्तुत करता है।[38] इस प्रकार वह स्वातन्त्र्य के कारण स्वयं से स्वयं को उद्भासित करता हुआ व पुन: तिरोहित करता हुआ भी अप्रच्युत-स्वात्मस्थिति वाला बना रहता है।[39]

यहाँ बहुधा स्वातन्त्र्य को 'स्वप्रकाशता' की धारणा से जोड़ा गया है। जो स्वतन्त्र है वही स्वप्रकाश है।[40] प्रकाश्यता तो पारतन्त्र्य की ही पर्याय है क्योंकि जो प्रकाश्य है उसे प्रकाशान्तर की अपेक्षा है।[41] स्वप्रकाशता स्वत: प्रकाशमान है, अत: उसे किसी पर के व्यापार की अपेक्षा नहीं है, अत: यह स्थिति स्वातन्त्र्य की ही नियोजिका है। वस्तुत: यहाँ 'प्रकाश' समस्त भावाभाव का स्वभाव है, अत: इसकी विविध स्थितियाँ (स्वप्रकाशता, प्रकाश्यता व प्रकाशकता तीनों) स्वातन्त्र्य की ही विविध स्थितियों की परिचायक हैं।[42] इसी प्रकार प्रमातृत्व व प्रमेयत्व भी स्वातन्त्र्य व पारतन्त्र्य के अभिप्राय में प्रयुक्त उपलब्ध होते हैं।[43] इसी प्रकार प्रेरक व प्रेर्य रूप में भी स्वातन्त्र्य-पारतन्त्र्य की स्थिति बतलाई जाती है।[44]

यहाँ इस स्वातन्त्र्य की चर्चा 'शक्ति' रूप में भी उपलब्ध होती है।[45] शक्ति तो सामर्थ्य-रूप अभिप्राय को बतलाती है[46] और स्वातन्त्र्य अधिकारक्षेत्र को। जब स्वातन्त्र्य को शक्ति कहते हैं तब एक दृष्टि यह है कि परतत्त्व का यदि स्वातन्त्र्य स्वभाव है तो वह उसकी शक्ति रूप ही होगा क्योंकि परतत्त्व तो अद्वैततत्त्व है जिसके सन्दर्भ में जो भी विशेषण प्रस्तुत किये जाते हैं वे सब उसकी शक्ति रूप में ही संभव हैं अन्यथा द्वैत की आपत्ति होगी और यह तत्त्वमीमांसा शक्ति-शक्तिमान् में अन्य संप्रदायों की तरह धर्म-धर्मिभाव या गुण-गुणिभाव न मान कर एकात्मता ही मानती है। साथ ही यह स्वातन्त्र्य समस्त ज्ञानात्मक व क्रियात्मक सामर्थ्यों का समग्रीभाव है अत: इसे शक्ति रूप कहना उपपन्न ही है। यह मुख्य शक्ति है।[47] वैसे तो यहाँ नाना शक्तियों का उल्लेख मिलता है पर स्वातन्त्र्य शक्ति उन सबका जीवन है।[48] इसे परमेश्वर की 'समवायिनी शक्ति' भी कहा गया है।[49] स्वातन्त्र्य का विभवन पंचकृत्यों के रूप में भासित होता है। ये 'पंचकृत्य' हैं 'सृष्टि', 'स्थिति', 'संहार', 'तिरोधान' व 'अनुग्रह'। परमशिव जागतिक व वैयक्तिक दोनों ही स्तरों पर पंचकृत्यों का सम्पादन करता है। वैयक्तिक स्तर पर किसी प्रमाता के साथ ऐक्य का सर्जन ही सृष्टि है, दूसरे प्रमाता के साथ ऐक्य का संहार संहार है। घटादि रूप में स्थित होना ही स्थिति है, स्वरूप का पूर्ण निमीलन तिरोभाव है और विविध आभासों में पूर्णता का वितरण ही अनुग्रह है।

इस सम्प्रदाय में इस स्वातन्त्र्य की धारणा के अभिप्राय को व्यक्त करने वाली कई संज्ञाएं मिलती हैं पर वहाँ भी सूक्ष्म विश्लेषण करने पर अभिप्राय व सन्दर्भगत भेद मिलते हैं। जैसे कुल सम्प्रदाय इसे 'विसर्ग' व 'कौलिकी शक्ति' की संज्ञाओं से प्रस्तुत करता है[50], स्पन्द सम्प्रदाय इसे 'स्पन्द' कहता है और प्रत्यभिज्ञा सम्प्रदाय में 'विमर्श' की धारणा में स्वातन्त्र्यगत अभिप्राय को समेटा गया है।[51] इसे ही कहीं 'आन्तरी प्रतिभा' कहा गया है, कहीं 'अहम् प्रत्यवमर्श' व कहीं 'उद्यम'। 'स्फुरत्ता', 'स्फूर्ति', 'ऊर्मि', 'ओज' रूप से भी इसकी चर्चा मिलती है। 'चिति की क्रिया' या 'चिति की कर्तृता' को भी स्वातन्त्र्य कहा गया है।

इस प्रकार यह सम्प्रदाय परमशिव में मूलत: जो दो वैशिष्ट्य स्वीकारता है—स्वच्छता व स्वातन्त्र्य, उनमें से स्वच्छता के कारण उसमें अन्तारूपता बनी रहती है और स्वातन्त्र्य के कारण अन्तारूपता-बहीरूपता का निमेष-उन्मेष हुआ करता है। इन्ही वैशिष्ट्यों को मूल में लेकर यहाँ का दार्शनिक सम्प्रदाय प्रत्यभिज्ञा, प्रकाश व विमर्श की धारणाओं की कल्पना करता है।[52] वस्तुत: जिस आनन्दमय पूर्णतत्त्व की यहाँ कल्पना की गयी है स्वातन्त्र्य उसका मुख्य घटक भी है व मुख्य करण भी। इसी के कारण परतत्त्व निरावृत रूप, आवृत रूप तथा आवृत-अनावृत रूप इन तीनों प्रकार से भासित होता हुआ नाना जागतिक वैचित्र्यों का भासन करता है।[53] इस स्वातन्त्र्य के विभवन में मुख्यत: करण बनता है इच्छा, ज्ञान, क्रिया शक्तियों का समवाय।[54] इस प्रकार यहाँ इस स्वातन्त्र्य के कारण प्रत्ययवाद, वस्तुवाद तथा अद्वयवाद के मध्य के कल्पित भेद का विलय होकर तीनों एक सूत्र में ग्रथित हो जाते हैं और वह स्वातन्त्र्य इन तीनों विरोधी धारणाओं का संगमस्थल बन जाता है जबकि अन्यत्र कहीं ऐसा सम्भव नहीं है।

इस स्वातन्त्र्य की धारणा का एक अन्य सन्दर्भ भी है, वह है 'मोक्ष'। इस सन्दर्भ में यहाँ इस धारणा का निषेधात्मक अभिप्राय न लेकर सकारात्मक अभिप्राय ही स्वीकार किया गया है।

स्वातन्त्र्य का मुक्तिपरक अभिप्राय वेदान्तवत् सब कुछ मायिक व हेय समझकर छोड़ने में निहित नहीं है वरन् सब कुछ स्वात्मविभव रूप में स्वीकार करने में है। यहाँ स्वातन्त्र्य किसी से स्वातन्त्र्य मुक्ति, छुटकारा न हो कर कुछ करने का स्वातन्त्र्य है। अत: मुक्त होकर व्यक्ति जगत् से मुक्त नहीं हो जाता, वरन् विश्वमय हो जाता है, किंचित्त्व से सर्वत्व की ओर मुड़ जाता है। मोक्ष यहाँ किसी नवीन स्वरूप की प्राप्ति नहीं वरन् तिरोहित यथार्थ स्वरूप का ही पुन: प्रत्यभिज्ञान है।[55]

इस प्रकार जहाँ यह स्वातन्त्र्य की धारणा आनन्द, क्रीडा, पंचकृत्यकारित्व, नियमन, सम्बन्ध, कारणता आदि विविध धारणाओं का स्रोत है वहीं उस पूर्ण तत्त्व के विस्तार व संकोच का भी निमित्त है।[56] यह आत्मतत्त्व का स्वभावभूत है जिसका स्वेच्छागृहीत परिसीमन ही उसकी अपूर्णम्मन्यता के लिये उत्तरदायी होता है[57] और पुन: उस यथार्थ आत्मस्वरूप का लाभ उसे पूर्णता का आस्वादन करा कर चमत्कृत कर देता है। अत: यह सारे मलों व उपायों का भी स्रोत है। 'शक्तिपात' की प्रक्रिया इस पारतात्त्विक स्वातन्त्र्य का ही प्रतिफल है फलत: बिना किसी निमित्त के वह कहीं भी किसी पर अनुग्रह कर सकता है।[58] सारे नियम, कारण, क्रम व प्रणाली इसी से उद्गत होती हैं व सारे अक्रम भी इसी से जन्म लेते हैं। कहीं यह स्वातन्त्र्य नियत्युपजीवी है व कहीं नियत्युल्लंघी।[59] *ईश्वरप्रत्यभिज्ञाकारिका* की प्रथम कारिका में 'कथंचित्' के द्वारा उत्पल इसी पारतात्त्विक स्वातन्त्र्य की स्थिति को उपस्थित करते हैं।[60] जागतिक सन्दर्भ में योगी इस स्वातन्त्र्य का स्फुट निदर्शन है[61] जो आत्म-तत्त्व के यथार्थ स्वरूप को जान लेने से स्वातन्त्र्य की उस स्थिति तक पहुँच जाता है जहाँ वह अपनी इच्छामात्र से कुछ भी कर सकने में समर्थ है। रसात्मक अनुभूति भी इस स्वातन्त्र्य की स्थिति का स्पष्ट उदाहरण है[62] जहाँ विभाव, अनुभाव और व्यभिचारियों के संयोग से जो रसानुभूति होती है वह सारे जागतिक कारणों से व नियमों से उत्तीर्ण है। इस प्रकार सर्वजनसंवेद्य अनुभूति को मूल युक्ति स्वीकार कर यह तत्त्वमीमांसा अपनी पूर्णतावादी दृष्टि को स्वानुभवसिद्ध आधार प्रदान करती है साथ ही अन्य तत्त्वमीमांसाओं के सन्दर्भ में इस सम्प्रदाय के युक्तिसम्मत स्वरूप को विकसित करने में इसे प्रमुख करण बनाती है।

पाद-टिप्पणी

1. *शब्दकल्पद्रुम*, भा० 5, पृ० 468.
2. उपरिवत्।
3. स्वातन्त्र्यं चित्तत्वम् । —*ई०प्र०वि०वि*, भा० 1, पृ० 51
4. स्वातन्त्र्यं च नाम यथेच्छं तत्र इच्छाप्रसरस्य अविघात: तेन स्वयं प्रकाशते परात्मना प्रकाशते इति। अनवच्छेदतया प्रकाशमानता तदेव स्वातन्त्र्यं परात्मना प्रकाशते इति। —उपरिवत्, पृ० 37
5. (अ) तथा हि ज्ञानविषयं यथारुचि संयोजनवियोजनलक्षणं स्वातन्त्र्यं प्रकाशविमर्शद्वयसारतया। —उपरिवत्, पृ० 29

   (आ) एतदेव वेदनाधिकं वेदितृत्वं वेदनेषु संयोजनवियोजनयो: यथारुचि करणं स्वातन्त्र्यं, कर्तृत्वं च एतदेव उच्यते ···। —*ई०प्र०वि०* (भा०), भा० 1, पृ० 165
6. (अ) स्वातन्त्र्यं संयोजनवियोजनानुसंधानादिरूपम् आत्मप्रकाशमानतया जडवत् अविश्रान्तत्वम्, अपरिच्छिन्न-प्रकाशसारत्वम्, अनन्यमुखप्रेक्षित्वम् इति। —उपरिवत्, पृ० 247

(आ) स्वातन्त्र्यमेव च अनन्यमुखप्रेक्षित्वम् आत्मनः स्वरूपम्। —उपरिवत्, पृ० 269

(इ) अनन्योन्मुखतया स्वतन्त्रः। —*तं०आ०वि०*,भा० 2, पृ० 71

(ई) अन्यनिरपेक्षतैव परमार्थतः आनन्दः, ऐश्वर्यं, स्वातन्त्र्यं, चैतन्यम्। —*ई०प्र०वि०* (भा०), भा० 1, पृ० 255

7. प्रकाशादनतिरिक्तत्व एव हि विश्वस्य प्रकाशमानत्वं स्यात् अन्यथा हि प्रकाशमानत्वायोगात् न किंचिदपि स्फुरेत् अतएव च स्वयंप्रकाशमानत्वादस्य स्वातन्त्र्यं, प्रकाशादतिरिक्तत्वे हि जडस्य नीलसुखाद्यात्मनोविश्वस्य स्वयमप्रकाशरूपत्वात् ···। —उपरिवत्, पृ० 48

8. (अ) 'स्वतन्त्रता' स्वेच्छामात्राधीनसकलकार्यकर्तृत्वरूपा ···। —*स्प०का०वि०*, पृ० 33

(आ) उक्ता सैव च विश्रान्तिः

सर्वापेक्षानिरोधतः।

स्वातन्त्र्यमथ कर्तृत्वं

मुख्यमीश्वरतापि च।। —*अ०प्र०सि०*, श्लो० 23

9. स्वातन्त्र्यशक्तिरेव हि तत्तदेषणीयाद्युपाधिवशान्नानात्वेन व्यवह्रियते इति तच्छक्तियोगितैवास्यानन्तशक्तित्वम्। —*तं०आ०वि०*, भा० 2, पृ० 108-9

10. ··· विसर्गः स्वातन्त्र्याख्या कौलिकी शक्ति ···। —उपरिवत्, भा० 3, पृ० 1048

11. तदेव तस्य स्वातन्त्र्यं शक्तिर्नियतिनामिका।
यया रुद्रः पशुर्जातु स्वातन्त्र्यं नैव विन्दति।। —*तं०आ०* 1/222

12. आन्तरी प्रतिभा स्वातन्त्र्यशक्तिः। —*तं०आ०वि०*, भा० 2, पृ० 152

13. (अ) देवो हि क्रीडाशील उच्यते, क्रीडा एव च स्वातन्त्र्यम्। —*ई०प्र०वि०* (*भा०*), भा० 1, पृ० 151

(आ) क्रीडति हर्षानुसारेण स्पन्दते। स्वस्वातन्त्र्यमुपदर्शयतीति यावत् । —*म०मं०प०*, पृ० 63

(इ) स्वस्वातन्त्र्यमाहात्म्यात् शिवादिक्षित्यन्ताशेषविश्वात्मनोल्लासनमेव अस्य क्रीडा सर्वोत्कर्षेण वर्तनेच्छा, तथा स्वतन्त्रत्वं व्यवहरणम् इति ···। —*तं०आ०वि०*, भा० 2, पृ० 144

14. स्वातन्त्र्यमिच्छाशक्तिलक्षणमेव ···। —*ई०प्र०वि०वि०*, भा० 2, पृ० 13

15. प्रतिघातरहितस्वातन्त्र्यस्वरूपः नित्याव्यभिचारत्वेन कदापि विच्छेदमगतः यः अहमिति निजामर्शः तन्मयी अनन्यमुखप्रेक्षितारूपा इच्छाख्या शक्तिरेव क्रिया भवति, पुष्टीभावेन तत्पर्यन्तरूपासादनात्। —*भा०*, भा० 2, पृ० 24

16. प्रकाशस्य च परदशायां चमत्कारमात्रात्मा यो विमर्शस्तदेव स्वातन्त्र्यं न तु इच्छारूपं, परापरत्वे तु तदिच्छारूपमिष्यमाणोन्मेषात् अपरदशायां तदेव अपूर्णमिति ···। —*ई०प्र०वि०वि०*, भा० 3, पृ० 25

17. *शि०दृ०वृ०*, पृ० 29.

18. स्वस्वातन्त्र्यमाहात्म्यात् शिवादिक्षित्यन्ताशेषविश्वात्मनोल्लासनमेव अस्य क्रीडा सर्वोत्कर्षेण वर्तनेच्छा, तथा स्वतन्त्रत्वं व्यवहरणम् इति अभिन्नेऽपि स्वात्मनि भेदेन संजल्पः, क्रीडेति देव्यति क्रीडति इति देवः। —*तं०आ०वि०*, भा० 2, पृ० 144

19. नहि किंचिदुपादातुं हातुं वा जगत्सर्गादौ ईश्वरः प्रवर्तते, अत एव स्वानन्दघनत्वमेवात्र हेतुः ··· अत एव चास्य स्वातन्त्र्यमेव सर्वोत्कर्षेण वर्तनेच्छा विजिगीषुता ···। —उपरिवत्, पृ० 144-45

20. *शि०दृ०* 1/37-38.

21. देव शब्द प्राय:द्योतनार्थक दिव् धातु से निष्पन्न माना जाता है। धातुपाठ में इसके विविध अर्थ—क्रीड़ा, विजिगीषा, व्यवहार, द्युति, स्तुति, मोद, मद, स्वप्न, कान्ति, गति आदि उपलब्ध होते हैं। काशकृत्स्न भी इसका मुख्य अर्थ 'द्योतन' ही मानते हैं। यास्काचार्य *निरुक्त* (7/15) में 'देवो दानाद्वा दीपनाद्वा द्योतनाद्वा द्युस्थानी भवतीति' कहकर इसकी व्याख्या करते हैं। पर महाभाष्यकार पतञ्जलि 'दिवैरैश्वर्यकर्मणोदेवं' (*म०*, भा० 4, पृ० 275) कह कर इसमें ऐश्वर्यपरक अर्थ को प्रमुख मानते हैं। अत: यह देव शब्द द्योतन व ऐश्वर्य इन दो सन्दर्भों को मुख्यत: व्यक्त करता है जो कि सौन्दर्यशास्त्रीय व ऐश्वर्यवादी इन उभय दृष्टियों का मौलिक आधार है। काश्मीर शिवाद्वयवाद इन दोनों ही संदर्भों को स्वीकार करता है।

22. अनन्यनिरपेक्षतैव परमार्थत आनन्द:, ऐश्वर्यम्, स्वातन्त्र्यम्, चैतन्यम्। —*ई०प्र०वि०* (भा०), भा० 1, पृ० 255

23. तस्मादनपह्नवनीयप्रकाशविमर्शात्मा संवित्स्वभाव: परमशिवो भगवान् स्वातन्त्र्यादेव रुद्रादिस्थावरान्तप्रमातृरूपतया नीलसुखादिप्रमेयतया च अनतिरिक्ततया अतिरिक्ततया इव स्वरूपानाच्छादिकया संविद्रूप नान्तरीयक स्वातन्त्र्यमहिम्ना प्रकाशत इति अयं स्वातन्त्र्यवाद: ···। —*ई०प्र०वि०वि०*, भा० 1, पृ० 9

24. परिगृहीतसंकोचे हि पुंसि तीव्रमन्दादिरूपं यत्सुखाद्यात्मकफलं, तत्र भोक्तव्ये यत्तस्य भुजिक्रियाविषयं स्वातन्त्र्यं कर्तृत्वं तदणो: सत एव। यतस्तत्कर्मजं न तु सहजमिति तत्र लयादिनिमित्तान्तरमवश्यमृग्यम् ···। —*तं०आ०वि०*, भा० 5, पृ०, 2273

25. स्वातन्त्र्येऽपि विश्वात्मताप्रसरणरूपस्वविभवास्वादोऽपरिसमाप्तो यस्यास्ति स्वभावविशेषस्तस्य प्रागुक्तैव सर्वदा विश्वरूपताप्रसरणे निमित्ततेत्येवमभिनवेच्छोदये निमित्तं नास्तीति दूषणम्। —*शि०दृ०वृ०*, पृ० 140

26. *ई०प्र०वि०वि०*, भा० 1, पृ० 8-9.

27. यहाँ तक कि तथाकथित अव्यवस्था के मूल में भी एक रहस्यमय व्यवस्था छिपी हुई है। विज्ञान की नई स्थापनाओं में कॅऑस (chaos—अव्यवस्था) की स्थापना आविष्करण काल की अव्यवस्था में छिपी हुई इसी व्यवस्था का निदर्शन कराती है।

28. *तं०आ०* 13/123-24.

29. संयोजनवियोजनात्मकं स्वातन्त्र्यं ···। —*अ०प्र०सि०*, पृ० 6; *म०मं०प०*, पृ० 44 भी दृष्टव्य

30. स्वातन्त्र्यं च अस्य अभेदे भेदनम्, भेदिते च अन्तरनुसंधानेन अभेदनम् इति बहुप्रकारं ···। —*ई०प्र०वि०* (भा०), भा० 1, पृ० 53

31. यत्किल मायापदे अतिदुर्घटं प्रतिभाति तत्संपादने यत् अप्रतिहतं स्वातन्त्र्यं तदेव पुन: स्वातन्त्र्यशब्देन दर्शितम्। —उपरिवत्, पृ० 271

32. (अ) विभेद की धारणा निषेध के प्रत्यय पर ही आधारित है। —उपरिवत्, पृ० 36

(आ) अतिदुर्घटकारित्वं च स्वात्मतया स्थितस्य विश्वस्य भिन्नतया भासनं भासितस्य तु पुन: स्वात्मभावेन विमर्शनमिति द्विविधम् ···। —*भा०*, भा० 1, पृ० 27

33. इह परमेश्वरस्य इदमेव परं स्वातन्त्र्यं यत् अस्मादृक्प्राच्यपशुदशाविशेषासंभाव्यमानातिदुष्करवस्तुसंपादनं नाम। किम् अतिदुष्करं यत्प्रकाशात्मनि अखण्डिततादृूप्ये एव प्रकाशमाने प्रकाशननिषेधावभास: प्रकाशमान:। तस्मात् परमेश्वरस्य तत्परं स्वातन्त्र्यं यत् तथानवभासनं पशुरूपतावभासनं नाम ग्राहकांशसमुत्थापनं तद्द्वारेण च ग्राह्योल्लासनमपि। —*ई०प्र०वि०* (भा०), भा० 2, पृ० 141-42

34. यो यावति ज्ञाता कर्ता च स तावति राजेव, अनीश्वरस्य ज्ञातृत्वकर्तृत्वे स्वभावविरुद्धे यत: आत्मा च विश्वत्र ज्ञाता कर्ता च ···। —उपरिवत्, भा० 1, पृ० 68

35. *ई०प्र०वि०वि०*, भा० 2, पृ० 331.

36. यथाऽतिसूक्ष्मोऽप्यग्निकण: दाहकत्वेन महाग्निचयादभिन्न एव तथा जीवोऽपि ज्ञानक्रियास्वतन्त्रत्वेन ईश्वराभिन्न एव, दृष्टान्ते संभवत्यपि उपाधिकृत: कणचयभावरूपो भेद:, दार्ष्टान्तिके तु सोऽपि न संभवति एव उपाधेरपि तत्त्वानपायात् ···। —*भा०*, भा० 2, पृ० 144

37. सैषा भगवतो मायाशक्तिरुच्यते। ··· तदेवंभूतात् मायाशक्तिरूपात् स्वातन्त्र्यात् या मूढता विनष्टपूर्णचेतनता स्वात्मवर्तिन इच्छास्पन्दोदयस्फुट-स्फुरितविश्वभावनिर्भरतात्मन: पूर्णत्वस्य, स्मृत्यादिशक्त्यात्मन: स्वातन्त्र्यस्य, देशकालसंकोचवैकल्यात् अयत्नसिद्धवैभवनित्यताधर्मस्य च प्रकाशमानस्यापि यदप्रकाशतया अभिभव-नम् ···। —*ई०प्र०वि०* (भा०), भा० 2, पृ० 142-43

38. तदेव तस्य स्वातन्त्र्यं शक्तिर्नियतिनामिका।
यया रुद्र: पशुर्जातु स्वातन्त्र्यं नैव विन्दति।। —*तं०आ०* 1/222

39. स्वस्वातन्त्र्येण ·· स्वात्मन्येवोद्भासयन् विलापयंश्यचाप्रच्युतस्वात्मस्थिति: ···। —*अ०प्र०सि०वृ०*, पृ० 8

40. स्वातन्त्र्यं हि स्वप्रकाशत्वमुच्यते। —*तं०आ०वि०*, भा० 4, पृ० 1647

41. प्रकाश्यतैव हि पारतन्त्र्यम्, प्रकाश्यता च प्रकाशान्तरापेक्षितैव ···। —*तं०सा०*, पृ० 6

42. स्वातन्त्र्यं च नाम यथेच्छं तत्र इच्छाप्रसरस्य अविघात:, तेन स्वयं प्रकाशते परात्मना प्रकाशते इति अनवच्छेदनया प्रकाशमानता, तदेव स्वातन्त्र्यं परात्मना प्रकाशते इति। —*ई०प्र०वि०वि०*, भा० 1, पृ० 82

43. *भा०*, भा० 2, पृ० 236-237

44. *तं०आ०वि०*, भा० 5, पृ० 1916-1917

45. परमेश्वरशक्तिरेव स्वातन्त्र्यापरपर्याया भविष्यति ···। —*तं०सा०*, पृ० 11
शक्तिमत: शक्तित्वं नाम स्वातन्त्र्यं ···। —*शि०दृ०वृ०*, पृ० 97, पा० टि० 2

46. *वि०भै०*, पृ० 21.

47. ज्ञानकर्मेन्द्रियावान्तरभेदात्मना शक्तीनां संभव, वस्तुतस्तु एक एवासौ धर्म: समवायाख्य:। —*तं०सा०*, पृ० 94, पा०टि० 7

48. (अ) ··· विश्वजननीषु शक्तिषु, परमार्थो हि स्वतन्त्रतामात्रम्। —*तं०आ०* 15/348
(आ) ··· अतएव भगवतश्चिदानन्दाद्यनन्तशक्तिसंभवेऽपि तत्स्फुरणमात्रत्वात् तासां, तस्या एव प्राधान्यात् ···। —*तं०आ०वि०*, भा० 2, पृ० 6

49. ··· या सा शक्तिर्जगद्धातु: कथिता समवायिनी। —उपरिवत्, भा० 2, पृ० 16 (उद्धृत)

50. ··· विसर्ग: स्वातन्त्र्याख्या कौलिकी शक्ति: ···। —उपरिवत्, भा० 3, पृ० 148

51. तत्र कर्तृत्वलक्षणा स्वातन्त्र्यशक्तिर्विश्वशक्तिश्रेणीसमाक्षेपेण वर्तते इति सैव विमर्शरूपा प्रधानमिति तात्पर्यम्। —*ई०प्र०वि०वि०*, भा० 1, पृ० 227

52. *ई०प्र०वि०* (भा०), भा० 2, पृ० 16; *ई०प्र०वि०वि०*, भा० 1, पृ० 6.

53. निरावरणमाभाति भात्यावृतनिजात्मक:।
आवृतानावृतो भाति बहुधाभेदसंगमात्।। —*तं०आ०* 1/93

54. ··· शक्तित्रयं नाथे स्वातन्त्र्यापरनामकं।
इच्छादिभिरभिख्याभिर्गुरुभि: प्रकटीकृतम्।। —उपरिवत् 1/94

55. *ई०प्र०का०* 4/1/15-17.

56. परमार्थतस्तुसएव क्रमाक्रमरूपविश्वसृष्ट्यादिकृत्यपंचकप्रपंचस्वभाव: प्रकाशते। —*ई०प्र०वि०* (भा०), भा० 2, पृ० 173

57. इत्थं सृष्टिस्थितिध्वंस—
त्रये मायामपेक्षते।
कृत्ये मलं तथा कर्म
शिवेच्छैवेति सुस्थितम्। —*तं०आ०* 13/113-14

58. (अ) अत: कंचित्प्रमातारं
प्रतिपद्यते विभु।
पूर्णमेव निजं रूपं
कंचिदंशांशिकाक्रमात्।। —उपरिवत् 1/140
(आ) अनुग्राह्यनपेक्षोऽस्ति न हि कश्चिदनुग्रह:।
अत: स्वातन्त्र्यशब्दार्थानपेक्षत्वलक्षण:।। —*महा०शि०पु०* (वायु-संहिता) 31/7

59. भगवान् भूरिगर्भो महादेवो नियत्यनुवर्तनोल्लंघनतरस्वातन्त्र्य: इत्यत्रपक्षे नियत्यनुवर्तिन: लौकिके प्रसिद्धे कार्यकारणभावे स्वातन्त्र्यं तदुल्लंघनमाद्रियमाणस्य योगिप्रायप्रसिद्धे लोकोत्तरे इति न कश्चित् विरोध:। —*ई०प्र०वि०* (भा०), भा० 2, पृ० 172-73

60. *ई०प्र०का०* 1/1/1.

61. उपरिवत्, 1/5/7.

62. तस्मादनुपचरितस्य संवेदनरूपतानान्तरीयकत्वेन अवस्थितस्य स्वतन्त्रस्यैव रसनैकघनतया परामर्श: परमानन्दो निर्वृतिश्चमत्कार उच्यते। —*ई०प्र०वि०वि०*, भा० 1, पृ० 179

अध्याय सात

शक्ति

शक्ति की धारणा का इस आगमिक धारा में विशेष माहात्म्य है। समस्त संभाव्य गति या क्रिया का सम्बन्ध उसी से जोड़ा गया है। शक्ति के बिना शिव शव है—यह कथन इसी तथ्य का पोषक है कि यह शक्ति-पक्ष ही सारी सामर्थ्यों का प्रतिनिधि है, अत: शिव की चेतनता भी इसी के द्वारा सम्भव है। तभी यहाँ शिव को सर्वदा शक्ति से अव्यतिरिक्त कहा गया है।[1] शक्ति का व्युत्पत्तिजन्य अर्थ ही है 'सामर्थ्य' और इसी अभिप्राय को यह आगमिक धारा शब्दश: तथा अर्थश: ग्रहण करती है। यद्यपि तांत्रिक साहित्य में शिव व शक्ति के जिस मानवाकार रूप की कल्पना की गयी है वहाँ शक्ति को विविध देवियों के रूप में ही देखा गया है। पर सर्वक्रियासामर्थ्य उन सभी का अनिवार्य स्वरूप है। वस्तुत: तो इस आगम-तन्त्र परम्परा में शिव व शक्ति को केन्द्र बनाकर अलग-अलग सम्प्रदायों का विकास हुआ है जिन्हें 'शैव धारा' व 'शाक्त धारा' कहा गया है। शैव धारा ने शिव को ही सर्वोच्च तत्त्व माना है और शाक्त धारा ने शक्ति को। पर दोनों ही धाराएं शक्ति या शिव को उस सर्वोच्च तत्त्व के अभिन्न पक्ष रूप में स्वीकार अवश्य करती हैं। इस तांत्रिक संस्कृति में उपलब्ध विविध सम्प्रदायों के विश्लेषण से यह भी ज्ञात होता है कि पहले शिव की एक ब्रह्मचारी के रूप में कल्पना की गयी फिर शक्ति को भी उसका अनिवार्य पक्ष माना गया। पहले शिव को ही शक्ति से प्रधान कहा गया,[2] शक्ति को तो मात्र उसकी अर्द्धांगिनी के रूप में ही मान्यता मिली। फिर कालान्तर में शक्ति को भी विविध सामर्थ्यों से संवलित माना जाने लगा और धीरे-धीरे उस को इतना प्राधान्य मिला कि वह स्वतन्त्रतया रूप से देवी रूप में पूजित होने लगी और तब उसको केन्द्र बनाकर विविध साधना पद्धतियों का विकास हुआ।

शक्ति की धारणा वस्तुत: पूरी तांत्रिक संस्कृति का व्यवच्छेदक धर्म है, क्योंकि वैदिक संस्कृति में वर्णित शिव परम्परा में या तो विशुद्ध शिव रूप की कल्पना है या शक्ति को स्वीकार करने पर भी वह स्थान नहीं दिया गया है जो तांत्रिक संस्कृति में उसे मिला है। वस्तुत: तन्त्र शब्द अपने व्युत्पत्तिपरक अभिप्राय को इसी अवधारणा के द्वारा चरितार्थ करता है क्योंकि तन्त्र शब्द जिस तनु धातु से निष्पन्न माना जाता है वह 'विस्तार' व 'संकोच' दोनों ही अर्थों को ध्वनित करती है और शक्ति का प्रत्यय भी इन्हीं दोनों संभावनाओं को लेकर प्रस्तुत होता है। शक्ति की धारणा अनिवार्यत: सर्जन-सामर्थ्य (potency to create) की धारणा से जुड़ी हुई है पर यह 'सर्जन' अति व्यापक प्रत्यय है जिसकी परिधि में स्थिति व संहार भी सिमट जाते हैं और काश्मीर शिवाद्वयवादी दृष्टि में स्वीकृत तिरोधान व अनुग्रह भी इसी का अंग बन कर आते हैं। इसी दृष्टि से इस प्रत्यय को यहाँ सर्जन न कह कर मात्र 'गति' कहा गया है। गति की अनन्त दिशाएं सम्भव हैं फलत: शक्ति गतिपरक अभिप्राय में व्याख्यात होकर अनन्त सम्भावनाओं का स्रोत है,

साथ ही शिव या महेश्वर में उसके इसी गतिपरक सर्जनसामर्थ्य की प्रतिनिधि होकर उसका अभिन्न अंग है। बिना ईशता के ईश्वरत्व कैसे, बिना प्रभुता के प्रभु कैसे और बिना लीला के देव कैसे, अत: शिव व शक्ति को यहाँ सदैव अन्योन्याश्रित कहा गया है। वे दोनों एक ही तत्त्व के दो पक्ष है। ईश्वर की ईशता उसकी गतिसामर्थ्य ही है, यही उसकी प्रभुता है और यही उसकी लीला। तांत्रिक साहित्य में यही शक्ति कहीं शिव की अर्द्धांगिनी रूप में कल्पित होकर उमा, महेश्वरी, पार्वती है व कहीं स्वयं सर्वकर्तृत्वसामर्थ्यमयी परमेश्वरी है। शैव व शाक्त दृष्टियों में मात्र प्रधानता या बल (emphasis) का भेद है। शैव दृष्टि में शिव पक्ष की प्रधानता है व शाक्त दृष्टि में शक्ति पक्ष की।

इस प्रकार यह शक्ति एक तांत्रिक प्रत्यय है जिसे उत्तरकाल में दार्शनिक सन्दर्भों में विविध तरह से विकसित किया गया है। दार्शनिकीकरण की प्रक्रिया में सर्वप्रथम *शिवसूत्र* में शक्ति की धारणा का विविध सन्दर्भों में प्रयोग मिलता है। प्रथम तो यहाँ तांत्रिक व दार्शनिक सन्दर्भों के एकीकरण की झलक मिलती है। 'इच्छाशक्तिरुमा कुमारी'[3] कह कर उमा के पौराणिक रूप के साथ इच्छा शक्ति को जोड़ा गया है। यह इच्छा ही आगे चल कर स्वातन्त्र्य की धारणा के रूप में विकसित होती है। उमा जैसे शंकर की अर्धांगिनी है वैसे ही शक्ति भी शिव से अभिन्न है। इसी शक्ति का सन्धान कर उससे तन्मयीभाव प्राप्त करने पर अभीष्ट शरीर की प्राप्ति, भूतसंधान, भूतपृथक्त्व, विश्वसंघट्ट आदि रूप परिमित सिद्धियों की तथा चक्रेशत्व रूप परा सिद्धि की प्राप्ति हो जाती है।[4]

इस शक्ति को यहाँ 'महाह्रद' रूप माना गया है।[5] जिसमें विविध प्रकार के प्रवाह विद्यमान हैं। अत: वह देशकालोत्तीर्ण होकर भी सारे विश्व से व्याप्त है। इससे तादात्म्य सिद्ध हो जाने पर समस्त वाचक व वाच्य रूप जगत् का विमर्शन हो जाता है।[6] एक अन्यसूत्र (उद्यमो भैरव:)[7] में 'उद्यम' शब्द समस्त शक्तियों के सामरस्य का ही नाम है जिसे अन्त:परिस्पन्द मात्र ही कहा जा सकता है। उत्तरवर्ती साहित्य में उद्यम अर्थात् उद्योग को शक्ति के पर्याय रूप से ही प्रस्तुत किया गया है।[8] इसी उद्यम से सारे जगत् का प्रसार होता है अत: पुन: इस शक्तिचक्र का यथार्थ ज्ञान प्राप्त करने पर सारे विश्व का संहार हो जाता है।[9]

शिवदृष्टि में सोमानन्द शक्ति की धारणा को पर्याप्त विकसित करते हैं। शिव (परमेश्वर) ही अपनी शक्ति से नाना जागतिक जीवों के रूप में प्रकट होकर नाना प्रकार के व्यापार करता है[10]—इस मान्यता का वह बराबर पोषण करते हुए 'सर्वशिवता' की सिद्धि करते हैं।[11] इस सन्दर्भ में वह शिव की मुख्यत: पाँच शक्तियों को उसका स्वरूप व सारे व्यापारों का मूल बतलाते हैं।[12] वे पाँच हैं—'चित्', 'आनन्द', 'इच्छा', 'ज्ञान' व 'क्रिया'। वह शक्ति को सर्वोच्च तत्त्व मानने वाले शाक्ताद्वयवादियों की दृष्टि का खण्डन कर 'सर्वशिवता' की दृष्टि का मण्डन करते हैं। उनके मत में यह 'सर्वशिवता' शक्ति के माध्यम से ही समर्थनीय है। जहाँ भी सत्त्व है वहाँ शक्तता अनिवार्य है और तभी वह अर्थक्रियाकारी है। जैसे सभी पदार्थों में नाना शक्तियाँ हैं पर उनमें एक प्रधान होती है जो अन्य शक्तियों का नियमन करती है वैसे ही मूलत: एक शिव ही शक्त है जो अन्य नाना शक्तियों का नियन्त्रण करता है।[13] सारे पदार्थ शिव की शक्ति रूप ही हैं जिनके रूप में वह एक मात्र शिव (शक्त) ही व्यापार करता है।[14] वे शक्ति की परावस्था का

बखान करने वाले शाक्ताद्वयवादियों का खण्डन करते हुए कहते हैं कि शक्ति की परमता तो भक्तिवशात् ही कथित है।[15] वस्तुत: शक्ति के द्वारा शिव ही प्रकाशित होता है क्योंकि शक्ति तो हमेशा शिव के अधीन ही रहती है और शक्ति व शिव कहीं व्यतिरिक्त हैं ही नहीं।[16] शक्ति व शक्तिमान् में भेद मानने पर तो आशंका होगी कि फिर कार्य कौन करता है, शक्ति या शक्तिमान्। वस्तुत: कर्ता तो शक्तिमान् है और शक्ति है उसका करण। यदि शक्ति ही सब कार्यों को करने में समर्थ मानी जाये तो शक्तिमान् रूप शिव को स्वीकारने की कोई आवश्यकता नहीं होगी।[17] पर फिर आगम-वचन मिथ्या होगा जिसके अनुसार दो प्रकार के पदार्थ हैं शक्ति व शक्तिमान्।[18] और केवल शक्तिमान् की कल्पना भी उपपन्न नहीं है क्योंकि शक्ति तो उसका स्वभाव है अत: बिना स्वभावभूत धर्म के स्वभाववान् की कल्पना कैसे सम्भव होगी।[19] अत: यही उपपन्न है कि स्वस्वभावरूप शक्ति को गर्भीकृत किये हुए शक्तिमान् का एक ही स्वरूप है। जब उसमें प्रतीति की अधिकता स्फुरित होती है तब उसे शक्ति कहते हैं और उसी के आश्रय से उस शक्त को शक्तिमान् कहते हैं।[20] धर्मी के बिना मात्र धर्म के द्वारा कहीं भी व्यवहार संभव नहीं है। अत: शिव को ही शक्ति को गर्भित किये रूप में स्वीकारना उपपन्न है।

आचार्य उत्पल के ग्रंथों में इस शक्ति की धारणा का विशेष दार्शनिक सन्दर्भ में विकास हुआ है। वे 'ज्ञान' व 'क्रिया' 'सामर्थ्य' को ही चैतन्य का परिचायक मानते हैं और इन्हीं शक्तियों के आविष्करण से उस ईश्वरत्व के प्रत्यभिज्ञान को अपनी *ईश्वरप्रत्यभिज्ञाकारिका* का प्रमुख प्रतिपाद्य बनाते हैं।[21] यहाँ सोमानन्द के द्वारा प्रतिपादित चित् व आनन्द (निर्वृतचित्) का उल्लेख गौण होकर ज्ञान व क्रिया को प्रधानता दी गयी है।[22] संभवत: इसका कारण यह है कि मूलत: व्यवहार की सिद्धि में इन्हीं दो शक्तियों की प्रधानता है।[23] इच्छा को इन दोनों के भी मूल में मानकर उसको विशेष माहात्म्य प्रदान किया गया है क्योंकि यह इच्छा ही उस असीमित स्वातन्त्र्य की परिचायिका है जिसका विभवन उसके सारे ज्ञानात्मक व क्रियात्मक व्यापारों में होता है। इच्छा का परिनिष्ठित रूप ही क्रियात्मकता को प्राप्त कर स्फुट ज्ञानात्मक व क्रियात्मक व्यापारों के रूप में प्रकट होता है।[24] अत: यहाँ शक्ति एक ओर अद्वय की पूर्णता का करण है, उसका ऐश्वर्य है[25] वहीं अपने यथार्थ स्वरूप के प्रत्यभिज्ञान का साधन भी है।[26] यहाँ जागतिक सन्दर्भ को ही विशेषत: दृष्टि में रख कर सारे विवेचन किये गये हैं, अत: ज्ञानशक्ति के त्रिविध रूपों—'स्मृति', 'ज्ञान' व 'अपोहन' तथा क्रियाशक्ति के 'कालशक्ति' व 'क्रियासामर्थ्य' रूपों की यहाँ विशेष चर्चा है। ये सारे विवेचन उस अद्वयतत्त्व के जागतिक प्रसार हेतु संभव स्थितियों के सन्दर्भ में शक्ति की धारणा को प्रस्तुत करते हैं। ज्ञानशक्ति स्मृति, ज्ञान व अपोहन के रूप में परमेश्वर में नानात्व की स्थिति को संभव बनाती है[27] और क्रियाशक्ति उनके स्फुटतया बहि:भासन के कर्तृत्व को निभाती है।[28] अन्तत: अब वह परमाद्वैततत्त्व पहले छत्तीस तत्त्वों के रूप में भासित होकर फिर नाना प्रमाता व प्रमेय रूपों को धारण करता है। स्मृतिशक्ति के माध्यम से परमेश्वर में समस्त भावजात की अन्त:स्थता की संस्कार रूप से सिद्धि होती है। ज्ञानशक्ति के माध्यम से वे स्फुट रूप को प्राप्त करते हैं और अपोहनशक्ति उनमें विशिष्टरूपता का निमित्त बनती है। क्रियाशक्ति उनके बहि:प्रकाशन के लिये उत्तरदायी बनती है।

अभिनवगुप्त आचार्य उत्पल की ही मान्यताओं का समर्थन करते प्रतीत होते हैं पर उनका फलक अति विस्तृत है, अत: उनके ग्रन्थों में शक्ति का प्रत्यय सारे सन्दर्भों में विकसित दिखाई पड़ता है। उनकी दृष्टि में इस सम्प्रदाय की मान्यता के अनुसार उस शिव/परमशिव के अतिरिक्त सब कुछ शक्तिरूप है अत: सारे विवेचन, सारी धारणाएं व सारी मीमांसाएं इसी शक्ति के ही प्ररूप हैं।[29] परमेश्वर से अतिरिक्त अन्य किसी की भी शक्तिरूपता की मान्यता उन सबकी एकात्मता में पुष्ट प्रमाण है और इस 'पूर्णतावादी अद्वयवाद' की पोषक प्रबल युक्ति है। परमेश्वर अपनी 'तिरोधानशक्ति' के द्वारा स्वरूपगोपन कर अणु बनता है व 'अनुग्रहशक्ति' के द्वारा शक्तिपात कर पुन: स्वस्वरूपलाभ करता है।[30] इस व्यापार का निमित्त है उसका स्वभाव जिसे यह सम्प्रदाय स्वातन्त्र्यशक्ति रूप से प्रस्तुत करता है। यही 'सृष्टि', 'स्थिति' व 'संहार' शक्तियों के द्वारा इस नानात्मक जगत् की स्थिति को सम्भव बनाता है। ये पाँच शक्तियाँ उसके पाँच कृत्य हैं जो कि उसके स्वातन्त्र्य के ही प्रसार हैं।[31] यही स्वातन्त्र्यशक्ति मोहन व भेदन कृत्य की प्रधानता होने पर 'मायाशक्ति' के रूप में रूपान्तरित हो जाती है। इसी प्रकार अन्य सन्दर्भों में विविधतया शक्तियों का उल्लेख मिलता है। जैसे परमेश्वर के स्वरूप की दृष्टि से पाँच शक्तियाँ हैं—'चित्', 'शक्ति', 'आनन्दशक्ति', 'इच्छाशक्ति', 'ज्ञानशक्ति', 'क्रियाशक्ति'। विश्वमयता की दृष्टि से शक्तियाँ हैं दो—'चित्शक्ति' व 'स्वातन्त्र्यशक्ति'। स्वातन्त्र्यशक्ति ही इच्छा व माया रूप है। इसका प्रसार 'नियतिशक्ति', 'प्राणशक्ति', 'मन:शक्ति' और 'देह-शक्ति' के रूप में होता है। नियतिशक्ति का पुन: 'इच्छाशक्ति', 'अज्ञानशक्ति' व 'क्रिया-शक्ति' के रूप में विभवन होता है। इस क्रियाशक्ति का विभवन 'ज्ञातृत्वशक्ति' व 'कर्तृत्व-शक्ति' के रूप होता है और ज्ञातृत्वशक्ति का 'ज्ञानशक्ति', 'स्मृतिशक्ति' व 'अपोहनशक्ति' के रूप में। कर्तृत्वशक्ति का प्रसार 'कालशक्ति' व 'क्रियाशक्ति' के रूप में होता है।[32] क्रियाकारित्व की दृष्टि से यह शक्ति 'सृष्टि', 'स्थिति', 'संहार', 'तिरोधान' व 'अनुग्रह' रूप है, प्रमातृस्वातन्त्र्य की मात्रा की दृष्टि से यह 'प्रभुशक्ति' (परमात्मा की सामर्थ्य), 'आत्मशक्ति' (सीमित प्रमाता की सामर्थ्य) तथा 'प्राणशक्ति' (शारीरिक क्रियाओं में प्राण वायु की सामर्थ्य रूप) रूप है। सीमित प्रमाता में ये ही तीन शक्तियाँ—'सत्त्व', 'रजस्' व 'तमस्' रूप गुण बन जाती हैं।[33] *ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी* में वह एक अन्य तरह से भी शक्तियों का विभाजन करते हैं।[34] इच्छाशक्ति के व्यापार में भेद अस्फुट रहता है, ज्ञानशक्ति में भेद स्फुट हो जाता है और क्रियाशक्ति में भेद में प्ररूढता आ जाती है। पर जब इन सबमें ग्राहक और ग्राह्य दोनों के विपर्यास की प्ररूढता होती है तो मायाशक्ति की कर्तृता का क्षेत्र प्रारम्भ होता है। यहीं एक अन्य शक्ति भी सक्रिय होती है वह है 'विद्याशक्ति'। इसके कारण योगी व ज्ञानी प्रमाताओं को वस्तु के यथार्थ स्वरूप का प्रकाशन संभव होता है यद्यपि ग्राहक व ग्राह्य उभयविपर्यास के संस्कार यहाँ अभी भी शेष रहते हैं। वाक्-सृष्टि के सन्दर्भ में वे 'मातृका' व 'मालिनी' शक्तियों की चर्चा करते हैं तथा तांत्रिक साधना के सन्दर्भ में 'खेचरी', 'गोचरी', 'दिक्चरी', 'भूचरी' आदि शक्तियों की कल्पना करते हैं। सर्वानुवृत्तिमूलक दृष्टि से तो सारा तत्त्व-विकास ही शक्ति रूप है। शक्ति को ही उस शिव तक पहुँचने का प्रवेशद्वार कहा गया है। अत: 'शक्तिचक्र का अनुसंधान' ही इस सम्प्रदाय की सारी मीमांसाओं का एकमात्र लक्ष्य है।

स्पन्द ग्रंथों में यह शक्ति 'स्पन्द' की संज्ञा से उल्लिखित है जिसके दो पक्ष हैं—'उन्मेष' व 'निमेष'।[35] वहाँ इन दोनों को भी शक्ति कहा गया है। शब्द शक्तियों को वहाँ भी बन्ध[36] व मोक्षकारी बतलाया गया है। यहाँ मातृका वह पराशक्ति है जिसके नाना शब्दों के रूप में प्रसार से व्यवहार सम्भव होता है। यही क्रियात्मिका शक्ति है।[37] स्पन्द ग्रन्थ इस स्पन्द तत्त्व का ही विस्तार से विवेचन करते हैं पर जहाँ कारिका अंश में इसे स्पष्टत: शक्ति रूप में वर्णित नहीं किया गया है वहीं टीकाकार इसका शक्तिपरक दृष्टि से ही विश्लेषण करते हैं।

आगे के टीकाकारों में विशेषत: जयरथ व क्षेमराज उल्लेखनीय हैं जिनमें से जयरथ *तंत्रालोक-विवेक* में तांत्रिक परिप्रेक्ष्य में शक्ति के विविध सन्दर्भों का विश्लेषण करते हैं और क्षेमराज अपने स्पन्द ग्रन्थों व तांत्रिक टीकाओं में, क्रम सन्दर्भों में, शक्ति की अवधारणा का विवेचन प्रस्तुत करते हैं।

पर इन सभी के विवेचनों से एक बात स्पष्ट है कि शक्ति की धारणा का मूल अभिप्राय सब जगह एक है, मात्र सन्दर्भगत वैचित्र्य के कारण संज्ञाभेद मिलता है। साथ ही आग्रह का भेद होने से भी कहीं किसी अंश की प्रधानता है और कहीं किसी अंश की। पर शक्ति वस्तुत: एक है, इस बात पर सर्वत्र विशेष बल है। उसकी नानारूपता तो स्वातन्त्र्य के कारण ही भासित होती है। शक्ति का मुख्य व्यापार है 'सर्जन' जिसको स्पन्द सम्प्रदाय उन्मेष-निमेष रूप से व्याख्यात करता है, प्रत्यभिज्ञा सम्प्रदाय स्वात्मप्रत्यवमर्शन या स्वात्मपरामर्शन रूप से प्रस्तुत करता है, क्रम सम्प्रदाय कलन कहता है और कुल सम्प्रदाय विसर्ग की धारणा से इसका सम्बन्ध जोड़ता है। यह गतिपरक सर्जन-सामर्थ्य सदैव निषेधव्यापाररूप है[38] क्योंकि एक का प्रादुर्भाव अन्यों का अभिभव है।

विविध विवेचनों से ज्ञात होता है कि इस काश्मीर शिवाद्वयवाद में शक्ति को विविध तरह से परिभाषित करने का प्रयास किया गया है—

1. शक्ति ही चैतन्य है।[39]
2. परप्रमाता के स्वरूप का जो प्रकाशन करती है वह शक्ति है।[40]
3. शक्ति सामर्थ्य है।[41]
4. क्रमिक प्रसरण ही शक्ति है।[42]
5. भवन-कर्तृता ही सत्ता है और वही विमर्शरूपा क्रियाशक्ति है।[43]
6. इच्छादि शक्तियाँ भोग्य हैं और यही भोग्यत्व अनुत्तर की शक्तिता है।[44]
7. प्रतिभा ही शक्ति है।[45]
8. पूर्णता ही शक्ति है।[46]

इन परिभाषाओं के अन्वीक्षण से यही प्रतीत होता है कि ये परिभाषाएं प्रत्यक्षत: या परोक्षत: उस 'गतिसामर्थ्य' की ओर ही संकेत करती हैं। वस्तुत: शक्ति शब्द शक् धातु से निष्पन्न है जिसका अर्थ 'सकना' या 'हो सकना' है अत: जिसमें होने या हो सकने की संभावना है वह शक्ति है।[47] अत: यह गति यहाँ सामर्थ्यपरक ही है। यह शक्ति न गुण है न धर्म वरन् शक्तिमान् का स्वभाव है। इसे शक्तिमान् से सम्बद्ध होने के लिये किसी सम्बन्ध की आवश्यकता नहीं है।

वैसे सामान्यत: शक्ति (शक्+क्तिन्) शब्द के कोशगत अर्थ कार्यजननसामर्थ्य, द्रविण, साहस, बल, शौर्य, पराक्रम, प्राण, ऊर्जा, गौरी, लक्ष्मी, अस्त्रविशेष, चैतन्य, चित्, निर्विषयकसंवित्,

स्त्री, बुद्धि-सामर्थ्य, अर्थबोध, अस्त्रभेद, शब्दनिष्ठ शक्ति आदि हैं।[48] पर इनमें से सामर्थ्य रूप अभिप्राय विशेषत: इस शब्द से जुड़ा हुआ है क्योंकि अन्य सभी अर्थों में यह 'सामर्थ्य' रूप अभिप्राय ही मूलत: अन्तर्निहित है। काव्य-शास्त्र के सन्दर्भ में भी शक्ति का प्रत्यय विशेष महत्त्वपूर्ण है। यहाँ शक्ति संस्कार-विशेष है[49] जिसको काव्य के प्रमुख हेतुओं में से एक माना गया है। यही शक्ति प्रतिभा रूप से भी वर्णित है। कवि में जो स्वभावत: उदित इन्द्रियोत्तीर्ण प्रज्ञा है वही उसकी काव्यसृष्टि का मूल है। इसी दृष्टि से यह सम्प्रदाय भी शक्ति को 'प्रतिभा' कहता है[50] और परप्रमाता को उससे समीकृत करता हुआ उस परम प्रमाता महेश्वर में नानात्मक वैचित्र्य के लिये एक प्रामाणिक निमित्त प्रस्तुत करता है।

अगर हम शक्ति शब्द के विकासक्रम को देखें तो पाते हैं कि इसका प्रयोग प्राय: हर जगह सामर्थ्य के अर्थ में ही प्राप्त होता है। सांख्य दार्शनिकों ने भी 'शक्तस्य शक्यकरणात्' कहकर इसी अभिप्राय को स्वीकृति दी है। अद्वैतवेदान्त ब्रह्म को सारी गतियों से मुक्त रखकर समस्त क्रिया-सामर्थ्य माया नामक शक्ति को सौंपता है पर यह शक्ति यहाँ अनिर्वचनीय है जिसके विषय में कुछ नहीं कहा जा सकता और न ही ब्रह्म से उसके संबंध का निरूपण किया जा सकता है। यही अविद्या रूप में यथार्थ तत्त्व पर आवरण का पर्दा डालती है और विक्षेप रूप में नाना पदार्थों की कल्पना करती है। ब्रह्म का यहाँ किसी कार्य में कोई कर्तृत्व नहीं है। जबकि शिवाद्वयवादी दृष्टि में शक्ति शिव का स्वभाव बनकर सारे कर्तृत्व का भागीदार शिव को भी बना देती है। व्याकरण सम्प्रदाय में शक्ति के इसी सामर्थ्य रूप अभिप्राय को स्वीकारा गया है। वहाँ इसे योग्यता कहा गया है और अपने अधिष्ठान शब्दब्रह्म में सारी शक्तियों को योग्यता रूप में स्थित स्वीकारा गया है। इसी दृष्टि से शब्दब्रह्म यहाँ सर्वबीज है। यही योग्यता कालान्तर में विविध पदार्थों के रूप में अभिव्यक्त होती है।

आगम-तंत्र परम्परा इस सामर्थ्य को गति से जोड़ कर शक्ति की धारणा को इस धारा का व्यवच्छेदक धर्म बना देती है, फलत: यह सम्प्रदाय इसी धारणा के द्वारा अन्य तत्त्वमीमांसाओं के मध्य एक वैशिष्ट्य अर्जित करता है। यहाँ का अद्वैत इसी स्वस्वभावरूपा शक्ति के माध्यम से सारी गति व सारे नानात्व का स्रोत बन जाता है पर फिर भी द्वैतवाद के संस्पर्श से मुक्त रहता है। यही उसे पूर्णता के आस्वाद से सिक्त कर उस चमत्कारात्मकता का आस्वाद कराती है जिसके कारण उसका 'निर्वृतचित्' रूप मात्र शब्दश: सिद्ध न होकर अर्थश: भी घटित होता है। अत: शक्ति ही उस आनन्दात्मता के आभोग का करण बन जाती है जो कि इस तांत्रिक संस्कृति का मूल प्राणतत्त्व है।

अब हम इस सम्प्रदाय में वर्णित इस शक्ति के विविध सन्दर्भों की चर्चा का प्रयास करेंगे। प्रथमत: तो जिस अद्वयतत्त्व की स्थापना का यहां प्रयास है वह तांत्रिक शब्दावली में शिव-शक्ति का संघट्ट है, प्रत्यभिज्ञा सम्प्रदाय में प्रकाश-विमर्श का सामरस्य है, कुल सम्प्रदाय में अनुत्तर व अनुत्तरा या अकुल व कौलिकी शक्ति का यामल भाव है, तथा क्रम सम्प्रदाय में यह काल-संकर्षिणी तत्त्व है। इन सभी विवेचनों में शक्ति की धारणा को उस अद्वयतत्त्व के अभिन्न पक्ष के रूप में प्रस्तुत किया गया है। इस अद्वयतत्त्व के स्वरूप का और विश्लेषण करने पर शक्तितत्त्व की पञ्चरूपता उपलब्ध होती है—चित्, आनन्द, इच्छा, ज्ञान व क्रिया रूप में। उत्तर काल में इस

क्रिया शक्ति के ही विविध कर्तृत्व-सामर्थ्य विविध शक्ति रूपों में अभिव्यक्त होते हैं। इस प्रकार के विवेचन के अतिरिक्त यहाँ सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को चार अण्डों के रूप में विभक्त कर एक अण्ड को शक्त्यण्ड रूप से भी जोड़ा गया है।[51] 'शक्त्यण्ड' की कल्पना सारे जगत् को इसी 'अण्ड' में समाहृत कर लेती है जिससे कालान्तर में मयूराण्डरसन्याय से नानावैचित्र्यमय जगत् का प्रादुर्भाव होता है। तांत्रिक दृष्टि से इस अण्ड के अधिपति सदाशिव व ईश्वर हैं। परमेश्वर की पंच शक्तियों को उनके पाँच 'मुखों' के रूप में भी कल्पित किया गया है और उन पाँच मुखों में पाँच स्रोतों की कल्पना कर उनसे पाँच प्रकार के शास्त्रों के उद्गमन का उल्लेख किया गया है।[52] इससे इसी मान्यता को बल मिलता है कि यहाँ यह शक्ति की धारणा अपने समष्टिपरक अभिप्राय में सभी प्रकार की संभावनाओं को अपने अन्दर समेट लेती है। उस अद्वय के विषय में या उससे अतिरिक्त किसी भी तरह का उल्लेख इस शक्तितत्त्व को मूल में लेकर ही संभव होता है। 'शक्तिपात' की धारणा तो इस शक्ति के प्रत्यय से ही जीवन प्राप्त करती है। साथ ही उपाय परम्परा में एक उपाय को विशेषत: 'शाक्तोपाय' कहा गया है, इससे यह ध्वनित है कि वहाँ शक्ति ही शिव तक पहुँचने का मुख्य साधन बनती है। यों तो शक्ति की उपायता सारे उपायों में साधारण है पर भेद मात्र स्थूलता और सूक्ष्मता का है। वही शक्ति 'आणव', 'मायीय' व 'कार्ममल' के भेद से भिद्यमानता को प्राप्त कर 'शांभव', 'शाक्त' व 'आणव' रूपता को प्राप्त होकर त्रिविध उपायों के रूप में अभिव्यक्त होती है। परन्तु शाक्तोपाय में इस शक्ति की उल्वणता कुछ ज्यादा है। इस उपाय में सारे भावजात को आत्मतत्त्व की शक्ति रूप से अनुभव किये जाने की चेष्टा रहती है इसीलिये इसकी संज्ञा शाक्तोपाय है। शक्ति का व्यापार सदैव भेदाभेदरूप है, अत: इस उपाय में बाह्य उच्चारादि का अभाव होने से अभेद की स्थिति भी रहती है और विकल्पात्मकता होने से भेद की स्थिति भी।[53] अत: मात्र चिन्तन के द्वारा 'शुद्ध विकल्प' (सर्वमिदमहम्) की स्थिति को प्राप्त करने का यहाँ प्रयास किया जाता है।[54]

शक्ति के सन्दर्भ में प्रस्तुत इस तरह के विवेचनों में कई तार्किक विसंगतियाँ भी प्राप्त होती हैं जैसे शक्ति तो उस आनन्दतत्त्व तक पहुँचने का साधन है फिर आनन्द को अलग से शक्ति कहने की क्या आवश्यकता है या परमसत् के विमर्श पक्ष को जब शक्ति कहते हैं तो प्रकाश पक्ष का शक्ति के रूप में क्यों उल्लेख किया गया है? स्वातन्त्र्य, प्रकाश व विमर्श का या ज्ञातृत्व व कर्तृत्व शक्तियों का सामरस्य होकर, एक स्थिति विशेष का ख्यापक है किसी व्यापार या गति का नहीं तब उसे शक्ति क्यों कहा गया है? इसके अलावा जब शक्ति-शक्तिमान् के बिना संभव नहीं है तो शक्ति शक्तिमान् के बीच क्या तादात्म्य-सम्बन्ध है या भेद है? यदि तादात्म्य-सम्बन्ध है तो दो के कथन की क्या आवश्यकता है और यदि भेद है तो फिर अन्योन्याश्रितता कैसे संभव होगी? यहाँ इन सभी प्रश्नों का उत्तर देने का प्रयास किया गया है। यद्यपि शक्ति उस पूर्णता के आस्वादन से जन्य आनन्दानुभूति का करण है पर आनन्दशक्ति के रूप में परमशिव के स्वरूप का एक पक्ष भी है। विमर्श व प्रकाश दोनों को शक्ति रूप कहना भी उपपन्न है क्योंकि उस अद्वय-तत्त्व की किसी भी तरह की व्याख्या द्वैत की संभावना को जन्म देती है और ऐसी कोई भी संभावना उस अद्वैततत्त्व की शक्ति बन कर ही उस अद्वैततत्त्व की आख्यापक बनती है। इसी दृष्टि से स्वातन्त्र्य को भी शक्ति कहना उपपन्न है। शक्ति-शक्तिमान् के मध्य का भेद यथार्थ न होकर

आहार्य भेद है।[55] वस्तुतः जब एकत्वपरामर्श की विवक्षा होती है तब अद्वय (शक्तिमान्) का व्यवहार होता है और जहाँ अनेकत्वपरामर्श की विवक्षा होती है तब शक्ति संज्ञा का व्यवहार होता है। यह वैचित्र्य उस परमेश्वर द्वारा ही सृष्ट है।[56] एक अन्य मूल प्रश्न यह है कि यदि शक्ति सर्वकर्तृत्वसामर्थ्यमयी है व परमेश्वर का अभिन्न पक्ष है तो यह सम्प्रदाय शक्ति की तत्त्व रूप में कल्पना क्यों करता है क्योंकि तत्त्व विकास की प्रक्रिया तो शक्ति के ही स्वात्मगोपनकृत्य का स्थूलतम प्रसार है। पर वस्तुतः यह आक्षेप उचित नहीं है क्योंकि ये छत्तीस तत्त्व उस अद्वयतत्त्व के संकोचात्मक विकास के क्रमिक स्पन्द हैं[57] जिनमें उसकी चेतना क्रम से आवरित होते-होते अन्ततः गुणात्मक परिवर्तन को जन्म देकर जड संज्ञा से वाच्य होने लगती है। यहाँ का तत्त्व चिन्तन इस तत्त्वमीमांसा के मूल तत्त्व से अन्तिम तत्त्व तक को लेकर प्रस्तुत होता है। इसी कारण आचार्य अभिनवगुप्त छत्तीसवें तत्त्व के ऊपर सैंतीसवें और अड़तीसवें तत्त्व को भी स्वीकारने की बात करते हैं। अतः शिव व शक्ति की प्रथम व द्वितीय तत्त्व के रूप में कल्पना से कोई प्रत्ययगत भेद जन्म नहीं लेता। केवल आरोहण व अवरोहण के क्रम को समझने के लिये इस तत्त्व-क्रम की कल्पना की गयी है। इस स्थिति को स्पष्ट रखने हेतु आचांर्य उत्पल शिव व शक्ति को उस परतत्त्व का ही स्वरूप मानकर सदाशिव से ही तत्त्वविकास का प्रारम्भ मानते हैं।

एक और शंका की जा सकती है कि विश्वमय पक्ष में तो इस गति की स्थिति के प्रमाण मिलते हैं, अतः वहाँ शक्ति की स्थिति स्पष्ट है, पर विश्वोत्तीर्ण पक्ष में इस शक्ति की क्या स्थिति होगी। ऐसे स्थलों पर यह स्मरणीय है कि शक्ति शिव का स्वभाव है और इस स्वभाव का कहीं अपाय नहीं होता।[58] जैसे शैत्य के विना हिम का कोई अर्थ नहीं है, दाहकत्व के बिना अग्नि का कोई अस्तित्व नहीं है वैसे ही शक्ति के बिना शिव की कल्पना भी सम्भव नहीं है। वह शक्ति उसका अव्यवच्छिन्न स्वभाव है, अतः चाहे विश्वमय पक्ष हो या विश्वोत्तीर्ण, शक्ति तो शिव का अभिन्न पक्ष है ही। शिव सत् है तो शक्ति सत्ता, शिव चित् है तो शक्ति उसका चैतन्य। शिव शुद्ध प्रकाश है किन्तु विमर्श के विना वह अपने विषय में भी कुछ नहीं जान सकता, विमर्शपक्ष ही उसका आत्मप्रत्यवमर्श कराता है।

इसी प्रकार यह शक्ति मात्र जगत् के स्रोत का ही अभिन्न अंग न होकर सारे जागतिक पदार्थों का भी स्वरूप है। सारे कार्य अभिव्यक्ति से पूर्व अपने कारण में शक्ति रूप में ही विद्यमान रहते हैं। एक ओर तो यह सारा विश्व उस शिव की शक्तियों का समग्र है[59] क्योंकि प्रत्येक शक्ति यहाँ एक साधन, मार्ग या मुख है जिसके द्वारा शिव अपने को विशेष रूप या आकार में आभासित करता है दूसरी ओर सभी पदार्थ भी अनिवार्यतः शक्त हैं। उनकी सत्ता मात्र ही इस बात की द्योतक है कि उनमें एक विशेष कार्य करने की शक्ति या सामर्थ्य है। वस्तुतः तो सभी पदार्थ शिवात्मक होने के नाते सर्वात्मक हैं, अतः उनमें नाना प्रकार की सामर्थ्य संभव है। पर परमेश्वर की नियति शक्ति उन्हें एक विशेष सामर्थ्य में ही नियमित करती है।[60] यही सामर्थ्य उसे अन्य पदार्थों से विशिष्ट रूप प्रदान करती है। इसी को अर्थक्रियाकारित्व की शब्दावली में व्यक्त कर पदार्थ का अनिवार्य स्वभाव कहा जाता है। 'पति' व 'पशु' की कल्पना में यह शक्ति ही मुख्य कर्तृता निभाती है। पति की सामर्थ्य असीमित है। वहाँ सत्ता ही स्फुरत्ता है, वही भवनकर्तृता अन्यापेक्षा के वैकल्य के कारण मात्र स्वात्मविश्रान्ति की अवस्था है अतः परम आनन्द की

अवस्था है। पशु में यह सामर्थ्य सीमाओं में जकड़ी हुई है। यद्यपि यहाँ सत्ता भी है व आनन्द भी साथ ही इनका अभाव भी है व द्वयात्मता भी है। अत: इस परिसीमन के कारण सत्ता व आनन्द मिल कर सत्त्व गुण रूप से विजृम्भित होते हैं। सत्ता व आनन्द दोनों के अभाव की स्थिति तमस् है तथा इन दोनों अवस्थाओं की सहस्थिति रजस् है।[61] अत: पशु अवस्था में सारे पदार्थों की सामर्थ्य इन तीनों के द्वारा ही नियंत्रित होती है। पशु अवस्था में 'त्रिविध अन्त:करण' व 'दशधा बाह्यकरण' इस शक्ति की स्थिति के स्फुट परिचायक हैं क्योंकि ये ही उस पशु प्रमाता के स्वातन्त्र्य के विभवन व अनुभव का करण बनते हैं।[62]

यह शक्ति उस समय विश्वमय है जब क्रियात्मक रूप से कार्यों को उत्पन्न करती है और यह उस समय विश्वोत्तीर्ण है जब अन्य शक्तियों का स्रोत समझी जाती है। इस प्रकार यह सविशेष व निर्विशेष दोनों है। इस शक्ति के नाना रूपों के प्राप्त होने पर भी उससे अद्वयवाद की क्षति नहीं होती[63] क्योंकि प्रधानत: एक ही शक्ति है जिसके ये नाना रूप हैं। शक्ति को उस शक्तिमान् से अभिन्न मानने पर भी शक्ति-शक्तिमान् तक पहुंचने का द्वार या करण कही जाती है, शक्तिमान् उपेय बन जाता है व शक्ति उपाय। पर इस मान्यता से भी कोई विसंगति नहीं उत्पन्न होती[64] क्योंकि जैसे दीपक के आलोक से या भास्कर की किरणों से दिग्-विभागादि को पहचाना जाता है वैसे ही यह शक्ति शिव का परिचायक स्वभाव है।[65] अत: यह मात्र व्यवहारगत भेद है अन्यथा तो शक्ति शिव से कहीं अवियुक्त कर देखी ही नहीं जा सकती।[66] सर्वत्र यामल भाव का ही प्रसार है।[67] इसी लिये यह सम्प्रदाय सर्वत्र 'शक्तिचक्रसन्धान' या 'शक्त्याविष्करण' की ही बात करता है। यहाँ सारी मीमांसाएं, सारी साधनाविधियाँ इसी शक्त्यनुसंधान के प्रत्यय में ही चरम परिणति पाती हैं। वैसे तो शक्ति एक है पर जब उसके जिस पक्ष का प्रकाशन होता है तब उसी का प्रादुर्भाव होकर अन्यों की स्थिति आच्छादित ही रहती है।[68]

शक्तिपात के सन्दर्भ में शक्ति का माहात्म्य विशेष द्रष्टव्य है।[69] यह परमेश्वर के द्वारा सम्पाद्य वह अनुग्रहात्मक अन्त:प्रेरणा है जिससे प्राणी की मोक्ष मार्ग के प्रति प्रवृत्ति होती है। इस अनुग्रह को यहाँ उपाय के साथ-साथ शक्ति के रूप में भी देखा गया है।[70] इस सम्प्रदाय की दृष्टि में शक्ति के कारण ही प्राणी संसार में आते हैं और शक्ति के कारण ही संसार से हट जाते हैं। इस शक्तिपात के परिचायक चिह्न हैं—रुद्र के प्रति निश्चल भक्ति, मन्त्रसिद्धि, सर्वतत्त्ववशित्व, प्रारम्भ किये हुए कार्य का निष्पादन, कवित्वसामर्थ्य और सर्वशास्त्रवेत्तृत्व।[71] शक्तिपात के कारण ही व्यक्ति में यह परामर्श होता है कि कौन तत्त्व को जानने वाला है और कौन कल्याणकारी हो सकता है। यह शक्तिपात नानाकोटिक होने पर भी मुख्यत: तीन प्रकार का कहा जाता है—तीव्र, मध्य व मन्द। पर यह हमेशा सर्वथा निरपेक्ष है और उस शिव के स्वातन्त्र्य का ही परिणाम है, अत: यह शक्ति की कर्तृता का स्फुट निदर्शन है।[72]

इस प्रकार यहाँ महेश्वर की पूर्ण रूप में कल्पना इस शक्ति पक्ष के माध्यम से ही घटित होती है।[73] यही उसकी सर्वकर्तृता की व्याख्या है और यही उसकी अपरिच्छिन्नप्रकाशता का उत्स है।[74] उसके विषय में प्रस्तुत सारे वैशिष्ट्य—सर्वज्ञातृत्व, सर्वकर्तृत्व, अप्रतिहत इच्छा-सामर्थ्य, अपरिच्छिन्नप्रकाशस्वातन्त्र्य, सर्वनियन्तृत्व, सर्वेश्वरत्व, परमानन्दस्वरूपत्व आदि—इस शक्ति पक्ष के माध्यम से ही चरितार्थ होते हैं। अद्वयतत्त्व की स्वात्ममात्र-विश्रान्ति भी इसी शक्ति के

कारण ही सम्भव है, साथ ही यही दुर्घट-घटना-नैपुण्य का मूल है। चाहें इसे शक्ति कहें या विमर्श, विसर्ग कहें या स्पन्द, स्वातन्त्र्य कहें या स्फुरण पर सर्वत्र अनन्त संभावनाओं को संभव बनाने की क्षमता इस प्रत्यय का प्राण तत्त्व है और ये सभी संज्ञाएं इस क्षमता के संवर्तित रूप की संकेतक हैं जिनमें गति की धारणा ही मूलत: अन्तर्व्याप्त है। एक अक्रम तत्त्व में क्रमनिर्भासन-सामर्थ्य का तत्त्व इसी शक्ति के प्रत्यय में निहित है। उस अद्वयतत्त्व की परमेश्वरता भी इसी के कारण है। चेतन की चेतनता भी ज्ञानक्रिया-सामर्थ्य के रूप में ही परिभाषित होती है। महेश्वर की भोक्तृता भी उसका यही चैतन्य है। यह चैतन्य ही चितिक्रिया रूप से अभिव्यक्त होकर संयोजन-वियोजनरूप स्वातन्त्र्य के माध्यम से नाना व्यापारों का सम्पादन कर उस भोक्तृत्व को संभव बनाता है।[75] फलत: यहाँ आभासक ही शक्ति रूप नहीं है वरन् आभासित भी शक्ति रूप हैं। सारे के सारे छत्तीस तत्त्व इस पारमेश्वरी शक्ति के ही प्ररूप हैं। अन्तत: हम यही कह सकते हैं कि शक्ति की यह धारणा इस सम्प्रदाय का वह स्वरूप-निर्धारक आधार बिन्दु है जिस पर यह पूरी तत्त्वमीमांसा आश्रित है और इसकी परिधि के बाहर यहाँ कुछ भी घटित नहीं होता।[76]

पाद-टिप्पणी

1. न शिव: शक्तिरहितो न शक्तिर्व्यतिरेकिणी।।
   शिव: शक्तस्तथा भावानिच्छया कर्तुमीहते।
   शक्तिशक्तिमतोर्भेद: शैवे जातु न वर्ण्यते।। —*शि०दृ०* 3/2-3
2. इसके पीछे यही मान्यता थी कि शक्ति स्त्री होने के नाते परतंत्र है अत: पुरुष के अधीन रहकर ही व्यापार कर सकती है। —उपरिवत्, पृ० 94 पर पा० टि० 4
3. *शि०सू०* 1/13.
4. उपरिवत् 1/18-21.
5. उपरिवत् 1/22.
6. वरदराज इसे स्पष्ट करते हुए कहते हैं—
   महाहृद इति प्रोक्ता शक्तिर्भगवती परा।
   अनुसन्धानमित्युक्तं तत्तादात्म्यविमर्शनम्।। —*शि०सू०वा०*(वरद०) 1/110
7. *शि०सू०* 1/5.
8. इह परमेश्वरस्य महाप्रकाशात्मनो विमलस्यापि एकैव परामर्शशक्ति: किंचिच्चलत्ताभासरूपतया स्पन्द इति, स्फुरत्ता इति, ऊर्मिर् इति, बलम् इति, उद्योग इति, हृदयम् इति, सारम् इति, मालिनी इति, परा इत्याद्यनन्तसंज्ञाभि: आगमेषु उद्घोष्यते। —*स्प०सं०*, पृ० 5
9. *शि०सू०* 1/6.
10. आत्मैव सर्वभावेषु स्फुरन्निर्वृतचिद्विभु:।
    अनिरुद्धेच्छाप्रसर: प्रसरद्दृक्क्रिय: शिव:।। —*शि०दृ०* 1/2
11. एवं सर्वपदार्थानां समैव शिवता स्थिता।
    परापरादिभेदोऽत्र श्रद्दधानैरुदाहृत:।। —उपरिवत् 1/48
12. एवं सर्वेषु भावेषु यथा सा शिवरूपता।।
    नीरूपता निर्वृतिर्वा शक्तित्रितययोगिता।
    सचित्त्वं संस्थितं नित्यं कथनीयं तथाग्रत:।। —उपरिवत् 1/46-47

13. अथैकस्याधिका शक्तिर्न्यूनशक्तिनिबन्धिनी।।
स्वकार्यविषये सर्व: शक्त एव निबन्धनम्।
शक्तस्य शक्यते कर्तुमेवं चेन्नान्यशक्तता।। —उपरिवत् 4/2-3

14. तस्मादनेकभावाभि: शक्तिभिस्तदभेदत:।
एक एव स्थित: शक्त: शिव एव तथा तथा।। —उपरिवत् 4/5

15. उपरिवत् 3/1.

16. न शिव: शक्तिरहितो न शक्तिर्व्यतिरेकिणी।।
शिव: शक्तस्तथा भावानिच्छया कर्तुमीहते।
शक्तिशक्तिमतोर्भेद: शैवे जातु न वर्ण्यते।। —उपरिवत् 3/2-3

17. शक्तिमानेव शक्ति: स्याच्छिववत्करणार्थत:।
शक्ते: स्वातन्त्र्यकार्यत्वाच्छिवत्वं न क्वचिद् भवेत्।। —उपरिवत् 3/5-6

18. शक्तिश्च शक्तिमांश्चैव पदार्थद्वयमुच्यते।
शक्तयोऽस्य जगत्सर्वं शक्तिमांस्तु महेश्वर:।। —*सर्वमंगलाशास्त्र*, *शि०दृ०*, पृ० 98 पर पा०टि० में उद्धृत (यह आगमवाक्य शिवाद्वयवादी ग्रंथों में अनेकत्र उद्धृत मिलता है।)

19. शक्ति: शक्तत्वं शक्तस्य धर्म: न च धर्मो धर्मिणो भिद्यते तथा हिमवह्न्यो: शीतोष्णस्पर्शौ न पृथगुपलभ्येते। —*शि०दृ०वृ०*, पृ० 1

20. *शि०दृ०*, पृ० 99 पर पा०टि० 5.

21. किन्तु मोहवशादस्मिन्दृष्टेऽप्यनुपलक्षिते।
शक्त्याविष्करणेनेयं प्रत्यभिज्ञोपदर्श्यते।। —*ई०प्र०का०* 1/1/3

22. कर्तरि ज्ञातरि स्वात्मन्यादिसिद्धे महेश्वरे।
अजडात्मा निषेधं वा सिद्धिं वा विदधीत क:।। —उपरिवत् 1/1/2

23. तथाहि जडभूतानां प्रतिष्ठा जीवदाश्रया।
ज्ञानं क्रिया च भूतानां जीवतां जीवनं मतम्।। —उपरिवत् 1/1/4

24. इत्थं तथा घटपटाद्याभासजगदात्मना।
तिष्ठासोरेवमिच्छैव हेतुता कर्तृता क्रिया।। —उपरिवत् 2/4/21

25. चिति: प्रत्यवमर्शात्मा परावाक् स्वरसोदिता।
स्वातन्त्र्यमेतन्मुख्यं तदैश्वर्यं परमात्मन:।। —उपरिवत् 1/5/13

26. *ई०प्र०का०* 1/1/3.

27. न चेदन्त:कृतानन्तविश्वरूपो महेश्वर:।
स्यादेकश्चिद्वपुर्ज्ञानस्मृत्यपोहनशक्तिमान्।। —उपरिवत् 1/3/7; इस पर विमर्शिनी भी द्रष्टव्य

28. एष चानन्तशक्तित्वादेवमाभासयत्यमून्।
भावानिच्छावशादेषा क्रिया निर्मातृतास्य सा।। —उपरिवत् 2/4/1

29. तस्माद्येन मुखेनैष
भात्यनंशोऽपि तत्तथा।

शक्तिरित्येष वस्त्वेव

शक्तितद्वत्क्रम: स्फुट:।। —*तं०आ०* 1/74

30. सोऽयमात्मानमावृत्य स्थितो जडपदं गत:।।

आवृतानावृतात्मा तु देवादिस्थावरान्तग:।

जडाजडस्याप्येतस्य द्वैरूप्यस्यास्ति चित्रता।।

तस्य स्वतन्त्रभावो हि किं किं यन्न विचिन्तयेत्। —*तं०आ०* 1/134-36

31. पंचप्रकारकृत्योक्तिशिवत्वान्निजकर्मणे।।

प्रवृत्तस्य निमित्तानामपरेषां क्व मार्गणम्। —उपरिवत् 13/18-9

32. इस सम्प्रदाय में क्रिया शक्ति का कई स्तरों पर प्रयोग मिलता है। यहाँ यह स्वातन्त्र्य का पर्याय भी है, परतत्त्व के कर्ता रूप का करण भी है, उसकी स्वरूपविधायिका पञ्च शक्तियों में से भी एक है, साथ ही जागतिक सन्दर्भ में सारे ज्ञानात्मक व क्रियात्मक व्यापारों का स्रोत भी है। अत: विविध सन्दर्भों में इसके विविध अभिधेय हैं। यहाँ प्रस्तुत वर्गीकरण में विभवन की प्रक्रिया को ध्यान में रखकर प्रथम बार क्रिया शक्ति को स्वातन्त्र्य शक्ति के प्रसारात्मक सोपान के रूप में प्रस्तुत किया गया है तथा पुन: परतत्त्व के स्वरूप के कर्तृत्व पक्ष के कारण रूप में भी इसको प्रस्तुत किया गया है।

33. द्रष्टव्य मीरा रस्तोगी, 'इच्छा-स्वातन्त्र्य तथा कार्यकारणभाव,' अप्रकाशित शोध प्रबंध, लखनऊ विश्वविद्यालय, पृ० 278, पा०टि० 3.

34. *ई०प्र०वि०* (भा०), भा० 2, पृ० 23.

35. शक्तितत्त्वं च विदितपरमार्थ: स्वरूपप्रत्यवमर्शसामान्यस्पन्दादिसंज्ञाभि: व्यवह्रियमाणतत्पर्यायभूतोन्मेषा-दिपदाभिधेयतया प्रतिपादितम्। —*स्प०का०वि०*, पृ० 129

36. शब्दराशिसमुत्थस्य

शक्तिवर्गस्य भोग्यताम्।

कलाविलुप्तविभवो

गत: सन् स पशु: स्मृत:।। —*स्प०का०* 4/15

37. सेयं क्रियात्मिका शक्ति:

शिवस्य पशुवर्तिनी।

बन्धयित्री स्वमार्गस्था

ज्ञाता सिद्ध्युपपादिका।। —उपरिवत् 4/18

38. निषेधव्यापाररूपा या पारमेश्वरी शक्ति: सैव आच्छादकत्वेन बन्धकतया शक्त्यण्डम् इत्युच्यते। —*प०सा०वि०*, पृ० 10

39. शक्तिरिति चैतन्यं चितिशक्तिरात्ममहिमा भोक्तृत्वरूपं हि ···। —*ई०प्र०वि०वि०*, भा० 2, पृ० 184

40. ··· तस्य प्रमातृपरमार्थरूपस्य ऐश्वर्यलक्षणस्य स्वभावस्य या प्रकाशिका भगवत: शक्ति: ···। —उपरिवत्, भा० 3, पृ० 277

41. (अ) आत्मैव ईश्वरत्वात् सर्वशक्ति:। तस्य विचित्राभासकारित्वेन लक्षिता या कालोत्थापिका शक्तिराभासानां प्रत्यभिज्ञावैचित्र्येण क्रमोत्थापनसामर्थ्यं ···। —उपरिवत्, भा० 2, पृ० 8

(आ) शक्ति: सर्वकरणसामर्थ्यम्। —*स्व०तं०*, भा० 3, पृ० 147

42. (अ) चिदानन्देच्छाज्ञानक्रियालक्षणमेव हि शक्तिपञ्चकं क्रमेण प्रसरमासादयत्। —*ई०प्र०वि०वि०*, भा० 2, पृ० 33

(आ) यत्र यत्र भवेदिच्छा ज्ञानं वापि प्रवर्तते।

क्रिया कृत्यस्वरूपा वा तत्त्वं शक्तिलक्षणम्।। —*ने०तं०*, भा० 1, 8/32-33

43. सत्ता भवने कर्तृतैव शुद्धविमर्शरूपा क्रियाशक्तिः ···। —*ई०प्र०वि०वि०*, भा० 2, पृ० 363

44. अनुत्तरानन्दमयो

देवो भोक्तैव कथ्यते।।

इच्छादिकभोग्यमेव

तत एवास्य शक्तिता। —*तं०आ०* 3/19-91

भोग्यत्वमेव हि शक्तित्वं यदभिप्रायेणैव 'शक्तयोऽस्य जगत्कृत्स्नं शक्तिमांस्तु महेश्वरः' इत्युक्तम्। —*तं०आ०वि०*, भा० 2, पृ० 538

45. इन्द्रियाण्यन्तर्मुखीकृत्य यत्र तुटिपातात्मनि आद्योन्मेषस्थितौ लब्धावस्थितिर्योगी अतीतानागतादि सर्वं वेत्ति, तत् प्रतिभात्मतत्त्वं शक्तिलक्षणम्। —*ने०तं०टी०*, भा० 1, पृ० 194

46. पूर्णतैव अस्य शक्तिः कुलं, सामर्थ्यं, ऊर्मिः, हृदयं, सारं, स्पन्दः, विभूतिः, त्रीशिका, काली, कर्षणी, चण्डी, वाणी, भोगो, दृक् नित्या इत्यादिभिः आगमभाषाभिः तत्तदन्वर्थप्रवृत्ताभिः अभिधीयते। —*तं०सा०*, पृ० 27-28

47. शकनं शक्तिः सामर्थ्यं विश्वनिर्माणादिकारिभैरवस्वरूपमेव। —*वि०भै०टी०*, पृ० 13

48. *शब्दकल्पद्रुम*, भा० 5, पृ० 4; *शब्दार्थचिन्तामणि*, भा० 4, पृ० 491-93; *वाचस्पत्यम्*, पृ० 574.

49. शक्तिः कवित्वबीजरूपः संस्कारविशेषः यां विना काव्यं न प्रसरेत् प्रसृतं वा उपहसनीयं स्यात्। —*का०प्र०*, पृ० 3 (गजेन्द्रगदकर संस्करण)

50. या चैषा प्रतिभा तत्तपदार्थक्रमरूषिता।

अक्रमानन्तचिद्रूपः प्रमाता स महेश्वरः।। —*ई०प्र०का०* 1/7/1

51. पार्थिवं प्राकृतं चैव मायीयं शाक्तमेव च।

इति संक्षेपतः प्रोक्तमेतदण्डचतुष्टयम्।। —*मा०वि०तं०* 2/49

52. तत्र हि परमेश्वर एव चिदानन्देच्छाज्ञानक्रियात्मकवक्त्रपञ्चकासूत्रणेन सदाशिवेश्वरदशामधिशयानस्तद्वक्त्रपञ्चकमेलनया पञ्चस्रोतोमयम् अभेद-भेदाभेद-भेददशोट्टङ्कनेन तत्तद्भेदप्रभेदवैचित्र्यात्मनिखिलं शास्त्रमवतारयति, यद् बहिर्वैखरीदशायां स्फुटतामियात्। —*तं०आ०वि०*, भा०, पृ० 36

53. उपरिवत्, भा० 2, पृ० 242.

54. उच्चाररहितं वस्तु

चेतसैव विचिन्तयन्।

यं समावेशमाप्नोति

शाक्तः सोऽत्राभिधीयते। —*तं०आ०* 1/169

55. शक्तिर्हि नाम शक्तिमत एव स्वं रूपं, किं तु फलभेदादारोपितभेदं येन इष्यमाणाद्युपरागात् 'इच्छा' इत्यादिव्यवहारः। —*तं०आ०वि०*, भा० 2, पृ० 465-66

56. अनन्तार्थक्रियाकारिणि पदार्थेऽखण्डमण्डले उपदेश्योपदेशव्यवहारादिर्न सिध्यतीति तत्सिद्धये तया तया

विचित्रया अर्थक्रियया एकैकमवच्छिद्य स पदार्थ एक एव बहुधा व्यवह्रियते अग्निर्दाहक:, पाचक:, प्रकाशक: इति। तत्र बहुत्वपरामर्शप्रधानतायां शक्तिव्यवहार:, तदेकपरामर्शप्रधानत्वे तद्वद्व्यवहार:। स चापि न अपारमार्थिक: परमेश्वरेणैव तथा सृष्टत्वात्। —*ई०प्र०वि०वि०*, भा० 1, पृ० 287

57. षट्त्रिंशत्तत्त्वरूपतया पारमेश्वरी एकैव शक्तिर्विजृम्भते। —*स्प०का०वि०*, पृ० 139

58. संवेदनात्मनो भगवत: प्रकाशानन्दस्वातन्त्र्यपरमार्थस्वभावस्य स्वभावमात्राक्षिप्तसमस्तसृष्टिस्थितिसंहृति-प्रबन्धस्य, स्वस्वभावान्न मनागप्यपायो जातुचित्। —*श्रीभगवद्गीतार्थसंग्रह*, पृ० 61

59. (क) अनन्ता विश्वे भावा हि तस्यैव शक्तय:। —*ई०प्र०वि०वि०*, भा० 3, पृ० 185

(ख) तत्त्वे तत्त्वे स्वेच्छया देवदेव:

सर्वां सर्वां भूमिमालम्बमान:।

पूर्णैकात्मा पूर्णसंवित्स्वरूप:

श्रीमाञ्शास्त्रे भैरवोऽसौ निरुक्त:।। —*मा०वि०वा०* 1/658

60. अर्थक्रियापि सहजा

नार्थानामीश्वरेच्छया।

नियता सा हि तेनास्या

नाक्रियातोऽन्यता भवेत्। —*ई०प्र०का०* 2/3/12

61. पत्युर्विश्वप्रभो: सत्ता स्फुरत्ता भवने कर्तृतैव शुद्धविमर्शरूपा क्रियाशक्ति:, अन्यापेक्षावैकल्याच्च विश्रान्तिरूपत्वेन आनन्दशक्तिरिति। तदियं चिद्रूपतैव इयती। पशोस्तु सत्ता आनन्द:, तदभावो द्वयात्मा च। तत्र आद्यो य: सत्तानन्दभाग: सेति सत्ता सत्त्वं प्रकाशसुखात्मकम् ···। यस्तदभाव: प्रकाशानन्दयोरभाव: स सत्त्वस्य अभावस्तम: आवरणरूपम्। द्वयस्य आत्मा व्यामिश्रस्वभावश्चित्रपतंगगतनीलानीलन्यायेन एकपरामर्शबलात् वर्तमान: अतएव श्लिष्टे परस्परमिश्रे सत्त्वतमसी प्रकृते रूपं यस्य तत् प्रकाशाप्रकाशरूपं दु:खात्मकं रज:। —*ई०प्र०वि०वि०*, भा० 3, पृ० 363

62. देहाद्याविष्टोऽपि परमेश्वर: करणोन्मीलननिमीलनाभ्यां रूपादिपञ्चकमयस्य जगत: सर्गसंहारौ करोति। —*स्प०नि०*, पृ० 8

63. एवं परमेश्वरस्य परिकल्पितेऽपि शक्तीनामानन्त्ये न कश्चिद्भेद: इति न कदाचिदीश्वराद्वयवादक्षति:। —*तं०आ०वि०*, भा० 2, पृ० 111

64. ··· 'शैवीमुखमिहोच्यते' इत्याद्युक्त्या तथा शिवप्राप्त्युपायतया शक्तिरेव, न हि एतदवगमादौ उपायान्तरमस्ति उपपद्यते वा। अतश्च शक्तिशक्तिमतोरुपायोपेयभावात्मा क्रम: सम्यगेव स्फुट: न कश्चिदत्र संशय: इत्यर्थ:। —उपरिवत्, पृ० 114

65. यथालोकेन दीपस्य किरणैर्भास्करस्य च।

ज्ञायते दिग्विभागादि तद्वच्छक्त्या शिव: प्रिये।। —*वि०भै०*, श्लो० 21

66. तस्मात्समग्राकारेषु सर्वासु प्रतिपत्तिषु।

विज्ञेयं शिवरूपत्वं स्वशक्त्यावेशनात्मकम्।। —*शि०दृ०* 3/17

67. न शिव: शक्तिरहितो न शक्ति: शिववर्जिता।

यामलं प्रसरं सर्वं ···।। —*तं०आ०वि०*, भा० 2, पृ० 342

68. शक्तिमन्तं विहायान्यं

शक्ति: किं याति नेदृशम्।।

छादितप्रथिताशेष-
शक्तिरेकः शिवस्तथा। —*तं०आ०* 6/178-79

69. तथा कालकलाजालजम्बालैः परमेश्वरः।।
चितिशक्तिप्रकाशो हि मालिन्यमवलम्बते।
अतस्तदा संवृतोऽसौ पश्चात्प्रकटरूपकः।। —*मा०वि०वा०* 1/683-84

70. शक्तिपातस्य तेनोक्ता नवधात्र व्यवस्थितिः।
अन्यथा नेश्वरस्यास्ति रागो द्वेषोऽथवा क्वचित्।।
येन क्वाप्येष नियतां स्वां शक्तिं पातयेद्विभुः।
अनिमित्तस्तथा चायं शक्तिपातो महेशितुः।। —उपरिवत् 1/687-88

71. *मा०वि०तं०* 2/13-16.

72. तस्यैव हि प्रसादेन भक्तिरुत्पद्यते नृणाम्।
यया यान्ति परां सिद्धिं तद्भावगतमानसाः।।
इत्थं पुराणशास्त्रादौ शक्तिः सा पारमेश्वरी।
निरपेक्षैव कथिता सापेक्षत्वे ह्यनीशता।। —*मा०वि०वा०* 1/697-98

73. भारूपं परिपूर्णं
स्वात्मनि विश्रान्तितो महानन्दम्।
इच्छासंवित्करणैर्-
निर्भरितम् अनन्तशक्तिपरिपूर्णम्।।
सर्वविकल्पहीनं
शुद्धं शान्तं लयोदयविहीनम्।
यत् परतत्त्वं तस्मिन्
विभाति षट्त्रिंशदात्मजगत्।। —*प०सा०का०*, श्लो० 10-11

74. अपरिच्छिन्नप्रकाशत्वं च प्रकाशने स्वातन्त्र्यमहमिति महत्संरम्भात्मा प्रतिघातशून्यो विमर्शः, तदेव च अस्य सर्वशक्तित्वम्। —*ई०प्र०वि०वि०*, भा० 2, पृ० 8

75. शक्तिरिति चैतन्यं चितिशक्तिरात्ममहिमा भोक्तृत्वरूपं हि। —उपरिवत्, पृ० 184

76. किमत्र बहुनोक्तेन यद्विश्वमिति कीर्तितम्।
शक्त्यात्मनैव तद्व्याप्तं यथा देहोऽन्तरात्मना।।
तस्माच्छक्तिमयं सर्वं जगत्स्थावरजंगमम्।
कला या परमा शक्तिः कथिता परमात्मनः।।
एवमेषा पराशक्तिरीश्वरेच्छानुयायिनी।
स्थिरं चरं च यद्विश्वं सृजतीति विनिश्चयः।।
ज्ञानक्रियाचिकीर्षाभिस्तिसृभिस्स्वात्मशक्तिभिः।
शक्तिमानीश्वरः शश्वद् विश्वं व्याप्य अधितिष्ठति।

. . .

एवं शक्तिसमायोगाच्छक्तिमानुच्यते शिवः।
शक्तिशक्तिमदुत्थं तु शाक्तं शैवमिदं जगत्।। —*शि०पु० (वायु सं०)* 4/28-36

अध्याय आठ

पूर्णता

भारतीय अध्यात्मवादी परम्पराओं की दृष्टि सर्वथा पूर्णतामूलक रही है भले ही पूर्णता का प्रत्ययात्मक स्वरूप कुछ भी रहा हो। उपनिषद् ग्रन्थों के अनुशीलन से प्रतीत होता है कि पूर्णता का प्रत्यय कोई नवीन प्रत्यय नहीं है। *ईशावास्य उपनिषद्* का प्रारम्भिक शान्तिपाठ अपनी पूर्णता-दृष्टि के लिये प्रसिद्ध है।[1] यही विचार हमें *योगवाशिष्ठ* में भी प्राप्त होता है।[2] ऐसा प्रतीत होता है कि पूर्णता का प्रत्यय व्यापकता से प्रभावित है। इस अद्वयतत्त्व को पूर्ण स्वीकार करना ही पड़ेगा क्योंकि यह सर्वव्यापक एवं सर्वमय है। यह बात इस दृष्टान्त से भी सिद्ध होती है कि यदि तालाब में पानी निम्न स्तर पर है तो किसी तरफ से उसे बाहर नहीं निकाला जा सकता है और अगर वह लबालब भरा (परिपूर्ण) है तो वह सभी तरफ़ से प्रवाहित होता है।[3]

पूर्ण शब्द के मुख्य अर्थ हैं—व्याप्त, पूरित, शक्त, समग्र एवं सकल आदि।[4] शैव दृष्टि इनमें से सामान्यत: सभी पर विशेषत: प्रथम अर्थ के प्रति झुकी हुई प्रतीत होती है। वस्तुत: शैवदर्शन में पूर्णता-विषयक विवेचन सम्यक् रूप से प्राप्त होता है। यहाँ पूर्णता को बड़े ही तथ्यात्मक तथा दार्शनिक दोनों रूपों में परिभाषित किया गया है। शैव-सम्मत परिभाषाओं का निम्न रूप से आकलन किया जा सकता है—

(क) सभी प्रकार के पदार्थों के चर्वण से, आकांक्षा रहित होने के कारण स्वात्मविश्रान्ति या आकांक्षा-शून्यता ही पूर्णता है।[5]

(ख) पूर्ण में ही सब कुछ है, सर्वत्र पूर्ण है, यदि ऐसा नहीं माना जायेगा तो शिव की पूर्णता ही नहीं होगी। यहाँ पर सर्वव्यापकता को ध्यान में रखकर ही पूर्णता को परिभाषित किया गया है।[6]

(ग) तांत्रिक दर्शन का उद्देश्य भोग के साथ-साथ मोक्ष की प्राप्ति कराना है। अत: इस समन्वयवादी दृष्टि को ध्यान में रखते हुए पूर्णता की परिभाषा की गयी है। इस उद्देश्य की पूर्ति तभी सम्भव है जब परमसत्ता का स्वभाव पूर्ण हो, अपूर्ण होने पर तो इस उद्देश्य की पूर्ति हो ही नहीं सकती।[7]

(घ) यह आत्मा पूर्ण है क्योंकि सम्पूर्ण जगत् आत्ममय है। सभी रूपों में आत्मा ही भासित होता है।[8]

(ङ) सम्पूर्ण भावों से युक्त होना ही पूर्णता है और अहंभाव पूर्णता का द्योतक है।[9]

(च) काश्मीर शैवदर्शन में परम सत्ता को विश्वमय एवं विश्वोत्तीर्ण दोनों रूपों में स्वीकार किया जाता है। उसका विश्वमय स्वरूप स्वीकार करने के कारण विश्वमयता का अभिप्राय पूर्णता से लिया जाता है।[10]

(छ) यहाँ परमशिव अपने कर्तृत्व में स्वतन्त्र है और किसी भी कृत्य में यह किसी अन्य की अपेक्षा नहीं रखता। यह अनन्योन्मुखता या अन्यनिरपेक्षता ही पूर्णता है।[11]

(ज) पूर्णता का प्रतिपादक तत्त्व है एकरसता, समरसता या सामरस्य अत: सामरस्य पूर्णता का प्रतीक है।[12]

(झ) भासित होना भी पूर्णता है।[13]

(ञ) व्यापकत्व, नित्यत्व, पूर्णत्व, सर्ववेदितृत्व तथा सर्वकर्तृत्व ये शक्तिपंचक परमतत्त्व के लक्षण हैं। यहाँ पूर्णता, सामर्थ्य के अर्थ में प्रयुक्त हुई प्रतीत होती है।[14]

उपर्युक्त परिभाषाओं एवं व्युत्पत्तिमूलक अर्थों से प्रतीत होता है कि व्यापकत्व पूर्णता का प्रमुख लक्षण है जो कि सभी को अभिप्रेत है। इसके अतिरिक्त अन्य अर्थों का प्रतिपादन एक विशिष्ट पृष्ठभूमि को दृष्टि में रखते हुए किया गया है, वह भूमि है आनन्द की खोज। यहाँ पूर्ण या पूर्णता की जो भी व्याख्या मिल रही है वह इसी आनन्दवाद के अनुसंधान से मिल रही है। जो पूर्ण है वही आनन्दमय है, वही अन्यनिरपेक्ष है, वही सबका कर्त्ता एवं ज्ञाता बन सकने में समर्थ है और वही अद्वय भी हो सकता है क्योंकि पूर्ण की कल्पना ही अद्वयवाद की मूल भित्ति है। इन सबके मूल में उसका सामर्थ्य ही मुख्य रूप से स्थित है।

पूर्णता सम्बन्धी परिभाषाओं के आधार पर कुछ मुख्य धारणाओं का रूपायन इस प्रकार हो सकता है—

1. जो पूर्ण है, वही व्यापक, नित्य एवं सामर्थ्यवान् है।
2. जो पूर्ण है, वही आकांक्षाशून्य एवं अन्यनिरपेक्ष है।
3. जो पूर्ण है, वही एकरसात्मक या सामरस्यात्मक है और वही आनन्दमय है।
4. जो पूर्ण है, वही अद्वय है। स्वात्म-चेतना के साथ-साथ उसमें सर्ववेदितृत्व एवं सर्वकर्तृत्व की शक्ति है।

पूर्णता की परम्परागत धारणा व्यापकत्व के अर्थ में ही रही है, पर इस मौलिक अर्थ को स्वीकार करते हुए भी अन्य अर्थों का योग इसमें क्रमश: हुआ है।[15] शैवाचार्यों में अभिनवगुप्त प्रमुख हैं जिन्होंने काश्मीर शैवदर्शन के अन्तर्गत आने वाले सभी दार्शनिक प्रत्ययों का सूक्ष्म रूप से निरूपण किया है। अभिनवगुप्त के पहले के आचार्य उत्पल ने अपनी *शिवस्तोत्रावली* में पूर्णता का अर्थ 'आकांक्षा से रहित जो पर है' से लिया है और उसे 'अद्वितीय' की संज्ञा प्रदान की है।[16] उसी अर्थ को आचार्य अभिनवगुप्त ने 'अन्यनिरपेक्षता' का अभिधान प्रदान किया है।[17] विवेककार जयरथ ने आकांक्षा-शून्यता की व्याख्या 'सभी भावों का संचर्वण हो जाने' की शब्दावली में की है तथा 'स्वात्ममात्र में विश्रान्त हो जाने' को ही पूर्ण कहा है।[18] आचार्य अभिनवगुप्त ने दर्शन के साथ-साथ तन्त्र, काव्यशास्त्र तथा नाट्यशास्त्र की व्यापक तथा गहन मीमांसा की है। इसका स्वाभाविक परिणाम यह हुआ है कि उनकी पूर्णता संबधी व्याख्या का सम्बन्ध योग, रसानुभूति, आनन्द एवं चमत्कार से जुड़ गया है जो अन्य-निरपेक्षता का आनुभविक प्रसार ही है। यह अभिनव का समग्रतावादी दृष्टिकोण ही कहा जायेगा जिसमें उन्होंने भोग एवं मोक्ष की साथ-साथ कल्पना करने की परम्परा को अपनी इस व्याख्या के द्वारा पूर्णता प्रदान की और इस प्रक्रिया में आनन्दवाद की सम्यक् व्याख्या प्रस्तुत की।[19]

भास्करकण्ठ ने 'पदार्थों के आदि में स्पन्दित अपरिमित अहन्ता' को ही पूर्णता स्वीकार किया है क्योंकि सब कुछ उसी में अन्तर्भूत है।[20] महानयप्रकाशकार पूर्णता को शक्ति या सामर्थ्य रूप स्वीकार करते हैं।[21] *त्रिपुरारहस्य* में एकरसता या अद्वयता ही पूर्णता है, वह भा-रूप है।[22]

पूर्णता की जो भी परिभाषाएं यहाँ दी गयी हैं उनसे सम्बद्ध निम्नलिखित समस्याएं उत्पन्न होती हैं—

(क) आकांक्षा-शून्यता यदि पूर्णता है तो अन्यनिरपेक्षता से कैसे भिन्न है या आकांक्षाराहित्य ही अन्य-निरपेक्षता है?

(ख) यदि व्यापकता ही पूर्णता है तो अन्त: एवं बाह्य-विस्तार दोनों रूप से है या एक रूप से?

(ग) एकरसता या सामरस्य, आनन्द का आधायक किस प्रकार से है?

(घ) यदि 'पूर्णता' शक्ति या सामर्थ्य है तो वह शक्ति शिव से संयुक्त है या उससे असंयुक्त?

स्थूल रूप से दृष्टिपात करने से ऐसा प्रतीत होता है कि आकांक्षाराहित्य तथा अन्यनिरपेक्षता दोनों समानार्थक हैं क्योंकि जिसमें आकांक्षा ही नहीं (क्योंकि जो सभी कुछ भोग चुका है) उसमें अपेक्षा कैसी। यहाँ सूक्ष्म विवेचन से ऐसा प्रतीत होता है कि आकांक्षाराहित्य एवं अन्यनिरपेक्षता दोनों भिन्न प्रत्यय हैं। प्रथम पूर्ण रूप से मानसिक अवस्था है जो सन्तुष्टिसम्पृक्त है और द्वितीय का मानसिक के साथ-साथ बाह्य क्रियाओं से भी योग संभव है, यद्यपि सन्तुष्टि उभयसाधारण है। इसी से सम्बद्ध एक प्रश्न और उठता है कि यदि पूर्णता आकांक्षा का न होना है तो परमशिव में इच्छा क्यों होती है? और अगर यह कहें कि यह उसका स्वातन्त्र्य है तो भी इच्छा करना ही अन्यापेक्षा है तो वह पूर्ण एवं स्वतन्त्र कैसे है? यहाँ पर यह व्याख्या प्रस्तुत की जा सकती है कि यह तो परमशिव की लीला या क्रीडा है और लीला स्वाभाविक है, उसके लिये उसे किसी प्रकार की आकांक्षा नहीं होती। इस लीला की उपमा किसी शिशुलीला से दी जा सकती है जो कि निष्प्रयोजन होते हुए भी शिशु को आह्लादित करती है।

व्यापकता में आन्तरिक एवं बाह्य (अन्त:प्रवेश एवं बाह्यविस्तार) दोनों स्थितियाँ हैं क्योंकि जो अन्त: में है वही बाह्य में भी है। जब व्यापकता अपने में ही अनुस्यूत होती है तब वही आन्तरिकता की अवस्था होती है। जब उस अहन्ता का इदन्ता के रूप में स्फुटन होने लगता है तो वही बाह्य है। इस प्रकार व्यापकता अन्त:प्रवेश एवं बाह्यविस्तार दोनों है।

वास्तव में समरसता या सामरस्य, आनन्द का कारण है। समरसता दो या दो से अधिक पदार्थों की एकरूपता या पारस्परिक विगलन की स्थिति है। जिस प्रकार से कुछ पदार्थों का सम्यक् एकीकरण एक विशेष प्रकार के रस का निर्माण कर एक विशिष्ट आनन्द प्रदान करता है उसी प्रकार शिव एवं शक्ति का सामरस्य ही पूर्ण सत्ता या महानन्द की अनुभूति है। समरसता एवं आनन्द में प्रत्ययात्मक दृष्टि से यामल (युग्म) अपेक्षित है। अतएव इन दोनों प्रत्ययों को एक ही मानना चाहिए, यह बात तब और भी सिद्ध हो जाती है जब हम इसे एकरसता कहते हैं। एकरसता एवं आनन्द दोनों प्रत्ययों में द्विरूपता का स्वरूप नहीं रह जाता है। अन्तत: समरसता आनन्द का कारण है। आनन्द पूर्णता के स्पर्श की स्थिति है।

कोई भी पूर्ण तब तक नहीं हो सकता जब तक उसमें सब प्रकार की सामर्थ्य न हो। सामर्थ्य के बिना पूर्णता का कोई अर्थ नहीं रह जाता। यहाँ परमशिव शक्तिमान् के रूप में अवस्थित है और शक्ति एवं शक्तिमान् का सम्बन्ध सर्वथा अवियुक्त है। जिस प्रकार से अग्नि की उष्णता को अग्नि से पृथक् नहीं किया जा सकता, उनका सम्बन्ध स्वाभाविक है उसी प्रकार शक्ति एवं शक्तिमान् का सम्बन्ध भी स्वाभाविक है। काश्मीर शैवदर्शन के अनुसार शक्ति परमेश्वर का स्वभाव है। अत: शक्ति कभी भी शिव से असंयुक्त नहीं रह सकती। साधारणतया किसी वस्तु की व्याख्या स्वभाव पर आश्रित होती है। अत: यहाँ वह पूर्ण इसलिए है क्योंकि वह शक्तिमय है। शक्ति के बिना वह पूर्ण नहीं हो सकता। अत: पूर्णता के लिए सामर्थ्य का होना आवश्यक है।

इस प्रकार उपर्युक्त परिभाषाओं के विवेचन से ऐसा प्रतीत होता है कि पूर्णता का सबसे आवश्यक तत्त्व अन्यनिरपेक्षता में निहित है। लोक में भी ऐसा देखा जाता है कि वही पूर्ण है जिसे किसी अन्य की अपेक्षा नहीं और अन्य की अपेक्षा न करना ही आनन्द है तथा जो स्वतन्त्र है, अन्त:विस्तार एवं बाह्यविस्तार दोनों उसी के हैं क्योंकि वह सर्वमय है। इन सबके मूल में सामर्थ्य ही निहित है। यहाँ यह कहा जा सकता है कि वही पूर्ण है जहाँ से प्रत्येक वस्तु उत्पन्न होती है, जिसका स्वरूप भी वही होता है और जिसकी व्याख्या भी वही है।

पूर्णत्व के अन्वेषण के फलस्वरूप द्वैत तथा अनेक प्रकार की अद्वैत-दृष्टियों का विकास हुआ है। अत: देखना है कि पूर्णत्व के प्रत्यय से निर्गत होने वाले कौन-कौन से अन्य प्रत्यय है। सर्वप्रथम हम 'परमेश्वर' या 'महेश्वर' को लेते हैं। महेश्वर प्रकाशरूप, अनन्त शक्तियों से परिपूर्ण एवं विकल्प रहित है और वही प्रमातृ-भूमिका एवं वेद्य-भूमिका का ग्रहण करता है। परमेश्वर की प्रकाशमयता विमर्श से अनुप्राणित है, अतएव वह प्रकाशविमर्श स्वभाव वाला है। वह सम्पूर्ण विश्व का शरीर है एवं स्वतन्त्र, परनिरपेक्ष, नित्य, विभु एवं विश्वाकृति रूप है। वह शास्तृ-रूप एवं अनुग्रहपरक है। परमेश्वर की ये ही विशेषताएं उसकी पूर्णता की द्योतक हैं। महेश्वरत्व का तात्पर्य ही यही है कि वह सबका शासक है, ईशत्व तो पूर्णता का ही प्रतिपादक है। इस प्रकार महेश्वरत्व का प्रत्यय पूर्णता से निर्गत स्वीकार किया जाना चाहिए। पूर्णता एक स्थितिपरक प्रत्यय प्रतीत होता है जब कि महेश्वरत्व इस स्थिति के लक्षणों की ओर संकेत करने वाला क्रियापरक प्रत्यय है।

पूर्णता के प्रत्यय से निर्गत एक अवधारणा 'संवित्' भी है। संवित् वेद्योत्तीर्ण चेतना का आधार है। सभी प्रकार के बाह्य उपायों एवं आन्तरिक उपायों की सिद्धि संवित् के अधीन है। यह अखण्ड प्रकाशरूप, स्वप्रकाश एवं अवयव-रहित है। स्व एवं पर का भेद समाप्त होने पर संवित् की अभिव्यक्ति होती है। इस संवित् के द्वारा ही इसका क्षुब्ध एवं अक्षुब्ध (पदाध्व एवं मन्त्राध्व) द्विविध रूपों में स्फुरण होता है। जो संवित् में विश्रान्त है वही सत् है। यह संविन्मयत्व स्वातन्त्र्य से उल्लसित सम्पूर्ण विश्व का निर्भरत्व ही है। पूर्णता एक शान्त समुद्र की भाँति है और संवित् एक निस्तब्ध तरंग। यह संवित् विशुद्ध चेतना है और पूर्णता उसका अखण्ड समग्र विस्तार।

'समावेश' का अंतर्भाव पूर्णता के प्रत्यय में किया जा सकता है क्योंकि समावेश पूर्णता की प्रक्रियात्मक भूमि है अत: कहीं-कहीं पर इसका प्रयोग एक साधन के रूप में भी किया गया

है। वास्तव में परिमित प्रमाता के असंकुचित रूप का गुणात्मक विकास ही समावेश है। वस्तुत: पूर्णता में कर्तृत्व एवं ज्ञातृत्व दोनों का समावेश होता है। पूर्णता कर्तृत्व एवं ज्ञातृत्व, स्वातन्त्र्य एवं बोध तथा विमर्श एवं प्रकाश का सामरस्य है। यदि इस सामरस्य को स्वीकार नहीं किया जाए तो पूर्णता वस्तुत: पूर्णता न होकर शून्यता हो जायेगी। समावेश वस्तुत: अवस्था विशेष है जिसे यामलावस्था कह सकते हैं। इसे तात्त्विक रूप से इस प्रकार समझा जा सकता है कि जब शिव शक्त्युन्मुख होता है और शक्ति शिवोन्मुख होती है, उस समय की अवस्था को 'यामल' अवस्था कहते हैं। उस अवस्था में न शिव शक्तिहीन रहता है और न शक्ति शिव-हीन रहती है। इसी को 'संघट्ट' कहते हैं। इसी का नामान्तर 'आनन्दशक्ति' या स्पन्द है। प्रकाश तथा विमर्श दोनों का समवाय ही 'अनुत्तर' है। दोनों का संघट्ट ही आनन्द कहलाता है जिससे विश्वसृष्टि होती है। परन्तु संघट्ट है पूर्ण रूप क्योंकि उस समय नियत अवच्छेद नहीं रहता इसीलिए उस समय विश्वमय और विश्वोत्तीर्ण में कोई अन्तर नहीं रहने पाता। इसी लिए समरसता को आनन्द का निर्वाहक तत्त्व माना जाता है। सत् तथा चित् का सामरस्य ही आनन्द है। शिव-शक्ति का नित्य सामरस्य ही आनन्द है। इस प्रकार समरसतात्मक संघट्ट आनन्द का प्रयोजक है और समावेश की विविध अवस्थाएँ व्यक्ति के गुणात्मक विकास की स्थितियाँ हैं जब कि पूर्णता को उस विकास की अन्तिम एवं प्रकृष्टतम अवस्था स्वीकार किया जा सकता है।

अद्वय या अद्वैत परमार्थ रूप में जहाँ पर सब कुछ उसी रूप में एकतान भासित हो रहा है, ऐसी स्थिति में वहाँ द्वैत एवं अद्वैत दोनों ही भाव अन्त:स्थ रहते हैं। अद्वैत में सब कुछ प्रकाश रूप है। जिस प्रकार से पत्ते में भासित होने वाली रेखाएं पत्ते ही हैं उसी प्रकार प्रकाश में भासित होने वाले पदार्थ प्रकाश ही हैं उसके अभाव में वे अप्रकाश ही होगें। इस महाद्वैत में भेद भी भासनयोग्य ही है अन्यथा अपूर्णता का आपतन हो जायेगा। वस्तुत: परम सत् एक अद्वैत चेतना है। यहाँ पर ग्राह्य एवं ग्राहक का द्वैत भाव नहीं रहता है। यह दशा शून्य की कही जा सकती है। पर आगम मत में अद्वैत शब्द का अर्थ है दो का नित्य सामरस्य, और नित्य सामरस्य मानने पर भेद का प्रत्यय कैसे घटित होगा? जहाँ परमतत्त्व साम्य स्वरूप है वहाँ तो भेद होता ही नहीं। वह तो सब अवस्थाओं का लय-स्थल है। किन्तु ऐसा स्वीकार कर लेने पर सेव्य-सेवक भाव नहीं होगा जो कि भक्ति में आवश्यक है। अत: भेद न होने पर भी यहाँ आहार्य-भेद होता है, वास्तविक भेद नहीं।[23] वस्तुत: इस अद्वय-धारणा का विकास वास्तव में पूर्णता के अन्वेषण के लिए ही हुआ है। यह अद्वैत-धारणा की दृष्टि पूर्णता की ओर ले जाने का मार्ग प्रशस्त करती है। यह पूर्णता प्राप्ति का एक दृष्टिकोण है। अत: यह पूर्णता के अन्तर्गत ही है। अतएव यह नि:संकोच कहा जा सकता है कि अद्वय या अभेद का प्रत्यय पूर्णता के प्रत्यय का ही पल्लव है।

प्रमाता से ऐकात्म्य ही 'आन्तर्य' है। यह आन्तर्य असाधारण और सामान्य दोनों अर्थों में आगमिक दर्शनों में प्राप्त है। प्रमाता की आत्म-विश्रान्ति ही आन्तर्य है। यह अहं-परामर्शरूप है। इसे आद्य परिस्पन्द भी कहते हैं। यह स्थिति संवित् के नैकट्य अर्थात् चिद्रूपता के उन्मेष की स्थिति है। आन्तर्य का सम्बन्ध मुख्यत: प्रकाश से होने के कारण यह समस्या तात्त्विक है। पूर्णता के ज्ञातृत्व एवं कर्तृत्व दोनों ही आवश्यक घटक हैं जबकि आन्तर्य में चिद्रूपता का उन्मेष होने के कारण ज्ञातृत्व भाव प्रधान होता है। पूर्णता में दोनों का समान महत्त्व है, प्रधानता एवं अप्रधानता

की बात वहाँ पर नहीं प्राप्त है। इस प्रकार ज्ञातृत्व से सम्बद्ध रखने के कारण आन्तर्य पूर्णता का अंश ही सिद्ध होता है। इस निष्कर्ष के आधार पर हम कह सकते हैं कि आन्तर्य या अन्त:प्रत्यय पूर्णता से ही नि:सृष्ट होता है।

स्वातन्त्र्य शब्द का तात्पर्य है अन्यनिरपेक्षता। इसी का नामान्तर है आनन्द। जहाँ द्वितीय नहीं है और द्वितीय की अपेक्षा भी नहीं है वह स्वरूप स्वभावत: आनन्दमय है। परमार्थ स्थिति में सत् अवाङ्मानसगोचर है। सत् होने पर भी वह एक दृष्टि से असत् के तुल्य है, परन्तु वास्तव में वह असत् नहीं, विशुद्धतम सत् ही है। वस्तुत: अभिव्यक्ति के दृष्टिकोण से वह चित् है और रसास्वाद की दृष्टि से वह आनन्द है। स्वप्रकाशित होने के कारण भी स्वयं आनन्द ही है। इसकी एक विशेषता यह है कि वह अपने पास अपना प्रकाश धारण करता है तथा स्वरूपानन्द का स्वयं आस्वादन करता है। यह सम्भव होता है उसकी अपनी ही स्वरूपगत अभिन्नरूपा स्वातन्त्र्य शक्ति के कारण। यह शक्ति उपाधिमूलक न होकर स्वाभाविक है। जगद्वैचित्र्य का कारण यही स्वातन्त्र्य है। चैतन्य का पूर्ण रूप से ज्ञान-क्रिया युक्त होना ही परम ऐश्वर्य है, यह उसका स्वभाव है एवं यही स्वातन्त्र्य है। स्वातन्त्र्य एक माध्यम है जिससे पूर्णता की अभिव्यक्ति होती है। स्वातन्त्र्य परम सत् का स्वभाव है। औपचारिक भाषा में यह एक प्रकार का धर्म-धर्मी का सम्बन्ध है। यह सत्य है कि धर्म को धर्मी से पृथक नहीं किया जा सकता किन्तु धर्म से धर्मी को परिभाषित किया जा सकता है। प्रत्यय की दृष्टि से दोनों में प्रत्ययात्मक भिन्नता है। धर्म-धर्मी पर आश्रित है और धर्मी की अभिव्यक्ति का माध्यम स्वातन्त्र्य है। पूर्णता में ज्ञातृत्व एवं कर्तृत्व दोनों शक्तियों का समावेश होता है। इसको (पूर्णता को) प्रकाशत्व, स्वतन्त्रत्व आदि गुणों का परिपाकात्मक विस्तार माना जा सकता है। वास्तव में पूर्णता एक स्थिति या अवस्था विशेष है, स्वातन्त्र्य आदि इसके अभिव्यंजक तत्त्व हैं क्योंकि पूर्णता में स्वातन्त्र्य का बोध एवं स्वातन्त्र्य की कर्तृता दोनों अवस्थित हैं। सारांश रूप में यही कहा जा सकता है कि पूर्णता परिभाष्य है और स्वातन्त्र्य परिभाषक। इन तर्कों के आधार पर यही कहना समीचीन होगा कि पूर्णता सबका मूल है और स्वातन्त्र्य आदि धर्म इसी से निष्पन्न हैं। अतएव पूर्णता प्रथमस्तरीय प्रत्यय है जिससे स्वातन्त्र्य आदि प्रत्यय निर्गत होते हैं। यही कारण है कि शैव दार्शनिकों की दृष्टि सदैव पूर्ण या पूर्णतामूलक ही रही है न कि शून्यतामूलक या कैवल्यमूलक।

जगत् की सत्यता एवं व्यावहारिकता की सिद्धि के मूल में यही दृष्टि प्रतिफलित होती है। संवृति सत्य एवं परमार्थ सत्य के ऐक्य का आधार भी यहाँ का पूर्णता-मूलक दृष्टिकोण ही है। शैव साधक तो मोक्ष का भोग इसी संसार में करता है।

प्राय: पूर्णता की अवधारणा का विश्लेषण सत् की अवधारणा से मिश्रित कर के किया गया है। दार्शनिक दृष्टि से जगत् के प्रत्यय की व्याख्या भी परम सत् को ध्यान में रखकर ही की जाती है। इस संदर्भ में हमें मुख्य रूप से तीन विचारधाराएं मिलती हैं—बौद्ध, अद्वैतवेदान्त, एवं शैव-शाक्त। अद्वैतवेदान्त की पूर्णतामूलक धारणा ज्ञानमार्गी है क्योंकि यहाँ कैवल्य का निश्चय मुख्यत: ज्ञान के माध्यम से होता है, यही दृष्टिकोण निर्वाण को स्वीकार करने वालों का भी है।[24] इच्छा पूर्णतामूलक शिवाद्वयवादी दृष्टिकोण का प्रमुख तत्त्व है।[25] वेदान्त में ज्ञान मूलभूत है तथा इच्छा व भावना ज्ञान की ही विधाएँ हैं। ये तत्त्वज्ञान पर अपने अस्तित्व के लिए निर्भर रहते हैं

किन्तु ज्ञान इन पर निर्भर नहीं है। इसके विपरीत आगमिक स्रोतों में इच्छा को ज्ञान की अपेक्षा मूलभूत स्वीकार किया गया है। आगमिक दर्शन में स्वतन्त्रता और पूर्णत्व के प्रत्यय मूलभूत हैं। यद्यपि वेदान्त में स्वतन्त्रता तथा पूर्णता ब्रह्म की स्वरूपभूत विशेषताएं या स्वभाव स्वीकार किये गये हैं फिर भी उसका दृष्टिकोण नकारात्मक ही रहा है। यहाँ पूर्णता का अर्थ है सत् (being) की शुद्धता। ब्रह्म की पूर्णता यहाँ इस बात की द्योतक है कि यह भवनात्मकता (becoming) से स्वतन्त्र है। किन्तु यहाँ पर यह प्रश्न होता है कि क्या वेदान्ती जिस तरह की पूर्णता को स्वीकार करते हैं (अर्थात् व्यावहारिक रूप में जगत् एवं आत्मा की सत्ता को अलग-अलग स्वीकार करना) उसे पूर्णता का संकेतक माना जा सकता है? अद्वैतवेदान्त का अद्वैतवाद सभी को समन्वित करने वाला भी नहीं हो सकता क्योंकि उसे माया को वास्तविक मानने में संकोच होगा। वेदान्त का अद्वैत सभी से भिन्न है क्योंकि वह ब्रह्मेतर सभी के अपसारण पर निर्भर करता है। यह अन्यों से पृथक्कृत शुद्धता (विश्वोत्तीर्णता) का प्रतिपादक है। यहाँ ज्ञान एवं अज्ञान या सत् और असत् परस्पर विरुद्ध माने गये हैं। इनमें भेद कर पाना आध्यात्मिक जागरूकता पर निर्भर करता है इसीलिए नित्यानित्यवस्तुविवेक पर वे जोर देते हैं।

वेदान्त में ब्रह्म को सच्चिदानन्द कहा गया फिर भी उस पर यह आक्षेप लगता आया है कि वह स्वात्मचेतना एवं समरसता से रहित है। अब यहाँ प्रश्न उठता है कि क्या सत्, चित् एवं आनन्द के प्रत्ययमूलक अर्थों में भेद है? क्योंकि जो चित् है निश्चित ही उसे स्वात्म-चेतना रूप होना चाहिए और जो आनन्दात्म है उसे समरसता या समन्वयमय भी होना चाहिए। यहाँ सत्, चित् एवं आनन्द तीनों एकात्मक रूप से ब्रह्म का संकेतन करते हैं पर यहाँ क्रिया या स्वातन्त्र्य को स्वीकार नहीं किया गया है। वेदान्त में चित् का स्वातन्त्र्य स्वीकार नहीं है, चिद्रूपा शक्ति यहाँ लुप्त है। इसीलिए ऐश्वर्य उपाधिगत तथा आगन्तुक माना गया है। आगम-सम्मत चित्स्वरूप में ऐश्वर्य उपाधिमूलक न होकर स्वाभाविक है।[26] यहाँ प्रकाश की आत्मस्वरूप में जो विश्रान्ति है उसी का नाम अहन्ता है और वही मुख्य ऐश्वर्य है।[27] उसका नामान्तर स्वातन्त्र्य है। जिसकी स्वतन्त्र सत्ता होती है क्रिया में उसी का स्वातन्त्र्य होता है।[28] अद्वैतवेदान्त इस चराचर जगत् की व्याख्या ज्ञान की दृष्टि से करता है। सत् वह है जो ज्ञानात्मक क्रियाओं पर आश्रित नहीं रहता। ज्ञान कभी भी अपने विषय को नष्ट नहीं करता बल्कि वह जिस रूप में स्थित है उसका ज्ञान कराता है। ज्ञान किसी वस्तु का ही होता है और यह वस्तु के वास्तविक अस्तित्व को स्वीकार किये बिना सम्भव नहीं है।[29]

अत: अद्वैतवेदान्त की पूर्णतामूलक धारणा निषेधात्मक है। उसमें कर्तृत्व एवं ज्ञातृत्व होते हुए भी स्वातन्त्र्य एवं बोध नहीं है। कर्तृत्व में स्वातन्त्र्य एवं विमर्श का और ज्ञातृत्व में बोध एवं प्रकाश का सामरस्य आवश्यक है। किसी तरह उसके स्वातन्त्र्य को मान भी लिया जाए तो वह केवल अज्ञान के व्यावर्तक रूप में होगा साथ ही उसका स्वात्म-विमर्शन नहीं होगा।

शून्यवादी बौद्धों के अनुसार पूर्णता एक अद्वैत चेतना है। यहाँ ग्राह्य-ग्राहक भाव नहीं रहता। इसे ही शून्य कहते हैं। द्वैत से रहित यह अपने आप में पूर्ण एवं वास्तविक है और किसी भी व्यावहारिक विधेय के प्रयोग का विषय न हो सकने के कारण यह शून्य है। यह सभी विकल्पों से रहित है अत: सांवृतिक नहीं है। एक वस्तु को दूसरी वस्तु से सम्बन्धित कर ही विशेषीकृत

किया जा सकता है। जहाँ पर ये सम्बन्ध नहीं होते वहीं शून्य की स्थिति है। यह अनित्य है क्योंकि कालातीत है और काल, चेतना के क्रम के अतिरिक्त कुछ भी नहीं। यह चेतना ही पूर्णता है तथा यह लोकोत्तर है। इसे व्यावहारिक बातचीत के स्तर पर अनिर्वचनीय ही कहा जा सकता है।[30] इस प्रकार यहाँ पूर्णता की व्याख्या प्रमाणशास्त्रीय प्रतीत होती है। यद्यपि प्रथम दृष्टि में यह विश्वोत्तीर्णता की ओर संकेत करती प्रतीत होती है किन्तु सूक्ष्म दृष्टि से देखने से प्रतीत होता है कि यहाँ विचारों से बाह्य कुछ भी नहीं है। शून्यता को पूर्णता नहीं कहा जा सकता क्योंकि शून्यता में सत्ता और भवत्ता (being and becoming) को पृथक्-पृथक् कर देखा जाता है जब कि पूर्णता में ये दोनों अलग नहीं हैं। पूर्णता एक अद्वैत चेतना है। यहाँ ग्राह्य-ग्राहक भेद नहीं होता।

इसे शून्य इसीलिये कहा जाता है क्योंकि यह द्वैतभाव से रहित है। यहाँ पर एक प्रश्न उठ सकता है कि कुछ न होना भी शून्य माना जा सकता है तो यह शून्य की कल्पना कैसी? शून्य की कल्पना होना ही इस बात का द्योतक है कि वह संज्ञाविहीन नहीं है और यदि संज्ञाविहीन नहीं है तो वह संज्ञा भी किसी न किसी से विशेषित ही हुई। अत: शून्य की कल्पना ही व्यर्थ है। इसके उत्तर में बौद्ध कह सकते हैं कि वह शून्य इसलिए है क्योंकि व्यावहारिक दृष्टि से यहाँ ज्ञाता एवं ज्ञेय की कल्पना नहीं की जा सकती, किन्तु यह बात तर्कसंगत नहीं प्रतीत होती है। इसी को बौद्ध आगे स्पष्ट करते हैं कि वह ज्ञान लोकोत्तर है।[31]

विज्ञानवादी दृष्टिकोण से चेतना शुद्ध संकल्प रूप है। यह चेतना ही ग्राह्य-ग्राहक सम्बन्ध का निश्चय करती है। कोई भी किसी देश या काल में घटित होने वाली कोई वस्तु-विहीन कल्पना कर सकता है। यहाँ यह कहा जा सकता है कि यह ज्ञानात्मक है किन्तु अगर वह कल्पना का विषय है तो वह ग्राह्य-रूप ही हो सकता है। कहने का तात्पर्य यह है कि यहाँ ऐसी कोई वस्तु नहीं जो इच्छा का विषय या उससे उत्पन्न नहीं है। विज्ञानवादी शुद्ध चित्त को ही संकल्प मानता है और विशुद्ध चित्त वस्तुत: अचित्त है। इस शुद्ध संकल्प की प्राप्ति के लिए हमें व्यावहारिक चेतना के ऊपर जाना होगा। इस प्रकार जब वह कल्पना का विषय रहा नहीं तो न वह ग्राहक है और न किसी का ग्राह्य। इसलिए ग्राह्य-ग्राहकत्व से रहित वस्तु की कल्पना कैसी।[32] कोई भी व्यावहारिक संकल्प शुद्ध नहीं है। यही शुद्ध संकल्प अद्वैत की कल्पना है और यही सत् है। यहाँ यह प्रश्न उठता है कि ये शुद्ध संकल्प या इच्छा भी किसी पर आश्रित रहने वाले प्रत्यय हैं, अतएव बौद्धों (विज्ञानवादियों) की यह विवेचना समीचीन प्रतीत नहीं होती है। ये मनोवैज्ञानिक तत्त्व हैं अतएव इनका कोई न कोई आश्रय या आधार होना ही चाहिए।

किसी भी अद्वैतवाद में अद्वैत एवं जगत् के सम्बन्ध को दो रूपों में देखा जाता है—या तो अद्वैत सर्वव्यापी है (अत: उससे भिन्न कुछ भी नहीं) अथवा विश्वोत्तीर्ण है। बौद्ध (विज्ञानवादी) इसे दोनों रूपों में स्वीकार करता है किन्तु वह दोनों में भेद करता है और तर्क करता है कि अद्वैत द्विस्तरीय तत्त्वपरक व्यवस्था नहीं है और यदि दोनों भिन्न हैं तो जगत् का निषेध अद्वैत को जन्म नहीं दे सकता साथ ही जगत् का निषेध भी नहीं किया जा सकता है। यदि जगत् और अद्वैत भिन्न-भिन्न हैं तो इनका अस्तित्व-गत वैशिष्ट्य है। इन्हें एक-दूसरे के आश्रित नहीं होना चाहिए। इस प्रकार सत् एवं असत् के बीच भेद नहीं किया जा सकता है और न ही

उन्हें एक कहा जा सकता है। अगर यह मान लिया जाए कि अद्वैत जगत् के अतिरिक्त कुछ नहीं है तो यह स्वयं में भ्रामक होगा. ऐसी स्थिति में भी जगत् का निषेध नहीं किया जा सकता। जगत् को हम असत् इसलिए स्वीकार करते हैं क्योंकि इसके मानक जागतिक नहीं हैं। सर्वव्यापकता में मानक हो नहीं सकता। इस प्रकार अद्वैत को विश्वोत्तीर्ण मानना ही पड़ेगा नहीं तो यह वास्तव में अद्वैत होगा ही नहीं।[33]

बौद्ध का निर्वाण दु:खों से मुक्ति पाना है। जब सम्पूर्ण ज्ञेय ज्ञान से व्याप्त हो जाता है वही परम सुख है। यह कोई विशिष्ट विषय की चेतना नहीं है। यही सामान्य संकल्प की अद्वय-स्थिति है। निर्वाण इसी अवस्था का बोध है। यह ग्राह्य-ग्राहक भाव से मुक्त चेतना है और विषय का उसके वास्तविक रूप में बोध है।

इस प्रकार ऐसा प्रतीत होता है कि अद्वैतवेदान्त तथा योगाचार बौद्ध दोनों ही दर्शनों का दृष्टिकोण निषेधात्मक ही है। वेदान्त की इस बात की प्रशंसा की जानी चाहिए कि वह स्पष्ट रूप से जगत् का निषेध करता है जबकि विज्ञानवादी विश्वमयता तथा विश्वोत्तीर्णता की चर्चा करते हुए जगत् का प्रथम दृष्टि में निषेध नहीं करता। शंकर ब्रह्म को सत्य और माया को अनिर्वचनीय कहते हैं। इसलिए वाक्यों द्वारा जितना अद्वैत भाव दिखाने की चेष्टा की गयी है उतना ही पूर्ण भाव के प्रकाशन में कठिनाई आई है। वे माया को सत्य नहीं मान सकते इसी से उनका अद्वैतवाद व्यावृत्तिमूलक एवं सन्यासमूलक है, वह ग्रहणमूलक नहीं है।[34] माध्यमिकों का अद्वैत ज्ञानात्मक है क्योंकि विचारों के अतिरिक्त वहाँ कुछ भी नहीं है। अद्वैतवेदान्त एवं योगाचार का अद्वैततत्त्व-परक है क्योंकि वहाँ एक ही सत् है।[35] यह कहना उचित होगा कि वेदान्त का अद्वैततत्त्व-परक तथा योगाचार का अद्वैत मनोवैज्ञानिक है।[36] इस दृष्टि से तीनों का मत एक प्रतीत होता है कि अद्वैत को विचारों में नहीं देखा जा सकता, वह विश्वोत्तीर्ण है।[37] सांख्य के निष्क्रिय पुरुष एवं शून्यवादियों के शून्य की भाँति वेदान्त का ब्रह्म स्वातन्त्र्य से रहित है, यद्यपि वेदान्त का ब्रह्म सत्, चित् एवं आनन्द रूप है फिर भी स्वातन्त्र्यरहित होने के कारण शून्य के समकक्ष है।

काश्मीर शैवदर्शन पर जिन आधुनिक विचारकों ने कार्य किया है उन्होंने इस सम्प्रदाय को पूर्णता-दृष्टिमूलक ही स्वीकार किया है। गोपीनाथ कविराज स्वीकार करते हैं कि जहाँ द्वितीय नहीं और द्वितीय की अपेक्षा भी नहीं वह स्वरूप स्वभावत: आनन्दमय है। अभिव्यक्ति की दृष्टि से वह चित् है और रसास्वाद की दृष्टि से वही आनन्द है।[38] वह पूर्ण इसलिए है क्योंकि उसका कोई अवच्छेक नहीं है।[39] कान्तिचन्द्र पाण्डेय पूर्णता के लिए स्वातन्त्र्य आवश्यक मानते हैं।[40] लक्ष्मीनिधि शर्मा स्वातन्त्र्य एवं पूर्णत्व में भेद न कर[41] इच्छा को पूर्णता-मूलक दृष्टिकोण का मुख्य अंग स्वीकार करते हैं।[42] कर्तृत्व एवं ज्ञातृत्व की समरसता पूर्णता में आवश्यक है।[43] बलजिन्नाथ पंडित, परिपूर्ण चेतना को सदैव स्वात्म-विमर्श होता ही रहता है, ऐसा स्वीकार करते हैं। उनके अनुसार यह विमर्शन ही सूक्ष्मतर क्रिया है और यही उसकी गतिशीलता है।[44] 'मैं' कहने का तात्पर्य ही है कि यहाँ 'मैं' के विमर्श के अतिरिक्त कुछ नहीं है।[45] परमेश्वर पूर्ण है क्योंकि उसमें पूर्णकर्तृत्व है।[46]

उपर्युक्त मतों में कविराज जी का मत यह बताने का प्रयास कर रहा है कि पूर्णता में दार्शनिक आयाम के साथ-साथ सौन्दर्यशास्त्रीय आयाम भी है। इसीलिए उन्होंने अभिव्यक्ति एवं रसास्वाद

की स्थिति में सामंजस्य करने का प्रयास किया है अर्थात् दोनों ही स्थितियाँ चित् से संबंधित हैं। अब यहाँ यह प्रश्न उठता है कि क्या आस्वाद के प्रत्यय में सामरस्य को अस्वीकार किया जा सकता है? सामरस्य वास्तविक सत्ता का प्रमुख अंश है और वह सत् एवं चित् के समन्वय के बिना असम्भव है, अत: इस दृष्टि से सामरस्य के बिना रसास्वाद की स्थिति को स्पष्ट नहीं किया जा सकता है।

पाण्डेय पूर्णता में स्वातन्त्र्य को प्रमुख घटक मानते हैं। यहाँ पर यह शंका हो सकती है कि यह स्वातन्त्र्य किसका है—जो पूर्ण है उसका स्वातन्त्र्य या उस पूर्ण की इच्छा का स्वातन्त्र्य या इच्छारूपी स्वातन्त्र्य। लक्ष्मीनिधि शर्मा पूर्णत्व एवं स्वातन्त्र्य में भेद नहीं करते, किन्तु उनके लिए स्वातन्त्र्य का प्रत्यय ऐसा प्रत्यय है जिसे धर्म माना जायेगा और उसके लिए धर्मी की आवश्यकता होगी। यही समस्या उनकी एवं अन्य विद्वानों की दृष्टि में इच्छा के प्रत्यय को भी होगी। यद्यपि लक्ष्मीनिधि शर्मा ने पूर्णतामूलक दृष्टिकोण को एक स्तर तक स्पष्ट करने का प्रयास किया है। बलजिन्नाथ पंडित पूर्णता के एक पक्ष विमर्श पर अत्यधिक जोर देते हैं। इससे सत्-रूप पक्ष उपेक्षित रह जाता है।

पूर्णता के प्रत्यय पर विचार करते समय मूल ग्रन्थों में प्रतिपादित परिभाषाओं पर ध्यान देना आवश्यक है। अगर पूर्णता में आकांक्षाशून्यता[47] या अनन्योन्मुखता के प्रत्यय पर विचार किया जाय तो एक प्रश्न उठ खड़ा होता है कि जो पूर्ण है उसमें इच्छा क्यों? और अगर कहें कि यह उसका स्वातन्त्र्य है तो भी साकांक्ष होना तो अन्योन्मुखता ही है। यहाँ यह कहा जा सकता है कि यह स्वरूपगत आनन्द की स्थिति है जिसका आत्मकर्तृक उच्छलन तथाकथित अन्योन्मुखता के रूप में दिखाई पड़ता है।

समरसता पूर्णता का आवश्यक अंश है[48] क्योंकि जो पूर्ण है उसे समरस होना आवश्यक है। इस दृष्टि से कर्तृत्व एवं ज्ञातृत्व पूर्णता के अभिधायक तत्त्व हैं।[49] कर्तृत्व में स्वातन्त्र्य एवं विमर्श तथा ज्ञातृत्व में बोध एवं प्रकाश का समावेश स्वीकार किया जा सकता है। अधिक स्पष्ट करने के लिए कर्तृत्व एवं ज्ञातृत्व, स्वातन्त्र्य एवं बोध तथा विमर्श एवं प्रकाश के युग्म बनाये जा सकते हैं। इस प्रकार पूर्णता जिसे शैवदर्शन के आचार्यों ने सामर्थ्य के अर्थ में लिया है वह भी कर्तृत्व एवं ज्ञातृत्व के समन्वय को स्वीकार करने पर स्वयमेव सिद्ध हो जाती है। यह समरसता किसी भी तरह के शून्य या कैवल्य से बचने के लिए आवश्यक है। इस एकरसता को स्वीकार कर लेने पर दार्शनिक एवं सौन्दर्यशास्त्रीय समस्या का समाधान भी सम्भव है। शायद पूर्णता के इस पक्ष को ध्यान में रखकर ही अभिनवगुप्त ने कहा है कि तान्त्रिक जीवन-दर्शन में भुक्ति एवं मुक्ति प्रमुख हैं और इन लक्ष्यों की पूर्ति तभी सम्भव है जब पूर्णता को प्राप्त कर लिया जाय।[50] इसके अतिरिक्त स्वरूप में विश्रान्ति होने को जहाँ पर पूर्णता कहा जाता है[51] वह भी वस्तुत: एकरसता ही है। इसी तरह जहाँ पर पूर्णता को विभुता के अर्थ में[52] अथवा विश्वमयता[53] के अर्थ में लिया गया है वह भी एकरसता को ध्यान में रखकर ही किया गया है। इस तरह पूर्णता का मुख्य आधायक तत्त्व ऐकरस्य अर्थात् सामरस्य ही स्वीकार किया जाना चाहिए क्योंकि इसके अन्य महत्त्वपूर्ण पक्षों का समावेश इसी के अन्तर्गत हो जाता है। अत: निष्कर्ष के आधार रूप में यह कहा जा सकता है कि पूर्णता का स्वरूपाधायक तत्त्व समरसता ही है।

पाद-टिप्पणी

1. ओं पूर्णमद: पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते।।
2. पूर्णात्पूर्णमिदं पूर्णं पूर्णात्पूर्णं प्रसूयते।
पूर्णेनापूरितं पूर्णं स्थिता पूर्णे च पूर्णता। —*योग०वा०* (निर्वा०प्रक०पूर्वा०) 5/2
तथा—
यस्मिन्सर्वं यत: सर्वं यत्सर्वं सर्वतश्च यत् ।
सर्वं सर्वतया सर्वं तत्सर्वं सर्वदा स्थितम्।। —उपरिवत्, (निर्वा०उत्तरार्द्ध) 184/46
3. *मा०वि०वा०* 1/125-46.
4. *शब्दार्थ चि०*, भा० 3, पृ०. 2.
5. (अ) तत्तद्भावसंचर्वणेन निराकांक्षतोत्पादात् स्वात्ममात्रविश्रान्त्या पूर्ण इत्यर्थ:। —*तं०आ०वि०*, भा० 2, पृ० 11
(आ) आकांक्षणीयस्यैवाभावात् पूर्ण:। —उपरिवत्, पृ० 343
(इ) तत्र च निराशंसात्-पूर्णत्वेनाकांक्षारहितादिति योजनीयम्। —*भा०*, भा० 1, पृ० 6
6. (अ) पूर्णे सर्वमस्ति, सर्वत्र पूर्णमस्ति, अन्यथास्य पूर्णतैव न स्यात्। —*तं०आ०वि०*, भा० 2, पृ० 152
(आ) पूर्णात्पूर्णमिदं पूर्णं पूर्णात्पूर्णं प्रसूयते।
पूर्णेनापूरितं पूर्णं स्थिता पूर्णे च पूर्णता।। —(निर्वा०प्रक०पूर्वा०) 5/2
तथा—
यस्मिन्सर्वं यत: सर्वं यत् सर्वं सर्वतश्च यत्।
सर्वं सर्वतया सर्वं तत्सर्वं सर्वदा स्थितम्।। —उपरिवत्, (निर्वा०उत्तरार्द्ध) 184/46; ऊपर पा० टि० 2 भी देखें।
7. पूर्णस्वभावे हि रूपे उपासन्ना: पूर्णमेव भुक्तिमुक्तिलक्षणं फलम् आसादयन्ति, अपूर्णस्वभावे पुनरपूर्णत्वमेव इत्युक्तम् ... इति। —*तं०आ०वि०*, भा० 2, पृ० 233
8. यथाभूतात्मदर्शित्वमेतावद्भुवनत्रये।
यदात्मैव जगत्सर्वमिति निश्चित्य पूर्णता।। —*यो०वा०* (उपशम प्रक०)
तथा—
स ईश्वरस्वभाव आत्मा प्रकाशते तावद् ... तत्र अप्रकाशात्मनापि प्रकाशते प्रकाशात्मनापि ...। —*ई०प्र०वि०* (भा०), भा० 1, पृ० 57
9. ... प्रमातरि भगवति ईश्वरत्वादिना उक्तेनैव पूर्णतादिना व्यवहारो य: खलु 'अहम्' इति भाति स पूर्ण: विभु: स्वतन्त्र्यो नित्य: ... । —उपरिवत् (भा०), भा० 2, पृ० 143
तथा—
पूर्णेन-सर्वभावभरितेन, सर्वं हि भावजातमाद्यस्पन्दभूतायाम् अपरिमिताहन्तायामेव विश्रान्तम् तत एव च अन्तर्गतसमस्ताक्षराऽकारहकारात्मकप्रत्याहारवाच्यत्वमस्या:। —*भा०*, भा० 1, पृ० 15
10. वस्तुत: संविदा विश्वमय्या तादात्म्यवृत्ति इति विश्वमयं पूर्णमेव इति नवं न किंचित् आभासितं स्मृतं वा स्यात्। —*ई०प्र०वि०* (भा०), भा० 1, पृ० 142

11. (अ) ... अनन्योन्मुखतया स्वात्मन्येव विश्रान्तः ... । —*तं०आ०वि०*, भा० 2, पृ० 343
(आ) पूर्णत्वमनन्यापेक्षाहमिति ... । —*ई०प्र०वि०* (भा०), भा० 2, पृ० 227
(इ) आकांक्षणीयमपरं येन नाथ न विद्यते।
तव तेनाद्वितीयस्य युक्तं यत्परिपूर्णता।। —*शिव०* स्तो० 5/17
12. अतस्तु भासकं शुद्धभासकैकस्वरूपकम्।
तच्च भारूपमेवेह पूर्णमेकरसात्मकम्।। —*त्रि०र०* (ज्ञानखण्ड) 14/4
13. तेन व्याप्ता देशकालाभासनात्तस्य पूर्णता।
अभारूपस्य चाऽभानाद्भारूपैकरसं हि तत्।। —उपरिवत् 14/41
14. व्यापकत्वं च नित्यत्वं पूर्णत्वं सर्ववेदिता (म ?)।
सर्वकर्तृत्वमित्येतत् शक्तिपंचकलक्षणम्।। —*महा०प्र०* 3/123
15. *यो०वा०* (विवेक प्रकरण, उत्तरार्द्ध) 124/46; *ई०प्र०वि०* (भा०), भा० 1, पृ० 42; भा० 2, पृ० 147; *तं०आ०वि०*, भा० 2, पृ० 152.
16. *शि०स्तो०* 5/17.
17. *ई०प्र०वि०* (भा०), भा० 2, पृ० 227.
18. *तं०आ०वि०*, भा० 2, पृ० 343.
19. उपरिवत्, पृ० 233.
20. *भा०*, भा० 1, पृ० 15.
21. *महा०प्र०* 3/123.
22. *त्रि०र०* (ज्ञानखण्ड) 14/4, 41.
23. उपरिवत् 2/33-34.
24. L.N. Sharma, *Kashmir Shaivism*, p. 13.
25. उपरिवत्।
26. *तांत्रिक वाङ्मय में शाक्त दृष्टि*, पृ० 4.
27. प्रकाशस्यात्मविश्रान्तिरंहभावो हि कीर्तितः। —*अज०प्र०सि०*, श्लो० 22
28. *अभिनवगुप्त*, पृ० 384.
29. A.K. Chatterjee, *Yogacara Idealism*, p. 179.
30. उपरिवत्, पृ० 134.
31. ज्ञानं लोकोत्तरं च तत् ।—उपरिवत्, उद्धृत
32. न हि अभूतपरिकल्पः कस्यचिद् ग्राहको नापि केनचिद् गृह्यते किं तर्हि ग्राह्य-ग्राहकत्वरहितं वस्तुमात्रम्।—उपरिवत्, पृ० 136 पर उद्धृत
33. उपरिवत्, पृ० 136.
34. *भारतीय संस्कृति एवं साधना*, पृ० 5.
35. A.K. Chatterjee, *Yogacara Idealism*, p. 202.

36. उपरिवत्, पृ० 203.
37. उपरिवत्, पृ० 126.
38. *तान्त्रिक वाङ्मय में शाक्तदृष्टि*, पृ० 2.
39. उपरिवत्, पृ० 4.
40. *अभिनवगुप्त*, पृ० 384.
41. L. N. Sharma, op. cit., p. 15.
42. उपरिवत्, पृ० 13.
43. उपरिवत्, पृ० 177.
44. *काश्मीर शैवदर्शन*, पृ० 74.
45. उपरिवत्, पृ० 121.
46. उपरिवत्, पृ० 131.
47. *तं०आ०वि०*, भा० 2, पृ० 343; *ई०प्र०वि०* (भा०), भा० 2, पृ० 22; *शि०स्तो०*, 5/15.
48. *त्रि०रा०* (ज्ञानखण्ड) 14/40.
49. *ई०प्र०का०* 1/1/1.
50. *तं०आ०वि०*, भा० 2, पृ० 233.
51. उपरिवत्, पृ० 11.
52. *योगवा०* (उपशम प्रकरण) 79/8; *ई०प्र०वि०* (भा०), भा० 1, पृ० 57, 15-51; भा० 2, पृ० 143.
53. *ई०प्र०वि०* (भा०), भा० 2, पृ० 142.

अध्याय नौ

सम्बन्ध

काश्मीर शिवाद्वयवादी दृष्टि में सम्बन्ध की धारणा का विशेष महत्त्व है। जहाँ अद्वैत से द्वैत तक आने की प्रक्रिया इसी धारणा को ही मूल में लेकर घटित होती है वहीं उस अनेकता में एकता की स्थिति की व्याख्या भी इसी प्रत्यय के माध्यम से करने की चेष्टा की जाती है। अभिनवगुप्त इसी बात को अपनी *विमर्शिनी* टीका में 'सम्बन्धाधीनैवेयं चित्रा लोकयात्रा'[1] कह कर अपने गुरु उत्पल का ही समर्थन करते हैं।

प्राय: सम्बन्ध का अभिप्राय उस तथ्य से लिया जाता है जो दो या दो से अधिक सम्बन्धियों को परस्पर बांधता है अथवा यह वह प्रभाव है जो एक पदार्थ दूसरे पदार्थ पर डालता है। यह प्रत्यक्षयोग्य नहीं है, इसका मात्र अनुभव किया जा सकता है (यद्यपि भारतीय दर्शन के एक सम्प्रदाय—न्यायवैशेषिक का एक बड़ा वर्ग इसे प्रत्यक्षयोग्य भी स्वीकारता है।) प्रत्यक्षग्राह्य न होने से इसके सम्बन्ध में कई विकल्प प्रस्तुत किये जा सकते हैं—

(क) सम्बन्ध पदार्थ या द्रव्य है।

(ख) सम्बन्ध गुण है।

(ग) सम्बन्ध जाति है।

(घ) सम्बन्ध एक तथ्य है।

(ङ) सम्बन्ध तथ्यों के व्यवस्थितीकरण का एक ढंग है।

इन सभी विकल्पों का विश्लेषण करने पर अन्तिम विकल्प ही यथार्थ लगता है। सम्बन्ध द्रव्य नहीं हो सकता क्योंकि इसकी द्रव्यवत् स्वतंत्र सत्ता संभव नहीं है। यह गुण भी नहीं हो सकता क्योंकि गुण एक ही पदार्थ में रहता है, जबकि सम्बन्ध के लिये दो पदार्थों में रहना आवश्यक है। यह जाति नहीं हो सकता क्योंकि उसे सम्बद्ध होने के लिए स्वयं सम्बन्ध की अपेक्षा होती है। यह तथ्य नहीं हो सकता क्योंकि वह तो देशकाल में स्थित सत्ता है जबकि सम्बन्ध ऐसा पदार्थ नहीं है। अन्तत: यही धारणा प्रबल होती है कि सम्बन्ध तथ्यों के व्यवस्थितीकरण का एक ढंग है। क्योंकि वह तथ्य है न कि कल्पना, फिर भी उसका अनुभव तो होता ही है। इस प्रकार यह प्रत्यय ज्ञान की एक सापेक्ष कोटि सिद्ध होता है क्योंकि अनुभूयमान तथ्यों के मध्य ही इसके दर्शन होते हैं स्वतन्त्रतया नहीं। यह ऐसी दशा की चेतना या उस ढंग की अभिव्यक्ति है जिसमें एक पदार्थ दूसरे एक या अधिक पदार्थों के साथ प्रविष्ट होता है।

किसी भी व्यवहारहेतु इस सम्बन्ध की अनिवार्यता स्वीकारने पर भी इसकी वस्तुता के सन्दर्भ में दार्शनिकों में नाना मत मतान्तर उपलब्ध होते हैं। कुछ इसे बाह्य वस्तुसत् मानते हैं तो कुछ कल्पनामात्र और कुछ इन दोनों के मध्य की सरणि का आश्रय लेते हैं। इस प्रकार का यह सम्बन्ध सदैव दो सम्बन्धियों की अपेक्षा करता है और उन सम्बन्धियों के साथ कभी अभिन्न रूप

से रहता है और कभी भिन्न रूप से। इसी अभिन्नता व भिन्नता को लक्ष्य कर सम्बन्ध की द्विविध कोटियाँ बतलाई जाती हैं—आन्तरिक व बाह्य। 'आन्तरिक सम्बन्ध' अभिन्न होने के कारण जहाँ अपनी स्थिति से सम्बन्धियों की मूलसत्ता को प्रभावित करता है वहीं 'बाह्य सम्बन्ध' उनसे भिन्न रहने से उनकी सत्ता पर कोई प्रभाव नहीं डालता।[2] सम्बन्ध के लिये अपेक्षित दो सम्बन्धियों के अपने स्वभाव के आधार पर भी सम्बन्धों को वर्गीकृत किया जाता है अर्थात् जब दो सम्बन्धी समस्वभावी होते हैं तब उनके मध्य का सम्बन्ध 'समपरिमाणी' (symmetrical) व जब विषमस्वभावी होते हैं तो उनके मध्य का सम्बन्ध 'विषमपरिमाणी' (asymmetrical) कहलाता है।

भारतीय दर्शन में इसके सन्दर्भ में मूलतः तीन दृष्टियाँ दृष्टिगोचर होती हैं—

(क) सम्बन्ध की अपनी वस्तुगत सत्ता है। (न्यायवैशेषिक तथा प्रभाकर मीमांसक)

(ख) सम्बन्ध मात्र बुद्धि-विकल्प या अविद्यावृत्ति है। (बौद्ध व वेदान्त)

(ग) सम्बन्ध प्रत्ययात्मक होते हुए भी वस्तुसत् है। (काश्मीरशिवाद्वयवाद)

एक अन्य दृष्टि सांख्ययोग की है जो कि सम्बन्ध को न तो न्यायवत् एक स्वतन्त्र पदार्थ मानती है न बौद्धवत् मात्र मानसिक संरचना क्योंकि इसकी गणना न तो सांख्यसम्मत पच्चीस या योग सम्मत छब्बीस तत्त्वों में स्वतंत्र रूप से उपलब्ध होती है और न ही इस तत्त्वमीमांसा की दृष्टि में सारे जागतिक उद्विकास का निमित्त एक बुद्धिविकल्प रूप होकर कल्पनामात्र हो सकता है। अतः यह सम्बन्ध यहाँ उतना ही सत् है जितने अन्य पदार्थ, मात्र उसकी स्वतंत्र सत्ता नहीं है। यह व्यवस्था की वह विधा है जिसमें कि सारा जागतिक उद्विकास व्यवस्थित होता है और यह व्यवस्था प्रकृति के स्वभाव में ही निहित है।

मूलतः प्रत्येक दर्शन सम्प्रदाय दो दृष्टियों से ही सम्बन्ध का अध्ययन करता है—

(क) मूल सत्ता के साथ जगत् का सम्बन्ध

(ख) जागतिक पदार्थों के मध्य पारस्परिक सम्बन्ध

इस प्रकार जहाँ यह समस्त जागतिक व्यवहारों का प्राणतत्व बना रहता है वहीं इसका प्रमुख सन्दर्भ जगत् व परमार्थ, ज्ञेय व अज्ञेय, कार्य व कारण, द्वैत व अद्वैत के मध्य की स्थिति को बतलाने के प्रसंग में उपस्थित होता है। अतः किसी भी दर्शन में प्रतिपादित सम्बन्ध की धारणा उस सम्प्रदाय विशेष के परमसत् व जगत् दोनों से सम्बद्ध विशिष्ट विचारों को प्रस्तुत करती है।

काश्मीर शिवाद्वयवाद एक पूर्णतावादी दर्शन है। यह पूर्णता पूर्ण सामरस्य की अवस्था है जिसमें सारा वैचित्र्य अन्तर्मग्न है। यह वह महासत्ता है जिसकी विस्तृत परिधि सारे नानात्व को स्वात्मरूप में निमग्न करके भी द्वैत के संस्पर्श से मुक्त रहती है क्योंकि सारा वैचित्र्य अपने स्वतन्त्र रूप में भिन्न होकर भी उस महासत्ता का ही एक अंश है। इसी दृष्टि से यहाँ की सम्बन्ध की धारणा भी अति विशिष्ट है और उसी परमसत् के स्वरूप में ही अनुस्यूत है जिसे यों तो 'भेदाभेद सम्बन्ध' कहा गया है पर इस सम्प्रदाय की विशिष्ट दार्शनिक दृष्टि अपने 'प्रत्यभिज्ञा' व 'विमर्श' के प्रत्ययों के माध्यम से ही इस सम्बन्ध के विशिष्ट स्वरूप को प्रतिपादित करती है। सामान्यतः देखने पर ऐसा प्रतीत होता है कि सिसृक्षा के उदय के साथ जब परमशिव से प्रथम तत्त्व का आभासन होता है (चाहे उसे शिव मानें या सदाशिव) तभी सम्बन्ध की चर्चा को स्थान

मिलता है। पर वस्तुत: परमसत्, जिसकी प्रकाश व विमर्श के संपुटीभाव के रूप में व्याख्या की गई, के स्वरूप में ही सम्बन्ध की धारणा अन्तर्निहित है। प्रकाश जहाँ सारे सत्त्व का समग्र है वहाँ विमर्श सारी प्रक्रियाओं का। अब इस द्वैधीभाव की कल्पना के रहते सम्बन्ध की स्थिति अपरिहार्य है जिसे यहाँ प्रत्यभिज्ञा की शब्दावली में ही समेटा गया है। यह प्रत्यभिज्ञा ही वह मूलभूत सम्बन्ध है जो दार्शनिक शब्दावली में भूत व वर्तमान अथवा स्मरणांश व प्रत्यक्षांश को सम्बद्ध करता है। जहाँ परमेश्वर अपने परम ऐश्वर्य का भोग इसी के माध्यम से करता है वहाँ जागतिक प्रमाता अपने वास्तविक स्वरूप को इसी के माध्यम से पहचानता है।

इस प्रकार परमसत् को लेकर यह सम्प्रदाय विविध प्रकार की मीमांसाएं प्रस्तुत करता है उन सबमें इसकी विशिष्ट दृष्टि सूचित होती है। इसकी सभी मीमांसाओं में उस पूर्ण तत्त्व के स्वातन्त्र्य को सर्वत्र सुरक्षित रखा गया है इसी कारण सर्वत्र विवेचित 'कारणता सम्बन्ध' यहाँ 'कर्तृकर्मभाव' हो जाता है व 'ज्ञापकता सम्बन्ध' भी 'ज्ञातृज्ञेयभाव' रूप में ही विवेचित होता है।

अब सर्वप्रथम द्रष्टव्य है कि इस सम्प्रदाय के दार्शनिक 'सम्बन्ध' की धारणा को किस तरह प्रस्तुत करते हैं। इस सम्प्रदाय में सम्बन्ध की धारणा का सर्वप्रथम विश्लेषणात्मक विवेचन हमें आचार्य उत्पल की *सम्बन्धसिद्धि* में मिलता है। संभवत: आचार्य उत्पल जिन तीन मुख्य समस्याओं को लेकर तीन स्वतंत्र ग्रंथों की रचना करते हैं वे इस सम्प्रदाय द्वारा प्रस्तुत दार्शनिक दृष्टि के विशिष्ट प्ररूप को निर्धारित करती हैं। *ईश्वरसिद्धि* के माध्यम से 'ऐश्वर्य' अर्थात् स्वातन्त्र्य की प्रतिष्ठापना, *सम्बन्धसिद्धि* के माध्यम से सम्बन्ध के भेदाभेद स्वरूप की सिद्धि तथा *अजडप्रमातृसिद्धि* के माध्यम से चेतन-प्रमातृता की अनिवार्यता की उद्घोषणा इस सम्प्रदाय को मुख्य आधारभित्ति देने वाले बिन्दु हैं। सम्बन्ध की अवधारणा की सिद्धि में बौद्धों को मुख्य प्रतिपक्षी मानकर उनकी आलोचना-प्रत्यालोचना के माध्यम से शैव परिप्रेक्ष्य में इसे यहाँ विकसित किया गया है। साथ ही भर्तृहरि के शब्दाद्वैत के भी पर्याप्त प्रभाव को यहाँ अनदेखा नहीं किया गया है।

धर्मकीर्ति ने इसी सन्दर्भ को ध्यान में रखकर *संबंधपरीक्षा* नामक एक ग्रन्थ की रचना की थी। इसमें सम्बन्ध शब्द से समझे जाने वाले जिन तीन अभिप्रायों का खण्डन करने की चेष्टा की गयी है वे इस प्रकार हैं--(क) रूपश्लेष रूप, (ख) पारतन्त्र्य रूप, (ग) परापेक्षा रूप[3]।

धर्मकीर्ति के अनुसार संबंध का अभिप्राय यदि 'रूपश्लेष' से लिया जाए तो इस 'रूपश्लेष' रूप अभिप्राय की अनुपन्नता इसलिये है क्योंकि तब दो सम्बन्धियों के अभाव में सम्बन्ध की स्थिति कैसे संभव होगी[4]। न ही रूपश्लेष की व्याख्या 'नैरन्तर्य' अर्थ में कर उस स्थिति को स्वीकरणीय बनाया जा सकता है, क्योंकि नैरन्तर्य का अर्थ है अन्तरालाभाव जो कि अनपेक्षित स्थलों पर भी सम्बन्ध की सत्ता सिद्ध करेगा व अन्तरालमय अपेक्षित स्थलों पर सम्बन्ध को नहीं साधेगा।[5] इसी प्रकार संबंध की 'पारतन्त्र्य' रूप व्याख्या भी सन्तोषजनक नहीं है क्योंकि न वह दो निष्पन्न पदार्थों के बीच संभव है और न दो अनिष्पन्न पदार्थों के बीच[6]। इसी प्रकार 'परापेक्षा' भी सम्बन्ध का यथार्थ अभिप्रेत नहीं हो सकती क्योंकि न सत् पदार्थ परापेक्ष हो सकता है न असत् पदार्थ।[7] साथ ही वहाँ सम्बन्ध के 'द्विष्ठता' रूप अभिप्राय का भी खण्डन इस आधार पर किया गया है कि दो परस्पर भिन्न पदार्थ सम्बन्ध के द्वारा एक नहीं हो सकते व अनेकता रहने पर

सम्बन्ध सम्भव नहीं है। सम्बन्धियों से व्यतिरिक्त सम्बन्ध को एक तृतीय सत्ता के रूप में भी नहीं स्वीकारा जा सकता है क्योंकि यह मान्यता अनवस्था दोष की आपादक होगी।[8]

इसी विधि का अनुसरण करते हुए आचार्य उत्पल भी सम्बन्ध के तीन सम्भव अभिप्रायों का विश्लेषणात्मक विवेचन करते हैं—

(क) नैरन्तर्य रूप, (ख) द्विष्ठता रूप, (ग) अपेक्षा-पारतन्त्र्य रूप।

इनमें से 'नैरन्तर्य' का खण्डन तो बौद्ध-सदृश ही है कि तब दो ऐसे पदार्थों के मध्य सम्बन्ध की प्राप्ति होगी जहाँ कोई सम्बन्ध नहीं है और वहाँ असम्बद्धता ही होगी जहाँ सम्बन्ध की स्थिति है।[9] इसी प्रकार 'द्विष्ठता' रूप अभिप्राय भी उपपन्न नहीं है क्योंकि तब तो द्विपृथक्त्वादि में भी द्वित्व के रहने से सम्बन्ध की संभावना होगी।[10] साथ ही अविद्यमान सम्बन्धी के सन्दर्भ में यह सम्बन्ध संभव नहीं हो सकेगा, जैसे कि बीज व अनभिव्यक्त अंकुर के मध्य, क्योंकि तब इस द्विष्ठता का ह्रास होगा।[11] इसी प्रकार 'अपेक्षापारतन्त्र्य' रूप अभिप्राय भी अनुपपन्न है[12] क्योंकि जड़ पदार्थों में न अपेक्षा संभव है न पारतन्त्र्य।[13] अब इन प्रचलित अभिप्रायों का खण्डन कर वे 'रूपश्लेष' रूप अभिप्राय को ही विशिष्ट रूप में प्रतिपादित करते हैं। उनकी दृष्टि में रूपश्लेष का अर्थ है अनेकता में एकता। पर इस एकता के काल में वेदान्तवत् या बौद्धवत् अनेकता का बोध नहीं होता[14] वरन् अनेकता गौण रूप में रहती है व एकता प्रधान रूप में। यद्यपि रूपश्लेष के प्रचलित अभिप्राय में दो सम्बन्धियों का तादात्म्य ही निहित है फलत: ऐक्य ही रह जाता है अनैक्य नहीं, पर काश्मीर शिवाद्वयवाद के मत में सम्बन्ध की स्थिति के लिये ऐक्य व अनैक्य दोनों का रहना आवश्यक है।[15]

वास्तव में सम्बन्ध की स्थिति एकता व अनेकता— इन दोनों ही अवस्थाओं की अपेक्षा करती है। न ही मात्र एकता सम्बन्ध के लिये पर्याप्त है न अनेकता, वरन् सम्बन्ध का अभिप्राय है दो सम्बन्धियों का देशान्तरपरिहारपूर्वक एक ही देश में समानार्थवृत्ति या सहार्थवृत्ति से रहना।[16] यही अनेकता में एकता है। इस प्रकार यहाँ यह सम्बन्ध सम्बन्धियों से पृथक् समवायवत् बाह्य सत्ता नहीं है, वरन् ज्ञान की एक सापेक्ष कोटि है। इसी अनेकता में एकता को यहाँ 'भेदाभेद सम्बन्ध' कहा गया है। सारा जागतिक वैचित्र्य इसी सम्बन्ध पर आधारित है। कोई भी पदार्थ नाना आभासों का समूह है। एक निर्विकल्प आभास मात्र से किसी अर्थक्रिया की पूर्ति नहीं संभव है अत: वह निर्विकल्प आभास एकात्मक होने पर भी देश, काल, आकार आदि अन्य आभासों से मिश्रित हो जाने पर ही व्यवहार का विषय बनता है। फलत: किसी भी ज्ञान के मूल में सम्बन्ध का अंश अनिवार्यतया रहता है।[17] 'अनेकता में एकता' की शब्दावली यद्यपि एक विरोधाभासात्मक स्थिति की उपलक्षक है, पर अनेकता की स्थिति विषय जगत् में व एकता को प्रमाता के अन्दर स्वीकारने से इस विरोध का परिहार हो जाता है।[18] यह एकता चेतन प्रमाता की संयोजनात्मक क्रिया के कारण ही संभव है।[19] इन एकता व अनेकता के प्रत्ययों में अनेकता तो गौण रहती है पर एकता प्रधान। वस्तुत: तो एकता व अनेकता के ये प्रत्यय वस्तुओं पर निर्भर न होकर प्रमाता की ज्ञानात्मक क्रिया पर ही निर्भर हैं। यहाँ सम्बन्ध की स्थिति दो स्तरों पर घटित होती है—

(क) विमर्श के स्तर पर

(ख) वस्तु के स्तर पर

विमर्श के स्तर पर प्रमाता की प्रधानता होती है क्योंकि इसी के ज्ञानात्मक स्तर पर सम्बन्ध घटित होता है जैसे 'राजपुरुष:' में। वस्तु के स्तर पर सम्बन्ध की स्थिति वस्तुपरक होती है जैसे घट व घटत्व का सम्बन्ध। यद्यपि यह सम्प्रदाय सर्वत्र सम्बन्ध को प्रमातृनिष्ठ प्रत्यय कहता है पर उपर्युक्त दो स्तरों की प्रकल्पना में एक स्थल पर प्रमाता का प्रधान कर्तृत्व है और दूसरे स्थल पर गौण।

इस सम्प्रदाय में सम्बन्ध की स्थिति को 'राज्ञ: पुरुष:' के उदाहरण द्वारा समझा जा सकता है जिसमें एक प्रमाता की चेतना में 'राज्ञ:' शब्द-श्रवण के बाद राजा की प्रतिमा उदित होती है साथ ही जिज्ञासा भी उत्पन्न होती है, क्योंकि 'राज्ञ:' शब्द के अन्त में स्थित 'सम्बन्ध' कारक उसमें अपूर्णता का बोध कराता है। तब वह 'पुरुष:' शब्द सुनता है और एक व्यक्ति की प्रतिमा उसकी चेतना में उदित होती है पर उस क्षण 'राजा की प्रतिमा' उसके अवचेतन में जा चुकी होती है। पुन: अपूर्णता का भाव उदित होता है जो कि राजा की प्रतिमा को अवचेतन से चेतन में ले आता है और तब ये दोनों प्रत्यय एक साथ मिलकर एक समग्र रूप में दृष्ट होते हैं। इस प्रकार अपूर्णता की यह प्रतीति ही सम्बन्ध के प्रत्यय को सम्भव बनाती है।[20] अब इनमें कोई अपूर्णता नहीं रहती पर इस स्थिति में भी दोनों प्रत्यय एकाकार नहीं होते वरन् स्वतन्त्रतया स्थित होकर भी एकाकार प्रतीति कराते हैं, फलत: अनेकता में एकता की स्थिति उपस्थित होती है।[21] यही सम्बन्ध का स्वरूप है।[22]

काश्मीर शिवाद्वयवाद इसके अतिरिक्त भी सम्बन्ध के लिए कुछ आवश्यक दशाएं बताता है जैसे: (1) सम्बन्ध की स्थिति के लिये सम्बन्धियों का दो वर्गों में विभक्त होना आवश्यक है अन्यथा नाना समस्याओं की उपस्थिति की आशंका उपस्थित होगी।[23] वस्तुत: नाना परामर्शों के विषय रूप नाना पदार्थों को किसी भी सम्बन्धात्मक स्थिति में प्रविष्ट होने के लिए एक परामर्श का विषय बनना पड़ता है व एक परामर्श में आरूढ़ पदार्थ एक ही वर्ग में आते हैं।[24] इस प्रकार दो सम्बन्धियों के मध्य ही सम्बन्ध की स्थिति संभव होगी। (2) बाह्यता इन दो सम्बन्धियों के साथ अनिवार्य दशा नहीं है क्योंकि कुछ सम्बन्ध ऐसे भी स्थलों पर उपलब्ध होते हैं जहाँ एक सम्बन्धी तो विद्यमान है पर दूसरे को अभी स्फुट सत्ता लाभ करना है जैसे बीज व अंकुर के मध्य। अपेक्षा सम्बन्ध स्फुटतया विद्यमान बीज व अनभिव्यक्त अंकुर के मध्य ही रहता है।[25] (3) ये दोनों सम्बन्धी परस्पर विशेषण-विशेष्यभाव से अन्वित होकर एक परामर्श में ही विश्रान्त रहते हैं क्योंकि माया प्रमाता एक काल में दो परामर्शों को एक साथ धारण नहीं कर सकता।[26] (4) इन दोनों में प्रधान सम्बन्धी विशेष्य हो जाता है व गौण सम्बन्धी विशेषण।[27] इन दो सम्बन्धियों के मध्य उपकार्य-उपकारकभाव रहना अनिवार्य है,[28] चाहे वह तात्कालिक हो या स्मर्यमाण।[29] यह उपकार्य-उपकारकभाव यहाँ परमेश्वर की नियति शक्ति द्वारा ही नियमित है।[30] (5) दो सम्बन्धियों के मध्य कोई भी सम्बन्ध सदैव एक व्यवस्था के अन्दर ही घटित होता है जैसे पिता-पुत्र का सम्बन्ध परिवार रूप व्यवस्था में। भिन्न-भिन्न व्यवस्थाओं में स्थित विषय परस्पर सम्बद्ध नहीं हो सकते। ये व्यवस्थाएं भी स्वतंत्र नहीं हैं वरन् व्यापकतर व्यवस्थाओं में अन्तर्भूत होती जाती हैं और अन्तत: दो ही व्यवस्थाएं अवशिष्ट रहती हैं—भौतिक व मानसिक । अन्त में ये दोनों भी एक उच्चतर आध्यात्मिक व्यवस्था का अंग बन जाती है।[31] इस प्रकार सम्बन्ध का प्रत्यय सम्बन्धियों को एक समग्र का अंग बना देता है।[32]

वैसे तो काश्मीर शिवाद्वयवाद में मूल सम्बन्ध 'भेदाभेद'[33] रूप है जो कि परम कारण से लेकर जगत् के सभी तत्त्वों में उपलब्ध होता है परन्तु संयोजन की विधा में भेद के कारण ही इसके नाना प्ररूप अस्तित्व में आते हैं। उदाहरण के लिए—

स्वस्वामी सम्बन्ध	राज्ञः पुरुषः
अवयव-अवयवी सम्बन्ध	वृक्षस्य शाखा
इतरेतर सम्बन्ध	धवश्च खदिरश्च
जन्य-जनक सम्बन्ध	पितुः पुत्रः
क्रिया-कारक सम्बन्ध	देवदत्तः स्थाल्यां काष्ठैरोदनं पचति
अभाव सम्बन्ध	घटस्य अभावः
भेद सम्बन्ध	अस्मादिदम् अन्यत्
विशेषण-विशेष्य सम्बन्ध	नीलमुत्पलम्[34]

परमतत्त्व व जगत् के मध्य स्थित इस भेदाभेद सम्बन्ध को परमार्थ दृष्टि से देखने पर तो यह सममितीय ही प्रतीत होता है क्योंकि यहाँ भेदात्मक जगत् परमसत् से गुणात्मक रूप में भिन्न न होकर मात्र परिमाण में ही भिन्न है अतः दोनों सम्बन्धी समानस्वभावी हैं। पर यहाँ सम्बन्ध जागतिक दृष्टि से विषममितीय ही है क्योंकि जगत् नानात्वमय है व वह परमतत्त्व पूर्ण ऐक्य की अवस्था है। जागतिक सन्दर्भ में यह सम्बन्ध कहीं विषममितीय है व कहीं सममितीय।

काश्मीर शिवाद्वयवाद में सम्बन्ध की स्थिति के तीन स्तर हैं—

1. **पूर्ण अभेदात्मक स्तर पर**—यहाँ सम्बन्ध परमसत् के स्वभाव में ही अनुस्यूत है क्योंकि विमर्श की अनिवार्यतः संयोजन, वियोजन व अनुसंधान के स्वातन्त्र्य रूप से व्याख्या की जाती है। चूँकि इस स्तर पर किसी भेद की संभावना नहीं है, अतः जैसे सारे सत्त्व व प्रक्रियाएं यहाँ समग्रीभूत हैं वैसे ही उनके विशिष्ट रूप में संयोजन व वियोजन की संभावना भी यहाँ विद्यमान है।

2. **भेदाभेदात्मक स्तर पर**—यह परमसत् से स्थूल जगत् तक पहुँचने की प्रक्रिया के मध्य का स्तर है। इस स्तर पर सम्बन्ध की स्थिति विविध रूपों में विद्यमान रहती है।

3. **भेदात्मक स्तर पर**—यह स्तर सम्बन्ध का स्फुट कार्यक्षेत्र है। यहाँ सम्बन्ध के विविध रूप उपलब्ध होते हैं जिनका उल्लेख प्रायः सभी दर्शन-सम्प्रदाय करते हैं।

विमर्श के माध्यम से व्याख्यात व्यवस्थापन-कर्तृत्व तीन प्ररूपों में अभिव्यक्त होता है—(1) संयोजन, (2) वियोजन तथा (3) अनुसंधान। 'संयोजन' के द्वारा जहाँ वह विविध सजातीय आभासों को परस्पर सम्बद्ध करके प्रस्तुत करता है, वहीं 'वियोजन' के द्वारा अन्य विजातीय आभासों को व्यावृत्त करता है तथा 'अनुसंधान' के द्वारा एक के ही विविध आभासों की एकरूपता का आसूत्रण करता है। यह विजातीयता व सजातीयता उस प्रमाता की इच्छा द्वारा ही नियत होती है। इस प्रकार सम्बन्धियों की विविध प्रकृति के कारण ही यहाँ सम्बद्धता की दो विधायें हैं—संयोजन व अनुसंधान तथा व्यावृत्तिपरक सन्दर्भ को भी लेने पर वियोजन भी उसी का एक प्ररूप सिद्ध होता है।

यह विमर्श का प्रत्यय यहाँ मात्र परम प्रमाता के ही सन्दर्भ में प्रस्तुत नहीं है वरन् सामान्य प्रमाता, जिसे यहाँ माया प्रमाता कहा गया है, का भी विमर्शन-सामर्थ्य अनिवार्य स्वभाव है। अतः

सम्बन्ध की धारणा में निहित संयोजन, वियोज़न व अनुसंधान प्रमाता के ज्ञानात्मक व क्रियात्मक समस्त व्यापार का सार हैं।

परिणाम, विवर्त आदि सम्बन्धों वाली शब्दावली में इस सम्बन्ध की व्याख्या करने पर यहाँ प्रयुक्त संज्ञा 'आभास' है जो आ उपसर्ग के समग्रतामूलक अर्थ में प्रयुक्त न होकर ईषद् अर्थ में ही प्रयुक्त हो सब कुछ एक तत्त्व में अन्वित सिद्ध करती है। यह आभास का प्रत्यय न तो परिणामवत् रूपान्तरण की प्रक्रिया के संस्पर्श से युक्त है और न विवर्तवत् मिथ्यात्व के आवरण में लिपटा हुआ है, वरन् दो सम्बन्धियों को यथार्थतः आभास्य-आभासक भाव से सम्बद्ध करने में सहायक है।

इस भेदाभेद सम्बन्ध के जो विशिष्ट रूप उपलब्ध होते हैं उनमें जाति, द्रव्य, दिक्, काल, क्रिया, पृथक्त्व, संख्या आदि आते हैं।[35] 'जाति' जहाँ नाना व्यक्तियों की एकता है, वहीं 'द्रव्य' विविध अवयवों का सम्पुंजन है। 'दिक्' जहाँ मूर्तिवैचित्र्य में एकता की प्रतीति कराता है वहीं 'काल' क्रियावैचित्र्य में।[36] 'क्रिया' एक पदार्थ की कई क्षणों तक लगातार स्थिति में एकता की प्रतीति है।[37] इस प्रकार तो सारा जागतिक वैचित्र्य सम्बन्ध रूप ही है इसी बात को अभिनवगुप्त वैयाकरणों की शब्दावली को आधार बना कर व्यक्त करते हैं कि प्रातिपदिकार्थ के पृष्ठपाती वपु के अतिरिक्त सब कुछ सम्बन्ध ही है।[38] एक सम्बन्ध में अन्य सम्बन्ध भी रह सकते हैं जैसे संख्या आदि सम्बन्ध में समवाय। ये सम्बन्ध इस सम्बन्ध के साधक बन कर ही आते हैं।[39] कहीं सम्बन्ध का बोध कराने के लिये एक अन्य संज्ञा का प्रयोग किया जाता है जैसे सास्नादिमान् के सम्बन्ध से युक्त व्यक्ति को बताने के लिये प्रयुक्त शब्द है गाय। कहीं सम्बन्ध का निर्देश करने वाला अन्य शब्द प्रयोग नहीं किया जाता, जैसे गाय जाति को बताने के लिये भी गाय शब्द ही प्रयुक्त होगा। पर दोनों स्थलों पर अलग-अलग सम्बन्ध हैं।[40] इसके अतिरिक्त सम्बन्ध वैयधिकरण्य से भी घटित हो सकता है व सामानाधिकरण्य से भी। वैयधिकरण्य से घटने वाला सम्बन्ध बाह्य है तथा सामानाधिकरण्य से घटने वाला सम्बन्ध तादात्म्य रूप या एकार्थ-समवायी है।[41]

इन विशिष्ट सम्बन्धों के अतिरिक्त सम्बन्ध की तीन अन्य मुख्य विधाएं यहाँ उपलब्ध होती हैं—'कर्तृकर्मभाव सम्बन्ध', 'ज्ञाप्यज्ञापकभाव सम्बन्ध'[42] तथा रसना-व्यापारगत 'आस्वाद्य-आस्वादकभाव सम्बन्ध'। वस्तुतः काश्मीर शिवाद्वयवादी अपनी तत्त्वमीमांसा के विकास में शब्दाद्वयवाद से पर्याप्त प्रभावित हैं। एकत्व व स्वातन्त्र्य के प्रत्ययों को एक पूर्ण तत्त्व का अनिवार्य अंग मानने में वे वैयाकरणों के 'कर्ता' के प्रत्यय को आधार बनाते हैं। वैयाकरणों की दृष्टि में वाक्य में कर्त्ता सारे कारकों में प्रधान है, वही समस्त व्यापारों का आश्रय भी है व प्रयोजक भी, साथ ही सारे कारकों के व्यापार को नियंत्रित भी करता है। अन्य सारे कारक उसके अधीन ही हैं। इसी दृष्टि को लेकर काश्मीर शिवाद्वयवाद अपने परमसत् के स्वातन्त्र्य की व्याख्या ज्ञातृत्व व कर्तृत्व रूप में विकसित करता है। एक तत्त्व के अतिरिक्त कुछ नहीं है, इस दृष्टि को परिपुष्ट करने के लिये परमसत् के स्वरूप के घटक प्रकाश व विमर्श के माध्यम से ही इस ज्ञातृत्व व कर्तृत्व को सिद्ध किया जा सकता है। इस सन्दर्भ में यह सम्प्रदाय 'प्रत्यभिज्ञा' रूप विशिष्ट प्रक्रिया का आश्रय लेता है, अतः सारा जागतिक कर्तृत्व उसी एक पूर्ण तत्त्व के स्वात्म-प्रत्यभिज्ञान की प्रक्रिया है। आचार्य उत्पल बार-बार इसी बात को मृश् धातु से निष्पन्न विविध

शब्दावली का प्रयोग कर सिद्ध करते हैं। अत: सारे सम्बन्ध उसी स्वातन्त्र्य का प्रसार हैं फलत: सभी सम्बन्धों में कर्ता व ज्ञाता इन दो का ही प्राधान्य है।[43] इसी दृष्टि से प्रचलित कारणता सम्बन्ध को कार्यकारणभाव की शब्दावली में व्यक्त न कर यहाँ 'कर्तृकर्मभाव' ही कहा गया है।[44] अन्य दार्शनिक दृष्टियों में स्वीकृत जागतिक पदार्थों की कारणता का यहाँ पूर्ण निषेध है। कर्त्ता का कारण व्यापार उत्पत्ति या अभिव्यक्ति न हो कर आभासन रूप ही है। 'कार्य' यहाँ कर्म संज्ञा से वाच्य है और 'कारण' कर्तृ संज्ञा से। इस आभासन का अभिप्राय है उभयेन्द्रियवेद्यता की प्राप्ति।[45] इस प्रकार चेतन तत्त्व को ही कारण रूप से स्वीकृत करने से अन्य उन सभी मतों का खण्डन हो जाता है जो अचेतन की कारणता प्रतिपादित करते हैं।[46]

इसी प्रकार ज्ञाप्य-ज्ञापक सम्बन्ध भी प्रमातृ-प्रकाश व प्रमेय-प्रकाश के एकीकरण में निहित है। यह एकीकरण कोई नवीन घटना न होकर मात्र आवरित का पुन: अनावरण है, विस्मृत का पुन: प्रत्यभिज्ञान है। इस ज्ञाप्य-ज्ञापकभाव सम्बन्ध में अनुमान के क्षेत्र में सम्बन्ध की एक विशिष्ट दृष्टि प्राप्त होती है जो बौद्ध नैयायिकों से काफी साम्य रखती है। अनुमान का आधार है दो तथ्यों के मध्य व्याप्ति-निर्धारण और इस व्याप्ति का मूल है आश्रयत्त्व। यह आश्रयत्व बौद्धवत् ही यहाँ दो प्रकार से हो सकता है—'तदुत्पत्ति' (तदुपलब्धि) रूप से व 'तादात्म्य' रूप से। पर शैव मत में तदुत्पत्ति ही प्रधान है, अत: उसे 'तादात्म्य' के मूल में भी स्वीकारा गया है।[47]

रसना सम्बन्ध का कार्य क्षेत्र रसात्मक अभिव्यक्ति है। रसोत्पत्ति में सहायक विभाव, अनुभाव व व्यभिचारी रस की अभिव्यक्ति कराने हेतु जिस प्रकार से सम्बद्ध होते हैं उसे रसना सम्बन्ध कह सकते हैं। इस सम्बन्ध का उल्लेख *अभिनवभारती* में ही मुख्यत: मिलता है पर काश्मीर शिवाद्वयवाद के स्वात्मचमत्कारात्मक आह्लाद के प्रसंग से प्रत्यभिज्ञा ग्रन्थों में भी इसी रसनात्मक सम्बन्ध की स्थिति का पोषण हुआ है।

इस प्रकार इस सम्प्रदाय में सम्बन्ध सम्बन्धियों के स्वभाव में ही अनुस्यूत रहता है, अत: आन्तरिक ही है जिसे पॉटर के शब्दों में 'अनिवार्य सम्बन्ध' (necessary relation) भी कह सकते हैं। अत: इसे न्याय के समवाय की तरह सम्बन्धियों से सम्बद्ध होने के लिये एक अन्य सम्बन्ध की आवश्यकता नहीं होती। वस्तुत: यहाँ परमसत् के स्वातन्त्र्य का प्रथम स्फार नियमन या व्यवस्थितीकरण है[48] क्योंकि सारा दृश्य जगत् एक नियत धुरी पर घूमता ही दृष्ट होता है और इस नियमन के मूल में सम्बन्ध का प्रत्यय निहित हैं।[49] व्यवस्था की प्रक्रिया सम्बन्ध के बिना पंगु है, अत: सम्बन्ध का प्रत्यय सारी व्यवस्था का सारभूत है।

पाद-टिप्पणी

1. *ई०प्र०वि०* (भा०), भा० 2, पृ० 49.
   आचार्य उत्पल ने *सम्बन्धसिद्धि* के प्रारम्भ में कहा है—
   भेदाभेदात्मसंबन्धसहसर्वार्थसाधिता।
   लोकयात्राकृतिर्यस्य स्वेच्छया तं स्तुम: शिवम्।। *सं०सि०*
2. इन्हीं दो को कार्ल एच पॉटर अनिवार्य सम्बन्ध (necessary relation) व आगन्तुक सम्बन्ध (contingent relation) की संज्ञा से सम्बोधित करते हैं। इसके अतिरिक्त वे सम्बन्धियों के मध्य

आश्रयत्व की मात्रा के आधार पर भी उन सम्बन्धों का विभाजन करते हैं—जब सम्बन्धियों के मध्य आश्रयत्व इतना दृढ़ होता है कि उसका विनाश असंभवप्राय हो तो वह सम्बन्ध सुदृढ़ आश्रयत्व सम्बन्ध (strong dependence relation) कहलाता हैं और जब इतना कमजोर होता है कि आसानी से टूट सकना संभव हो तो वह दुर्बल आश्रयत्व सम्बन्ध (weak dependence relation) कहलाता है और जब न इतना मजबूत रहता है कि टूट ही न सके और न इतना कमजोर होता है कि कोई व्यवस्था न हो सके तो वह इन दोनों के मध्य की स्थिति वाला आश्रयत्व सम्बन्ध (dependence relation) कहलाता है।

देखिये, Karl H. Potter, *Presuppositions of India's Philosophies*, pp. 117-18.

3. द्विष्ठस्यानेकरूपत्वात् सिद्धस्यान्यानपेक्षणात्।

पारतन्त्र्याद्ययोगात् ···।। —*ई०प्र०का०* 1/2/11

उत्पल की इस कारिका पर *संबंधपरीक्षा* का प्रभाव साफ दिखाई पड़ता है ।

4. रूपश्लेषो हि सम्बन्धो द्वित्वे स च कथं भवेत्।

तस्मात् प्रकृतिभिन्नानां सम्बन्धो नास्ति तत्त्वत:।। —*सं०प०* 2

रूपश्लेष की व्याख्या में प्रभाचन्द्र इसका तार्किक विश्लेषण करते हैं—

असौ रूपश्लेष: सर्वात्मना एकदेशेन वा स्यात्? सर्वात्मना रूपश्लेषे अणूनां पिण्ड: अणुमात्र: स्यात्। एकदेशेन तच्छ्लेषे किमेकदेशास्तस्यात्मभूता:, परभूता वा? आत्मभूताश्चेत् न एकदेशेन रूपश्लेषस्तदभावात्। परभूताश्चेत् तैरप्यणूनां सर्वात्मनैकदेशेन वा रूपश्लेषे स एव पर्यनुयोग: अनवस्था च स्यात्। —*सं०प०व्या०*, श्लो० 2

5. *सं०प०व्या०*, श्लो० 1 पर।

6. पारतन्त्र्यं हि सम्बन्ध: सिद्धे का परतन्त्रता। —*सं०प०* 1

7. परापेक्षा हि सम्बन्ध: सोऽसन् कथमपेक्षते।

संश्च सर्वनिराशंसो भाव: कथमपेक्षते।। —उपरिवत् 3

8. द्वयोरेकाभिसम्बन्धात् सम्बन्धो यदि न तद्द्वयो:।

क: सम्बन्धोऽनवस्था च न सम्बन्धमतिस्तत:।। —उपरिवत् 4

9. नैरन्तर्यं चेत् दूरस्थयो: पितापुत्रयो: स न स्यात्, अय:शलाकयो: संनिकृष्टयोर्विभुद्रव्ययोरपि च स्यात्। —*सं०सि०वृ०*, पृ० 1

10. उपरिवत्, पृ० 2.

11. असतामात्मलाभोक्तेर्द्विष्ठतैवं च हीयते। —*सं०सि०*, श्लो० 2 (पृ० 10)

12. अपेक्षापारतन्त्र्यं च सम्बन्धो जडात्मनो:।

असंभवादात्मलाभेऽप्युपचारो न लक्षणा।। —उपरिवत्

13. सम्बन्धसिद्धिकार व सम्बन्धपरीक्षाकार दोनों ही कुछ अभिप्रायों के खण्डन को समान रूप से ग्रहण करते हैं जैसे परापेक्षा, पारतन्त्र्य, द्विष्ठता, नैरन्तर्य आदि के खण्डन को। पर दोनों की अपनी-अपनी विशिष्ट तत्त्वमीमांसात्मक दृष्टि ही उनकी खण्डनविधा को भिन्न बना देती है। इन अभिप्रायों के खण्डन के व्याज से अन्य समानान्तर दार्शनिक दृष्टियों द्वारा प्रतिपादित सम्बन्ध की धारणा का खण्डन ही इनका समान उद्देश्य है। पर दोनों की विधा भिन्न है। रूपश्लेष अभिप्राय संभवत: विवर्तवादी वेदान्तियों द्वारा स्वीकृत दृष्टि है, पारतन्त्र्य रूप अभिप्राय समवायवादी न्यायवैशेषिक की तथा परापेक्षा रूप अभिप्राय सत्कार्यवादी सांख्यों की दृष्टि है। ये तीनों ही भारतीय दर्शन के मूल प्रस्थान हैं, अत: इनका खण्डन कर जहाँ काश्मीर शिवाद्वयवाद अपने 'आभासपरक भेदाभेदवाद' की नींव डालता है वहीं

बौद्ध विज्ञानवाद अपने 'प्रतीत्यसमुत्पाद' या 'सापेक्षकारणतावाद' की। रूपश्लेष रूप अभिप्राय का काश्मीर शिवाद्वयवाद समर्थन करता है पर एक गतिमय प्रमातृतत्त्व के स्वातन्त्र्य का आधार लेने से वेदान्तीय रूपश्लेप की धारणा की विसंगतियों से मुक्त रहता है। साथ ही इस समर्थन के द्वारा सम्बन्धियों से व्यतिरिक्त सम्बन्ध की सत्ता को अस्वीकृति देकर वस्तुवादी नैयायिकों के मत का भी वह खण्डन करता है।

14. रूपसंश्लेष एवैवं सम्बन्धार्थः स्थितः स च।

··· तेनानेकस्य रूपस्य श्लेष ऐकात्म्यमेव सः।

नैकस्यैक्येऽप्यनेकस्य बाध आहुर्यथा परे।। —*सं०सि०*, श्लो० 2-4

15. इस सम्बन्ध की धारणा की सिद्धि में मात्र ऐक्य की धारणा के खण्डन से सत्कार्यवादी सांख्य एवं विवर्तवादी वेदान्त का खण्डन किया गया है तथा मात्र अनैक्य की धारणा के खण्डन से बौद्ध क्षणवाद का खण्डन किया गया है।

16. संशब्देन सहार्थवृत्तिना समानार्थवृत्तिना वा बन्धिना च देशान्तरपरिहारपूर्वकैकदेशावस्थानार्थेन विस्पष्टमुक्तैव स ह्यनेकस्यैकता। —*सं०सि०वृ०*, पृ० 3

17. आभासानां च मेलनं स्वलक्षणान्तराणां चेति बहुशाखोऽयं सम्बन्ध एव निर्भासते ···। —*ई०प्र०वि०वि०*, भा० 2, पृ० 35

18. चित्स्वभावस्य दर्पणस्येव एकतानपबाधनेन आभासभेदसंभवे क इव विरोध इति तस्मात् प्रत्यभिज्ञानवलात् एकोऽपि असौ पदार्थात्मा स्वभावभेदान् विरुद्धान् यावत् अंगीकुरुते तावत् ते विरोधादेव क्रमरूपतया निर्भासमानाः तमेकं क्रियाश्रयं संपादयन्ति ततश्च सम्बन्धादीनामपि उपपत्ति ···। —*ई०प्र०वि०(भा०)*, भा० 2, पृ० 9

19. स्वात्मनिष्ठा विविक्ताभा भावा एकप्रमातरि।

अन्योन्यान्वयरूपैक्ययुजः सम्बन्धधीपदम्।। —*ई०प्र०का०* 2/2/6; 1/7/2, 6 भी द्रष्टव्य। परन्तु एक प्रमाता में समस्त आभासों की विश्रान्ति का ढंग एक नहीं है। इसी विश्रान्ति-वैचित्र्य के कारण नाना सम्बन्धों का उद्भव होता है।

20. यत्र पदार्थाभासस्य आत्मविश्रान्त्या संतोषमपुष्यतः आभासान्तरपरामर्शविश्रान्तिसाकाङ्क्षतया स्वरूपपरिनिष्ठा तत्र सम्बन्धरूपतैव क्रियाशक्तिविजृम्भामयी ···। —*ई०प्र०वि० (भा०)*, भा० 2, पृ० 57

21. उपरिवत्, पृ० 50-51.

22. इस प्रकार के सम्बन्ध को प्रतिपादित करने से यहाँ न तो दोनों सम्बन्धियों की इतनी अभिन्नता अभिप्रेत है जितनी कि वेदान्त में फलतः उन्हें विवर्त की कल्पना करनी पड़ी, न ही वह पराश्रितत्व ही अभिप्रेत है जिसकी कि कल्पना न्यायवैशेषिक को अपने समवाय के प्रत्यय में करनी पड़ती है और न ही सांख्यवत् अचेतनगत परापेक्षा ही अभिमत है जिसकी कि कल्पना वह सत्कार्यवाद की सिद्धि में करता है। अपितु यहाँ पर 'आभासवाद' की विशिष्ट धारणा का ही पोषण हुआ है जो कि सुरेश्वराचार्य के आभासवाद की समसंज्ञी होने पर भी उससे विशिष्ट है।

23. यदि हि अनेकत्वमात्रमेकत्वमात्रं वा सम्बन्धः स्यात् तद् बहूनामपि एकतापत्तौ एकतानापत्तावपि वा स्यात्, एकमात्रस्यापि च स्यात्। —*सं०सि०वृ०*, पृ० 2-3

24. उपरिवत्, पृ० 7.

25. अलब्धात्मनश्चात्मलाभार्थमपेक्षादि कथ्यते न च तदानीमद्विष्ठत्वात्सम्बन्धार्थोपपत्तिः। —उपरिवत्, पृ० 2

26. परस्परविशेषणविशेष्यभावपरामर्श एवानेकैकतारूपसम्बन्धपरामर्शः। —उपरिवत्

27. उपरिवत्, पृ० 8.
28. उपकार्योपकारकयोरेव च विशिष्टयो: सम्बन्ध: विशिष्टरूप: ···। —उपरिवत्, पृ० 6
29. क्रियाकारकसम्बन्धस्तु तात्कालिकोपकार्योपकारकभावमयसम्बन्धाभास: शेषसम्बन्धस्तु स्मर्यमाणोपकारमय: स्मरणावस्थायामपि च पूर्वदृष्टार्थावभास एव परामर्शैक्यादित्युक्तम्। —उपरिवत्, पृ० 9
30. ततश्च चिन्मयेश्वरेच्छैव सा तादृशी यया पदार्थौ तौ तथोपकार्योपकारकौ भवत इति तल्लग्नयोरेव तयोर्द्वयोरर्थयो: क्रमिकयोरपि एकबुद्ध्युपारूढयोरेकपरामर्शात् तयोरेवान्यरूपयोर्यौगपद्येन प्रकाशनं व्यवहारसिद्धये तदिच्छयैव विधीयते ···। —उपरिवत्, पृ० 6
31. इस अन्तिम व्यवस्था के सन्दर्भ में ब्रैडले के शब्दों में यही कह सकते हैं—

    Relations exist only in and through a whole, which cannot in the end be resolved into relations and terms—'and', 'together' and 'between' are all in the end senseless apart from such a whole. —Additional Notes, vol. I, p. 112

    इस उद्धरण के मूल स्रोत का विवरण विस्मरण के कारण यहाँ नहीं दिया जा सका है।
32. ···परस्परसम्बन्धो द्विश एव बहुशाखो भवन् मेलितानुमेलनन्यायेन एवं सहमेलनाख्यं सम्बन्धमुत्थापयति—इति सदाशिवेश्वरभूरहमिदमिति महासम्बन्धभूमि:। —*ई०प्र०वि०वि०*, भा० 2, पृ० 358
33. अन्य दार्शनिक सम्प्रदायों—जैन, वेदान्त के विविध सम्प्रदायों (रामानुज वेदान्त, निम्बार्क वेदान्त, भास्कर वेदान्त आदि) में प्रतिपादित भेदाभेद सम्बन्ध से इसका यही वैशिष्ट्य है कि जहाँ जैन मत भेद व अभेद को समान रूप से यथार्थ मानता है, रामानुजमत भेदविशिष्ट अभेद को स्वीकार करता है, निम्बार्क निरुपाधिक भेदाभेदवाद तथा भास्कर औपाधिक भेदाभेदवाद का प्रतिपादन करते हैं, वहीं यहाँ भेद व अभेद दोनों को यथार्थ मानने पर भी अन्तत: भेद अभेद में ही पर्यवसित होता है। इसको बताने के लिये यहाँ एक विशिष्ट प्रतिपादन शैली का आश्रय लिया गया है।
34. *सं०सि०वृ०*, पृ० 3.
35. समानानां यत् एकं भाति तत् सामान्यं, देवदत्तस्य यत् वैतत्यं सा क्रिया, अवयवानां यदैक्यं वैतत्यं च देशत: सोऽवयवी, इमम् अवधिं कृत्वा अयम् इत्थं ततोऽस्य अयं पुरस्तात् इत्यादिर्दिक्, अस्यायं क्रियाप्रतान: सहभावेन आस्ते विनाभावेन वा इति वर्तमानादि:काल:। —*ई०प्र०वि०* (भा०), भा० 2, पृ० 47
36. *ई०प्र०का०* 2/1/5.
37. तत्तद्देशकालाकारभिन्न: तत्र चैत्रदेहोऽनेकस्वभावोऽपि 'स एवायम्' इति एकरूपताम् अपरित्यजन्नेव निर्भासते, सैव च एकानेकरूपा क्रिया···। —*ई०प्र०वि०* (भा०), भा० 2, पृ० 33-34
38. यावत् हि प्रातिपदिकार्थस्य पृष्ठपाति वपु: भाति तदतिरिक्तं सर्वं सम्बन्ध एव ···। —उपरिवत्, पृ० 47
39. उपरिवत्, पृ० 57-58.
40. उपरिवत्, पृ० 47-48.
41. ततश्च यदा वैयधिकरण्येन सृज्यते सृष्ट्या अर्थरूपं नीलस्य अनीलं, कार्यं कारणं संस्कारि विरोधि व्यवधि-वा आधार इत्यादि, तदा बहिरसौ सम्बन्ध:। सामानाधिकरण्यसृष्टावपि पारतन्त्र्येण सृष्टौ चित्रं रूपम्, पटस्य रूपं यदेव नीलं, तदेव अनीलमिति, अत्र तादात्म्यसम्बन्ध: सृष्ट एकार्थसमवायो वा। —*ई०प्र०वि०वि०*, भा० 2, पृ० 89
42. *ई०प्र०वि०*(भा०), भा० 2, पृ० 66.
43. वेदनेषु संयोजनवियोजनयो: यथारुचि करणं स्वातन्त्र्यं, कर्तृत्वं च एतदेव उच्यते। —उपरिवत्, भा० 1, पृ० 165
44. जडस्य तु न सा शक्ति: सत्ता यदसत: सत:।

    कर्तृकर्मतत्त्वैव कार्यकारणता तत:।। —*ई०प्र०का०* 2/4/2

45. तथा स्वामिनश्चात्मसंस्थस्येत्युक्तनीत्या विश्वमेवान्तरं सदेकम्, तदेव सान्तर्विपरिवर्तिनः, उभयेन्द्रियवेद्यत्वमिति वक्ष्यमाणकार्यकारणतत्त्वदृष्ट्येन्द्रियवेद्यतायामनेकं देशाद्याभासमिश्रणादिति। —*ई०प्र०वि०(भा०)*, भा० 2, पृ० 38-39

46. *ई०प्र०का०*, 2/4/14-15.

47. योगिनिर्माणताभावे प्रमाणान्तरनिश्चिते।
कार्यं हेतुः स्वभावो वात एवोत्पत्तिमूलजः।। —उपरिवत् 2/4/11

48. प्रमातुर्यो व्यापारो व्यवस्थाकारित्वं नाम तदनुजीवितया तद्व्यापारवशीकृतानि । —*ई०प्र०वि०वि०*, भा० 2, पृ० 359

49. न केवलं च सम्बन्धमयैकतास्पर्शिपरिमितमायाप्रमातृपर्यवसायिवस्तुप्रकाशनव्यापारः यावदनन्तचिन्मयशिवतावभासविश्रान्तैव प्रतिक्षणं वस्तुसंवित्क्रिया। न च संविदः क्रमोऽस्ति एकैवैकत्रैव क्षणेऽर्थप्रकाशना, सैव सम्बन्धशिवतामयमेव स्वरूपमाविष्करोतीत्युच्यते। —*सं०सि०वृ०*, पृ० 9

अध्याय दस

भेद

व्यवहार तथा परमार्थ दो स्तरों में विभाजित दार्शनिक परम्पराएं पारमार्थिक स्तर पर जहाँ अभेद की चर्चा करती हैं, वहीं व्यावहारिक स्तर पर भेद के निरूपण से अस्पृष्ट नहीं रह सकतीं। इसका कारण है—व्यवहार का भेदाश्रित होना। चूँकि हम व्यवहार से परमार्थ की ओर अग्रसर होते हैं, अत: भेदाश्रित प्रत्यक्ष दृश्यमान बाह्य जगत् की उपेक्षा किसी भी प्रकार संभव न हो सकने के कारण 'भेद' लगभग सभी भारतीय दर्शनों की एक मूलभूत समस्या है। काश्मीर शिवाद्वयवाद के दृष्टिकोण में यह प्रत्यय 'माया', 'अविद्या', 'निषेध', 'अपूर्णख्याति', 'अपोहन', 'द्वैतप्रथा', 'विकल्प', 'तिरोधान' जैसे उपप्रत्ययों को अपने अन्दर समाहित किये हुए होने के कारण अत्यन्त जटिल स्वरूप प्राप्त कर लेता है। फलत:, भेद के महत्त्व व तन्निहित जटिलताओं को दृष्टि में रखकर किया गया यह प्रतिपादन न केवल भेद के वास्तविक स्वरूप के विवेचन अपितु सजातीय प्रत्ययों के साथ उसके संबंध व अन्य दर्शनों से उसके पार्थक्य के प्रकाशन का भी प्रयास करता है।

भेद की प्रतिष्ठापना यद्यपि भेदवादी अथवा भेदाभेदवादी दार्शनिक के लिये अत्यन्त सहज कार्य है किन्तु अभेदवादी दार्शनिक के लिए यह एक कष्टसाध्य व दुष्कर प्रक्रिया है, क्योंकि उसे व्यवहार व परमार्थ में सामञ्जस्य बनाये रखने के लिए अभेद की धारणा को सुरक्षित रखते हुए ही भेद की सिद्धि करनी पड़ती है। यही कारण है कि लगभग सभी अद्वैतवादी दर्शन भेद को मिथ्या, अविद्याजन्य, व्यवहारसत् या संवृतिसत् स्वीकार करते हुए परतत्त्व में उसकी सत्ता का निषेध करते हैं। मात्र काश्मीर शैवदर्शन ही एक ऐसी चिन्तन धारा है, जो अपने पूर्णतावादी दृष्टिकोण की प्रतिक्रियास्वरूप भेद को भी अभिन्न संवित् का स्वरूप स्वीकार करती है। यहाँ अद्वैत की परिभाषा ही भेद और अभेद के सामरस्य के रूप में की गयी है। यही स्थिति उसे अद्वैत से एक चरण ऊपर 'महाद्वैत' के पद पर प्रतिष्ठित करती है।[1] अन्यत्र तो मुक्ति के लिए भेद से पराङ्मुख होने का उपदेश दिया गया है, जबकि यहाँ भेद का परिज्ञान ही मोक्ष-लाभ में समर्थ कारण है।

जहाँ तक भेद के शाब्दिक अर्थ का सवाल है वहाँ इस संदर्भ में हम इस तथ्य से भलीभाँति परिचित हैं कि काश्मीर शैवदर्शन अपनी दार्शनिक मीमांसा में व्याकरण शास्त्र का विशेष रूप से ऋणी है। यही कारण है कि अभिनवगुप्त आदि आचार्य किसी भी सिद्धान्त की प्रतिष्ठापना हेतु उसकी दार्शनिक विवेचना के लिए शब्दों की व्युत्पत्तियों या निरुक्तियों का आश्रय लेते हैं। इसी परम्परा का अनुगामी होने के परिणामस्वरूप भेद के दार्शनिक अभिप्रायों का प्रस्फुटन उसकी निरुक्ति में ही हो जाता है। यह शब्द भिद् धातु से घञ् प्रत्यय लग कर निष्पन्न होता है।[2] घञ् प्रत्यय का प्रयोग धातु का अपना अर्थ बताने के लिए होता है[3] और भिद् धातु के कोशगत अभिप्राय हैं—बाँटना, टुकड़े टुकड़े करना, फट जाना, छिद्र करना, खोदना, उखाड़ना, बीच में से

निकल जाना, उल्लंघन करना, अतिक्रमण करना, तोड़ना, भंग करना, हटाना, रुकावट डालना, बदलना, परिवर्तन करना, खिलाना, फुलाना, दूर करना, फैलाना, बिखेरना, उड़ा देना, विघ्न डालना, जोड़ खोलना, वियुक्त करना, पृथक्-पृथक् करना, ढीला करना, विश्राम करना, घोलना, भेद करना, भेद खोलना, भटकाना, उचाट करना, विविक्त करना।[4] प्रत्यभिज्ञा-दर्शन में भेद को इनमें से 'विच्छेद' व 'प्रसरण' अर्थ में स्वीकार किया गया है। इनमें से प्रथम के संदर्भ में तो उसका अन्य समस्त भारतीय दार्शनिक संप्रदायों के साथ सहज ही सामंजस्य स्थापित हो जाता है, परन्तु द्वितीय अभिप्राय तो वस्तुत: शैव आगमों की ही मौलिक धारणा का प्रतिफलन है। यह सारा तत्त्व जगत्, जिसकी विच्छिन्नतया प्रतीति हो रही है, उस परतत्त्व का ही विस्फार है। और, यही वह अभिप्राय है[5] जिसके संदर्भ में हमें भेद के भी मूल में 'शक्ति' की अवधारणा मिलती है। शक्ति शब्द शक्तृ धातु से निर्मित है, जिसे व्याप्त्यर्थक स्वीकार किया गया है।[6] प्रभु, उत्साह और मन्त्र-भेद से यह शक्ति त्रिविध है।[7] इनमें से 'उत्साह' शक्ति ही 'प्रसार' रूप अभिप्राय की अवबोधक है।[8] शैव शास्त्रों में शक्ति के इसी अभिप्राय को विशेष महत्त्व प्राप्त हुआ है। नीलकण्ठ गुरुटू के अनुसार—"अनुत्तर तत्त्व स्वरूप का बहिर्मुखीन प्रसार करने के अवसर पर शक्ति भाव को धारण करता है। शक्ति का स्वभाव उच्छलत्ता है, अत: स्वरूप का प्रसार करना उसका शाश्वतिक नियम है।"[9] शक्ति अपने स्वरूप का प्रसार द्विविध रूपों में करती है—(1) आत्मगोपनपूर्वक स्वरूप का प्रसार, (2) आत्मोच्छलनपूर्वक स्वरूप का प्रसार।

1. **आत्मगोपनपूर्वक स्वरूप का प्रसार**—यह स्थिति बहिर्मुखीन प्रसार की स्थिति है, जबकि शक्ति संकुचित रूप में प्रसृत होने लगती है। इस स्थिति में प्रसार संकोच का अवान्तर व्यापार बन जाता है। शक्ति प्रथमत: अपने वास्तविक स्वरूप का गोपन करती है और तब विच्छिन्न या संकुचित रूप में प्रसृत होने लगती है। यही 'भेदासूत्रणमय प्रसार' की स्थिति है। इसी संदर्भ में 'संकोच' को शक्ति का स्वरूप बतलाया गया है।[10] क्रम दर्शन का चतुष्टयार्थ क्रम भी सृष्टि, स्थिति, संहार और अनाख्या (तिरोधान) को स्वीकार करते हुए भासा (अनुग्रह) का अंतर्भाव अनाख्या में ही करके इस सत्य को उद्‌घाटित करता है कि संकोच से ही प्रसार का प्रत्यय निर्गत होता है।[11] चैत्र-मैत्रादि प्रमाता व घट-पटादि प्रमेय संकुचित प्रसार के ही अवबोधक हैं।

2. **आत्मोच्छलनपूर्वक स्वरूप का प्रसार**—यह अन्तर्मुखी प्रसार की स्थिति है, जबकि शक्ति बिना किसी संकोच या विच्छेद के अपनी पूर्णता में ही प्रसृत होती है। यह 'अभेदासूत्रणमय प्रसार' की स्थिति है। इस अविच्छन्न प्रसार में सर्वत्र आत्मभाव की ही छलकन है। 'सर्वो ममायं विभव:' जैसा प्रत्यभिज्ञा का दृष्टान्त जिस प्रसार की व्याख्या करता है, वह संकोच-निरपेक्ष है। सच पूछा जाय तो प्रसार की प्रथम स्थिति यानी आत्मगोपनपूर्वक प्रसार का अंतर्भाव भी इस आत्मोच्छलनपूर्वक प्रसार के अंतर्गत हो जाता है क्योंकि यह स्वात्मोच्छलन द्विविध रूपों में व्याख्यात हो सकता है—

1. स्वात्मन: उच्छलत्ता
2. सर्वतोभावेन उच्छलत्ता

उक्त ये दोनों व्याख्याएं इस सत्य का उद्‌घाटन करती हैं कि वह आत्मोच्छलत्ता मात्र अहं रूप में नहीं हो रही है बल्कि इदं रूपेण उच्छलत्ता भी इसका ही एक प्रकार है। परतत्त्व एक

साथ संकुचित व असंकुचित इन द्विविध रूपों में भासित होता है।[12] मोह से भ्रमित व्यक्ति को उसके संकुचित प्रसार के दर्शन होते हैं जबकि प्रत्यभिज्ञात आत्मस्वरूप वाले व्यक्ति को असंकुचित प्रसार के दर्शन होते हैं। अत: संकोच और प्रसार परस्पर सापेक्ष प्रक्रियाएं न होकर एक ही तत्त्व के दो आयाम हैं। क्रम दर्शन की चतुष्टयार्थ-क्रम की अवधारणा में संकोच और प्रसार को एक ही प्रक्रिया बतलाया गया है। स्पन्द दर्शन की भी यही मान्यता है, संकोच और प्रसार वहाँ एक स्पन्द के द्विविध आयाम हैं। अत: भेद का अभिप्राय मात्र प्रसार बतलाना कुछ भ्रामक सा हो जाता है क्योंकि तब तो यह अभेद का भी अवबोधक बन जाएगा। अत: शक्ति के 'विच्छिन्न प्रसार' को ही भेद की संज्ञा से अभिहित किया जाना चाहिए।

शैव आगमों में दो पदार्थों की चर्चा मिलती है—(1) शक्ति और (2) शक्तिमान्। इनमें से 'शक्तिमान्' तो परतत्त्व का अवबोधक है और 'शक्ति' विच्छिन्न रूपेण दृश्यमान् समस्त जगत् की बोधिका हैं।[13] सम्पूर्ण तत्त्वजगत्, द्विविध—सृष्ट तथा सृज्यमान—समस्त पदार्थ, उस शक्ति की ही विजृम्भा है। किन्तु इस आधार पर हम शक्ति को मात्र भेदपर्यन्त ही परिसीमित नहीं कर सकते, अपितु सच तो यह है कि भेद और अभेद शक्ति के ही दो प्ररूप हैं। प्रथम का परिग्रहण 'माया'[14] के रूप में और द्वितीय का 'अनुसंधान'[15] के रूप में मिलता है। इन दोनों के ही अपर पर्याय के रूप में स्वातन्त्र्य[16] या विमर्श[17] की चर्चा मिलती है, जो भेद को अभेद और अभेद को भेद रूप में भासित करने में समर्थ है।

इस प्रकार भेद के व्युत्पत्तिपरक अभिप्राय का उसकी शिवाद्वयवादी दार्शनिक मीमांसा के साथ किसी भी प्रकार का विरोध परिलक्षित नहीं होता क्योंकि शैव दार्शनिक व्युत्पत्ति के अनुरूप ही 'संवित् से विच्छिन्नता',[18] 'परतत्त्व का बहिरुल्लासन',[19] 'परतत्त्व का संकुचन',[20] 'अख्याति का विजृम्भण',[21] 'परतत्त्व में विद्यमान क्षोभ',[22] 'शिव द्वारा भूमिकान्तर की प्राप्ति'[23] इत्यादि रूपों में भेद को परिभाषित करते हैं। वस्तुत: संवित् जब अपने स्वरूप को आवृत्त कर संकुचित ज्ञानात्मता को प्रकाशित करती है, तभी ग्राह्य-ग्राहक रूप भेद उल्लसित होता है।

यह भेद स्वयं में क्या है—इसकी विवेचना महेश्वरानन्द करते हैं।[24] उनके अनुसार भेद न तो अन्योन्याभावरूप है, न वैधर्म्य रूप और न वस्तु का स्वरूप। यह 'अन्योन्याभाव' रूप नहीं है, क्योंकि परस्पर का अभाव ही अन्योन्याभाव कहलाता है जैसे स्तम्भ में कुम्भ का अभाव और कुम्भ में स्तम्भ का अभाव। परस्पर का यह अन्यत्व या तो पदार्थों का स्वभाव होगा या फिर भेद-निबन्धन उपाधि। प्रथम के स्वीकरण से एकत्व से आक्रान्त पदार्थों के प्रति भी भेदापत्ति होने लगेगी, फलत: घट पटादि पदार्थों का भी आत्म (निज) रूप में प्रकाशन असंभव हो जायेगा, वे परस्पर के भेद रूप में ही भासित होंगे। परिणामस्वरूप आत्माश्रय दोष की प्राप्ति होगी। इसके अतिरिक्त यदि अन्यत्व को भेदनिबन्धन कोई उपाधि मानेंगे, तब तो अन्यत्व भेद के होने पर ही होगा। इस प्रकार भेद की सिद्धि अन्यत्वापेक्षी व अन्यत्व की सिद्धि भेदापेक्षी होने से अन्योन्याश्रय दोष की उपलब्धि होगी।

भेद 'वैधर्म्य' रूप भी नहीं है, क्योंकि स्तम्भादिकों का स्तम्भत्व व कुम्भत्व रूप अर्थ ही वैधर्म्य है। यदि स्तम्भों में स्तम्भत्व और कुम्भों में कुम्भत्व नियत हो, तभी भेद की उपपन्नता है,

किन्तु यहाँ भेद का कोई नियामक नहीं है। यदि स्तम्भों में दारुमयत्व व कुम्भों में पृथुबुध्नोदराकारत्व को ही वैधर्म्य का नियामक मानकर भेद की सिद्धि की जाए तो यह भी उचित नहीं है। क्योंकि जो वैधर्म्य का नियामक होता है, उसकी असाधारण रूप से प्रतीति नहीं होती। असाधारण प्रतीति तो स्तम्भादिकों के भेद के साथ ही होती है और वह भेद साध्य कोटि में आरूढ़ है। इस प्रकार से असाधारण धर्म की सिद्धि के भेदापेक्षी और भेद की सिद्धि के असाधारण धर्मापेक्षी होने के कारण पूर्ववत् यहाँ भी आत्माश्रय आदि दोषों की प्राप्ति होगी। फिर, यदि दारुमयत्व आदि का भेद ही स्तम्भादिकों में वैधर्म्य रूप मान लिया जाये तब तो परमाणु पर्यन्त इस भेद के प्राप्त होने के कारण अनवस्था होने लगेगी। फलत: किसी भी युक्ति से वैधर्म्य रूप भेद की सिद्धि नहीं होती।

तीसरे, भेद 'वस्तु का स्वरूप' भी नहीं है। क्योंकि स्तम्भादिकों का स्वरूप वही हो सकता है जो कि स्तम्भादिकों के अनन्य स्वभाव से अनुषक्त रूप वाला हो, अन्यथा पदार्थों का स्वभाव-साङ्कर्य होने लगेगा। स्तम्भादिकों में अन्य स्वभाव के उपराग के साथ ही साथ भेद के सद्भाव की भी अनिवार्यता स्वीकार करनी पड़ेगी, किन्तु इसका उपपादन नहीं हो सकेगा। और फिर यदि पदार्थों के स्वरूप को ही भेद मान लिया जाए, तब तो शुक्तिका में रजतरूप भ्रान्ति भी असंभव हो जाएगी। भ्रान्ति स्थल में प्रत्यक्ष तो शुक्ति का होता है, किन्तु अध्यवसाय रजत का। किन्तु जब भेद शुक्ति के स्वरूप में ही माना जायेगा, तब शुक्ति किसी भी युक्ति से रजद्रूप में अध्यवसित नहीं हो पाएगी, फलत: भ्रान्ति की अनुपपत्ति होगी। अतएव भेद को वस्तु का स्वरूप मानने से व्यवहार खण्डित हो जाएगा।

इस प्रकार भेद न तो अन्योन्याभाव है, न वैधर्म्य और न वस्तु का स्वरूप। फिर भी भेद भासित तो होता ही है। अब सवाल उठता है कि नाना पदार्थों में भासित होता हुआ यह भेद स्वयं पदार्थों से भिन्न है या अभिन्न। यदि यह अभिन्न है तब तो अभेद की ही प्राप्ति होगी और यदि यह पदार्थों से भिन्न है तो इसका निरूपण नहीं हो पाएगा क्योंकि एक भेद की सिद्धि के लिए दूसरे की अपेक्षा होगी और इस द्वितीय की भी सिद्धि के लिए तृतीय की। इस प्रकार भेद की परम्परा के परिग्रहण से अनवस्था ही होगी। साथ ही यह सवाल भी उठता है कि यह भेद स्वभावत: भिन्न पदार्थ का होता है या अभिन्न का। यदि भिन्न पदार्थ का होता है तो इस आगन्तुक भेद से कोई लाभ तो होगा नहीं, हाँ कृतकारित्व दोष की प्राप्ति अवश्य होगी। दूसरे, यदि भेद स्वभाव से अभिन्न पदार्थ का माना जाए तो वदतोव्याघात की स्थिति उत्पन्न होगी।

इस प्रकार उक्त सभी विधियों से भेद के उपपन्न न हो सकने के कारण महेश्वरानन्द अपना मन्तव्य प्रकट करते हैं कि स्तम्भ से कुम्भ भिन्न है और कुम्भ से स्तम्भ भिन्न है, इत्यादि रूप ही भेद-व्यवहार है और इस भेद की सिद्धि तभी हो सकती है जबकि स्तम्भ और कुम्भ दोनों की प्रतिष्ठा अभेद में हो।[25] इस प्रकार प्रमाता में विश्रान्त हुए बिना भेद की सिद्धि नहीं होती। इसकी सिद्धि अभेद से ही नि:सृत होती है। सच पूछा जाए तो भेद, अभेद की अन्य अवस्था है, इसी कारण से उसे अभेद की विकृति कहा गया है।[26] भेद रूप जो कुछ भी दृश्यमान है, उन सबमें अभेद रूप प्रकाश की ही अनुस्यूति अविच्छिन्नरूपेण परिगृहीत है। भले ही भेदज्ञान के अवसर पर हमें उसकी प्रतीति न हो।

इसी भेद के अपर पर्याय के रूप में शैव शास्त्रों में द्वैत, भिन्नत्व, नानात्व, अनेकत्व, बहुत्व आदि प्रत्ययों का उल्लेख मिलता है। इनमें से 'द्वैत' का प्रत्यय संख्यावाची न होकर अन्य सभी के समान भिन्नत्व का ही बोधक है।[27] परतत्त्व का विश्वरूपतया भासन अथवा प्रकाश से भिन्न रूप में आभासन ही द्वैत है। अब सवाल उठता है कि प्रकाशेतर रूप में जो कुछ भी भासित हो रहा है, वह सत् है या असत् और यदि वह सत् है तो उसकी सत्ता किस प्रकार की है। इस संदर्भ में विभिन्न दार्शनिक सम्प्रदायों में भिन्न-भिन्न प्रकार की विवेचनाएँ मिलती हैं, जिनका अध्ययन हम इस प्रकार कर सकते हैं—

1. वे सम्प्रदाय जहाँ भेद और अभेद दोनों सत् है—इसके अन्तर्गत जैन, भर्तृहरि, भेदाभेदवादी भास्कर, विशिष्टाद्वैत आदि सम्प्रदाय आते हैं।
2. वे सम्प्रदाय जहाँ अभेद को सत् और भेद को मिथ्या माना गया है—इसके अन्तर्गत वेदान्त की गणना होती है।
3. वे सम्प्रदाय जहाँ भेद और अभेद दोनों ही शून्य होने के कारण असद्रूप है—इसमें (माध्यमिक) शून्यवाद का अन्तर्भाव होता है।
4. वे सम्प्रदाय जहाँ भेद सद्रूप है, किन्तु अभेद की कोई चर्चा नहीं है—इसके अंतर्गत वस्तुवादी न्याय, वैशेषिक, मीमांसा, सांख्य, योग, वैभाषिक का अन्तर्भाव होता है।
5. वे सम्प्रदाय जहाँ भेद सत् है, किन्तु अभेद भ्रान्त है—इसके अधीन सौत्रान्तिक आता है।
6. वे सम्प्रदाय जहाँ अभेद सत् है व भेद आभास है—इसमें विज्ञानवाद का अंतर्भाव होता है।

इनमें से काश्मीर शैवदर्शन अंतिम विकल्प को कुछ अधिक अर्थ के साथ स्वीकार करता है। विज्ञानवादी के सदृश जहाँ यह अभेद को सत् व भेद को आभास मानता है, वहाँ उससे भिन्नतया यह भेद रूप आभास को भी सत् मानता है। यहाँ प्रकाशमानता की व्याख्या अपने अन्तर्गत प्रकाश व अप्रकाश इन द्विविध रूपों में प्रकाशन को समाहित किये हुए है, इसी कारण से भेद यद्यपि अप्रकाश रूप है फिर भी सत् है। यहाँ तक कि विशेष दृष्टिकोण से उसे परमार्थसत् भी कहा गया है। शिवाद्वयवाद की पूर्णतावादी विचारधारा के परिणामस्वरूप चूँकि शिव पूर्ण है, फलतः भेद-शून्यता की परिकल्पना उसमें अपूर्णत्व का ही आधान करेगी। शिव सत् है, अतः तन्निहित भेद भी सत् है। परमार्थ-स्तर पर सब कुछ उस तत्त्व के प्रकाश से आपूरित है और प्रकाशरूपतया ही आभासित होता है। इसी कारण से प्रकाशरूपेण भासन पर्यन्त ही भेद की परमार्थ-सत्ता विहित है, अन्यथा तो सब के एक प्रकाशरूपता में विश्रान्त हो जाने के कारण परिणामस्वरूप भेद की वास्तविक सत्ता भी नहीं है। सच पूछा जाए तो काश्मीर शैवदर्शन भेद की सत्ता के संबंध में कोई सीधा, सरल, सपाट सा उत्तर नहीं देता। पृथक्-पृथक् दृष्टिकोणों से, पृथक्-पृथक् स्तरों पर उसकी सत्ता भी परिवर्तित होता रहती है। यहाँ भेद की चर्चा तीन रूपों में मिलती है, जोकि उसकी त्रिविध सत्ता के परिचायक हैं—

1. सृष्टि रूप में (इसके अंतर्गत समस्त छत्तीस तत्त्व)।
2. सृष्ट पदार्थों के रूप में (इसके अंतर्गत घट-पटादि भेद रूप प्रमेय)।
3. सृष्ट पदार्थों में परस्पर भेदन रूप में (इसके अंतर्गत स्तम्भ व कुम्भादि का पारस्परिक भेद)।

माया-प्रमाता की दृष्टि से देखें[28] तो उपर्युक्त भेद के प्रथम प्ररूप के अंतर्गत परिगृहीत षट्त्रिंशत्तत्त्वों में निहित भेद की वस्तुसत्ता (ontic reality) है। द्वितीय के अंतर्गत निहित भेद के व्यवहार-जगत् के घट-पटादि प्रमेयों से सम्बद्ध होने के कारण उसकी व्यावहारिक सत्ता (empirical reality) है। क्योंकि इस स्तर पर सत् की परिभाषा 'स्थैर्य' व 'उपयोग' के आधार पर की गयी है। तृतीय के अंतर्गत निहित भेद चूँकि प्रमाता की बुद्धि से प्रकल्पित है, अत: उसकी ज्ञानात्मक सत्ता (cognitive reality) है। किन्तु दूसरे दृष्टिकोण से देखें तो माया प्रमाता की ही दृष्टि से यहाँ भेद का विवेचन दो स्तरों पर भी मिलता है—

1. प्रकाशन का स्तर—इसमें सप्तविध प्रकाशन की चर्चा होती है।[29]
2. आभासन का स्तर—इसमें षट्त्रिंश तत्त्वों की चर्चा होती है।

1. प्रकाशन का स्तर—इसके अन्तर्गत सात प्रकार का प्रकाशन ही भेद के नाना स्तरों की व्याख्या करता है। अब हम क्रम से इनकी विवेचना करते हैं:

(अ) अप्रकाश रूप से प्रकाशन—इसके अन्तर्गत जडाभास समाहित है, जहाँ आश्यानीभूत भेदावभासन होता है। यहाँ अप्रकाशरूपता प्रकाशाभाव की बोधक न होकर प्रकाश के नानात्व की ही द्योतक है। नील-पीत, घट-पट इत्यादि रूपों में प्रकाशित होना ही अप्रकाशरूपेण भासन है। भास्कर अप्रकाश रूप से प्रकाशन को ज्ञेय रूप प्रकाशन मानते हैं।[30]

(ब) सर्वथा प्रकाश रूप में प्रकाशन—इस स्तर पर भेद प्रकाश में विश्रान्त होकर ही भासित होता है। भास्कर यहाँ प्रकाशरूपता को प्रमाता का बोधक मानते है,[31] फलत: शिव प्रमाता के रूप में भासित होता है।

(स) सबसे अव्यतिरिक्त रूप में प्रकाशन—इस स्तर पर शिव के अनाच्छादित अंश की प्रधानता रहती है। यहाँ आत्मबोध से अभिन्न इदन्ता का अस्फुट ज्ञान रहता है। यह स्थिति सदाशिव की है।

(द) सबसे व्यतिरिक्त रूप में प्रकाशन—यहाँ शिव आंशिक रूप में प्रकाशित होने के साथ-साथ सबसे व्यतिरिक्त रूप में भी भासित होता है। यह स्तर जीवाभास का है।

(य) कतिपय से व्यतिरिक्त रूप में प्रकाशन—इस स्तर पर स्वयं में विपर्यास का अभाव होने पर भी स्वभिन्न वेद्य की उपलब्धि होती है। अहन्ता और इदन्ता का समान रूप से स्फुट ज्ञान रहता है। यह अवस्था विद्येश्वर प्रमाता की है।

(र) कतिपय से अव्यतिरिक्त रूप में प्रकाशन—इस स्तर पर प्रमाताओं में यद्यपि पारस्परिक भेद विद्यमान रहता है, तथापि वे वेद्य को शुद्ध-बोधात्मक व अपने से भेदशून्य देखते हैं। यह अवस्था विज्ञानाकल की है।

(ल) उपर्युक्त षड्विध प्रकारों से परिपूर्ण रूप में प्रकाशन—इस स्तर पर आकर भेद का अस्तित्व अभेद में विश्रान्त हो जाता है तथा परप्रकाश अपने परिपूर्ण रूप में आभासित होने लगता है। यह परमशिव की अवस्था है।

प्रकाशन की इन सप्तविध कोटियों में प्रथम कोटि जडाभास की है और अंतिम परमशिवरूपता का प्रतिनिधित्व करती है। मध्यवर्ती पंचक जीवाभास के बोधक हैं। ये पाँच शुद्ध व अशुद्ध सृष्टि

के पाँच प्रमाताओं का प्रतिनिधित्व करते हैं, उदाहरणार्थ—द्वितीय शिव प्रमाता का, तृतीय मन्त्र-महेश्वर का, चतुर्थ पशु प्रमाता का, पंचम विद्येश्वर का व षष्ठ विज्ञानाकल प्रमाता का प्रतिनिधित्व करता है। प्रथम छह के संदर्भ में माया के विमोहन व्यापार की क्रियाशीलता है, व अंतिम उससे उत्तीर्ण है। भास्कर प्रकाशन के इन सप्तविध भेदों का अन्तर्भाव अधोलिखित त्रिविध भेदों में करते हैं[32]—

1. अप्रकाशात्मना प्रकाशन
2. प्रकाशात्मना प्रकाशन
3. परिपूर्णरूपेण प्रकाशन

इनमें से द्वितीय 'प्रकाशात्मना प्रकाशन' का ही पंचविधत्व है।

2. आभासन का स्तर—इस स्तर पर षट्त्रिंशद् आभासों की चर्चा है, जहाँ छत्तीस तत्त्व ही भेद की षट्त्रिंशत् कोटियाँ हैं और उसमें भी वैचित्र्य यह है कि भेद यहाँ पर अभेद, भेदाभेद व भेद इन त्रिविध रूपों में भासित होता है। इन त्रिविध भेदों को ही अन्य शब्दों में शुद्ध व अशुद्ध सृष्टि की संज्ञा से अभिहित किया गया है। अभेद व भेदाभेद का अंतर्भाव शुद्ध सृष्टि में व भेद का निरूपण अशुद्ध सृष्टि के रूप में मिलता है।

शुद्ध सृष्टि में अभेद स्तर के दो तत्त्व हैं—शिव और शक्ति। इन दोनों को अविच्छिन्न माना जाता है[33] क्योंकि इनमें भेद मात्र उपचार के लिये कहा गया है।[34] ये दोनों तत्त्व या आभास न होकर आगामी समस्त चौंतीस तत्त्वों के बीज स्वरूप है। अभेद रूप होने पर भी ये भेद की परिधि में इसलिए रखे गये हैं क्योंकि ये तत्त्व हैं और तत्त्व भेद के होने पर ही निसृत होता है। भेद विकल्प के होने पर होगा। यहाँ पर समस्या उत्पन्न होती है कि चूँकि उक्त दोनों तत्त्व निर्विकल्प कहे गये हैं, फलत: इनमें भेद नहीं माना जा सकता। किन्तु विश्वमयता का प्रारम्भ छत्तीसवें तत्त्व की उत्पत्ति के साथ ही हो जाने से भेद का प्रारम्भ भी यहीं से माना जाना चाहिए। इस संबंध में शैवाचार्यों में ही मतभेद मिलता है। उत्पल मात्र छत्तीस तत्त्व मानते हैं, वे इनमें भेद का प्रारम्भ सदाशिव से मानते हैं[35] तथा प्रथम दो तत्त्व घोर अभेदावस्था के बताते हैं। जबकि अभिनव भेद का प्रारम्भ तत्त्व-सृष्टि के साथ ही मानने के कारण सैंतीस/अड़तीस तत्त्व मानते हैं। उनके अनुसार परतत्त्व के क्षोभ के साथ ही भेद का प्रारम्भ हो जाता है। सैतीसवें परमशिव के क्षुब्ध होने से छत्तीस तत्त्वों की सृष्टि होती है, अतएव उससे ऊपर पूर्ण अभेद रूप अड़तीसवां अनुत्तर है। इस प्रकार इन दोनों तत्त्वों में किसी न किसी प्रकार का भेद अवश्य ही स्वीकरणीय है।

भेदाभेद स्तर के तीन तत्त्व हैं—सदाशिव, ईश्वर और सद्विद्या। सृष्टि की दृष्टि से सदाशिव ही प्रथम आभास है। इस स्तर पर अहम् इदम् को आच्छादित करके विद्यमान रहता है। ईश्वर तत्त्व में इदम् अंश आच्छादक व अहम् अंश आच्छादनीय है। सद्विद्या में अहम् इदम् समधृततुलापुटन्याय से समकक्ष विद्यमान रहते हैं। वे तत्त्व शुद्ध सृष्टि के तत्त्व इसलिए कहलाते हैं, क्योंकि इस स्तर तक ज्ञाता-ज्ञेय, प्रमाता-प्रमेय, वेदक-वेद्य का भेद परिगृहीत नहीं होता। इस स्तर तक तत्त्वों का पारस्परिक भेद महामाया के कारण संभव है और यह भेद मात्र विमर्श का विषय है। इसमें किसी प्रकार की कालिक पूर्वता व परता नहीं है।

भेद स्तर के इकत्तीस तत्त्व अशुद्ध सृष्टि या भेद सृष्टि के अंतर्गत आते हैं। अब माया की सृष्टि हो जाने से घनीभूत भेद का विजृम्भण दृष्टिगत होने लगता है। माया परतत्त्व के स्वरूप को

आवृत कर देती है और तब फिर उसी से पंच कंचुकों की सृष्टि होती है, जो पुरुष के चित् स्वरूप को संकुचित कर उसकी शक्तियों को परिसीमित कर देते हैं। वेदान्त में माया की द्विविध शक्तियों—आवरण और विक्षेप—का निरूपण मिलता है। काश्मीर शैवदर्शन इनमें से प्रथम का अन्तर्भाव माया में व द्वितीय का पंच-कंचुक में करता है। तदुपरान्त प्रकृतितत्त्व की सृष्टि होती है, उसी से आगामी तेइस तत्त्वों—मन, बुद्धि, अहंकार, पंच ज्ञानेन्द्रियों, पंच कर्मेन्द्रियों, पंच तन्मात्राओं व पंच महाभूतों—की सृष्टि होती है। परिणामस्वरूप इदम् अहम् से विच्छिन्नरूप में भासित होने लगता है। इस भेद में विजृम्भण की पराकाष्ठा पृथ्वी तत्त्व है, जहाँ पहुँचकर तरल चित् तत्त्व आश्यानीभूत स्वरूप धारण कर लेता है। इन इकत्तीस तत्त्वों में भेद का कारण माया है।

इस प्रकार तत्त्व विवेचना के संदर्भ में हमने अभेद, भेदाभेद और भेद इन तीन स्तरों पर भेद की विद्यमानता स्वीकार की। किन्तु, स्वतन्त्ररूप से इन तीनों स्तरों पर भेद का स्वरूप एक जैसा नहीं है। अब हम तीनों स्तरों पर भेद के स्वरूपात्मक परिवर्तनों को जानने का प्रयास करते हैं:

1. विशुद्ध अभेद के स्तर का भेद—इस स्तर पर शिवाद्वयवादी अपनी पूर्णतावादी विचारधारा के परिणामस्वरूप ही भेद को स्वीकार करने के लिए बाध्य है, भले ही उसकी वहाँ पर स्वतन्त्ररूपेण अवस्थिति संभव न हो। यही कारण है कि इस स्तर पर अभेदानुगृहीत भेद की प्राप्ति होती है।

2. भेदाभेद के स्तर का भेद—यहाँ अभेदपर्यवसायी भेद परिलक्षित होता है। भेदाभेद में दो स्थितियाँ हैं—भेद और अभेद। सच पूछा जाए तो ये दोनों भेद के ही एक प्रकार के वर्गीकरण हैं क्योंकि भेदाभेद के स्तर का अभेद विशुद्ध अभेद से निम्न स्तर का है। भेदाभेद की चर्चा व्यावहारिक स्तर पर की जाती है, क्योंकि यह सारा व्यवहार भेदाभेदाश्रित है। क्रिया, संबंध, सामान्य, द्रव्य, दिक् और काल आदि भेदाभेद रूप कहे गए हैं। उत्पल के अनुसार क्रिया, सम्बन्ध आदि बुद्धियाँ हैं, फलत: भेदरूप हैं, किन्तु इनका आधारभूत सिद्धान्त भेदाभेद का है।[36] भेदाभेद की पारमार्थिक सत्ता न होकर ज्ञानात्मक सत्ता है, इसी कारण से क्रिया आदि स्थिर व उपयोगी होने के कारण व्यावहारिक सत् मानी गई हैं। फलत:, भेदाभेद का अभेद भी भेद रूप है। उदाहरणार्थ हम क्रिया को लेते हैं—

पूर्व + पर = क्रम = क्रिया
यानी, भेद + भेद = अभेद

और यह अंतिम अभेद रूप क्रिया वास्तव में भेद का ही एक रूप है क्योंकि अभेद रूप क्रिया में तो क्रम की कल्पना भी नहीं की जा सकती है।[37] भर्तृहरि भी भेदाभेद में विद्यमान भेद और अभेद दोनों को बुद्धि प्रकल्पित मानते हैं।[38]

3. भेद का स्तर—इस स्तर पर विशुद्ध भेद दृष्टिगत होता है।

इस प्रकार उक्त त्रिविध स्तरों में से प्रथम में अभेद में एकरस, द्वितीय में बुद्धिनिबद्ध व तृतीय में स्थूल भेद के दर्शन होते हैं। इसी प्रकार भिन्न-भिन्न स्तरों पर भेद की चर्चा होने के साथ ही साथ भिन्न-भिन्न रूपों में भी भेद का उल्लेख मिलता है जैसे 'विकल्प', 'अज्ञान', 'माया', 'मल', 'भ्रान्ति', 'अविद्या', 'तिरोधान', 'अपोहन', 'निषेध', 'आवरण', 'माया' इत्यादि के रूप में भेद की चर्चा की गयी है। इन विविध रूपों में भेद की वास्तविक स्थिति के अवबोधन हेतु अब हम क्रम से इनका अध्ययन करते हैं—

(एक) *भ्रान्ति*[39] *या अपूर्ण ख्याति*—भ्रम के कारण ही अभेद भेद रूप में भासित होता है। सामान्यत: तद्रूप में अतद्रूप का प्रकाशन ही भ्रान्ति कही गयी है। इस भ्रान्ति के परिणामस्वरूप चूँकि पूर्ण परतत्त्व अपूर्ण रूप में भासित होने लगता है, इसी कारण यह अपूर्णख्याति की संज्ञा से अभिहित की गयी है।[40] शिवाद्वयवादी अपनी दार्शनिक शब्दावली में अनुवृत्ति के योग्य विमर्शन के अस्थिर होने या उन्मीलित होने को ही भ्राति कहते हैं।[41] इस भ्रान्ति में दो कार्य सम्पन्न होते हैं—

(अ) विद्यमान प्रकाशांश के विमर्शन का गोपन

(आ) अविद्यमान प्रकाशांश का विमर्शन

इसमें से प्रथम कार्य मायाशक्ति या फिर तिरोधान कृत्य द्वारा सम्पन्न होता है जबकि द्वितीय कार्य अनुग्रह कृत्य के कारण होता है। तथा यह प्रथम कार्य की प्रतिक्रियास्वरूप ही है। किन्तु फिर भी इन दोनों कार्यों में किसी प्रकार की पूर्वता या परता न होकर इनका समकालिक विधान ही स्वीकृत है। प्रत्यभिज्ञादर्शन यहाँ 'भ्रान्ति' व 'महाभ्रान्ति' के भेद से द्विविध भ्रान्ति स्वीकार करता है। प्रथम के अंतर्गत सृष्टि पद व माया पद की भ्रान्तियों का अङ्गीकरण मिलता है तथा द्वितीय में प्रमाण पद की भ्रान्ति का। अब हम क्रम से इन तीनों की विवेचना करते हैं—

1. सृष्टि पद की भ्रान्ति—इस स्तर पर पूर्ण अहं रूप में विमर्शन की अनुवृत्ति के उन्मूलन के परिणामस्वरूप भ्रान्ति जन्म लेती है। इस पद की भ्रान्ति के लिए 'अख्याति' पद का प्रयोग किया गया है।[42] उक्त अख्याति रूप अपूर्णत्वाधान में हेतु 'आणवमल' है,[43] जिसके द्विविध प्रकारों में से परतत्त्व के ज्ञानात्मक व क्रियात्मक स्वातन्त्र्य की हानि रूप 'पौरुष' अज्ञान के कारण परतत्त्व का अपूर्ण रूप में प्रथन होने लगता है, और यह अपूर्णता ही अभेद को खण्डित कर भेदरूप सृष्टि के प्रति उत्तरदायी हो जाती है। शुद्ध सृष्टि के तत्त्व इसी भ्रान्ति के प्रथन हैं।

2. मायापद की भ्रान्ति—इस स्तर पर भ्रान्ति का जन्म परतत्त्व के स्वातन्त्र्य के अबोध रूप 'बौद्ध अज्ञान' के कारण होने वाले अपूर्ण ज्ञान से होता है। माया पद में जिस जिस की अवस्थिति स्वीकृत है, वह सब भ्रान्ति कही गई है।[44] इस भ्रान्ति के परिणामस्वरूप ही अभिन्न शिव नील-पीत, घट-पट, प्रमाण-प्रमेय इत्यादि भेदात्मक रूपों में भासित होने लगता है। इस स्तर की भ्रान्ति माया प्रमाता का व्यापार होने के साथ ही साथ प्रत्येक प्रमाता में भेद रूप से वर्तमान है।[45] इसके अतिरिक्त अशुद्ध सृष्टि के तत्त्वों के जन्म का कारण भी माया पद की भ्रान्ति ही है।

3. प्रमाण-पद की भ्रान्ति—इस स्तर पर मायीय विषय के अपूर्ण रूप में ग्रहण से भ्रान्ति जन्म लेती है। यहाँ दृश्यमान विषय के प्रकाशांश का तिरोधान मायाशक्ति द्वारा होता है व तदितर के विमर्श में नियामक पंच-कंचुक है। इन्हीं दोनों की क्रियाशीलता से शुक्तिका आदि का अपूर्ण ग्रहण होने से रजतादि अर्थों की भ्रान्ति जन्म लेती है।

इन तीनों प्रकार की भ्रान्तियों में एक प्रकार की क्रमिकता है। ये तीनों इसी क्रम में सत्तावान् होती हैं। इनमें से प्रथम भ्रान्ति पारमार्थिक भेद का कारण है, द्वितीय व्यावहारिक भेद व अंतिम प्रातिभासिक भेद के कारण रूप में निरूपित है।

(दो) *अज्ञान/मल/अख्याति/संकोच*—प्रत्यभिज्ञा दर्शन में भेद रूप बन्धन का कारण अज्ञान है, जिसे अपूर्णज्ञान, अख्याति अथवा द्वैतप्रथात्मक ज्ञान की शब्दावलियों में परिभाषित

किया गया है।[46] शैव-शास्त्रों में मल की संज्ञा से इसी का अभिधान मिलता है। यहाँ अज्ञान शब्द ज्ञानाभाव रूप किसी विशुद्ध निषेधात्मक धारणा का द्योतक न होकर ज्ञान की अपूर्णता रूप भावात्मक अवधारणा का ही परिचायक है।[47] भेद इस अज्ञान का ही प्रतिफल है और अज्ञान द्वैतभाव के अतिरिक्त और कुछ नहीं।[48] इसे ईश्वर की स्वरूप-गोपनेच्छा के रूप में परिभाषित किया गया है।[49] इसी कारण से उसे तिरोधान शक्ति का ही रूपान्तरण कहा गया है।[50] के० शिवरमन् उसे "pre-cosmic-pre-microcosmic occasioning" कहते हैं।[51] द्वैतवादी इसे आत्मा में विद्यमान द्रव्य विशेष मानते हैं,[52] किन्तु काश्मीर शैवदर्शन में ऐसा नहीं है। द्रव्य की स्थिति भेद की अवस्थिति के उपरान्त ही संभव है। किन्तु यहाँ मल भेद का कारण होने के परिणाम स्वरूप भेद के जन्म के पहले ही सत्तावान् है। इस मल की विद्यमानता त्रिविध रूपों में कथित है—आणव, मायीय और कार्म। इनमें से आणवमल ही भेद के जन्म में कारण स्वरूप है। आच्छादक होने के कारण यह चित् तत्त्व की ज्ञान और क्रिया शक्तियों को आवृत कर लेता है। पौरुष और बौद्ध अज्ञान इसी के द्विविध रूप है। यद्यपि आणवमल अनादि कहा गया है तथापि इसकी वास्तविक सत्ता नहीं मानी गयी है। यह सृष्टि पद पर अग्रसर परतत्त्व की अपने स्वातंत्र्य से सर्जित प्रकल्पना ही है।[53] यह मल मायीय व कार्ममल का भी मूल माना गया है। भिन्न रूप से वेद्य का प्रथन मायीय मल द्वारा होता है।[54] प्रमाता की भेद या द्वैत बुद्धि ही मायीय मल है। त्रिक सम्प्रदाय के अनुसार मायीय मल माया से लेकर विद्या तक सूक्ष्म कंचुकों के द्वारा आत्मा के यथार्थ स्वरूप को ढक लेता है।[55] शुभाशुभ की विकल्पना कार्ममल के कारण होती है। यही मल जीव के संसरण का कारण है।[56] चूँकि ये तीनों मल मायाकर्तृक हैं इसलिए भेदात्मक हैं। ये ही त्रिविध मल अशुद्ध सृष्टि के तीनों प्रमाताओं-विज्ञानाकल, प्रलयाकल व सकल के अस्तित्व लाभ में निमित्त बनते हैं। प्रथम में मात्र आणवमल रहता है, द्वितीय में आणवमायीय दोनों मल व तृतीय में तीनों मलों की विद्यमानता स्वीकृत है।

(तीन) *माया/अविद्या*—काश्मीर शैवदर्शन में माया की चर्चा 'पर' और 'अपर' माया-शक्तियों तथा मायातत्त्व के रूप में मिलती हैं। प्रथम के पर्याय रूप में स्वातन्त्र्य शक्ति का उल्लेख मिलता है।[57] द्वितीय 'अपरा माया' माया तत्त्व व तदुपरान्त जायमान भेदों के कारण रूप में कथित है।[58] तृतीय माया तत्त्व की परिगणना छत्तीस तत्त्वों के अंतर्गत मिलती है। अपरा माया शक्ति का संबंध इसी इकत्तीसवें तत्त्व से है। चूँकि अशुद्ध सृष्टि में भेदावभासन इसी के माध्यम से होता है, इसलिए यह 'तिरोधानकरी' कही गयी है।[59] इसके लिये अशुद्ध विद्या या अविद्या जैसे शब्दों का प्रयोग भी किया गया है।[60] काश्मीर शैवदर्शन में विद्या शब्द का चतुर्विध अभिप्रायों में प्रयोग मिलता है—(1) भेदाभेददृष्टि-रूपा सद्विद्या,[61] (2) किंचिज्ज्ञत्वरूपा अशुद्ध विद्या,[62] (3) पशुदशा में ऐश्वर्य की प्रकाशिका शक्ति,[63] (4) विद्येश्वरों की महामाया रूपा।[64]

इनमें से अन्तिम की स्थिति माया के ऊपर व शुद्धा विद्या के नीचे स्वीकार की गई है। शुद्ध सृष्टि के तत्त्वों में भेद इसी के कारण से होता है।

माया परतत्त्व की तीन असृष्ट या नैसर्गिक शक्तियों में से एक है,[65] जो कि आत्मप्रकाश की आवरण स्वरूपा होने के कारण भेद का आदि हेतु है। तिरोधान शक्ति के पूर्व अपोहन (गोपन) का कार्य इसी के द्वारा सम्पन्न होता है, इसी कारण जयरथ इसे 'अन्यापोहरूपा' कहते हैं।[66]

शैवाचार्यों ने तो भिन्नवेद्याप्रथा को ही माया कह दिया है।[67] इस प्रकार माया शक्ति अपरदशा से लेकर परदशा पर्यन्त किसी न किसी रूप में भेदन व्यापार में संलग्न अवश्य रहती है।

(चार) *अपोहन/तिरोधान/निषेध*—काश्मीर शैवदर्शन में अपोहन निषेध के अर्थ में प्रयुक्त होता है। यहाँ पर इसकी चर्चा त्रिविध रूपों में मिलती है—

1. महेश्वर की ज्ञानात्मिका शक्ति
2. प्रमाता का विच्छेदनात्मक व्यापार
3. पंच कृत्यों में से एक कृत्य

प्रथम के संदर्भ में यह कहा गया है कि स्वातन्त्र्य शक्ति जब मायीय प्रमातृनिष्ठ विकल्परूप व्यापार का प्रतिपादन करती है, तभी वह अपोहन शक्ति कहलाती है।[68] इसकी परिभाषा इस प्रकार की गयी है कि जो कुछ भी भासित होता है, वह संवित् से विच्छिन्न रूप में भासित होता है। एक संवित् दूसरी संवित् से तथा एक संवेद्य दूसरे संवेद्य से विच्छिन्न रूप में भासित होता है। किन्तु यह विच्छेदन वस्तुसत् न होकर, विच्छेदन का अवभास मात्र है क्योंकि इस दर्शन में जो कुछ सृष्ट है वह सब आभास रूप है और इस विच्छेद के अवभासन का सामर्थ्य जिसमें है, वही अपोहन शक्ति है।[69] अपोहन के इस कार्य के परिणामस्वरूप ही भास्कर इसे विच्छेदशब्दवाच्य मानते हैं।[70] विश्व के समस्त भेदप्राण व्यवहारों के लिए यह उत्तरदायी है। ज्ञातृ-ज्ञेयभाव, स्मर्तृ-स्मर्तव्यभाव आदि व्यवहार उस पर विश्रान्त होकर ही स्व-सत्ता लाभ में समर्थ हैं। विकल्पोत्पत्ति इसका प्रधान कृत्य है। यद्यपि भेदावभासन के संदर्भ में ज्ञान और अपोहन दोनों शक्तियों का निरूपण मिलता है, किन्तु दोनों के कार्य-क्षेत्र में मौलिक अन्तर[71] के साथ ही साथ एक प्रकार से वैचारिक पूर्वता व परता भी दृष्टिगत होती है। अपोहन शक्ति पहले विच्छेद को भासित करती है, तदुपरान्त ज्ञान शक्ति ज्ञातृ-ज्ञेयादि आभासों को प्रकाशित करती है।

इसके अतिरिक्त मायाशक्ति का भी विच्छेदावभासन के संदर्भ में उल्लेख मिलता है[72] किन्तु माया और अपोहन शक्तियों में आधारभूत अन्तर भी परिलक्षित होता है—

1. अपोहन ज्ञानात्मिका शक्ति है जबकि माया क्रियात्मिका शक्ति है।[73]
2. अपोहन विच्छेदावभासन में समर्थ है जबकि माया में परिसीमन की सामर्थ्य है।[74]
3. अपोहन शक्ति का निरूपण विकल्पन हेतु है जबकि माया का निरूपण भेदन हेतु।

द्वितीय संदर्भ में अपोहन की चर्चा प्रमाता के अतद् की व्यावृत्ति रूप व्यापार की शब्दावली में भी मिलती है, जिसके परिणामस्वरूप विकल्पोत्पत्ति होती है।[75]

तृतीय संदर्भ में अपोहन गोपन रूप अभिप्राय[76] का अवबोधक होने के कारण तिरोधान का पर्याय बन जाता है। फलस्वरूप अपोहन पंचकृत्यों में से एक कृत्य या पांचों का आधार बन जाता है क्योंकि इन पाँचों कृत्यों का परस्पर भेद भी अपोहन के बिना संभव नहीं है। इस संदर्भ में अपोहन के पर्याय रूप में 'तिरोधान', 'पिधान', 'विलय', 'निग्रह' इत्यादि शब्दों का उल्लेख मिलता है। प्रत्यभिज्ञावादी दार्शनिक-मीमांसा के दृष्टिकोण से अनुग्रह को छोड़कर शेष तीनों कृत्य भी तिरोधान रूप कहे गये हैं किन्तु क्रम दर्शन अपनी क्रम-चतुष्टय की अवधारणा के कारण तिरोधान में ही अनुग्रह को भी सम्मिलित कर लेता है।[77] इस कृत्य के माध्यम से शिव स्वयं को आवृत कर लेता है तथा भेद-व्यवहार उल्लसित होता है।

इस प्रकार मात्र उपयुक्त अभिप्राय में साम्य होने पर भी अपोहन और तिरोधान भी मूलतः भिन्न-भिन्न अभिप्रायों के द्योतक हैं—

1. अपोहन ज्ञानात्मिका शक्ति है जबकि तिरोधान क्रियात्मक है।[78]
2. अपोहन विच्छेदन को अवभासित करती है जबकि तिरोधान आवरण को।

उक्त विभिन्नता के साथ ही साथ कालिक दृष्टि से अपोहन तिरोधान के बाद क्रियाशील होती है। अपोहन के इन त्रिविध रूपों में एक बात विशेष रूप से उल्लेखनीय है और वह यह कि यद्यपि अपोहन व्यापार के पूर्व तो भेद की सत्ता स्वीकृत है किन्तु अपोहन शक्ति या कृत्य (तिरोधान) के पूर्व भेद का अस्तित्व स्वीकार नहीं किया जा सकता क्योंकि भेदन का आविर्भाव आत्म-गोपन के साथ ही होता है।

(पांच) *विकल्प*—विकल्प संकुचित प्रमाता का व्यापार है।[79] काश्मीर शैवदर्शन में इसे 'भेदप्रथा', 'साभिलापमयत्व', 'बुद्धिनिर्माण' व 'द्वयाक्षेपी विनिश्चय' इत्यादि रूपों में परिभाषित किया गया है। इनमें से अंतिम 'द्वयाक्षेपी विनिश्चय'[80] ही विकल्प की प्रमुख परिभाषा है, अन्य सबका अंतर्भाव इसी में हो जाता है। विकल्प अपने अस्तित्व हेतु तद्-अतद् आदि विविध प्रकार की कल्पना करते हुए अतद् के विच्छेदनपूर्वक तद्-रूप का ग्रहण करता है।[81] इस संदर्भ में निम्नलिखित बातें उल्लेखनीय हैं—

1. तद् अतद् से भिन्न है।
2. तद् अतद् से तुल्य कक्ष्या वाला है।
3. तद् विद्यमान है व अतद् आरोप्यमाण।
4. तद् अतद् का प्रतियोगी है।
5. तद् विधि रूप है व अतद् निषेध रूप।

उदाहरणार्थ वह्नि के विकल्पन में तद्रूप वह्नि व अतद्रूप अवह्नि (घट-पटादि) का आक्षेप होता है क्योंकि ये दोनों तुल्य कक्ष्या वाले हैं। तदुपरान्त अविद्यमान अवह्नि के निषेधपूर्वक विद्यमान वह्नि का निश्चयन रूप विकल्पन होता है। इसके अतिरिक्त इस ज्ञान में अभिलाप्यता का अंश भी अनिवार्यरूपेण विद्यमान रहता है। भेदन और अपोहन विकल्प की प्राक्कल्पना-स्वरूप हैं क्योंकि दो का आक्षेप तभी होगा जब दो की सत्ता हो, और तद् का निश्चयन तभी होगा जब अतद् का निषेध हो। अधिष्ठान के संदर्भ में विकल्प और भेद में एक अन्तर है और वह यह कि भेद का अधिष्ठान प्रकाश है जबकि विकल्प का अधिष्ठान विमर्श है, फिर भी विकल्प विमर्श काल में नहीं होता अपितु विमर्श के विश्रान्त हो जाने पर उसी के अधिष्ठान में विकल्पोत्पत्ति होती है।[82] काश्मीर शिवाद्वयवाद के वाक्-दर्शन में भेद की उत्पत्ति विकल्प द्वारा ही होती है। सच पूछा जाए तो विकल्प भेद की एकविध व्याख्या है, किन्तु भेद का क्षेत्र उससे कहीं अधिक व्यापक है क्योंकि निर्विकल्पकता की स्थिति में भी उसकी बीज रूप सत्ता है अन्यथा शिव और शक्ति को तत्त्व नहीं कहा जा सकेगा।

(छः) *क्रम*—पदार्थों का अवभासन क्रम और अक्रम इन द्विविध रूपों में मिलता है। अक्रमाभासन अद्वैत की स्थिति है व सक्रमाभास द्वैत का पोषक है। क्रम आभास-भेद के होने पर ही होगा क्योंकि भिन्न-भिन्न पदार्थ-विषयक ही 'क्रम' का अवभास होता है। प्रतिभा की जो

तत्तत्पदार्थ रूप में क्रमरूषितता कही गयी है[83] वह आभासन के स्तर पर ही कही गयी है, अन्यथा महेश्वर की स्थिति में तो सब कुछ अक्रम रूप में उल्लसित होता है। परतत्त्व अपनी शक्ति के माध्यम से स्वयं से भिन्न रूप में वेद्यों को आभासित करता है, व तदुपरान्त उन्हीं में मूर्ति-वैचित्र्य रूप देशक्रम व क्रिया-वैचित्र्य रूप कालक्रम का प्रत्यक्षीकरण होता है। चूँकि काश्मीर शैवदर्शन में क्रम को 'काल' के रूप में परिभाषित किया गया है[84] इसलिए यह शंका होती है कि क्रमिकता काल के होने पर ही होगी, किन्तु सदैव ऐसा नहीं होता। उदाहरणार्थ, तत्त्व-सृष्टि में काल का स्थान यद्यपि काफी नीचे है किन्तु क्रमिकता तो उपर्युपरि विद्यमान तत्त्वों में भी दृष्टिगत होती है। इस कारण से जब हम क्रम को काल-जन्य कहते हैं तो इस काल से हमारा अभिप्राय 'काल शक्ति' या स्वातन्त्र्य शक्ति से होता है।[85] यह काल शक्ति चिर-क्षिप्रादि रूप कालक्रम की कर्त्री है। देशक्रम तो क्रिया शक्ति जन्य है। कुछ सम्प्रदायों में देशक्रम की कर्त्री चित् शक्ति स्वीकार की गयी है।[86] इस प्रकार क्रमिकता के रूप में जिस भेद की चर्चा की गयी है, वह मात्र आभासन पर्यन्त ही परिसीमित है।[87] निराभास चिद्रूप में ईषदर्थक आभासन रूप अंश का अभाव होने के कारण क्रमयोग असंभव है।[88] फलत: भेद इस क्रमिकता का पूर्वभावी है।[89]

(सात) *अभाव*—भाव और अभाव बाह्यता की उपाधि रूप होने के कारण[90] भेद के अवस्थित हो जाने पर ही भासित होते हैं। काश्मीर शैवदर्शन में अभाव के भी भाव रूप होने के कारण उसे भी आभास ही कहा गया है। प्रत्यभिज्ञा दर्शन अभाव की चर्चा ज्ञान-मीमांसा[91] व तत्त्वमीमांसा इन द्विविध स्तरों पर करता है। प्रथम के संदर्भ में भेदावभासन के उपरांत अभाव भासित होता है जबकि द्वितीय के संदर्भ में अभाव ही भेद के जन्म का कारण है और अभाव की यह स्थिति तिरोधान आदि में परतत्त्व के प्रकाशांश के पूर्ण विमर्शन के अभाव से ही जन्म लेती है। किन्तु इतना सत्य है कि अभाव यहाँ न्याय-वैशेषिकवत् कोई वस्तुसत् पदार्थ नहीं है, भले ही सत्ता की परिभाषा स्वयं के अंतर्गत अभाव को भी समाहित कर ले।

इस प्रकार हम देखते हैं कि भेद अपनी सत्ता के लिए संकोच, तिरोधान, आवरण, माया, अपोहन, विकल्पन, अज्ञान, अविद्या, मल, भ्रान्ति इत्यादि प्रत्ययों की अपेक्षा करता है। इनके क्रियान्वन से ही भेद का प्रसार होता है। इससे विपरीत स्थिति अभेद की है, जहाँ युग्मों के रूप में कुछ प्रत्ययों का उल्लेख मिलता है। इनमें से प्रमुख युग्म तीन हैं—

1. प्रकाश-विमर्श
2. शब्द-अर्थ
3. शक्ति-शक्तिमान्

काश्मीर शैवदर्शन के अनुसार उक्त तीनों घोर अद्वैत की स्थितियाँ हैं। सर्वप्रथम हम 'प्रकाश-विमर्श' को लेते हैं। प्रत्यभिज्ञा-दर्शन में सत्ता की व्याख्या प्रकाश और विमर्श इन द्विविध प्रत्ययों के सामरस्य के रूप में मिलती है। प्रकाशरूपता सत् की बोधक है व विमर्शरूपता इस सत् की संवेदना, कर्तृता या चिद्रूपता की परिचायक है। इस प्रकार अस्तित्व की दृष्टि से तो इन दोनों प्रत्ययों में अभेद है किन्तु व्यापार की दृष्टि से इनमें भेद भी परिलक्षित होता है। प्रकाश का कार्य भावाभाव-रूप व्यवस्था है,[92] जबकि भेदाभेद-रूप व्यवस्था विमर्श का कार्य है।[93] इस प्रकार कार्यक्षेत्र पृथक् होने पर भी दोनों को अपने अस्तित्व की सिद्धि के लिए एक-दूसरे की अपेक्षा रहती है।

द्वितीय युग्म के संदर्भ में एक विचित्र बात दिखती है, वह यह कि काश्मीर शैवदर्शन 'शब्द' और 'अर्थ' को परतत्त्व के स्तर तक ले जाता है। अर्थ को प्रकाश या शिव से तथा शब्द को विमर्श या शक्ति से समीकृत करता है। इस कारण से यहाँ शब्द और अर्थ के मध्य भी किसी भेद या द्वैत की उपलब्धि न होकर उनमें तादात्म्यरूपता की ही प्राप्ति होती है। यद्यपि शाब्दी भूमिका में सारा ज्ञान भेदात्मक स्वीकृत है, किन्तु फिर भी शब्द और अर्थ के मध्य भेद की सिद्धि नहीं होती।

तृतीय युग्म 'शक्ति-शक्तिमान्' का है। शैव आगमों में शक्ति और शक्तिमान् का अभेद स्वीकृत है। इनके मध्य कभी भी, किसी भी स्थिति में भेद संभव नहीं है, अन्यथा द्वैतापत्ति होगी। यद्यपि *सर्वमंगलाशास्त्र*[94] में शक्ति और शक्तिमान् दो पदार्थ कहे गये हैं किन्तु वहाँ पर भेद रूप जगत् की शक्तिरूपता बतलाकर अंततः उसकी भी विश्रान्ति अभेद में स्वीकृत है। शक्ति और शक्तिमान् में अभेद के कारण ही यह विश्व यामल-प्रसार है।

इस प्रकार, इन त्रिविध युग्मों में किसी भी प्रकार से भेद की अवस्थिति स्वीकार नहीं की जा सकती। यहाँ पर एक सवाल उठता है कि यद्यपि इन युग्मों में भेद नहीं है किन्तु जब इनके सामर्थ्य से भेद का प्रसार हो जाता है, तो फिर उससे अभेद के स्वरूप का निर्धारण कैसे होता है। इस संदर्भ में काश्मीर शैवदर्शन दीक्षा, चतुर्विध उपायों, शक्तिपात, अनुसंधान, प्रत्यभिज्ञा इत्यादि की चर्चा करता है। चूँकि इन सबका अध्ययन अन्यत्र किया जा रहा है, इसलिए हम यहाँ पर इनका पुनर्विवेचन नहीं करेंगे। हाँ, उपाय के संदर्भ में एक बात विशेष रूप से उल्लेखनीय है, और वह यह कि इनका विवेचन भी भेद, अभेद और भेदाभेद के आधार पर किया गया है। इनमें से शांभवोपाय को अभेदोपाय, शाक्तोपाय को भेदाभेदोपाय व आणवोपाय को भेदोपाय कहा गया है। इनमें से आणवोपाय 'भेदोपाय' इसलिए कहलाता है क्योंकि इसमें निरूपित साधना भेद रूप आधार पर प्रतिष्ठित है। जब साधक आत्म-शुद्धि हेतु उच्चार, ध्यान, करण, वर्ण और स्थानादि विकल्पों में से किसी एक के अभ्यासपूर्वक परतत्त्व को प्राप्त करता है, तो इसे आणवोपाय कहते हैं। इसमें साधक बुद्धि, प्राण, देह, आदि अपारमार्थिक चीज़ों के माध्यम से परमार्थ को प्राप्त करता है।[95] फलतः बाह्य विधि पर आधारित होने के कारण ही यह भेदोपाय कहलाता है।

अभी तक हम शिवाद्वयवादी दृष्टिकोण से भेद की विवेचना कर रहे थे। प्रत्यभिज्ञा दर्शन का उक्त भेद-निरूपण निश्चित रूप से अन्य भारतीय दर्शनों से विशिष्ट अवश्य है। इस वैशिष्ट्य के अवबोधन हेतु अब हम अन्य भारतीय दर्शनों के भेद संबंधी सिद्धान्तों का निरूपण करते हैं। *खण्डनखण्डखाद्य* के अनुसार भारतीय दर्शन निम्न संदर्भों में भेद की व्याख्या करता है—

1. दो वस्तुओं के मध्य अन्योन्याभाव रूप भेद—न्याय, भाट्ट मीमांसक
2. पृथकत्व गुण रूप भेद—वैशेषिक
3. वैधर्म्याकार विशेष रूप भेद—वैशेषिक
4. अपोहरूप अतद्व्यावृत्तिमूलक भेद—बौद्ध
5. वस्तुगत स्वभावरूप भेद—भास्कर[96]

'अन्योन्याभाव' रूप में भेद की सिद्धि वस्तुवादी दार्शनिक—नैयायिक व भाट्ट मीमांसक—करते हैं, किन्तु दोनों की प्रक्रिया भिन्न है। न्याय में द्विविध अभावों के अन्तर्गत घट-पट आदि में

परस्पर के अभाव रूप में अन्योन्याभाव का उल्लेख मिलता है। चूँकि अभाव एक पदार्थ है अत: अन्योन्याभाव भी पदार्थ होने के कारण सत् है।[97] साथ ही, इससे जन्य भेद का प्रत्यक्ष भी यहाँ पर स्वीकृत है। न्याय षड्विध सन्निकर्ष के अन्तर्गत विशेषण-विशेष्यभाव रूप सन्निकर्ष के द्वारा अभाव का प्रत्यक्ष मानता है।[98] उदाहरण के लिए घट से पट का भेद, अन्योन्याभाव रूप है। जब हमें घट का प्रत्यक्ष होता है, तब पट के साथ उसके भेद का भी प्रत्यक्ष हो जाता है। घट विशेष्य रूप है व पट विशेषण रूप है। अत: विशेष्य घट के प्रत्यक्ष से विशेषण पटाभाव का भी प्रत्यक्ष हो जाता है। इस प्रकार परस्पर के अभाव का प्रत्यक्ष हो जाने के कारण, उनके भेद का भी प्रत्यक्ष हो जाता है। किन्तु, सच पूछा जाए तो इस विधि द्वारा भेद का प्रत्यक्ष होता ही नहीं, क्योंकि न्याय दर्शन की प्रमुख मान्यता है कि जब आत्मा का मन से, मन का इन्द्रिय से, व इन्द्रिय का विषय से सम्पर्क होता है तब ज्ञानोत्पत्ति होती है, जबकि 'भूतले घटाभाव:' आदि अन्योन्याभाव रूप स्थलों में मात्र भूतल (विशेष्य) के साथ इन्द्रिय-सन्निकर्ष आदि व्यापार सम्पन्न होते हैं, घटाभाव रूप विशेषण उपेक्षित पड़ा रहता है,[99] ऐसी स्थिति में अन्योन्याभाव द्वारा किसी भी युक्ति से भेद का प्रत्यक्षीकरण सम्भव नहीं है।

यद्यपि भाट्ट मीमांसक भी भेद को अन्योन्याभाव रूप मानते हैं,[100] किन्तु उनकी दृष्टि इस अर्थ में भिन्न है कि वे उसका ग्रहण अनुपलब्धि प्रमाण के माध्यम से करते हैं।[101] इस संबंध में उनका वेदान्तियों से मतैक्य है। अनुपलब्धि प्रमाण में उपलब्धि-लक्षण की अनुपलब्धि ही विदित है।[102] वेदान्त में उक्त अन्योन्याभाव रूप भेद के द्विविध प्रकार स्वीकृत हैं—सोपाधिक और निरुपाधिक। प्रथम के अन्तर्गत उपाधि की सत्ता से व्याप्त पदार्थ का ग्रहण होता है, जैसे कि एक ही आकाश में घटाकाश, मठाकाश आदि उपाधियों के भेद से पाये जाने वाला भेद सोपाधिक भेद या अन्योन्याभाव है व द्वितीय में उक्त उपाधियों का अभाव रहता है जैसे कि घट में पट का अभाव किसी उपाधि के कारण से नहीं बल्कि स्वभावत: है, अत: यह निरुपाधिक भेद या अन्योन्याभाव है।[103] किन्तु इन दोनों सम्प्रदायों में भी भेद का प्रत्यक्ष संभव नहीं है,[104] इस तथ्य का उद्घाटन प्रस्तुत विवेचन में प्रारम्भ में ही किया जा चुका है।

वैशेषिक सम्प्रदाय भेद की चर्चा पृथक्त्व गुण के आधार पर करता है।[105] यहाँ इस गुण का निरूपण द्विविध रूपों में मिलता है— (1) एकपृथक्त्व गुण तथा (2) द्विपृथक्त्व गुण। नित्य व अनित्य के भेद से प्रथम के भी द्विविध प्रकार दृष्टिगत होते हैं। नित्य एकपृथक्त्व गुण नित्य द्रव्यरूप परमाणुओं में रहता है, जैसे जलीय परमाणु का पार्थिव परमाणु से भेद। अनित्य एकपृथक्त्व गुण अनित्य द्रव्यों में रहता है जैसे घट का पट से भेद। द्विपृथक्त्व गुण सदैव ही अनित्य रूप में स्वीकृत है। इसमें दो वस्तुओं की अन्य वस्तु या वस्तुओं से भिन्नता बतलाई जाती है, जैसे घट और पट दोनों पट से भिन्न हैं। इसी प्रकार त्रिपृथक्त्वादि भेद भी हो सकते हैं। किन्तु इस आधार पर भी भेद की सिद्धि नहीं हो सकती, क्योंकि यहाँ पर एक प्रश्न उठेगा कि पृथक्त्व वैधर्म्य भिन्न द्रव्यों में रहता है, या अभिन्न द्रव्यों में। यदि भिन्न वस्तुओं में रहता है तो वह तो व्याघात की स्थिति होगी और यदि अभिन्न में रहता है तो भेद की सत्ता ही संभव नहीं है।[106]

इनके अतिरिक्त वैशेषिक भेद की व्याख्या 'विशेष' के माध्यम से भी करते हैं। वैशेषिक में 'विशेष' एक पदार्थ है, जिसके माध्यम से नित्य द्रव्यों में भेद की प्राप्ति होती है। विशेष सभी

नित्य द्रव्यों में रहता है, और एक द्रव्य के दो परमाणुओं के मध्य भेद का निर्धारण करता है। वैधर्म्य-निर्धारण का कुछ अंश वैशेषिकों के परत्वादि रूप सामान्य में भी विद्यमान है। सामान्य का कार्य सजातीय वस्तुओं में समानाकार व विजातीय वस्तुओं से भेदक प्रतीति कराना है। जैसे पटत्व जाति सभी पटों में समानाकार प्रतीति कराती है व घटादि के साथ भेदात्मक प्रतीति भी कराती है। यह भेदात्मक प्रतीति भी विशेष के कारण से ही आती है, यही कारण है कि पटत्वादि जाति सामान्य-विशेष कहलाती है।[107]

इस प्रकार वैशेषिक सम्प्रदाय पृथक्त्व गुण व वैधर्म्य रूप विशेष के माध्यम से भेद की सिद्धि करता है, किन्तु दोनों के ही द्वारा भेद की सिद्धि संभव नहीं है।

बौद्ध सम्प्रदाय भेद की व्याख्या 'अपोह' के माध्यम से करता है। इस सम्प्रदाय में भावात्मक प्रतीति की अवधारणा अभावात्मक या भेदात्मक प्रतीति से ही निर्गत होती है। दार्शनिक शब्दावली में अपोह का अर्थ 'अतद्-व्यावृत्ति' या 'तद्भिन्नभिन्नत्व' है। दो पटों के मध्य समानाकार प्रतीति अपटव्यावृत्तिपूर्वक होती है।[108] पट-व्यक्ति पट-भिन्न समस्त पदार्थों का निषेध करके पट-रूप समस्त पदार्थों का ग्रहण भी करता है। इस विधि से बौद्धों का 'अपोह' मात्र एक जाति के व्यक्तियों का दूसरी जाति के व्यक्तियों से ही भेद बतलाता है, किन्तु एक ही जाति के व्यक्ति परस्पर में भिन्न क्यों है, इसका उत्तर वह नहीं देता। चूँकि बौद्ध सम्प्रदाय क्षणभङ्गवादी है, अतः वह इस सीमित अभिप्राय में भी भेदक धर्म का निर्वाह करने में असमर्थ है। क्योंकि उक्त भेदात्मक प्रक्रिया मात्र एक अणु में सम्पन्न नहीं हो सकती, दूसरे इन भिन्न-भिन्न क्षणों का ग्रहीता भी कोई स्थिर तत्त्व नहीं है।

इस प्रकार यहाँ पर हमने भेद के संबंध में कुछ विशिष्ट भारतीय दार्शनिक सम्प्रदायों की मान्यताओं पर विचार किया। किन्तु यह विवेचना मात्र व्यावर्तन रूप भेद तक ही परिसीमित रही है। जबकि भेद द्विविध रूप में दृष्टिगत होता है—जागतिक प्रसार रूप में तथा व्यावर्तन रूप में।[109] इनमें प्रथम के रूप में भेद की वास्तविक सत्ता कोई भी अद्वैतवादी भारतीय दार्शनिक सम्प्रदाय (काश्मीर शैवदर्शन को छोड़कर) स्वीकार नहीं करता। यहाँ तक कि विशिष्टाद्वैतवादी रामानुज[110] भी भेद को अविद्याजन्य व असत् स्वीकार करते हैं।[111] हाँ भेदाभेदवादी भास्कर अवश्य ही भेद को सत् स्वीकार करते हैं। उनके अनुसार अभेद में भेद की विशेषता रहती है। अभेद में भेद की विद्यमानता को वह सभी वस्तुओं का स्वभाव मानते हैं।[112]

इस प्रकार भेद के सम्बन्ध में भारतीय दार्शनिकों के उपर्युक्त विचारों को समग्र रूप में देखें तो हम पायेंगे कि इन सभी भारतीय दर्शनों में भेद की सिद्धि संभव नहीं, क्योंकि वैसी स्थिति में भेद को कोई आकारवान् पदार्थ मानना पड़ेगा, जबकि भेद बुद्धि-निर्माण है और इसका ग्रहण प्रमाता के होने पर ही संभव है। इसी कारण से काश्मीर शैवदर्शन समस्त भेदात्मक व्यापारों (चाहे वे व्यावर्तन रूप हों या फिर जागतिक प्रसार रूप) की सिद्धि के लिए एक प्रमाता की कल्पना करता है, जहाँ विश्रान्त होकर सारे भेदात्मक पदार्थ व व्यवहार प्रमाता की अपेक्षा से भासित होते हैं। यद्यपि इस भेद की सिद्धि हेतु काश्मीर शैवदर्शन नाना प्रत्ययों का उल्लेख करता है, किन्तु विभिन्न दृष्टिकोणों से भेद की उत्पत्ति भी भिन्न-भिन्न विधियों से, भिन्न-भिन्न क्रमों से स्वीकृत है। कभी यह इच्छा-ज्ञान-क्रिया के क्रम से जन्म लेता है, तो कभी अपोहन-ज्ञान-स्मृति के क्रम

से और कभी ज्ञान-क्रिया-माया के क्रम से। किन्तु इस प्रकार की आनुपूर्वी से अतिरिक्त रूप में देखें, तो भेद के जन्म के कारण रूप में अपोहन, तिरोधान, आणव मल, अख्याति, अपूर्णख्याति, महाभ्रान्ति, माया इत्यादि सब एक क्षितिजीय रेखा के स्तर पर आ जाते हैं और यदि इसे भी सीमित करना चाहें तो सबकी विश्रान्ति विमर्श[113] में होने के कारण मात्र विमर्श से ही समस्त भेदात्मक व्यवहारों की सिद्धि हो जाती है। साथ ही काश्मीर शैवदर्शन की समरसतावादी विचारधारा को भी बल मिल जाता है क्योंकि विमर्श भेद और अभेद दोनों का ही प्रकाशन करता है।

निष्कर्षत: यहाँ भेद की उसके जन्म से लेकर चहुँमुखी विकासपर्यन्त विवेचन किये जाने का कारण यह है कि भेद प्रत्यभिज्ञा-दर्शन की एक मूलभूत समस्या है। सारा दर्शन-व्यापार इसके ही इर्द-गिर्द घूमता रहता है, क्योंकि सामान्यत: दर्शन बन्धन और मोक्ष इन दो ही चीजों की चर्चा करते हैं, और ये दोनों ही भेद से संबंधित हैं। जहाँ भेद का परिज्ञान परमपुरुषार्थ, मोक्ष-लाभ में समर्थ है, वहीं उसका अज्ञान बन्धन में डालने में भी समर्थ है। यही काश्मीर शैवदर्शन का अन्य दर्शनों से एक प्रमुख वैशिष्ट्य भी है।

पाद-टिप्पणी

1. (अ) महाद्वैते हि भेदोऽपि भासनयोग्य एव, अन्यथा अपूर्णत्वापातात्। —*भा०*, भा० 2, पृ० 214
   (ब) स्वात्मकृतद्वैताद्वैतरूपातिपूर्णतास्वभावं महाद्वैतम् ···। —उपरिवत्, पृ० 280
2. आप्टे, *संस्कृत-अंग्रेजी कोश*, पृ० 726.
3. *अष्टाध्यायी*, 3/3/18.
4. आप्टे, *संस्कृत-अंग्रेजी कोश*, पृ० 726.
5. स्वशक्तिप्रचयो विश्वम्।। —*शिवसूत्र* 3/30
   संविदात्मन: शक्ते: प्रचय: क्रियाशक्तिस्फुरणरूपो विकासो विश्वम्। —*शि०सू०* 3/30 पर क्षेमराज की *वृत्ति*
6. शक्त्यस्तु 'शक्लृ व्याप्तौ' इत्यस्माद्धातो: शक्तिशब्दव्युत्पत्ति:। —अमृतानंद, *योगिनीहृदयदीपिका*, श्लो० 1.41 की टीका, पृ० 58
7. शक्त्यस्तिस्र: प्रभावोत्साहमन्त्रजा:। —*अमरकोश* 2/8/19 तथा *श०क०द्रु०*, भा० 5, पृ० 2
8. विक्रमेण स्वशक्त्या विस्फुरणमुत्साहशक्ति:। —*अमरकोश*, पृ० 2
9. *प०त्रि०वि०* (नीलकण्ठ गुरुटू), पृ० 17.
10. *रस-सार-संग्रह* में शक्ति को संकोच रूप व शिव को विकास रूप बतलाया गया है—
    मादन: प्राणरूपस्तु विकास: शिव: उच्यते।
    सकारस्त्वपरो ज्ञेय: संकोच: शक्तिरूपवान्।।
    संकोच: परमा शक्तिर्विकास: परम: शिव। —*ऋजुविमर्शिनी* (*नित्याषोडशिकार्णवतन्त्र* की टीका), पृ० 110 पर उद्धृत
11. Navjivan Rastogi, *The Krama Tantricism of Kashmir*, vol. I, p. 77.

12. इसी मान्यता के फलस्वरूप काश्मीर शैवदर्शन की प्रमुख समरसतावादी दार्शनिक विचारधारा को बल मिलता है जहाँ भेद और अभेद समरस रूप में परतत्त्व में विद्यमान हैं। वह इन दोनों का एक साथ एक रूप में प्रसार कर रहा है। इनमें से अभेद 'अहम्' रूप में तथा भेद 'इदम्' रूप में व्याख्यात है। यहाँ पर एक समस्या उत्पन्न होती है कि सामान्यत: इदम् को निषेध्य रूप व अहम् को साध्य रूप माना जाता है, अत: जब हम अहम्-इदम् का सामरस्य स्वीकार करते हैं, तब हमें निषेध्य का साध्य के साथ सामरस्य स्वीकार करना पड़ेगा, जो कि तार्किक दृष्टि से संभव नहीं है। इस संबंध में काश्मीर शैवदर्शन की मान्यता कुछ भिन्न रूप में मिलती है। यहाँ कुछ भी निषेध्य नहीं है। अहम् और इदम् दोनों शिवरूप हैं, अत: इनमें से कोई भी गर्हित या कुत्सित नहीं माना जा सकता। देखें *शिवदृष्टि* 1/11-12

13. शक्तिश्च शक्तिमांश्चैव पदार्थद्वयमुच्यते।
शक्त्योऽस्य जगत् सर्वं शक्तिमांश्च महेश्वर:। —*सर्वमंगलाशास्त्र* (*शि०दृ०*, पृ० 10, पा० टि० में उद्धृत)

14. अन्यापोहरूपत्वेन परस्परप्रतिक्षेपात् 'माया' स्वरूपगोपनात्मिका पारमेश्वरी इच्छाशक्ति:, तत आगतो-योऽसौ 'भेद:' तेन 'क्लृप्तम्' अनुप्राणितं कल्पनामात्रसतत्त्वमित्यर्थ:।। —*तं०आ०वि०*, भा० 2, पृ० 899

15. अनुसंधान के विस्तृत विवेचन हेतु आगे 'प्रत्यभिज्ञा' और पीछे 'विमर्श' नामक अध्याय देखें।

16. स्वातन्त्र्यं च अस्य अभेदे भेदनम्, भेदिते च अन्तरनुसंधानेन अभेदनम्—इति बहुप्रकारं वक्ष्याम:। —*ई०प्र०वि०* (भा०), भा० 1, पृ० 53

17. विमर्शो हि सर्वसह: परमपि आत्मीकरोति आत्मानं च परीकरोति, उभयम् एकीकरोति, एकीकृत द्वयमपि न्यग्भावयति इत्येवंस्वभाव:। —उपरिवत्, पृ० 252

18. भेदेति संविद: सकाशाद्विच्छिन्नमित्यर्थ: ···। —*तं०आ०वि०*, भा० 2, पृ० 531

19. भेदनमिति बहिरुल्लासनम् ···। —उपरिवत्, भा० 3, पृ० 820

20. संकोचो भेदप्रथा। —उपरिवत्, भा० 3, पृ० 898

21. तेनाख्यातिविजृम्भामात्रसारोऽयं भेद:। —*तं०आ०वि०*, भा० 5, पृ० 2172

22. क्षोभो हि भेद एवैक्यं प्रशमस्तन्मयी तत:। —*तं०आ०* 13/28

23. शिवो न भिद्यते इति भेदनिषेध एवोक्तो न तु तस्यैव भूमिकान्तरप्राप्त्या भेद:। —*तं०आ०वि०*, भा० 5, पृ० 1973

24. *म०मं०प०*, पृ० 45-47.

25. इदमस्मादिह पृथगिति बहिरङ्गुल्यभिनयक्रियाकल्प:।
अन्तर्गतस्वभावस्तात्त्विकमनयोरभेदमाचष्टे।।
इत्यादिस्थित्या वस्तुभेदस्वभावत्वादभेद एव प्रतितिष्ठति। —उपरिवत्, पृ० 46

26. प्रकृतिर्हि विकृतिमनुगृह्णाति। तत्र अभेद: प्रकृतिरन्यो विकृतिरित्यभ्युपगन्तव्यम्। यतो भिन्नानामपि पदार्थानां प्रातिस्विकेन रूपेणैक्यमपरिहार्यम्। —उपरिवत्, पृ० 47

27. *तं०आ०वि०*,भा० 2, पृ० 329.

28. उक्त त्रिविध भेद माया प्रमाता की दृष्टि से किये गये हैं। परम प्रमाता की दृष्टि से तो उक्त तीनों ही आभास हैं।

29. *ई०प्र०वि०* (भा०), भा० 1, पृ० 57.

30. अप्रकाशात्मना—वेद्यभावेन (प्रकाशते)। —*भा०*, भा० 1, पृ० 57

31. प्रकाशात्मना—वेदकभावेन (प्रकाशते)।—उपरिवत्

32. एवं चाप्रकाशात्मना प्रकाशः प्रकाशात्मना प्रकाशः उक्तप्रकारपरिपूर्णतया प्रकाशः इति भेदत्रयमेव फलति। —उपरिवत्

33. (क) शिवाख्यं षट्त्रिंशं, तच्च शक्तित्वेऽपि प्राधान्यादेकं, शक्तिर्हि न शक्तिमतो भिन्ना भवितुमर्हति। —*तं०आ०वि०*, भा० 5, पृ० 2135

(ख) शिवशक्तिद्वैधं प्रकाशविमर्शस्वरूपं परमार्थत एकमेव तत्त्वं प्रकटीभवेत्। —*विज्ञानभैरवविवृत्ति*, पृ० 22

34. शिवशक्त्योस्तु तत्त्वव्यपदेशो नात्यन्तं मुख्यया वृत्त्या, किं तर्हि सदाशिवाद्युत्तरतत्त्वव्रातनिर्वाहकताकारविकल्पसंस्पर्शमात्रादौपचारिकः। उपचारेणाप्यनयोस्तत्त्वव्यपदेशसद्भावात् तत्त्वानां षट्त्रिंशत्त्वं प्रति न किंचिद् व्याहतत्वम्। —*म०मं०प०*, पृ० 41

35. *ई०प्र०वि०* (भा०), भा० 2, पृ० 218.

36. क्रियासंबंधसामान्यद्रव्यदिक्कालबुद्धयः।
सत्याः स्थैर्योपयोगाभ्यामेकानेकाश्रया मताः।। —*ई०प्र०का०* 2/2/1

37. सक्रमत्वं च लौकिक्याः क्रियायाः कालशक्तितः।
घटते न तु शाश्वत्याः प्राभव्याः स्यात्प्रभोरिव।। —उपरिवत् 2/1/1

38. *वा०प०*, काण्ड 3, वृत्ति-समुद्देश, कारिका 14/15

39. काश्मीर शिवाद्वयवाद में भ्रान्ति के विस्तृत विवेचन हेतु देखें, नवजीवन रस्तोगी का लेख, "Theory of Error According to Abhinavagupta," *Journal of Indian Philosophy*, no. 14.

40. ततो यावता पूर्णेन रूपेण प्रख्यातव्यं विमर्शपर्यन्तं तावत् न प्रख्याति, इत्यपूर्णख्यातिरूपा अख्यातिरेव भ्रान्तितत्त्वम्। —*ई०प्र०वि०* (भा०), भा० 2, पृ 123; *प०सा०वि०*, पृ० 40 भी द्रष्टव्य

41. उपरिवत्, पृ० 125.

42. *ई०प्र०वि०वि०*, भा० 3, पृ० 154.

43. *प०सा०वि०*, पृ० 45.

44. मायापदं हि सर्वं भ्रान्तिः ···। —*ई०प्र०वि०* (भा०), भा० 2, पृ० 124

45. *ई०प्र०वि०वि०*, भा० 3, पृ० 155.

46. (क) अज्ञानं किलबन्धहेतुरुदितः शास्त्रे मलं स्मृतम्। —*तं०सा०*, पृ० 5

(ख) ··· अज्ञानशब्दस्य अपूर्णज्ञानमर्थः। —*तं०आ०वि०*, भा० 1, पृ० 58

(ग) कर्तृकर्मणोः कर्तृकर्मक्रियाणां च भिन्नानामवच्छेदकानामागूरणाद् द्वैतप्रथासूत्रणं क्रियते ···। तस्मात्संविदद्वैतात्मनः पूर्णस्य रूपस्य अख्यानात् 'द्वैतप्रथा' एव 'अज्ञानम्' अपूर्णं ज्ञानम् ···। द्वैतप्रथात्मकत्वादपूर्णज्ञानमेव अज्ञानम् ···। —*तं०आ०वि०*, भा० 2, पृ० 61

47. *तं०आ०*, 1/25.

48. अज्ञान की व्याख्या करते हुए कमलाकर मिश्र ने कहा है—

Kamlakar Misra, "Ajñāna is nothing but the sense of duality and egoity. It is not the world which is the outcome of ajñāna, it is only the sense of duality and egoity that is the outcome of ajñāna." —*Significance of the Tantric Tradition*, p. 58

49. (क) स्वात्मप्रच्छादनेच्छैव वस्तुभूतस्तथा मलः। —*तं०आ०* 9/66

(ख) सोऽयं मल: परमेश्वरस्य स्वात्मप्रच्छादनेच्छात: नान्यत् किंचित् ···। —*तं०सा०*, पृ० 75

50. *तं०आ०* 13/110-11; सेनशर्मा ने इसे स्पष्ट करते हुए कहा है—

"In fact according to Trika view, the malas are in essence the different modifications of the Tirodhāna aspect of Divine Freedom."—*Philosophy of Sadhana,* p. 47

51. "Mala is pre-cosmic-pre-microcosmic occasioning of the sequence of cosmic functions." —K. Sivaraman, *Śaivism in Philosophical Perspective*, p. 248

52. ··· भेदवाद्युक्तं मलस्य द्रव्यरूपत्त्वं नाभ्युपेयते ···। —*त०आ०वि०*, भा० 2, पृ० 254

53. *तं०आ०* 3/103.

54. भिन्नवेद्यप्रथात्रैव मायाख्यं जन्मभोगदम्। —*ई०प्र०का०* 3/2/5

55. *द्र०बौद्ध, वेदान्त एवं काश्मीर शैवदर्शन*, पृ० 183.

56. ··· धर्माधर्मरूपं कार्ममलम् यतो जन्म भोगश्च स च नियतावधिक: इति जात्यायुर्भोगफलं कर्म इत्युक्त भवति। —*ई०प्र०वि०* (भा०), भा० 2, पृ० 249

57. बलजिन्नाथ पण्डित अपरामाया को अभेदाभासन की ओर उन्मुख बतलाते हैं। देखें स्वातन्त्र्यदर्पण:, साथ ही *ई०प्र०वि०* (भा०), भा० 1, पृ० 285 । यद्यपि यह स्वातन्त्र्य शक्ति से समीकृत की गयी है किन्तु उसका क्षेत्र 'स्वातन्त्र्य' के सदृश व्यापक नहीं है बल्कि भेदावभासन के स्वातन्त्र्य तक ही सीमित है। देखें *ई०प्र०वि०* (भा०), भा० 2, पृ० 113, 315-16

58. ··· व्यापकं मायाख्यं तत्त्वमुपादानकारणम्। तदवभासकारिणी च परमेश्वरस्य माया नाम शक्तिस्ततोऽन्यैव। —*तं०सा०*, पृ० 75

59. माया शक्ति: पुनरचिद्रूपे शून्यादौ प्रमातृताभिमानं प्ररूढं दधती भावानपि चिन्मयान् भेदेनभिमानयन्ती सर्वथैव स्वरूपं तिरोधत्ते आवृणुते विमोहिनी सा। —*ई०प्र०वि०* (भा०), भा० 2, पृ० 232

60. मायाप्रमातरि शून्यादिरूपेऽप्यनुल्लसिते, चिन्मात्र एव प्रमातरि कर्तरि च सति चिदेकरूपेष्वपि भावेषु यदचिद्रूपतया भेदप्रकाशनलक्षणं स्वातन्त्र्यं सा शुद्धविद्या मायाशक्त्या तुल्या, वेद्यभागे भेदप्रकाशनात्। —उपरिवत्, पृ० 229

61. (क) सामानाधिकरण्यं च सद्विद्याहमिदंधियो:। —*ई०प्र०का०* 3/1/3

(ख) शुद्धविद्यारूपत्वम्, आपातत: भेदेऽपि परमार्थत: अभेदे विश्रान्तत्वात् इति भाव:। —*भा०*, भा० 2, पृ० 226

62. अस्य शून्यादेर्जडस्य विद्या किंचिज्ज्ञत्वोन्मीलनरूपा बुद्धिदर्पणसंक्रान्तं भावराशिं नीलसुखादिं विविनक्ति। —*ई०प्र०वि०* (भा०),भा० 2, पृ० 237

63. तस्यैश्वर्यस्वभावस्य पशुभावे प्रकाशिका।

विद्याशक्ति: ···।। —*ई०प्र०का०* 3/1/7

64. उपरिवत् 3/1 तथा *ई०प्र०वि०* (भा०), भा० 2, पृ० 229.

65. *ई०प्र०वि०* (भा०), भा० 2, पृ० 285-86.

66. यतस्तत् अन्यापोहरूपत्वेन परस्परप्रतिक्षेपात् 'माया' स्वरूपगोपनात्मिका पारमेश्वरी इच्छाशक्ति:। —*तं०आ०वि०*, भा० 3, पृ० 899

67. *ई०प्र०का०* 3/2/5.

68. उपपादितं संपादितं मायीयप्रमातृनिष्ठविकल्परूपं विज्ञानं यया भगवतः स्वातन्त्र्यशक्त्या सा अपोहनशब्दवाच्या। —*ई०प्र०वि०वि०*, भा० 1, पृ० 290

69. यत् किल आभास्यते तत् संविदो विच्छिद्यते, संविच्च ततः, संविच्च संविदन्तरात् संवेद्यं च संवेद्यन्तरात्, न च विच्छेदनं वस्तुतः संभवति, इति विच्छेदनस्य अवभासमात्रम् उच्यते। न च तत् इयता पारमार्थिकम्, निर्मीयमाणस्य सर्वस्य अयमेव परमार्थः। यतः एष एव परितश्छेदनात् परिच्छेद उच्यते, तदवभासनसामर्थ्यम् अपोहनशक्तिः। —*ई०प्र०वि०* (भा०), भा० 1, पृ० 142-43

70. विच्छेदशब्दवाच्या अपोहनरूपा शक्तिर्भवति। —*भा०*, भा० 1, पृ० 143

71. काश्मीर शैवदर्शन में ज्ञान शक्ति अवभासनरूपा (देखें *ई०प्र०वि०* (भा०), भा० 1, पृ० 342, तथा *ई०प्र०वि०वि०*, भा० 1, पृ० 286) व अपोहन शक्ति विच्छेदनरूपा कही गयी है। किन्तु इन दोनों शक्तियों में एक समता ही दृष्टिगत होती है और वह यह कि ये दोनों ज्ञानात्मक शक्तियाँ हैं और इसका प्रमुख कारण यह है कि चाहें हम भावावभासनरूपता को लें या फिर विच्छेदावभासनरूपता को, दोनों ही वस्तुसत् न होकर आभासन रूप हैं, अतः उनकी मात्र ज्ञानात्मक सत्ता ही संभव है।

72. मायाशक्त्या विच्छेदावभासनस्वातन्त्र्यरूपया। —*ई०प्र०वि०* (भा०), भा० 1, पृ० 416

73. 'माया विमोहिनी नाम ...।' इति। मुहिर्वा मोह आवरणं तस्य वशोऽविच्युति क्रिया शक्तिः, तया च शक्तिमान् आक्षिप्यते। तेन पशुप्रमातृणामख्यातिरूपो मोहः। —*ई०प्र०वि०वि०*, भा० 1, पृ० 80

74. मीनाति हिनस्ति इति माया शक्तिरुच्यते। —*तं०आ०वि०*, भा० 4, पृ० 1750

75. तदतत्प्रतिभाभाजा मात्रैवातद्व्यपोहनात्।
तन्निश्चयनमुक्तो हि विकल्पो घट इत्ययम्।। —*ई०प्र०का०* 1/6/3

76. यतस्तद् अन्यापोहरूपत्वेन परस्परप्रतिक्षेपात् 'माया' स्वरूपगोपनात्मिका पारमेश्वरी इच्छाशक्तिः ...। —*तं०आ०वि०*, भा० 3, पृ० 899

यहाँ पर माया की चर्चा न होने पर भी इसे मात्र इसलिए उद्धृत किया गया है, क्योंकि यहाँ पर अपोहन का अभिप्राय स्वरूप का गोपन बतलाया गया है।

77. Thus under the quartic tendency an attempt is made to present the system's basic concepts in terms of four or groups of four. In this case, the fifth function (Anugraha or Bhāsā) is subsumed under the fourth act (Tirodhāna or Anākhyā). —Navjivan Rastogi, *The Krama Tantricism of Kashmir*, p. 77

78. जब हम अपोहन को विच्छेदन रूप मानते हैं और तिरोधान को पंचकृत्य के अन्तर्गत परिगणित करते हैं तब तो अपोहन ज्ञानात्मिका शक्ति है और तिरोधान क्रियात्मिका शक्ति है। किन्तु जब हम अपोहन को विकल्प रूप बौद्ध अज्ञान व तिरोधान को पौरुष अज्ञान से समीकृत करते हैं तब अपोहन क्रियात्मिका शक्ति है व तिरोधान ज्ञानात्मिका शक्ति है।

79. क्षेत्रज्ञव्यापारो विकल्पः। —*तं०आ०वि०*, भा० 3, पृ० 928

80. *ई०प्र०का०* 1/6/1.

81. (क) विविधा कल्पना विविधत्वेन च शंकितस्य कल्पोऽन्यव्यवच्छेदनं विकल्पः विविधत्वं च वह्न्यावह्निसंभावनासमारोपनिरासेऽसति भवत्, द्वयं वह्न्यवह्निरूपं समाक्षिपति, तेन विकल्पेऽवश्यं तच्च निश्चेतव्यम् अतच्च अपोहितव्यं भवति। —*ई०प्र०वि०* (भा०), भा० 1, पृ० 303-5

(ख) विकल्पो हि अन्यापोहलक्षणो द्वयं घटाघटरूपं आक्षिपन् अघटात् व्यवच्छिन्नं घटं निश्चिनोति। —*प०सा०वि०*, पृ० 33

82. विमर्शविश्रान्तेर्विमर्शस्थाने एव विकल्पता संभाव्यते, न तु अवभासस्थाने। —*ई०प्र०वि०वि०*, भा० 1 पृ० 282

83. या चैषा प्रतिभा तत्तत्पदार्थक्रमरूषिता।
अक्रमान्तचिद्रूप: प्रमाता स महेश्वर:।। —*ई०प्र०का०*, 1/7/1

84. अनेकालस्पृक्त्वं हि क्रमिकता। —*ई०प्र०वि०वि०*, भा० 2, पृ० 191

85. सक्रमत्वं हि लौकिक्या: क्रियाया: कालशक्तित:।
घटते न तु शाश्वत्या: प्राभव्या: स्यात्प्रभोरिव।। —*ई०प्र०का०* 2/1/2

86. एवं देशक्रमेऽपि वाच्यम्, तत्र तु अस्य चिच्छक्ति: उच्यते अन्यै: इह तु क्रियाशक्तिरेव सा स्वीकृता इति पिण्डार्थ:। —*ई०प्र०वि०वि०*, भा० 2, पृ० 27
भास्कर यहाँ पर कुछ दूसरी ही व्याख्या करते हैं जिसका अभिप्राय स्पष्ट नहीं है। शाब्दिक अभिप्राय इस प्रकार है—देशक्रम में परमेश्वर की चित् शक्ति अपेक्षित है, व कालक्रम में इच्छा शक्ति ही क्रिया शक्ति के रूप में स्वीकृत है। —*भा०*, भा० 2, पृ० 27; साथ ही देखें, *तं०आ०वि०*, भा० 1, पृ० 21

87. यौगपद्यमपि द्वयोराभासयो: अपराभासापेक्षया क्रम एव, चिरक्षिप्रादिधीरपि विततान्यत्ववशात् आभासभेदे क्रम एव। —*ई०प्र०वि०* (भा०), भा० 2, पृ० 13

88. आभासनैकपरमार्थे तु चिद्रूपे ईषदर्थस्य अनाभासभागस्य अभावात् निराभासे आभासनात् निष्क्रान्ते प्रकाशैकरूपे कथं क्रमयोग:। —*ई०प्र०वि०वि०*, भा० 1, पृ० 141

89. (क) क्रमो भेदाश्रयो भेदोऽप्याभाससद्सत्त्वत:। —*ई०प्र०का०* 2/1/4
(ख) अत्र क्रमोनाम कश्चिद् विद्यते भेदाश्रयत्वात् ···। —*तं०आ०वि०*, भा० 7, पृ० 3346

90. भावाभावावभासानां बाह्यतोपाधिरिष्यते। —*ई०प्र०का०* 1/8/5

91. काश्मीर शैवदर्शन अपनी ज्ञानमीमांसा के अन्तर्गत भेद के द्विविध रूपों की चर्चा करता है—
(1) तादात्म्याभाव, (2) व्यतिरेकाभाव। प्रथम न्याय के अन्योन्याभाव के समकक्ष है, द्वितीय संसर्गाभाव के। देखें, ई०प्र०*वि०* (भा०), भा० 1, पृ० 372-74

92. (क) भावाभावौ प्रकाशेऽन्त: प्रतिष्ठामधिगच्छत:। —*महानयप्रकाश*, श्लोक 105
(ख) प्रकाशबलात् भावव्यवस्था ···। —*ई०प्र०वि०* (भा०), भा० 1, पृ० 273

93. एवं विमर्शबलादेव भेदाभेदव्यवस्था। —उपरिवत्, भा० 2, पृ० 116

94. शक्तिश्च शक्तिमांश्चैव पदार्थद्वयमुच्यते।
शक्त्योऽस्य जगत् सर्वं शक्तिमांश्च महेश्वर:।। —आगम वाक्य, *प०सा०वि०*, पृ० 10 पर उद्धृत

95. तत्र बुद्धौ तथा प्राणे, देहे चापि प्रमातरि।
अपारमार्थिकेऽप्यस्मिन् परमार्थ: प्रकाशते।। —*तं०आ०* 8/7; साथ ही देखें, *तं०आ०वि०*, भा० 3, पृ० 935

96. Dasgupta, *History of Indian Philosophy*, vol. I, pp. 462-65.

97. न्याय में सत् की अवधारणा त्रिविध रूपों में मिलती है, जिनमें से एक है सत्ता जाति। यह द्रव्य, गुण और कर्म इन तीन ही पदार्थों में मिलती है। किन्तु इनके अतिरिक्त भी अवशिष्ट पदार्थों को सत् स्वीकार किया जाता है, इसी कारण सारे पदार्थ भावात्मक कहे जाते हैं, मात्र अभाव को छोड़कर। अभाव भी शश-विषाणवत् अत्यन्त असत् पदार्थ नहीं है, अन्यथा उसे ज्ञेयत्व, प्रमेयत्व व अभिधेयत्व

धर्मों से शून्य मानना पड़ेगा, जो कि असंभव है।

98. देखें, *तर्कभाषा* (श्रीनिवासाचार्य की व्याख्या सहित), पृ० 68.

99. इस सत्य को स्वयं नैयायिक भी स्वीकार करता है। देखें, *तर्कभाषा* व उस पर श्रीनिवासाचार्य की व्याख्या, पृ० 153-54.

100. भेदो नाम पदार्थानां व्यवच्छेद: परस्परम्। —*तन्त्रवार्तिक* 2/1/14/46

इसके अतिरिक्त वेदान्त में अन्योन्याभाव के पर्याय के रूप में भेदादि शब्दों के प्रयोग के दृष्टान्त मिलते हैं। देखें, ''इदमिदं नेति प्रतीतिविषयोऽन्योन्याभाव:। अयमेव विभागो भेद:, पृथक्त्वं चेति व्यवह्रियते।''—*वेदान्तपरिभाषा* (मुसलगाँवकरकृत व्याख्या सहित), पृ० 284

101. दत्त व चटर्जी, *भारतीय दर्शन*, पृ० 334.

102. उपलब्धि के योग्य यानी 'यदि होता तो उपलब्ध होता' की अनुपलब्धि ही यहाँ पर नियामक है। इसकी व्याख्या धर्मराजाध्वरीन्द्र करते हैं। देखें, *वेदान्तपरिभाषा*, पृ० 264-67.

103. उपरिवत्, पृ० 287.

104. प्रभाकर सम्प्रदाय इसी पर बल देता है और इसे स्वरूपभेद की शब्दावली में परिभाषित करता है। देखें, *History of Indian Philosophy*, vol. I, pp. 462-63. किन्तु काश्मीर शैवदर्शन इस स्वरूपभेद की भी आलोचना करता है।

105. *तर्कभाषा*, पृ० 227-28.

106. Dasgupta, op. cit., vol. I, p. 464.

107. *तर्कभाषा*, पृ० 31-32.

108. तस्यां यद्रूपमाभाति बाह्यमेकमिवान्यत:।

व्यावृत्तमिव निस्तत्त्वं परीक्षाभंगभावत:।। —*प्रमाणवार्तिक* 3/77

109. काश्मीर शैवदर्शन इनमें से प्रथम की चर्चा माया रूप में व द्वितीय की विकल्प रूप में करता है।

110. विशिष्टाद्वैत व्यावर्तन रूप भेद को पदार्थ का धर्म मानते हैं। उनके अनुसार भी पदार्थ स्वजातीय वस्तुओं में समानाकार प्रतीति व विजातीय वस्तु में विभेदाकारक प्रतीति करता है। जब घट का पट से भेद बतलाया जाता है, तो घट में पटाभाव रूप भेद घट की ही एकविध व्याख्या है, विशिष्टाद्वैत इस भेद का प्रत्यक्ष स्वीकार करता है। दे०, *History of Indian Philosophy*, vol. III, pp. 350-51.

111. उपरिवत्, पृ० 193-94.

112. उपरिवत्, पृ० 6, 28, 192.

113. संवित्तत्त्व तु सर्वतोऽनवच्छिन्नपूर्णस्वातन्त्र्यैश्वर्यसारे, विच्छिन्नचमत्कारमयविश्रान्त्यास्वीकृत शङ्क्यमानोपाधिभावसकलेदन्तास्पदभावपूगपरिपूरिताहमात्मनि निराभासे सदाभासमाने स्वीकाराभासीकृतानाभासे, इदन्ताभासतदनाभाससारदेशकालापेक्षाक्रमाभावात् अक्रमैव स्वात्मविमर्शसंरम्भमयी मत्स्योदरीमतादिप्रसिद्धा विमर्शाभिधा क्रिया इति तदेव अनुत्तरम्। —*परा०त्रि०वि०*, पृ० 44

अध्याय ग्यारह

प्रत्यभिज्ञा

भारतीय दार्शनिक चिन्तन का प्रमुख लक्ष्य प्रमाता के स्वरूप का अवबोधन है, जिसकी प्राप्ति हेतु लगभग सभी दार्शनिक सम्प्रदाय[1] किसी न किसी रूप में प्रत्यभिज्ञा की चर्चा अवश्य करते हैं। यद्यपि उनकी पद्धतियाँ पृथक्-पृथक् हैं, पर गन्तव्य एक है। किन्तु इस पद्धति व गन्तव्य में साम्य स्थापित करने वाली, निगमों से भिन्न, शिवात्मवादी आगमिक विचारधारा है, जहाँ साधन और साध्य, इन द्विविध रूपों में प्रत्यभिज्ञा दृष्टिगत होती है। काश्मीर शिवाद्वयवाद इसी तांत्रिक विचारधारा का एक अंग है, जिसका पूरा कलेवर ही प्रत्यभिज्ञा निर्मित है और यही कारण है कि जहाँ अन्य दर्शन मात्र स्थिर आत्मा की सिद्धि हेतु या फिर यों कहें कि बौद्धों से अपने वैशिष्ट्य स्थापन हेतु प्रत्यभिज्ञा की चर्चा करते हैं, वहाँ इस काश्मीर शैवदर्शन में हर चीज प्रत्यभिज्ञा के रंग से रंगी हुई है। फलतः शिवाद्वयवाद में प्रत्यभिज्ञा के अतुलित महत्त्व को देखते हुए, उसके स्वरूप, विभिन्न स्तरों पर उसकी अवस्थिति व अन्य दर्शनों से उसके वैशिष्ट्य आदि का विवेचन आवश्यक है।

सर्वप्रथम व्युत्पत्ति की दृष्टि से देखें तो भारतीय दर्शन में प्रत्यभिज्ञा शब्द की द्विविध व्युत्पत्तियाँ मिलती हैं—

1. प्रति + अभिज्ञा[2]
2. प्रति + अभि + ज्ञा[3]

यद्यपि दोनों ही व्युत्पत्तियाँ 'पहचान' रूप एक ही अभिप्राय की द्योतक हैं, पर उनकी विधा व क्षेत्र भिन्न-भिन्न हैं। प्रथम के अनुसार, जिसमें अभिज्ञान लौट आया है तथा जो संस्कारसहकृत प्रत्यक्ष ज्ञान का एक भेद है, वह प्रत्यभिज्ञान है, उसका क्षेत्र मात्र जागतिक संदर्भपर्यन्त परिसीमित है; जबकि द्वितीय व्युत्पत्ति प्रथम दृष्टिकोण के परिग्रहणपूर्वक चेतना की पुनर्प्राप्तिरूप अभिप्राय को भी स्वयं में समाहित किये हुए है, फलतः यह जगत् व उससे भी परे हमें ले जाती है। प्रथम का सम्बन्ध भारतीय दर्शन की सभी शाखाओं से है जबकि द्वितीय पर काश्मीर शैवदर्शन का एकाधिकार है। शैव दार्शनिक तो उपर्युक्त अभिप्राय निर्धारण में प्रत्यभिज्ञा शब्द के उक्त अवयवों के योगदान के प्रकटन का भी प्रयास करते हैं। अभिनवगुप्त के अनुसार प्रत्यभिज्ञा में 'प्रति' उपसर्ग प्रतीप अर्थ में, 'अभि' उपसर्ग आभिमुख्य अर्थ में और 'ज्ञा' धातु अवबोधन अर्थ में प्रयुक्त हुई है।[4] साथ ही 'प्रति' व 'अभि' उपसर्गों के मध्य आनन्तर्य, अन्विति या कार्यकारणभाव रूप सम्बन्ध भी है। 'अभि' 'प्रति' की व्याख्या है, 'प्रति' का प्रतिफल है।[5] 'प्रति' बताता है कि कोई चीज पलट जाती है और 'अभि' बताता है कि पलट जाने की प्रतिक्रियास्वरूप वह वस्तु सामने आ जाती है, तथा 'ज्ञा' यह बताता है कि जो वस्तु पलटकर सामने आ गयी है, उसी का ज्ञान करना है।[6] यानी पूर्व घटित का सम्मुख उपस्थित रूप में ज्ञान करना ही प्रत्यभिज्ञान है, जिसे

शिवाद्वयवाद की दार्शनिक शब्दावली में 'भात और भासमान के अनुसंधान' के रूप में परिभाषित किया गया है।[7] उदाहरण के लिए जिस यज्ञदत्त को कल हमने चारबाग में देखा था, उसी को आज लालबाग में देखकर यदि हमें यह स्मृति हो जाए कि वह वही यज्ञदत्त है, तो इस प्रकार का ज्ञान ही प्रत्यभिज्ञान कहलाता है। पाश्चात्य-दर्शन[8] व मनोविज्ञान[9] में इसी अभिप्राय में 'रिकॅग्नीशन' (recognition) शब्द का प्रयोग मिलता है, किन्तु कुछ लोगों का आक्षेप है कि पर्याय रूप में प्रयुक्त होने पर भी प्रत्यभिज्ञा व रिकॅग्नीशन की दार्शनिक परिधि में समता नहीं है। रिकॅग्नीशन का क्षेत्र अधिक व्यापक है। एस०सी० चटर्जी के अनुसार यह शब्द द्विविध संदर्भों में प्रयुक्त होता है—

1. किसी वस्तु के स्वभाव या वैशिष्ट्य का अवबोधन।
2. किसी वस्तु का पूर्वज्ञात रूप में ज्ञान करना।[10]

प्रथम संदर्भ में वस्तु का पुनर्ज्ञान अपेक्षित न होकर उसका पूर्ण ज्ञान अभिलषित रहता है। उदाहरण के लिए सामने उपस्थित गाय को गाय समझना रिकॅग्नीशन का ही दृष्टान्त है, भले ही हमने गाय को पहली बार देखा हो। तथा, द्वितीय संदर्भ में हम वस्तु का दो बार ज्ञान करते हैं, और इन दोनों ज्ञानों के मध्य विच्छेदन का अंश अनिवार्य रूप से जुड़ा रहता है। उदाहरण के लिए हमने कल गाय को देखा था और आज फिर उसे देखकर हमें यह ज्ञान हो जाता है कि यह वही गाय है, जिसे कल देखा था।

रिकॅग्नीशन की इन द्विविध व्याख्याओं में से प्रत्यभिज्ञा शब्द का प्रयोग मात्र द्वितीय संदर्भ में ही किया जाता है। परन्तु ऐसी विवेचना भले ही सामान्यत: अन्य भारतीय दर्शनों के संदर्भ में संगत बैठ जाती हो, किन्तु काश्मीर शैवदर्शन के संदर्भ में यह उचित नहीं है, क्योंकि यहाँ भी प्रत्यभिज्ञा का निरूपण उक्त द्विविध संदर्भों में मिलता है। यहाँ प्रत्यभिज्ञा के जो चार दृष्टान्त— सोऽयं चैत्र:, नृपस्य पुत्र:, कामिन्य: नायक: तथा ईश्वरोऽहम्—मिलते हैं,[11] उनमें से प्रथम दो दृष्टान्त रिकॅग्नीशन की दूसरी व्याख्या से सम्बद्ध हैं तथा अंतिम दो दृष्टान्त प्रथम व्याख्या से। इसके विपरीत कुछ लोगों का ऐसा भी विचार है कि रिकॅग्नीशन शब्द प्रत्यभिज्ञा की तुलना में सीमित अर्थ में प्रयुक्त होता है, क्योंकि उनकी दृष्टि में वस्तु का पुनर्ज्ञान ही रिकॅग्नीशन है।[12] किन्तु, हम यहाँ पर रिकॅग्नीशन के स्वरूप संबंधी पाश्चात्य विवाद में नहीं पड़ेंगे क्योंकि शिवाद्वयवाद में प्रत्यभिज्ञा के स्वरूप का विवेचन ही हमारा अध्येतव्य है और जैसा कि हम पहले ही कह चुके हैं, कि काश्मीर शैवदर्शन में प्रत्यभिज्ञा द्विविध संदर्भों में प्रयुक्त हुई है। अब सवाल उठता है कि शैव मत में प्रत्यभिज्ञा की उक्त व्याख्या क्या उसकी मौलिक अवधारणा है, या फिर किसी अन्य दर्शन के प्रभाव का परिणाम। इसके अवलोकनार्थ हमें प्रत्यभिज्ञा की ऐतिहासिक स्थिति पर विचार करना होगा।

भारतीय दर्शन में प्रत्यभिज्ञा के दार्शनिक सिद्धान्त का निरूपण द्विविध रूप में मिलता है—

1. प्रत्यभिज्ञा शब्द का प्रयोग किये बिना ही उसके दार्शनिक अभिप्राय का निरूपण।
2. प्रत्यभिज्ञा शब्द के प्रयोग सहित उसके दार्शनिक अभिप्राय का निरूपण।

प्रथम संदर्भ में उन उपनिषद् व वेदान्त आदि दर्शनों को दृष्टान्त स्वरूप ले सकते हैं, जहाँ भले ही प्रत्यभिज्ञा शब्द का प्रयोग नहीं मिलता है किन्तु उसका सिद्धान्त जिनमें अवश्य ही समाहित

है। वेदान्त में निरूपित 'अपरोक्षानुभूति' प्रत्यभिज्ञा की ही एकविध व्याख्या है। अहं ब्रह्मास्मि, अयमात्मा ब्रह्म, तत्त्वमसि, ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति, सर्वं खल्विदं ब्रह्म—इत्यादि उपनिषद्-वाक्यों का विवेचन जीव-ब्रह्म के ऐक्य हेतु या यों कहें कि आत्म-प्रत्यभिज्ञान हेतु ही हुआ है। प्रत्यभिज्ञा व इस अपरोक्षानुभूति में किसी भी प्रकार की भिन्नता नहीं है।[13] कमलाकर मिश्र इन दोनों को परस्पर पूरक मानते हैं।[14] इन दोनों में भेद मात्र प्रवर्तन प्रक्रिया का है। अपरोक्षानुभूति जहाँ सर्व-निषेधपूर्वक आत्मलाभ कराती है, वहीं प्रत्यभिज्ञा सबका अङ्गीकारपूर्वक आत्म रूप में समन्वय करती है। यद्यपि दोनों ही प्राप्त की प्राप्ति हैं, पर अपरोक्षानुभूति में चरम प्राप्ति निर्विमर्श होने से जडरूप है जबकि प्रत्यभिज्ञा अर्थतः सत्-चित्-आनन्द की प्राप्ति है।

इसके अतिरिक्त सांख्य दर्शन में भी प्रत्यभिज्ञा शब्द का प्रयोग किये बिना ही कैवल्य प्राप्ति में उसके अस्तित्व के बीज मिलते हैं। सांख्य प्रकृति और पुरुष के संयोगपूर्वक सृष्टि-विधान को स्वीकार करता है। यद्यपि वहाँ संसरण, बंधन आदि प्रकृति का ही कथित है, किन्तु चूँकि पुरुष अज्ञानवश स्वयं को प्रकृति से अभिन्न समझता है, इसी कारण उसमें भी औपचारिक बद्धता आ जाती है।[15] जब पुरुष तत्त्वाभ्यास के कारण अपने निष्क्रियत्व, अकर्तृत्व, द्रष्टृत्व आदि गुणों को पहचान जाता है, तो वह प्रकृति को स्वयं से पृथक् देखता है, फलतः प्रकृति से पुरुष का संयोग विच्छिन्न हो जाने पर पुरुष कैवल्य-लाभ करता है।[16] इस प्रकार पुरुष का अपने वास्तविक स्वरूप को जानना, समस्त क्रियाओं का स्वयं में निषेध करना ही प्रत्यभिज्ञा का प्रतिपादन है। यहाँ इस बात पर बल दिया गया है कि पुरुष सृष्टि व्यापार के पूर्व भी निष्क्रिय, अकर्ता व द्रष्टा था और सृष्टि के बाद भी वह ऐसा ही रहता है, किन्तु अज्ञानवश वह अपने वास्तविक स्वरूप को भूलकर स्वयं को तब तक सक्रिय, कर्ता, द्रष्टा व भोक्ता समझता रहता है जब तक कि उसे विवेकख्याति नहीं हो जाती। इस विवेकख्याति का प्रतिफलन ही प्रत्यभिज्ञान है। इसके अतिरिक्त यह महदादि से लेकर धरापर्यन्त प्रकृति का विस्तार भी वस्तुतः प्रत्यभिज्ञानात्मक है।[17]

द्वितीय संदर्भ में दार्शनिक अभिप्राय में प्रत्यभिज्ञा शब्द का प्रयोग सर्वप्रथम बौद्ध-दर्शन में मिलता है। यहाँ प्रत्यभिज्ञा द्विविध कारणों से जन्म लेती है—

1. विशिष्ट प्रकार के संकेत के द्वारा पहचाने जाने पर।
2. किसी वस्तु के सभी आकारों के संग्रह के कारण से।[18]

इसकी व्याख्या करते हुए डॉ० कॉव ने कहा है कि किसी वस्तु के कुछ पक्षों के प्रत्यक्ष से उस वस्तु के समस्त पहलुओं के स्मरणपूर्वक प्रत्यभिज्ञा जन्म लेती है।[19] जैसे बर्फी के रंग-रूप को देखकर हमें उसके मधुर स्वाद आदि का स्मरण हो जाता है। प्रत्यभिज्ञा का इस रूप में विवेचन कुछ विचित्र सा लगता है, साथ ही न्याय की ज्ञानलक्षण-प्रत्यासत्ति से इसकी समता भी प्रतीत होती है।[20] इस व्याख्या में महत्त्वपूर्ण तथ्य यह है कि यहाँ वस्तु के पूर्ण स्वरूप के अवबोधन को प्रत्यभिज्ञा स्वीकार किया गया है, और इस दृष्टि से काश्मीर शैवदर्शन से इसका साम्य भी परिलक्षित हो जाता है। इसके अतिरिक्त एक अन्य व्याख्या के अनुसार बौद्ध भात और भासमान के मध्य सादृश्य प्रतीति को भी प्रत्यभिज्ञा मानते हैं। उनकी दृष्टि में सत्ता क्षणिक है, अतः वे स्मृत व अनुभूत पदार्थों के मध्य ऐक्य स्वीकार नहीं कर सकते, इसी कारण वे सादृश्य मानते हैं।[21] यह सादृश्य-बोध या प्रत्यभिज्ञान असन्निहित वस्तु विषयक होता है, क्योंकि पहले देखी गयी व

पश्चात् देखी गयी वस्तु को दिखलाने वाला ज्ञान क्षणिक विज्ञानवाद में उपस्थित वस्तु विषयक नहीं हो सकता।[22] यही कारण है कि वे प्रत्यभिज्ञान में प्रत्यक्षांश की गौणता स्वीकार करते हैं जिसकी प्रतिक्रिया स्वरूप उनकी प्रत्यभिज्ञा मात्र सविकल्प रूप में ही संभव हो सकती है या यों कहें कि सविकल्पता का निर्धारक ही प्रत्यभिज्ञान है।[23] यहाँ विकल्प के लिए कल्पना शब्द का प्रयोग मिलता है, जिसके बुहविध प्रकार नाम, जाति, गुण, क्रिया व द्रव्य भेद से बतलाये गये हैं। यह नित्य है, यह गाय है, यह नीली है, यह चलती है तथा यह पदार्थ है इत्यादि दृष्टान्त उक्त बुहविध कल्पनाओं का ही निरूपण करते हैं, जहाँ अभिलाप और अभिलपनीय के मध्य संसर्ग की योग्यता प्रत्यभिज्ञान की उत्पत्ति में निमित्त बनती है।[24] वाच्य-वाचक के मध्य प्रत्यभिज्ञानात्मक अनुभूति का इस प्रकार का निरूपण मीमांसा आदि में भी मिलता है। चूँकि मीमांसा दर्शन का वाक्-दर्शन से निकट का संबंध है, इस कारण यहाँ निरूपित प्रत्यभिज्ञा भी शब्द और अर्थ से संबद्ध है। यहाँ प्रत्यभिज्ञा सविकल्प प्रत्यक्ष का एक प्रकार है, जहां अर्थ का विकल्पन उसकी संज्ञा के माध्यम से होता है।[25] ठीक यही सिद्धान्त भर्तृहरि के वाक्-दर्शन में भी मिलता है। उनके अनुसार भी अभिलापात्मक बोध प्रत्यभिज्ञानात्मक ही होता है।[26] घटादि शब्द घटादि पदार्थ से एकीकृत होकर ही व्यवहृत होता है। यहाँ शब्द और अर्थ का उक्त एकात्मीकरण ही प्रत्यभिज्ञान है। इस मत से न केवल काश्मीर शैवदर्शन अपितु प्राय: भारतीय दार्शनिक सम्प्रदाय एक मत हैं।

आगे चलकर प्रत्यभिज्ञा न्यायदर्शन के माध्यम से प्रमाण-मीमांसा के क्षेत्र में भी प्रवेश करती है। यहाँ प्रत्यभिज्ञा प्रत्यक्ष का एक प्रकार है[27] जो संस्कार और इन्द्रिय-सन्निकर्ष के संयोजन पूर्वक सम्पन्न होती है।[28] इसमें पदार्थ वर्तमान काल से अवच्छिन्न रहता है तथा अतीत काल इसका विशेषण बन जाता है, इसी कारण यह विशिष्ट ज्ञान कहलाता है।[29] यह सविकल्पक प्रत्यक्ष का एक प्रकार है, किन्तु सविकल्पक प्रत्यक्ष से इसका अभेद नहीं माना जा सकता क्योंकि प्रत्यभिज्ञा में स्मृत्यंश की प्रधानता रहती है, जो वर्तमानकालिक अनुभव का विशेषण बन जाता है जबकि सविकल्पक प्रत्यक्ष में स्मृत्यंश वर्तमानकालिक अनुभव से एकाकार हो जाता है।[30]

उक्त न्याय आदि दर्शनों की अपेक्षा जैन मत में प्रत्यभिज्ञा की अत्यन्त विस्तृत व्याख्या मिलती है। इसकी विवेचना काश्मीर शैवदर्शन के अधिक निकट है। यहाँ प्रत्यभिज्ञा द्विविध संदर्भों में स्वीकृत है—एक तो विषय के स्वभाव या स्वरूप को समझने में और दूसरे इस बात के अवबोधन में कि वस्तु का पहले प्रत्यक्ष हो चुका है। यानी कि 'किसी वस्तु को उसके समस्त धर्मों सहित जानना' या फिर 'यह वही वस्तु है, जिसे पहले जाना जा चुका है', दोनों प्रत्यभिज्ञा की ही व्याख्या करते हैं।[31] यहाँ प्रत्यभिज्ञा एक स्वतन्त्र प्रमाण के रूप में स्वीकृत है। जैन प्रत्यक्ष व परोक्ष के भेद से प्रमाण के द्विविध भेद स्वीकार करते हैं। इनमें से द्वितीय के पांच भेद हैं: (1) स्मृति, (2) प्रत्यभिज्ञा, (3) तर्क या ऊह, (4) अनुमान, और (5) आगम[32]। एक अन्य विवेचन के अनुसार जैन दार्शनिक मति और श्रुत के भेद से द्विविध लौकिक ज्ञान स्वीकार करते हैं। इनमें से प्रथम के अंतर्गत प्रत्यभिज्ञा का निरूपण मिलता है।[33] यहाँ न्याय के उपमान प्रमाण का अंतर्भाव प्रत्यभिज्ञा में किया गया है। साथ ही सविकल्पात्मक, भेदात्मक व अवधि-अवधिमानात्मक अनुभूतियाँ भी यहाँ प्रत्यभिज्ञा में ही निरूपित होती हैं।[34]

इन सबके अतिरिक्त दो के मध्य के ऐक्य या समानाधिकरणता का बोध भी प्रत्यभिज्ञा के ही माध्यम से सम्पन्न होता है, जिसका निरूपण विशिष्टाद्वैत में मिलता है। रामानुज के अनुसार 'तत्त्वमसि' जैसे प्रत्यभिज्ञानात्मक वाक्य तत् (जगच्छरीरकत्वविशिष्ट ब्रह्म) और त्वं (जीवशरीरकत्वविशिष्ट ब्रह्म) विशेषणों से विशिष्ट ऐक्य का प्रतिपादन करते हैं। चूँकि तत् और त्वम् पद परस्पर भिन्न स्वभाव के अवबोधक हैं इस कारण इनका अभेद न कहकर सामानाधिकरण्य कथित है।[35] यहाँ भी प्रत्यभिज्ञान सविकल्पात्मक है, किन्तु फिर भी पूर्ववत् सविकल्प प्रत्यक्ष से उसका पार्थक्य बना रहता है।[36]

इस प्रकार उपर्युक्त ऐतिहासिक विवेचन के आधार पर भारतीय दर्शन में प्रत्यभिज्ञा की विद्यमानता निम्नरूपों में परिलक्षित होती है—

1. अपरोक्षानुभूति
2. वस्तु का उसके पूर्ण रूप में ग्रहण
3. भात और भासमान के मध्य सादृश्यानुभूति
4. प्रमाण की एक स्वतन्त्र कोटि
5. उपमिति, सविकल्पता व अन्योन्याभाव आदि
6. वाच्य और वाचक के मध्य ऐक्यानुभूति
7. समानाधिकरणात्मकता प्रतीति

काश्मीर शैवदर्शन इनमें से तृतीय, चतुर्थ, पंचम को छोड़कर यद्यपि उक्त सभी दृष्टिकोणों को स्वीकार कर लेता है, किन्तु फिर भी उसके विवेचन की मौलिकता उच्छिन्न नहीं होती। यहाँ प्रत्यभिज्ञा के क्षेत्र का न केवल विस्तार ही परिलक्षित होता है, अपितु इसकी निरूपण प्रक्रिया में भी नवीनता परिलक्षित होती है। त्रिक दार्शनिक प्रत्यभिज्ञा को न तो नैयायिकवत् ऐकिक व सरलवृत्ति मानता है और न बौद्धवत् जटिल व यांत्रिक संघात। साथ ही वेदान्तवत् न यहाँ प्रत्यक्षांश पर आग्रह है और न बौद्ध व न्यायादिवत् स्मृत्यंश पर, अपितु सच तो यह है कि यहाँ भात व भासमान अंश सामानाधिकरण्येन उपस्थित होते हैं। यह एक 'उभयमेलनात्मक प्रक्रिया' है, जहाँ भूतकालिक व वर्तमानकालिक विमर्शों के एकीकरण की प्रक्रिया दृष्टिगत होती है।[37] यह बौद्ध, न्याय व मीमांसादिवत् न तो मात्र सविकल्प ज्ञान है और न सांख्य व वेदान्तादिवत् विशुद्ध निर्विकल्प बोध, अपितु स्मृति और प्रत्यक्ष का एकीकरण होने के कारण सविकल्प और निर्विकल्प इन दोनों ही से उत्पन्न होती है। स्मृत्यंश जहाँ सविकल्पता का निर्धारक है, वही अनुभवांश निर्विकल्पता का। किन्तु, फिर भी, न तो यह शुद्ध कल्पना है और न शुद्ध साक्षात्कार। शुद्ध साक्षात्कार इसलिए नहीं है क्योंकि इसका विषय पूर्वावस्था से एकीकृत देवदत्त आदि का शरीर है जिसका तुरंत प्रत्यक्ष नहीं होता, और शुद्ध विकल्प इसलिए नहीं है क्योंकि देवदत्त दिखाई पड़ रहा है। इसी कारण इसे विकल्प व साक्षात्कार इन दोनों की छाया से समन्वित ज्ञान माना गया है।[38] किन्तु प्रत्यभिज्ञा की यह परिभाषा मात्र प्रमाण-मीमांसा के संदर्भ में ही ठीक है। तत्त्वमीमांसा के क्षेत्र में स्मृति भी निर्विकल्प रूप धारण कर लेती है और इसमें कुछ अनुचित भी नहीं है, क्योंकि त्रिक दर्शन ध्यान आदि के भेद से स्मृति की भी निर्विकल्पता की उद्घोषणा करता है।[39] चूँकि परावस्था में होने वाला प्रत्यभिज्ञान आत्मविषयक होता है और आत्मा विकल्प

का आस्पद कभी नहीं बनती, अत: उसकी स्मृति व प्रत्यक्षात्मक बोध भी सदैव निर्विकल्प ही रहते हैं। इस स्तर पर प्रत्यभिज्ञा दो निर्विकल्प ज्ञानों के मध्य ऐक्य स्थापना का कार्य करती है। इस प्रकार परावस्था में प्रत्यभिज्ञा की स्मृत्यवलंबिता से कोई विरोध नहीं आता।[40] हाँ कई स्थलों पर स्मृति की प्रत्यभिज्ञानरूपता अवश्य ही दृष्टिगत हो जाती है। इसका कारण यह है कि काश्मीर शैवदर्शन सारे अनुभवों की विश्रान्ति संवित् में मानता है, फलत: सारे अनुभव प्रमाता से एकाकार होने के कारण प्रमातृ-रूप हैं। स्मृति पूर्वकालिक अनुभव को ही अपना विषय बनाती है और चूँकि इस अनुभव का अधिष्ठान आत्मा है, फलत: यहाँ प्रमाता आत्मरूप अनुभव का ही पुनर्विमर्शन करता है। यही कारण है कि त्रिक दार्शनिक स्मृति को 'आत्म-तत्त्व की संप्राप्तिरूपा' बतलाता है।[41] अनुभव रूप जो संवित् है वह कालावच्छेद के कारण अस्फुटरूपता को प्राप्त हो जाती है, स्मृति के समय उसी का स्फुटावभासन होने लगता है। इस प्रकार विस्मृत अनुभव की प्रत्यक्षतया अवभासमानता स्मृति की प्रत्यभिज्ञानरूपता की निर्धारक है। अभिनवगुप्त न केवल आत्मविषयक निर्विकल्प स्मृति की प्रत्यभिज्ञानरूपता बतलाते हैं, अपितु उनके अनुसार तो घटादिविषयक सविकल्प स्मृति भी प्रत्यभिज्ञान रूप ही है।[42]

उपर्युक्त विवेचन में स्मृति और प्रत्यभिज्ञा की अन्योन्याश्रयता दृष्टिगत होती है। प्रमाण-मीमांसा की दृष्टि से प्रत्यभिज्ञा स्मृति पर आश्रित है तथा तत्त्वमीमांसा की दृष्टि से स्मृति की प्रक्रिया स्वयं प्रत्यभिज्ञानात्मक है। यहाँ पर एक बात विशेष रूप से उल्लेखनीय है और वह यह कि अपने अस्तित्व-लाभार्थ प्रत्यभिज्ञा मात्र स्मृति और अनुभव की उपस्थिति से ही संतुष्ट नहीं हो जाती अपितु इनके मध्य ऐक्य स्थापनार्थ एक संयोजक की भी अपेक्षा करती है। अब यदि इन दोनों के एकीकरण को संबंधाश्रित माना जाये तो सवाल उठेगा कि यह संबंध किस प्रकार का है। क्या यहाँ पर संबंध की सामान्य परिभाषा का प्रवर्तन संभव है? इसका उत्तर है कि शाब्दिक व्युत्पत्ति की दृष्टि से दो स्वतन्त्र पदार्थों के एक देश में साथ-साथ रहने के भाव को 'संबंध' कहते हैं,[43] जो कि दो की एकात्मता के रूप में परिलक्षित होता है। दो की एकात्मता का अभिप्राय पूर्ण ऐक्य न होकर 'रूपश्लेष' है अन्यथा अभेदापत्ति होगी। दूसरे शब्दों में स्वात्ममात्र में पर्यवसित होने वाले पदार्थ जब एक प्रमाता में ऐक्य रूप से भासित होते हैं तब उनमें संबंध का अवबोधन होता है, किन्तु इन रूपों में निरूपित संबंध प्रत्यभिज्ञा में क्रियान्वित नहीं होता। इसके कई कारण हैं—

1. संबंध की क्रियाशीलता मात्र व्यवहार-भूमि पर्यन्त परिसीमित है जबकि प्रत्यभिज्ञा व्यवहार व परमार्थ दोनों परिधियों को व्याप्त करती है।
2. संबंध दो पदार्थों की सहावस्थिति में होता है, जबकि प्रत्यभिज्ञा एक ही पदार्थ के भिन्न-भिन्न कालों में अवस्थित होने पर होती है।
3. संबंध प्रमाता के विकल्प व्यापार पर आश्रित है जबकि प्रत्यभिज्ञा दोनों की छाया को लेकर प्रवृत्त होती है और सविकल्प व निर्विकल्प भेद से द्विविध होती है।

यद्यपि उपर्युक्त विवेचन से प्रत्यभिज्ञा की संबंधात्मकता सिद्ध नहीं होती, किन्तु फिर भी यहाँ पर एक आक्षेप किया जा सकता है और वह इसलिए क्योंकि त्रिक दर्शन अर्थक्रिया को संबंधावलम्बी स्वीकार करता है। जहाँ कहीं अर्थक्रिया हो, किन्तु संबंध की स्फुट प्रतीति न हो वहाँ पर भी उसका आन्तरिक स्फुरण अवश्य ही रहता है। चूँकि प्रत्यभिज्ञा में भी अर्थक्रिया रहती

है. अत: वहाँ भी संबंध की सत्ता स्वीकार करनी होगी। किन्तु यह आक्षेप ठीक नहीं क्योंकि अर्थक्रिया की संबंधावलम्बिता मात्र व्यवहार क्षेत्र के संदर्भ में ही कही गयी है, 'सोऽहं' रूप पारमार्थिक बोध के संदर्भ में नहीं। अब सवाल उठता है कि 'सोऽयं देवदत्त:' जैसे मायीय जगत् से संबद्ध प्रत्यभिज्ञान क्या संबंधाश्रित स्वीकार किये जायेंगे? वस्तुत: त्रिक दार्शनिक इसे भी स्वीकार नहीं करता, उसके अनुसार उक्त दोनों प्रत्यभिज्ञानों में 'मेलन' का कृत्य संबंधाश्रित न होकर अनुसंधानाश्रित है, चूँकि सम्यक् बंधन अनुसंधान प्रत्यय की रूढि है,[44] इसी कारण अनुसंधान के लिए संबंध शब्द का प्रयोग भी मिल जाता है। किन्तु इनमें कुछ न कुछ भेद अवश्य है। अभिनवगुप्त के अनुसार समानाधिकरणात्मक अनुगमन के माध्यम से होने वाला संधान ही 'अनुसंधान' है।[45] एकविषयता की प्राप्ति इसका लक्षण है, जिसकी क्रियाशीलता मात्र ज्ञानात्मक संदर्भों में ही होती है। क्रियात्मक संदर्भों में यही अनुसंधान 'संबंध' की संज्ञा से अभिषिक्त होता है। किन्तु जब इसी अनुसंधान को अन्तर्मुख तादात्म्य के विमर्श रूप में परिभाषित किया जाता है[46] तो यह 'प्रत्यभिज्ञा' का पर्याय बन जाता है। और, जब आत्मा में विश्रान्ति रूप में इसकी व्याख्या की जाती है तब 'समावेश' से इसका ऐकात्म्य स्थापित हो जाता है।

अनुसंधान ज्ञान शक्ति का विस्तार है और संबंध क्रियाशक्ति का। किन्तु कई स्थलों पर अनुसंधान की क्रियात्मता भी दृष्टिगत होने से उसे क्रिया शक्ति का विलास मानने की शंका हो सकती है। पर यह शंका ठीक नहीं क्योंकि जहाँ कहीं भी उसमें क्रियाशीलता दृष्टिगत होती है, वहाँ अवश्य ही संबंध अर्थ में ही अनुसंधान का निरूपण रहता है। सच पूछा जाये तो संबंध अनुसंधान की ही अपरकालीन अवस्था है। इसी कारण इनमें से एक को संबंध और दूसरे को 'महासंबंध' कहते हैं। संबंध दो विकल्पों का एकीकरण है और महासंबंध दो विमर्शों का एकीकरण। शुद्ध और अशुद्ध के भेद रूप द्विविध अनुसंधानों में से अविच्छेदन के क्षेत्र में प्रवृत्त होने वाले अनुसंधान के लिए ही यहाँ महासंबंध शब्द का प्रयोग मिलता है। यही निमित्त बनता है निर्विकल्प प्रत्यभिज्ञान के जन्म में, जबकि अशुद्ध अनुसंधान सविकल्प प्रत्यभिज्ञान का कारण है। प्रथम संदर्भ में इसकी व्याख्या आत्मविश्रान्ति रूप में मिलती है[47] व द्वितीय में यह उभयमेलनात्मक है।[48]

संबंध और अनुसंधान के साथ ही मेलन अर्थ में एक अन्य शब्द 'योजना' का भी उल्लेख मिलता है। नाना आभासों के मध्य व्यामिश्रण का कृत्य योजना के माध्यम से ही सम्पन्न होता है। उदाहरणार्थ काश्मीर शैवदर्शन का 'स्वलक्षण' एक योजना है, जिसमें नाना आभास देशकाल आदि से मिश्रित हैं। जैसे पुस्तक, कलम आदि योजनाजन्य आभास हैं। इस प्रकार नाना आभासों के मध्य मेलन योजनाश्रित है, दो स्वलक्षणाभासों के मध्य मेलन संबंधाश्रित है व एक पदार्थ की विभिन्न कालों में अवस्थिति के मध्य मेलन अनुसंधानाश्रित है। योजना बहुत्व की अवस्थिति में होती है, संबंध दो की अवस्थिति में[49] तथा अनुसंधान एकत्व की स्थिति में। इन तीनों का कार्य यद्यपि एकत्व की स्थापना है, किन्तु फिर भी इनमें से प्रथम भेद-रूप भासन है, द्वितीय भेदाभेद-रूप और तृतीय अभेद-रूप। त्रिक दार्शनिक इनमें से प्रथम को 'पदार्थ', द्वितीय को 'बुद्धि' और अंतिम को 'विमर्श' कहता है। अब सवाल उठता है कि इनमें से प्रत्यभिज्ञा का संबंध किससे है। तो इसका उत्तर है यद्यपि प्रत्यभिज्ञा में विद्यमान ऐक्य के लिए त्रिविध शब्दों का उल्लेख मिलता है, किन्तु सबका अभिप्राय अनुसंधानात्मक ही रहता है। क्योंकि, प्रत्यभिज्ञा पदार्थ या बुद्धि न

होकर विमर्श रूप ही है। यही कारण है कि यहाँ अनुसंधान और प्रत्यभिज्ञा शब्द पर्याय अर्थ में प्रयुक्त हुए हैं। किन्तु यह पर्यायता सर्वत्र क्रियाशील नहीं होती है। जब अनुसंधान का अभिप्राय 'अंतर्मुख तादात्म्य का विमर्शन' या 'स्वात्मरूप में विश्रमण' होता है तभी यह प्रत्यभिज्ञा का पर्याय बनता है, अन्यथा तो यह प्रत्यभिज्ञा की सिद्धि में साधन ही बनता है। इसके अतिरिक्त अनुसंधान अवसर विशेष पर ज्ञानात्मक व क्रियात्मक द्विविध हो सकता है, किन्तु प्रत्यभिज्ञा सदैव ज्ञानात्मक प्रत्यय ही रहती है।

इस प्रकार उपर्युक्त वैषम्य के होने पर भी अनुसंधानजीवी होने के कारण ही शिवाद्वयवाद में समस्त ज्ञानात्मक व क्रियात्मक प्रक्रियाओं की प्रत्यभिज्ञानरूपता परिलक्षित होती है। सच पूछा जाये तो व्यवहार जगत् में जहाँ कहीं भेदाभेद है, वहीं अनुसंधान है और जहाँ अनुसंधान है, वहीं प्रत्यभिज्ञान है। उदाहरण के लिए क्रिया, संबंध, सामान्य, द्रव्य, दिक्, काल आदि भेदाभेदात्मक धारणाएँ हैं, जिनका मूल संबंध है। ये सभी आभास हैं। आभास के क्रम-भेद से रूषित होने के कारण इन सबमें क्रमिकता रहती है, जो इन सबकी प्रत्यभिज्ञानरूपता में निमित्त बनती है। उदाहरण के लिए क्रिया पूर्व और पर रूप क्रमाभासों का संयोजन है, जिनके मध्य एकात्मता की प्रतीति प्रत्यभिज्ञा के माध्यम से सम्पन्न होती है।[50] इसी प्रकार संबंध आदि के भी एकानेक रूप वाला होने के कारण उनमें एकता की प्रतीति वस्तुत: प्रत्यभिज्ञानाश्रित ही है। इसके अतिरिक्त दिक्-कालादि भी अनुसंधानात्मक ज्ञान होने के कारण प्रत्यभिज्ञाजन्य हैं।[51] इन सभी आभासों में क्रमिकता प्रत्यभिज्ञा के वैचित्र्य के कारण ही आती है[52], जिसके परिणामस्वरूप कायगत परिवर्तनों के होने पर भी 'सोऽयं देवदत्त:' जैसी प्रत्यभिज्ञाएं सामान्यत: दिन-प्रतिदिन के अनुभव में घटित होती हुई देखी गयी हैं। इसके अतिरिक्त दो आभासों जैसे 'सोऽयं घट:' व 'सोऽयं पट:' के मध्य भेद भी प्रत्यभिज्ञानाश्रित है। यह वैचित्र्य 'काल-शक्ति' के माध्यम से आता है। यह अपने कलन व्यापार से नाना आभासों को परिच्छिन्नतया भासित करती है। इस भासन में यदि यह परस्पर अविरोधी आभासों के एकानुसंधान को भासित करती है तो पदार्थ का यथार्थ बोध होता है, किन्तु जब यह नियति-कृत नियमों का उल्लंघन कर विरोधी आभासों के एकानुसंधान को भासित करती है तो भ्रान्ति जन्म लेती है। चूँकि भ्रान्ति में भी उभयमेलनात्मक प्रक्रिया दृष्टिगत होती है, इस कारण यह भी प्रत्यभिज्ञानरूपा है।

इसके अतिरिक्त निर्भ्रान्त ज्ञान का बोध कराने वाला प्रमाण भी यहाँ प्रत्यभिज्ञोपजीवी है। इसका कारण प्रमाण की 'मोहापसारणरूपता' है। अभिनवगुप्त के अनुसार त्रिक दर्शन प्रमाण को न तो ज्ञापक-व्यापार मानता है और न कारक-व्यापार अपितु यहाँ सारे प्रमाणों की विश्रान्ति मोहापसारण में होती है।[53] उदाहरणार्थ 'घटोऽयं' रूप बोध में न तो घट की सिद्धि होती है और न ज्ञप्ति, अपितु घट के प्रति हमारा जो अज्ञान था उसी का निराकरण होता है। ठीक यही कार्य प्रत्यभिज्ञा भी करती है। स्मृति और अनुभव के मध्य जो विच्छेद है वही 'मोह' शब्द से कहा गया है, इसका अपाकरण ही मोहापसारण है, जिसकी प्रतिक्रियास्वरूप पदार्थ का स्फुटतया भासन होने लगता है। चूँकि सारे प्रमाण प्रमाता के प्रमेयविषयक अज्ञान का परिहार करते हैं, इसी कारण अभिनव इन सभी में प्रत्यभिज्ञा की अनुस्यूति स्वीकार करते हैं।[54] यहाँ तक कि निर्विकल्प ज्ञान की प्रक्रिया में भी विशेष अर्थ का विशेष वस्तु के साथ प्रत्यभिज्ञानात्मक संबंध रहता है।

यही आगे चलकर शब्द और अर्थ के मध्य प्रत्यभिज्ञानात्मक संबंध के रूप में परिभाषित किया गया है। इस ऐकात्म्य का बोध शक्ति के माध्यम से सम्पन्न होता है। वाक्-विवेचन के अवसर पर यही कार्य पश्यन्ती वाक् में घटित होता है। इसके अतिरिक्त संकल्प, अध्यवसाय, उत्प्रेक्षादि ज्ञान भी प्रत्यभिज्ञा-जन्य ही हैं।

इस प्रकार उपर्युक्त ज्ञानात्मक प्रक्रियाओं के अतिरिक्त सम्पूर्ण तात्त्विक व जागतिक व्यवहार भी प्रत्यभिज्ञा के बल से ही सम्पन्न होते हैं। शिव से लेकर धरा पर्यन्त तात्त्विक विस्तार परम अहंता का ही विस्तार है। अवरोह-प्रक्रिया में इस अहं का इदंरूप में बोध जागतिक प्रत्यभिज्ञा का निमित्त बनता है तथा आरोह-प्रक्रिया में इदंरूप सृष्टि प्रसार की अहंरूपता या इदं की अहं में विश्रान्ति रूप अनुभूति पारमार्थिक प्रत्यभिज्ञान में सहायक है। इसी संदर्भ में उत्पलदेव विमर्श की भी सोऽहं-रूपेण प्रत्यभिज्ञानात्मकता की स्थापना करते हैं।[55] विमर्श के लिए एक अन्य शब्द 'प्रत्यवमर्श' का प्रयोग भी मिलता है, जो न केवल काश्मीर शैवदर्शन अपितु बौद्ध सम्प्रदाय में भी प्रत्यभिज्ञा के पर्याय रूप में प्रयुक्त होता है।[56] प्रत्यवमर्श शब्द प्रति+अव+मृश् धातु से निर्मित है, जिसका अभिप्राय है उल्टा अपना विमर्श करना। यही व्याख्या प्रत्यभिज्ञा में भी मिलती है। इस कारण इन दोनों शब्दों की पर्यायता ही परिलक्षित होती है। अभिनवगुप्त 'चरम प्रत्यभिज्ञा' को विमर्श से भी एक कोटि ऊपर 'महाविमर्श' से एकात्म करते हैं।[57]

इस प्रकार उक्त समस्त ज्ञानात्मक, क्रियात्मक, वाच्य-वाचकात्मक, आभासनात्मक प्रक्रियाओं के अतिरिक्त रसानुभूति की प्रक्रिया भी यहाँ प्रत्यभिज्ञावलम्बी है। साहित्य शास्त्र में विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारी भावों के संयोग से रस की निष्पत्ति कही गयी है। अभिनवगुप्त के अनुसार न तो रस की उत्पत्ति होती है, न प्रतीति, और न अनुमिति। प्रत्यक्ष, अनुमान व शब्द आदि प्रमाणों का भी यह विषय नहीं बनता, अपितु विभावादिकों से उत्पन्न चर्वणात्मक आस्वाद ही रसानुभूति है, जिसका अधिकारी सहृदय व्यक्ति है।[58] काव्यादि के श्रवणोपरांत वाक्यार्थ का ग्रहण हो जाने पर विभावादिकों का उस देश-कालादि की सीमा से निकलकर अत्यन्त विस्तृत रूप में साधारणीकरण हो जाता है, जिसकी प्रतिक्रियास्वरूप अनादि वासना से रञ्जित चित्तवृत्ति वाले सामाजिकों को समस्त विघ्नों का क्षय हो जाने से चमत्कारात्मक रसानुभूति होती है। यह साक्षात्कारात्मक अनुभूति प्रत्यभिज्ञानात्मक होती है। लोक में समस्त विघ्नों से विनिर्मुक्त सामाजिक की संवित् ही चमत्कार, निर्वेश, रसना, आस्वाद, भोग, समापत्ति, लय, विश्रान्ति आदि शब्दों से कही गयी है।[59] फलतः यहाँ प्रमाता आत्मरूप का ही आस्वादन करता है। इस रसास्वादन की प्रक्रिया में अनुमान, स्मृति आदि के बिना ही सामाजिक को चर्वणा के प्राण रूप 'तन्मयीभाव' की प्राप्ति हो जाती है,[60] जिसके परिणामस्वरूप समस्त जागतिक प्रमेयों का तिरोधान हो जाता है। फलतः सामाजिक को आत्मसाक्षात्कारात्मक अनुभूति होने लगती है। यही रसानुभूति की प्रत्यभिज्ञानात्मकता है, जहाँ सामान्य प्रमाता का अपनी परमार्थ संवित् से सामरस्य स्थापित हो जाता है। उसे आत्मरूप का निर्विघ्न साक्षात्कार होने लगता है।

इस रस-विवेचन में अंतिम आस्वादन की ही प्रत्यभिज्ञानात्मकता नहीं कही गयी है अपितु पूर्वकालिक स्थितियों जैसे सामाजिक का सीतादि के साथ तादात्म्य व अनुभूति के स्तर पर समस्त

सामाजिकों की जातीय तदात्मता आदि की भी प्रत्यभिज्ञानरूपता की प्रतिपत्ति की गयी है। न केवल अष्ट रसों के निरूपण में अपितु भक्ति-रूप रस या भाव (जिस भी रूप में स्वीकार करें) के संबंध में भी प्रत्यभिज्ञा की ही क्रियाशीलता है। यहाँ भक्त और भगवान् की भेदाभेदरूपता स्वीकृत है। जब तक भक्त को भगवान् से अपनी अभिन्नता का बोध नहीं होगा तब तक उसकी श्रद्धा भगवान् के प्रति नहीं हो सकती। जब तक पशु और पति का भेद बना रहता है तब तक आत्म-लाभ असंभव है और जब पशुपति से एकाकार हो जाता है, तो यही स्थिति वास्तविक प्रत्यभिज्ञान की स्थिति है।

इस प्रकार उपर्युक्त विभिन्न क्षेत्रों में प्रत्यभिज्ञा के निरूपण के साथ-साथ यहाँ प्रत्यभिज्ञा के विविध विभागों का भी उल्लेख मिलता है। प्रमाण-मीमांसा की दृष्टि से इसके अष्ट[61] से लेकर चतु:षष्टि[62] तक विभाग मिलते हैं। *विमर्शिनी* में अभिनव अनुभव के दो विभाग बतलाते हैं। प्रथम में प्रमाता आत्म-परामर्श पूर्वक प्रमेय का परामर्श करता है। इस परामर्श में प्रमेय की विश्रान्ति प्रमाता में हो जाती है जैसे 'मया-दृश्यते' में। यहाँ प्रमाता पहले स्वयं का परामर्श करता है फिर दर्शन क्रिया का। द्वितीय स्थिति में प्रमेय का ही प्रधानतया परामर्शन होता है, जैसे 'घटोऽस्ति' में। यहाँ मुख्य रूप से घट का ही प्रत्यक्ष होता है। इन द्विविध परामर्शों के भेद से स्मृति भी द्विविध होती है। इसमें एक में तो भूतकालिक क्रिया का परामर्श होता है, जिसका निर्देश 'दृष्ट:' इस पद से किया गया है; दूसरे में भूतकालिक विषय का परामर्श होता है, जिसका निर्देश 'स:' इस पद से मिलता है। अब ये दोनों भेद भी स्वात्मपरामर्शपूर्वक व प्रमेयपरामर्शपूर्वक भेद से चतुर्विध हो जाते हैं। द्विविध अनुभव व चतुर्विध स्मृति के भेद से प्रत्यभिज्ञा के आठ भेद प्राप्त होते हैं। यही प्रत्यभिज्ञा अनुभवांश व स्मृत्यंश की प्रधानता के आधार पर सोलह प्रकार की हो जाती है। इस प्रकार के विभाजन में ज्ञाता व ज्ञान इन दोनों ही अंशों की प्रधानता रहती है, किन्तु जब ज्ञेयांश प्रधान हो जाता है, तो ज्ञाता और ज्ञान का एकानुसंधान नहीं होता। ऐसी स्थिति में अनुभव के चार विभाग, स्मृति के सोलह और प्रत्यभिज्ञा के चौंसठ विभाजन तक संभव हो जाते हैं।

इसके अतिरिक्त तत्त्वमीमांसा की दृष्टि से प्रत्यभिज्ञा के द्विविध भेद भी मिलते हैं।[63] ये दोनों भेद भी ग्राह्य और ग्राहक की क्रमिक प्रधानता पर आधारित हैं, अन्तर मात्र इतना है कि यहाँ ग्राह्य और ग्राहक अभेद स्तर के हैं। इसका निरूपण *विज्ञान-भैरव* में मिलता है। जहाँ 'स एवाहं शैवधर्मा'[64] में ग्राहकांश की प्रधानता व 'ममैव भैरवस्यैता:'[65] में ग्राह्यांश की प्रधानता का निरूपण मिलता है। शिवोपाध्याय के अनुसार उत्पल भी अपनी *प्रत्यभिज्ञाकारिकाओं* में 'सोऽहं' व 'ममायं विभव:'[66] इन अंशों के माध्यम से उक्त ग्राह्य और ग्राहक प्रत्यभिज्ञाओं का बोध कराते हैं। इन द्विविध प्रत्यभिज्ञाओं में ग्राह्य व ग्राहक की ऐक्य-प्रतिष्ठापना को ही अभिनव 'महाविमर्श' कहते हैं।[67] प्रथम प्रत्यभिज्ञान परम ग्राहक व मायीय ग्राहक के मध्य ऐक्य स्थापित करता है और द्वितीय समस्त जागतिक विस्तार को परम प्रमाता का ही विस्फार बतलाता है।

इसके अतिरिक्त प्रवर्तन की दृष्टि से भी प्रत्यभिज्ञा के तीन प्रकार मिलते हैं[68]—

1. मायीय प्रत्यभिज्ञा
2. निर्विकल्प प्रत्यभिज्ञा
3. परा प्रत्यभिज्ञा

जागतिक संदर्भों से संबद्ध प्रत्यभिज्ञा ही 'मायीय प्रत्यभिज्ञा' की संज्ञा प्राप्त करती है, जिसके अपर पर्याय के रूप में 'सविकल्प प्रत्यभिज्ञान' का भी उल्लेख मिलता है। इसका कारण यह है कि विकल्पन व्यापार भेद के अवस्थित होने पर ही प्रवृत्त होता है और चूँकि जगत् घनीभूत भेद का ही विजृम्भण है अत: तदाधारित प्रत्यभिज्ञा भी भेदात्मक ही होगी। यही कारण है कि इसे अशुद्ध प्रत्यभिज्ञान भी कहते हैं। वैसे तो दो विमर्शों के संयोजनपूर्वक संपन्न होने वाला प्रत्यभिज्ञान स्वयं ही शुद्ध प्रत्यवमर्श रूप है, किन्तु जब यह विमर्श अपोहन व्यापार में संलग्न हो जाता है, तो स्वत: ही विकल्प की परिधि में आ जाता है। अब सवाल उठता है कि प्रत्यभिज्ञा में विकल्पन कैसे होता है। क्योंकि विकल्प है अभेद में भेद और प्रत्यभिज्ञा है भेद में अभेद। इसका उत्तर है कि प्रत्यभिज्ञा यद्यपि भेद में अभेद की प्रतिष्ठापिका है, किन्तु उसकी क्रियाशीलता भेद, भेदाभेद और अभेद इन त्रिविध स्तरों पर हो सकती है। विकल्पात्मक प्रत्यभिज्ञा भेद-स्तर की प्रत्यभिज्ञा है। उदाहरण के लिए 'यह वही घट है' इस ज्ञान में घट का निश्चयन विकल्पपूर्वक होता है और तद्रूपता का निश्चयन प्रत्यभिज्ञानपूर्वक। यह ज्ञान दो भेदों के मध्य अभेद का प्रतिष्ठापक है, क्योंकि यहाँ तत् और एतत् ये दोनों भेदात्मक ज्ञान हैं और इसी कारण इन दोनों का अभेद भेद-स्तर का अभेद होने के कारण वस्तुत: भेदरूप ही है। इस प्रकार प्रत्यभिज्ञान की विकल्परूपता से कोई विरोध नहीं आता। उत्पलदेव भी इसी विकल्परूपता को स्वीकार करते हैं, उनके अनुसार भिन्नकालिक आभासों पर अवलम्बित होने के कारण प्रत्यभिज्ञा 'कल्पना' है।[69] उदाहरणार्थ, जो मैं मोटा था वही मैं दुबला हो गया हूँ—यहाँ देहस्थ प्रमाता के अहंकारों की भिन्न-भिन्न कालों में एकता की स्थापना के कारण यह ज्ञान विकल्पात्मक ही है।[70] इसका संबंध क्योंकि बाह्य जगत् के प्रमेय व प्रमाता से रहता है, इस कारण भास्कर इसे 'बाह्यवस्तुप्रत्यभिज्ञा' कहते हैं।[71] इस प्रत्यभिज्ञा को देश और काल की भी अपेक्षा रहती है।

द्वितीय संदर्भ में प्रत्यभिज्ञा 'निर्विकल्प प्रत्यभिज्ञा' इसलिए कहलाती है क्योंकि यहाँ अपोहन व्यापार संपन्न नहीं होता। सदाशिव, ईश्वर तत्त्व व शुद्धा विद्या के स्तर पर होने वाली अहंता व इदंता की ऐकात्म्य प्रतीति निर्विकल्प होती है क्योंकि यहाँ अहंता व इदंता के ज्ञान में अहम् व इदम् अंशों में से कोई भी अंश अपोहनीय नहीं है। यद्यपि इदमंश सदैव ही अपोहनीय कहा गया है, किन्तु चूँकि यहाँ पर अपोहनीय की विनिश्चयनीय से पृथक् सत्ता नहीं है, इसलिए यह निर्विकल्प ज्ञान है। इसके अतिरिक्त इस स्तर पर होने वाला अनुसंधान चूँकि अविच्छेदन की स्थिति में सम्पन्न होता है, इस कारण भी इसकी निर्विकल्पता विच्छिन्न नहीं होती। शुद्ध विद्या तो विशुद्ध रूप से प्रत्यभिज्ञानात्मक स्थिति है,[72] क्योंकि यहाँ अहम् और इदमंश समधृततुलापुटन्याय से अवस्थित रहते हैं, तथा दोनों ही विनिश्चयनीय अंश हैं, फलत: अपोहनांश के अभाव के कारण इसकी निर्विकल्पता बनी रहती है।

तृतीय स्थिति 'परा प्रत्यभिज्ञा' की है, जिसे 'विश्वोत्तीर्ण प्रत्यभिज्ञा' भी कह सकते हैं। परमशिव की प्रत्यभिज्ञा इसी से संबद्ध है। यद्यपि परमशिव में अहम् और इदम् दोनों ही अंश रहते हैं, किन्तु यहाँ पर वैशिष्ट्य यह है कि ये दोनों निराभास स्थिति के हैं, फलत: ये उसमें किसी प्रकार की विच्छिन्नता का आधान नहीं करते। सच पूछा जाये तो ये यहाँ पर प्रकाश और विमर्श के ऐक्य रूप में रहते हैं। प्रकाश और विमर्श का युग्म कहने का तात्पर्य ही यही है कि इनमें प्रत्यभिज्ञानात्मकता है, अन्यथा द्वैत होगा। यहाँ पर दो अभेदों के मध्य अभेद की स्थापना है।

इस प्रकार प्रत्यभिज्ञा के उक्त त्रिविध प्ररूपों में से प्रथम भेद-स्तर की प्रत्यभिज्ञा है, द्वितीय भेदाभेद-स्तर की व अंतिम अभेद-स्तर की। इस अभेद-स्तर की प्रत्यभिज्ञा की प्राप्ति हेतु शास्त्रों का कथन किया गया है।[73] अनादि आणव मल से ग्रसित जीव जब संसार में अवतरित होता है, तो उसे अपने उसी ज्ञातृत्व व कर्तृत्व रूप स्वातन्त्र्य-सम्पन्न स्वरूप की प्राप्ति हेतु या यों कहें कि आत्म-प्रत्यभिज्ञान हेतु अपने द्विविध अज्ञानों (पौरुष व बौद्ध) की निवृत्ति का प्रयास करना पड़ता है। बौद्ध अज्ञान की निवृत्ति के लिए साधक चतुर्विध उपायों का आश्रय लेता है। इन चारों उपायों का पर्यवसान प्रत्यभिज्ञा में होता है। एक बात यहाँ पर विशेष रूप से उल्लेखनीय है और वह यह कि यहाँ उपायों के आधार पर प्रत्यभिज्ञा के उच्च व निम्न स्तर रूप क्रम की कल्पना नहीं की जा सकती अपितु ये उपाय मल के क्रमिक क्षय का आधान करते हैं।[74] यद्यपि सभी उपाय भेद से अभेद की ओर ले जाने के कारण भेदाभेद रूप हैं, किन्तु स्वरूप की दृष्टि से शाक्तोपाय ही भेदाभेद रूप कहा गया है। यह अभेदात्मक इसलिए है क्योंकि इसमें आत्मलाभ की स्थिति में बाह्यता का लेश मात्र भी संस्पर्श नहीं रहता तथा भेदात्मक इसलिए है क्योंकि यहाँ विकल्पभूमि का संस्कार निहित है। शाम्भवोपाय में जहाँ ग्राहकांश की तथा आणवोपाय में जहाँ ग्राह्यांश की प्रधानता है, वहीं शाक्तोपाय में दोनों का ही सामरस्य है। 'सर्वो ममायं विभव:'[75] रूप प्रत्यभिज्ञान इसी शाक्तोपाय का प्रतिफलन है। चूँकि यहाँ एकता व अनेकता में समरसता या एकात्मता है, फलत: यह वास्तविक 'प्रत्यभिज्ञोपाय' है। इसी कारण इसे 'ज्ञानोपाय' कहा गया है और शैव मत में ज्ञान प्रत्यभिज्ञान रूप ही है। इसके अतिरिक्त प्रत्यभिज्ञादर्शन अनुपाय की भी चर्चा करता है, जिसमें शक्तिपात या अनुग्रह से सद्य: ही 'शिवोऽहं' रूप प्रत्यभिज्ञात्मक अवबोध स्फुरित होने लगता है।

आत्म-लाभ की संप्राप्ति में उक्त उपाय रूप साधना ही पर्याप्त नहीं क्योंकि इन से तो मात्र बौद्ध अज्ञान का ही क्षय होता है, पौरुष अज्ञान तो फिर भी अवशिष्ट रह ही जाता है। इसकी निवृत्ति दीक्षा के माध्यम से होती है। इस प्रकार जब जीव के समस्त मलों का परिहार हो जाता है, तो उसे समावेश की प्राप्ति हो जाती है। यानी वह पशुभाव से निकलकर शिवभाव में प्रतिष्ठित हो जाता है। यही ज्ञातृत्व व कर्तृत्व-रूप ऐश्वर्य की प्राप्ति है। शास्त्रों में तुर्य व तुर्यातीतावस्था से इसी का कथन किया गया है।[76]

इस प्रकार उपर्युक्त विवेचन आरोहण-प्रक्रिया पर आधारित है, जहाँ अपूर्णत्व से पूर्णता की प्राप्ति में प्रत्यभिज्ञा एक साधन के रूप में निरूपित है। किन्तु, इस विवेचन से पूर्णत्व की स्थिति में प्रत्यभिज्ञा की निष्क्रियता ही सूचित होती है, जो कि तर्कसंगत नहीं। सत्य तो यह है कि 'पूर्णता' का निष्पादन भी प्रत्यभिज्ञावलम्बी है। पूर्णत्व की पर्यायरूपा प्रतिभा का निरूपण करते समय उत्पलदेव उसे नाना स्वलक्षणाभासों के क्रम से रूषित बतलाते हैं। किन्तु इस क्रमिकता के होने पर भी द्वैत के संस्पर्श से रहित वह अक्रम व अनन्त चिद्रूप महेश्वर ही रहती है।[77] यदि महेश्वर को अक्रम कहा जाये तो उससे क्रमिक विश्व की सृष्टि नहीं हो सकती क्योंकि जिसमें जो नहीं है, उसका भासन वह कभी नहीं कर सकता। फलत: महेश्वर में भी क्रमिकता स्वीकार करनी पड़ती है और क्रमिकता ही वह स्रोत है, जो महेश्वर की स्थिति में भी प्रत्यभिज्ञा के लिए स्थान बनाता है। यहाँ क्रम और अक्रम के मध्य प्रत्यभिज्ञानात्मक स्थिति स्वीकार की गयी है। यदि इस

स्तर पर प्रत्यभिज्ञा स्वीकार नहीं की जाएगी, तो प्रकाश और विमर्श, भेद और अभेद, शब्द और अर्थ पृथक्-पृथक् भासित होने लगेंगे और शिवाद्वयवाद का अखण्ड अद्वैत छिन्न-भिन्न हो जाएगा। इस आपत्ति के परिहार हेतु काश्मीर शैवदर्शन पूर्णता का निर्धारण भी प्रत्यभिज्ञा के माध्यम से करता है।

इस प्रकार उपर्युक्त विवेचन से यह परिलक्षित होता है कि प्रत्यभिज्ञा काश्मीर शैवदर्शन का सर्वाधिक व्यापक व जटिल सिद्धान्त है। इसका कारण है कि यहाँ ज्ञान-मीमांसा के क्षेत्र से संबद्ध एक साधारण से प्रत्यय को समस्त दार्शनिक संरचना का आधार बनाया गया है। इसमें भी वैचित्र्य यह है कि दर्शन का आधारभूत ढाँचा होने के साथ-साथ उसमें प्राणना के निष्पादन का कार्य भी इसी के माध्यम से सम्पन्न होता है। शैव दार्शनिक इसे एक समन्वयवादी प्रक्रिया के रूप में प्रस्तुत करते हैं, जिसमें सब कुछ समाविष्ट है। इसके पूर्व व इसके परे शून्य के सिवा कुछ नहीं। यही कारण है कि चाहे ज्ञान का क्षेत्र हो या परमार्थ का या फिर साधना का—सबका मूल, सबका फल प्रत्यभिज्ञा ही है, और यही निमित्त है, काश्मीर शैवदर्शन के 'प्रत्यभिज्ञादर्शन' संज्ञक अभिधान में।

पाद-टिप्पणी

1. केवल चार्वाक, निम्बार्क व माध्व सम्प्रदाय प्रमातृ-सिद्धि में प्रत्यभिज्ञा की चर्चा नहीं करते।
2. प्रतिगता अभिज्ञाम् इति प्रत्यभिज्ञा। अभिज्ञानरूपे संस्कारसहकारेण जनिते प्रत्यक्षभेदे यथा सोऽयं देवदत्त इत्यादि। —*वाचस्पत्यम्*, पृ० 446
3. (क) Apte, *Sanskrit-English Dictionary*, p. 655; Monier-Williams, *Sanskrit-English Dictionary*, p. 675.
   (ख) प्रत्यभिपूर्वो जानाति ···। —*ई०प्र०वि०वि०*, भा० 1, पृ० 31
4. प्रतिशब्दस्य प्रतीपमित्यर्थः। अभिशब्दस्याभिमुख्यम्। ज्ञाशब्दस्य ज्ञानम्। तेन पूर्वज्ञानस्य मध्ये विस्मृतस्य पुनराभिमुख्येन ज्ञानं प्रत्यभिज्ञेति। यथा सोऽयं देवदत्तः। —*भा०*, भा० 1, पृ० 36
5. भास्करकण्ठ ने अपनी टीका में 'प्रति' उपसर्ग का चार विशिष्ट अभिप्रायों में प्रयोग किया है— (1) प्रतीप (भा० 1, पृ० 36), (2) अनुसंधान (उपरिवत्), (3) अभिमुख (उपरिवत्, पृ० 357), (4) आन्तर्य (उपरिवत्, पृ० 302)। किन्तु, प्रत्यभिज्ञा का निरूपण करते समय प्रथम दो अभिप्रायों में 'प्रति' शब्द व्याख्यात हुआ है। यदि 'प्रति' शब्द का अभिमुख अर्थ लें, तो व्युत्पत्ति होगी 'अभिमुखं आभिमुख्येन ज्ञानं प्रत्यभिज्ञानम्'। किन्तु तब हमें प्रत्यभिज्ञान न होकर प्रत्यक्षात्मक बोध ही होगा, साथ ही 'आभिमुख्य' की अनावश्यक पुनरावृत्ति होगी। यदि इस पुनरावृत्ति के परिहारार्थ प्रत्यभिज्ञा की व्युत्पत्ति अन्य दर्शनवत् 'प्रति + अभिज्ञा' मान ली जाये तो यह सम्प्रदाय के विरुद्ध होगी, क्योंकि न केवल भास्कर अपितु अभिनव स्वयं प्रत्यभिज्ञा की व्युत्पत्ति 'प्रतीपमात्माभिमुख्येन ज्ञानं प्रकाशः प्रत्यभिज्ञा' तथा 'प्रतिसंधानेन अभिमुखीभूते वस्तुनि ज्ञानम्' कहकर, 'प्रति + अभि + ज्ञा' इस रूप में ही स्वीकार करते हैं। अतः प्रति की 'अभिमुख' अर्थ में व्याख्या न किये जाने का कारण तो स्पष्ट हो जाता है। किन्तु 'आन्तर्य' अर्थ में व्याख्या न करने का प्रयोजन अव्याख्येय ही रहता है, क्योंकि यदि हम प्रति का अभिप्राय 'आन्तर्य' बतलाते हैं, तो व्युत्पत्ति होगी 'आन्तरत्वं आभिमुख्येन ज्ञानं प्रत्यभिज्ञानम्' और आन्तरिकता है 'प्रमाता से एकात्मता या तदात्मता' यानी कि प्रमाता से तादात्म्य का अभिमुखीभूत रूप में ज्ञान करना ही प्रत्यभिज्ञान है। यदि प्रत्यभिज्ञा की इस रूप में व्याख्या की गई होती, तो वह अपने आप

में परिपूर्ण व्याख्या होती और अपनी व्युत्पत्ति से ही प्रत्यभिज्ञा-दर्शन में स्वीकृत चरम प्रत्यभिज्ञान को भी स्पष्ट कर देती। इसका एक मात्र प्रयोजन यही हो सकता है कि भास्कर ने यहाँ प्रत्यभिज्ञा की संरचनात्मक व्याख्या की है, स्तर विशेष के सन्दर्भ में उसकी विवेचना नहीं की है।

6. प्रतीपमात्माभिमुख्येन ज्ञानं प्रकाशः प्रत्यभिज्ञा। —*ई०प्र०वि०* (भा०), भा० 1, पृ० 36-37

7. पूर्वं भातमद्य भासमानं तयोर्यदनुसंधानम्—एकीकरणम्, तदात्मा यस्याः तादृशी। —*भा०*, भा० 1, पृ० 36

8. (क) The knowledge of an object along with the realisation that the same object has been previously known. —*Dictionary of Philosophy*, p. 265

   (ख) Kamlakar Misra, *Significance of the Tantric Tradition*, p. 240.

9. Perceiving or recalling an object, accompanied by a feeling of familiarity, or the conviction that the same object has been perceived before. —*Dictionary of Psychology*, p. 238

10. *Theory of Knowledge*, p. 205.

11. इन चारों दृष्टान्तों की विस्तृत व्याख्या के लिए देखें नवजीवन रस्तोगी का लेख, "Recognition in Pratyabhijñā School: A Study in Epistemology" in *ABORI*, vol. 58, pp. 850-51.

12. Kamlakar Misra, op. cit., p. 24.

13. Pratyabhijñā is not different from Aparokṣānubhūti in mode, nor it is different in the content. —Op. cit., p. 40

14. So while the word 'aparokṣānubhūti' suggests the mode, the word 'pratyabhijñā' suggests the content. And thus the two are mutually complementary. —Op. cit., p. 41

15. तस्मान्न बध्यतेऽद्धा न मुच्यते नाऽपि संसरति कश्चित्।
    संसरति बध्यते मुच्यते न नानाश्रया प्रकृतिः।। —*सांख्यकारिका* 62
    भोगापवर्गयोश्च प्रकृतिगतयोरपि विवेकाग्रहात् पुरुषसंबंध उपपादित इति सर्वं पुष्कलम्। —*सांख्यतत्त्वकौमुदी*, पृ० 211

16. एवं तत्त्वाभ्यासान्नास्मि न मे नाऽहमित्यपरिशेषम्।
    अविपर्ययाद्विशुद्धं केवलमुत्पद्यते ज्ञानम्। —*सांख्यकारिका* 64

17. *ई०प्र०वि०* (भा०), भा० 2, पृ० 195-96.

18. S.N. Dasgupta, *A History of Indian Philosophy*, vol. 1, p. 98.

19. *The Doctrine of Recognition*, p. 107.

20. ज्ञानलक्षण-प्रत्यासत्ति न्याय दर्शन के अलौकिक प्रत्यक्ष का एक भेद है। इसके अनुसार एक इन्द्रिय दूसरी इन्द्रिय के माध्यम से सम्पन्न होने वाले ज्ञान का भी अनुभव कर सकती है जैसे पंसारी की दुकान में रखे हुए चंदन को देखकर उसकी सुगंध की भी अनुभूति हो जाती है। यहाँ घ्राणेन्द्रिय के द्वारा सम्पन्न होने वाला व्यापार भी नेत्रेन्द्रिय के माध्यम से हो रहा है। इस दृष्टान्त में सुगन्ध की अनुभूति का कारण भूतकालिक सुगन्ध की स्मृति है। इस ज्ञान में दो सदस्य हैं जिसमें से एक का प्रत्यक्ष होता है और दूसरे की स्मृति। जैसे कि उपर्युक्त दृष्टान्त में प्रत्यक्ष तो चंदन का होता है पर स्मृति सुगन्ध की, जबकि सामान्य रूप से निरूपित प्रत्यभिज्ञा में मात्र एक ही सदस्य रहता है वही प्रत्यक्ष, स्मृति दोनों का ही विषय बनता है जैसे 'यह वही चंदन है'—इस दृष्टान्त में चंदन ही भूतकालिक स्मृति व वर्तमानकालिक अनुभव का विषय है। सच पूछा जाए तो ज्ञानलक्षण-प्रत्यासत्ति 'यह चंदन है' इस अंश में प्रत्यक्षात्मक व 'यह सुगन्धित है' इस अंश में

स्मरणात्मक है।

21. *भा०*, भा० 1, पृ० 112.
22. *न्याय-बिन्दु*, पृ० 46-47.
23. बौद्ध-दर्शन में द्विविध प्रत्यभिज्ञाएं मिलती हैं–(1) भ्रान्तिजन्य प्रत्यभिज्ञा और (2) कल्पनाजन्य प्रत्यभिज्ञा। प्रथम का निरूपण 'सोऽयं देवदत्त:' जैसी सादृश्य प्रतीति में और द्वितीय का निरूपण 'देवदत्तोऽयम्' जैसे विकल्पात्मक अवबोधन में मिलता है।
24. "Recognition in Pratyabhijñā School: A Study in Epistemology" in *ABORI*, p. 852, n. 36.
25. *शास्त्र-दीपिका*, पृ० 42.
26. सोऽयमित्यभिसंबन्धाद् रूपमेकीकृतं यदा।
शब्दस्यार्थेन तं शब्दमभिजल्पं प्रचक्षते।। —*वाक्यपदीय*, वाक्यकाण्ड, श्लोक 128
27. न्याय-दर्शन में लौकिक प्रत्यक्ष के तीन रूप है–निर्विकल्प, सविकल्प और प्रत्यभिज्ञा। देखें, *भारतीय दर्शन* (दत्त व चटर्जी), पृ० 188। किन्तु इस प्रकार का विभाजन सर्वत्र नहीं मिलता।
28. तल्लक्षणं तु इन्द्रियसहकृतसंस्कारजन्यज्ञानत्वम्। —*न्यायकोश*, पृ० 543
29. अतीतकालविशिष्टो वर्तमानकालावच्छिन्नश्चार्थ एतस्यामवभासते। —*न्यायमंजरी*, पृ० 459
30. S.C. Chatterjee, *Nyaya Theory of Knowledge*, p. 207.
31. उपरिवत्, पृ० 206.
32. (क) प्रत्यभिज्ञाऽनुमानं च, स्मृतिस्, तर्कस् तथाऽऽगम:।
माणिक्यनन्दिना पञ्च परोक्षाणीत्युदीरितम्।। —प्रमाणसंख्याविप्रतित्तिकारिका:, in *Journal of Banaras Hindu University*, p. 69
(ख) परोक्षमितरत्। प्रत्यक्षादिनिमित्तस्मृतिप्रत्यभिज्ञानतर्कानुमानागमभेदम्। —*परीक्षामुखसूत्र* (प्रमेय कमलमार्तण्डसहित) 3/1/2
(ग) *History of Logic*, p. 189.
33. दत्त एवं चटर्जी, *भारतीय दर्शन*, पृ० 80.
34. Recognition is a knowledge which arises from perception through recollection in the forms, "This is that", "This is like that", "This is different from that", "This is the counterpart of that", etc., thus "This is that Devadutta", "The bos gavoeus is like the cow", "The buffalo is different from the cow", "This is far from that", "This is a tree", etc.—*History of Logic*, p. 189
35. प्रकारद्वयविशिष्टैकवस्तुप्रतिपादनेन सामानाधिकरण्यं च सिद्धम्। —*श्रीभाष्य*, पृ० 266
36. "Recognition in Pratyabhijñā School: A Study in Epistemology", p. 844, n. 36.
37. पूर्वदेशकालादियोगेन स्मर्यमाणतया वर्तमानदेशकालादियोगेन अनुभूयमानतया तदद्वययोगेन प्रत्यभिज्ञायमानतया ···। —*ई०प्र०वि०वि०*, भा० 1, पृ० 148
38. भिन्नं तात्कालिकमभिन्नं पूर्णावस्थया एकीकृतं देहादि यतोऽस्या विषयस्तत: इयं न शुद्धो विकल्पो, नापि शुद्ध: साक्षात्कार:, अपितुच्छायामयी प्रत्यभिज्ञा इत्युच्यते। —उपरिवत्, भा० 2, पृ० 314
39. *ई०प्र०वि०* (भा०), भा० 1, पृ० 157.
40. ननु भातभासमानैकीकरणरूपा प्रत्यभिज्ञा न युक्ता। असदेतत्। आत्मा हि भातो भासमानश्च। तदीश्वरत्वं तु

तदीयस्वातन्त्र्येण मध्ये विस्मृतं तद्विषयत्वेन प्रत्यभिज्ञायते स ईश्वरोऽहमेवेति। भासमानस्याप्यात्मनो विस्मृतिर्जायत एवान्यथा दशमस्त्वमसीतिन्यायेन तत्त्वमसीत्युपदेशायोगात्। —*भा०*, भा० 1, पृ० 11

41. *तं०आ०वि०*, भा० 3, पृ० 1070.

42. घटमहमन्वभूवम् इति वा स घटः इति वा 'ऐक्यम्' अनुसंधानम् अनुसंधातुरभिन्नम् इति दर्शयितुं यदेव ऐक्यं 'स एव वेदिता' इति सामानाधिकरण्येन दर्शितम्। 'एष-स' इति आच्छादितस्येव प्रमातृतत्त्वस्य स्फुटावभासनं कृतम्, इदम् इति विस्मयगर्भया उक्त्या प्रत्यभिज्ञा एव सूचिता। —*ई०प्र०वि०* (भा०), भा० 1, पृ० 165

43. संशब्देन सहार्थवृत्तिना समानार्थवृत्तिना वा बन्धिना व देशान्तरपरिहारपूर्वकैकदेशावस्थानार्थेन विस्पष्टमुक्तैव सह्यनेकस्यैकता। —*सं०सि०*, पृ० 62

44. *ई०प्र०वि०वि०*, भा० 2, पृ० 311.

45. सामानाधिकरण्येन अनुगामित्वेन संधानं विच्छिन्नसंमतानामपि ज्ञानानामेकीभवनं नाम चिदेव अन्तर्मुखा, न अन्यत् किंचिदिति। —उपरिवत्, भा० 1, पृ० 276

46. *शि० सू० वि०*, पृ० 78.

47. *भा०*, भा० 1, पृ० 187-88.

48. उपरिवत्, पृ० 188-89.

49. बहुत्व की स्थिति होने पर उनका दो वर्गों में विभाजन करके ही संबंध संभव है, इसी कारण इसे द्वयापेक्षी कहा गया है। —*सं०सि०*, पृ० 7

50. तत्र प्रत्यभिज्ञानबलेन यदेकात्मकमेकस्वभावं तस्य यो भेदोऽन्यान्यरूपता इयमेव सा क्रियोच्यते । —*ई०प्र०वि०* (भा०), भा० 2, पृ० 196

51. चिरक्षिप्रप्रत्ययावपि क्रमस्य भूयसोऽल्पस्य च अनुसंधिबलात् भवत इति क्रमपरमार्थौ दिक्कालौ। —*ई०प्र०वि०वि०*, भा० 1, पृ० 141

52. तस्य (आत्मनः) विचित्राभासकारित्वेन लक्षिता या कालोत्थापिका शक्तिराभासानां प्रत्यभिज्ञावैचित्र्येण क्रमोत्थापनसामर्थ्यं, क्रमावभासने च अस्मिन् देहप्राणबुद्ध्यादेरपि मायाप्रमातुर्बाल्ययौवन-दुर्बलत्वदृढत्वपटुत्वापटुत्वाद्यवस्थाभासानां यः क्रमः सोऽनयोरनुभवस्मृत्योर्बोधेन अंतर्मुखरूपेण अभेदेऽपि केवलमुपचर्यते उपचरितभेदयोश्च तयोर्विषय एकोऽपि भिद्यते इवेति। —उपरिवत्, भा० 2, पृ० 37-38

53. *ई०प्र०वि०* (भा०), भा० 1, पृ० 57-58.

54. (क) प्रत्यक्षानुमानागमान्यतमप्रमाणमूलां प्रत्यभिज्ञाम्। —उपरिवत्, भा० 2, पृ० 195
(ख) प्रत्यक्षानुमानागमाद्यन्यतममानप्रत्यभिज्ञानबलेन ···। —*ई०प्र०वि०वि०*, भा० 3, पृ० 233

55. इदमित्यस्य विच्छिन्नविमर्शस्य कृतार्थता।
या स्वस्वरूपे विश्रान्तिर्विमर्शः सोऽहमित्ययम् ॥ —*अ०प्र०सि०*, का० 15

56. *न्यायबिन्दु*, पृ० 47.

57. *ई०प्र०वि०वि०*, भा० 3, पृ० 393.

58. *अभिनवभारती*, भा० 1, पृ० 285.

59. उपरिवत्, पृ० 280.

60. हृदयसंवादात्मकसहृदयत्वबलात्पूर्णीभविष्यद्रसास्वादाङ्कुरीभावेनानुमानस्मृत्यादिसोपानमारुह्यैव तन्मयी-भावोचितचर्वणाप्राणतया। —उपरिवत्, पृ० 284

61. ई०प्र०वि० (भा०),भा० 1, पृ० 189.

62. ई०प्र०वि०वि०, भा० 2, पृ० 58.

63. अन्यत्र हमने धर्मि- व धर्म-प्रत्यभिज्ञान के नाम से इन्हीं दोनों भेदों का विवेचन किया है। देखें, "Recognition in Pratyabhijñā School: A Study in Epistemology," p. 854.

64. *वि०भैं०टी०*, पृ० 119.

65. उपरिवत्, पृ० 110.

66. सर्वो ममायं विभव: इत्येवं परिजानत:।
विश्वात्मनो विकल्पानां प्रसरेऽपि महेशता।। —ई०प्र०का० 4/1/12

67. ई०प्र०वि०वि०, भा० 3, पृ० 393.

68. प्रत्यभिज्ञा के उक्त त्रिविध भेद अहं के अभिनवकृत शुद्ध व अशुद्ध विभाजन पर आधारित हैं। देखें, ई०प्र०वि० (भा०), भा० 1, पृ० 324

69. कादाचित्कावभासे या पूर्वाभासादियोजना।
संस्कारात्कल्पना प्रोक्ता सापि भिन्नावभासिनि।। —ई०प्र०का० 1/6/6

70. विच्छिन्नविच्छिन्नेषु शून्यदेहाद्याभासभेदेषु पूर्वाभासाख्याहंकाराणामैक्ययोजनान्त: पूर्वाभासस्थितिलक्षणसंस्काराश्रिता प्रमातृव्यापाररूपा कल्पनैव प्रत्यभिज्ञाख्या। —ई०प्र०का०वृत्ति, पृ० 24

71. भा०, भा० 1, पृ० 327.

72. "Recognition in Pratyabhijñā School: A Study in Philosophy," p. 847.

73. किन्तु मोहवशादस्मिन्दृष्टेऽप्यनुपलक्षिते।
शक्त्याविष्करणेनेयं प्रत्यभिज्ञोपदर्श्यते।। —ई०प्र०का० 1/1/3

74. Kamlakar Misra, *Significance of the Tantric Tradition*, p. 390.

75. ई०प्र०का० 4/1/12.

76. ई०प्र०वि० (भा०), भा० 2, पृ० 257-58.

77. या चैषा प्रतिभा तत्तत्पदार्थक्रमरूषिता।
अक्रमानन्तचिद्रूप: प्रमाता स महेश्वर:।। —ई०प्र०का० 1/7/1

अध्याय बारह

भक्ति

काश्मीर शिवाद्वयवाद में ज्ञान, योग व भक्ति तीनों का अपूर्व संगम हुआ है। यहाँ की पूर्णतावादी दृष्टि के अनुसार यह मान्यता सर्वथा उचित है क्योंकि लक्ष्य एक है मार्ग चाहे कोई हो। मानव व्यक्तित्व के तीन पक्ष हैं—(अ) ज्ञान, (आ) क्रिया तथा (इ) भावना। ज्ञान पक्ष की प्रधानता होने पर साधक ज्ञानमार्ग की ओर प्रवृत्त होता है, क्रियापक्ष की प्रधानता होने पर वह योगमार्ग की ओर अग्रसर होता है तथा भावनापक्ष की प्रधानता होने पर भक्तिमार्ग की ओर उसकी प्रवृत्ति होती है। पर इन तीनों मार्गों का साध्य एक ही रहता है जिसका, काश्मीर शिवाद्वयवाद में, पर्यवसान समावेश में होता है। इस अन्तिम लक्ष्य में जाकर तीनों मार्ग एक हो जाते हैं।

भारत के प्राय: सभी दार्शनिक सम्प्रदायों में भक्ति उस परमात्मा तक पहुँचने का एक सुगम उपाय मानी गयी है। केवल लोकायत मत इसका अपवाद है। वैदिक साहित्य का अवलोकन करें तो सर्वप्रथम उपनिषदों में भक्ति शब्द का संकीर्तन उपलब्ध होता है। पहली बार *श्वेताश्वतर उपनिषद्* भक्ति शब्द का प्रयोग करता है।[1] उपनिषदों से पूर्व आर्येतरों की प्रतीकोपासना तथा आर्यों की यागोपासना के उल्लेखों में देवभक्ति अपने शुद्ध रूप में उपलब्ध नहीं होती। उपनिषद्, आर्य-आर्येतर, इन दोनों धाराओं के मिश्रित रूप को प्रस्तुत करते हैं। यहाँ वैदिक देववाद से भिन्न उस देववाद की झलक मिलती है जिसकी पृष्ठभूमि पर आगे चलकर आगमिक व पौराणिक परम्परा का देववृन्द अपनी लोकोत्तर गरिमा से प्रतिष्ठापित हुआ है। कुछ उपनिषदों में तो सगुणोपासना का विस्तार से विवेचन हुआ है। इस सगुणोपासना का मर्म है—'भक्तिसिद्धान्त'। प्राय: उपासना को 'सगुणविषयक उपासना' (सगुणब्रह्मविषयकमानसव्यापार: उपासनम्) रूप से ही समझा जाता है।

सामान्यत: सभी दर्शन-सम्प्रदाय आत्मतत्त्व के यथार्थ स्वरूप के ज्ञान को ही अन्तिम लक्ष्य मानकर चलते हैं। इस लक्ष्य को पाने का जो रास्ता बुद्धि दिखाती है वह ज्ञानमार्ग है, जहाँ पुष्ट तर्कों के माध्यम से उसे सिद्ध करने का प्रयास किया जाता है परन्तु अन्त सर्वदा 'नेति-नेति' से ही होता है। अत: कोरा ज्ञान साधक को ऐक्य का अन्वेषण करना तो सिखाता है पर आस्वादन नहीं करा पाता। *वेदान्तसूत्र*[2] पर अपने भाष्य में शंकर एक आख्यान के माध्यम से अन्तत: यही सिद्ध करते हैं कि ब्रह्मस्वरूप किसी प्रकार नहीं बतलाया जा सकता, अत: चुप रहना ही सच्चा ब्रह्म-लक्षण है। इसी कारण ज्ञान की पूर्णता श्रद्धा में मानी गयी है और इस श्रद्धा के मूल में रहती है भक्ति। इस प्रकार भक्तिमार्ग ज्ञानमार्ग का पूरक है। बुद्धि को अन्तत: श्रद्धा का ही सहारा लेना पड़ता है। इसी प्रकार योगमार्ग का भी मूल यह आस्था ही है।[3] *गीता* में भी स्पष्टत: श्रद्धावान् को श्रेष्ठ कहा गया है और उसे सच्चे ज्ञान का अधिकारी भी बतलाया गया है, क्योंकि गीताकार ने जैसा अन्यत्र कहा है कि जो पदार्थ इन्द्रियातीत हैं उनका चिन्तन मात्र तर्क से सम्भव नहीं है।[4]

अत: ब्रह्म के स्वरूप को कोरे तर्कों से निश्चित कर लेना ही साधक का लक्ष्य नहीं है वरन् सतत अभ्यास व नियमपूर्वक चिन्तन से इस ज्ञान को अपने में आत्मसात् कर सर्वदा ब्रह्मात्मैक्य की अनुभूति करना ही परम प्राप्तव्य है। इस अवस्था की प्राप्ति के लिये परमेश्वर के स्वरूप का प्रेमपूर्वक सतत चिन्तन ही एकमात्र सुकर उपाय है। यह मार्ग ही उपासना या भक्ति का मार्ग है जो बहुत प्राचीन काल से ही भारतीय चिन्तन का अविभाज्य अंग रहा है।

इस भक्ति की धारणा को विविध ग्रंथों ने अपनी-अपनी तरह से परिभाषित करने का प्रयास किया है उनमें से कुछ का आकलन हम इस प्रकार कर सकते हैं—

1. *शाण्डिल्यसूत्र*[5] में कहा गया है कि ईश्वर के प्रति परम अर्थात् निरतिशय प्रेम ही भक्ति है।
2. *भागवतपुराण*[6] में कहा गया है कि पुरुषोत्तम में अहेतुक (निर्हेतुक), निष्काम व निरन्तर प्रेम ही भक्ति है।
3. *विशिष्टाद्वैतकोश*[7] में विशिष्टाद्वैत सम्प्रदाय में स्वीकृत भक्ति शब्द के विविध सन्दर्भों को एकत्र किया गया है। *श्रुतप्रकाशिका*[8] इसे असकृत् आवृत्त ज्ञान व प्रकृष्टवस्तुविषयक स्मृति-संतति कहती है। *श्रीभाष्य*[9] में सामान्यत: अपने सर्वोच्च साध्य के प्रति सतत प्रेमपूर्वक ध्यान रूप से उसे परिभाषित किया गया है। यतीन्द्रमतदीपिकाकार[10] तेल की धार की भाँति अष्ट योगाङ्गों से युक्त अविच्छिन स्मृति-सन्तान की शब्दावली में उपर्युक्त धारणा का अनुवदन करता है।
4. *किरणावली* में भक्ति शब्द को आराध्य-प्रकारक-ज्ञान की शब्दावली में परिभाषित किया गया है।[11]
5. *शब्दकल्पद्रुम*[12] के अनुसार पूज्य/ईश्वर के प्रति परम अनुराग को ही भक्ति कहा गया है।
6. *योगसूत्र*[13] में सुखानुशयी राग को ही भक्ति कहा गया है।
7. *पांचरात्र आगम* सुदृढ स्नेह को भक्ति कहता है।
8. *गीता* में समस्त गुणों के स्रोत परमात्मा के प्रति सानुराग ध्यान को ही भक्ति कहा गया है।
9. *गीता* पर *रामानुजभाष्य*[14] में परमात्मा के स्वरूप व गुणों का तैलधारावत् सतत चिन्तन ही भक्ति कथित है।
10. *नारदीयसूत्र*[15] में परमात्मा के प्रति निरन्तर परम प्रेम को भक्ति कहा गया है।
11. मधुसूदन सरस्वती[16] के अनुसार भगवद्गुण-श्रवण आदि से द्रवीभूत हुए चित्त की सर्वेश्वर भगवान् के विषय में धारावाहिकता को प्राप्त हुई वृत्ति ही भक्ति है।

कोशों में भक्ति शब्द की सेवा, आराधना, अनुरागविशेष, तदेकताप्रधानचित्तवृत्ति आदि अर्थों में भी व्याख्या की गयी है।[17] साथ ही भक्ति शब्द को भज् धातु में क्तिन् प्रत्यय से निष्पन्न कर भज् धातु के विभेदात्मक अर्थ को भी प्रस्तुत किया गया है। इसी कारण भक्ति की धारणा में द्वैत का संस्पर्श सदैव लिपटा हुआ है। भक्ति की धारणा सदैव भक्त, भजन व भजनीय या उपासक, उपासना व उपास्य की त्रयी को लेकर प्रस्तुत होती है। इनमें प्रमाता के स्तर पर तो भक्ति शब्द के रागात्मक अभिप्राय को सन्दर्भ मिलता है और प्रमेयगत स्तर पर भेदात्मक अभिप्राय को। इसके अतिरिक्त एकाध सन्दर्भ ऐसे मिलते हैं जहाँ 'स्वरूपानुसंधान' को भक्ति कहा गया है। इस प्रकार

भक्ति की धारणा में निहित विविध अभिप्रायगत सन्दर्भों को निम्न प्रकार से संक्षेप में प्रस्तुत कर सकते हैं—

(क) निर्हेतुक निरतिशयप्रेमभाव की सततता।
(ख) श्रद्धा व आस्तिक्य बुद्धि।
(ग) कल्पित/सहज द्वैत भाव की अनिवार्यता।
(घ) अपने आराध्य की असीमितता व उत्कृष्टता तथा अपनी सीमितता पर दृढ़ विश्वास।
(ङ) आराध्य के प्रति पूर्ण समर्पण भाव।
(च) आराध्य की द्रवणशीलता।
(छ) आराध्य का सतत चिन्तन।
(ज) एकमात्र आराध्य में समस्त लौकिक-अलौकिक सिद्धियों की सम्पादन-सामर्थ्य।
(झ) भक्त व आराध्य के मध्य का विशेष सम्बन्ध का बोध।

निर्हेतुकता या निष्कामिता की मात्रा भक्ति की पराकाष्ठा को निर्धारित करती है। *गीता*[18] में स्पष्ट शब्दों में भक्तों की चार कोटियाँ स्वीकारी गयी हैं—'आर्त', 'जिज्ञासु', 'अर्थार्थी' व 'ज्ञानी'। जिनमें अर्थार्थी, अर्थात् जो कुछ पाने की चाह से भगवद्भक्ति करता है, निकृष्ट श्रेणी का भक्त कहा गया है तथा जो परमेश्वर के यथार्थ रूप को जान लेने के बाद अब और कुछ भी जानने की इच्छा नहीं करता, मात्र कर्तव्यबुद्धि से ही परमेश्वर की भक्ति करता है, वह ज्ञानी सब भक्तों में श्रेष्ठ माना गया है।

इस भक्तियोग की प्रमुख विशेषताएं हैं—

(क) अनवरत ब्रह्मभाव में लीन रहना।
(ख) सतत प्रभु का चिन्तन करना।
(ग) उसके गुणों में ही मन व बुद्धि को रमाना।
(घ) स्वयं को उससे एकाकार करना।
(ङ) प्रभु से अतिरिक्त अन्य किसी की कामना न करना।

इस भक्ति के कई प्रकारों की चर्चा भी उपलब्ध होती है जैसे *भागवतपुराण*[19] में भक्ति के नौ प्रकारों की चर्चा की गयी है। श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पादसेवन अर्चन, वन्दन, दास्य, सख्य व आत्मनिवेदन रूप—नौ प्रकार हैं। *नारदीय सूत्र*[20] में इस भक्ति को ग्यारह प्रकार की बतलाया गया है।

इन नाना प्रकारों की कल्पना होने पर भी अन्ततः भक्ति की धारणा में मन की भावात्मक वृत्ति का सदैव विशेष स्थान रहता है। परमेश्वर के प्रति निर्हेतुक व निरतिशय प्रेम भाव को रखते हुए स्ववृत्ति को तदाकार करने का काम मन का ही है। यहाँ मन दो भागों में बँट जाता है—

1. भक्ति करने वाला मन।
2. भक्ति द्वारा उपास्य पदार्थ।

इस भक्ति की धारणा में मन की अनिवार्य कृतकार्यता के रहते किसी अव्यक्त निराकार तत्त्व को उपास्य रूप से प्रतिष्ठित नहीं किया जा सकता क्योंकि मन को स्थिर होने के लिये कोई अवलम्ब चाहिए। अतः मन को अपने व्यापार हेतु एक प्रत्यक्ष नामरूपात्मक पदार्थ का आश्रय

लेना पड़ता है जिसे 'सगुण' की संज्ञा से व्यक्त किया जा सकता है। इसी को शास्त्रों में प्रतीक रूप से भी कहा गया है।[21] भक्ति का सम्बन्ध प्रतीक से नहीं है वरन् प्रतीक के मूल में निहित उस आन्तरिक भावना से है जिसका वह प्रतिनिधि है। इसी दृष्टि से सारे शब्द (स्तुति आदि) उस एक ही गन्तव्य तक ले जाते हैं क्योंकि उन सभी में मूलभूत परामर्श एक ही है। निर्गुण, निराकार तत्त्व तो साध्य है, साधन नहीं। अव्यक्त में चित्त की एकाग्रता अति दु:साध्य है। प्रेममूलक भक्ति मार्ग में उस प्रत्यक्ष ग्राह्य सगुण तत्त्व की उपासना कर अन्तत: उस निर्गुण तक पहुँचा जाता है। इस प्रकार सामान्यत: भक्ति को साधन ही माना जाता है। *गीता*[22] जिन दो निष्ठाओं (सिद्धावस्था) की बात करती है वे हैं ज्ञाननिष्ठा व योगनिष्ठा। इनमें से योगनिष्ठा के साधन रूप में ही अव्यक्तोपासना व व्यक्तोपासना को स्थान मिला है। साधक अपनी योग्यता के अनुसार ही इन द्विविध उपासनाओं में से एक का मार्ग स्वीकारता है पर अन्तत: निष्काम कर्म के पड़ाव पर पहुँच कर दोनों मार्ग एक हो जाते हैं।

अब काश्मीर शिवाद्वयवाद में इस भक्ति का क्या स्वरूप है इस विषय पर विचार प्रासङ्गिक होगा। काश्मीर शिवाद्वयवाद की कुछ निजी विशेषताएं हैं जिनका स्पष्ट प्रभाव यहाँ की भक्ति की धारणा में भी दिखाई पड़ता है। काश्मीर शिवाद्वयवाद में स्वीकृत परमेश्वर की कल्पना एक पूर्ण तत्त्व की कल्पना है जिसमें सारे भेद अंश रूप से समाहृत हैं, अत: ऐक्य तो वास्तविक है और भेद आभास रूप। इसी को यहाँ की दार्शनिक शब्दावली में एक ही प्रकाशतत्त्व का स्फार कहा जाता है। भक्ति की अवधारणा में भेद भी आवश्यक है व ऐक्य भी। भेद जहाँ कल्पित या अवास्तविक है वहीं ऐक्य यथार्थ है। अत: भक्ति अपने यथार्थ रूप में इसी सम्प्रदाय में सिद्ध होती है। जहाँ सामान्य भक्ति का स्वरूप है भेद में अभेद, वहीं काश्मीर शिवाद्वयवाद में भक्ति है अभेद में भेद। रुद्र व शिव की उपासना के उल्लेख यों तो प्राचीन काल से ही वैदिक व तांत्रिक दोनों ही धाराओं में उपलब्ध होते रहे हैं, पर काश्मीर शिवाद्वयवाद में इस शिवपरक भक्ति को जो दार्शनिक आधार दिया गया है वह मुख्यत: हमें आचार्य उत्पल के ग्रंथों से ही उपलब्ध होता है।

इसी को आगे जाकर अभिनवगुप्त, क्षेमराज व जयरथ और विकसित व पुष्ट करते हैं। प्राय: सभी दर्शन-सम्प्रदायों के साथ समानान्तर रूप से एक भक्तिपरक धारा भी प्रवाहित होती रही है क्योंकि भारतीय दर्शनों व धर्मों के मध्य अन्योन्याश्रय संबंध रहा है। इसी दृष्टि से शैव दार्शनिक दर्शन-ग्रंथों के साथ-साथ स्तुतिपरक ग्रंथों की रचना भी करते रहे हैं जिनमें स्वीकृत दार्शनिक सिद्धान्तों के संदर्भ में ही भक्ति की धारणा को विकसित किया गया है।

प्राचीन तंत्र *मालिनीविजयोत्तर* में 'रुद्र-भक्ति' को स्पष्टत: 'रुद्रशक्ति-समावेश' का प्रथम चिह्न माना गया है।[23] *शिवसूत्रों* में भैरवसमापत्ति की प्राप्ति हेतु एक ऐसे मार्ग को प्रस्तुत किया गया है जिसमें ज्ञान, क्रिया व योग का अद्भुत संगम है पर चित्त की मननात्मकता, महाह्रद के अनुंसधान, शरीरवृत्तिरूप व्रत आदि धारणाओं में भक्ति की धारणा के बीज भी अंतर्निहित हैं। वस्तुत: तो भैरवैकात्म्य प्राप्ति के सभी मार्गों में चिदैकात्म्य की जिस सतत भावना को पृष्ठभूमि में स्वीकारा गया है वही शिवाद्वयवादी भक्ति सिद्धांत का स्रोत है।

शिवदृष्टि में सोमानंद प्रथम बार दार्शनिक संदर्भों के मध्य भक्ति की अवधारणा को स्थापित करते हैं पर इसे भक्ति के नाम से सुस्पष्ट न कर 'भावना' ही कहते हैं। सोमानंद का कहना है कि

एक बार प्रमाणों से, शास्त्र से अथवा गुरुवाक्य से सर्वस्थ शिवत्व की सुदृढ़ प्रतिपत्ति हो जाने पर न तो किसी अन्य करण (साधन) की अपेक्षा बचती है और न भावना की, फिर भी विचित्र कर्मों के लिए विविध साधनों व उपायों का कथन किया जाता है।[24] इन उपायों में भावना का विशेष स्थान है। सर्वत्र शिव की सतत भावना से सारा संसार शिव-रूप ही प्रतीत होता है। यह भावना ही आस्था बुद्धि को जन्म देती है। यह आस्था बुद्धि ही भक्ति का सार है।[25] यहीं अद्वैत भक्ति की धारणा को शैव संदर्भों में प्रतिष्ठापित करने का भी अप्रत्यक्ष प्रयास मिलता है। सर्वत्र शिवात्मता के विनिश्चयन के बाद तो पूजक व पूज्य का भेद समाप्त हो जाता है पर इस शिवात्मता के विनिश्चयन में ध्यान, भावना व आस्था के महत्त्व को बराबर स्वीकार किया गया है।[26]

आचार्य उत्पल अपनी *ईश्वरप्रत्यभिज्ञाकारिका* के प्रथम मंगलश्लोक में 'कथंचिद्' शब्द से महेश्वरदास्यभाव की प्राप्ति में परमेश्वर की कृपा या अनुग्रह को ही निमित्त मानकर सभी सम्भव उपायों व मार्गों को समान महत्त्व प्रदान करते हैं पर अन्ततः वे इस अनुग्रह से प्राप्त माहेश्वर्य के साक्षात्कार को गुरुतः, शास्त्रतः, स्वतः सभी प्रकार से दृढीकृत करके उसकी सतत भावना को ही सम्यक् आवेश का मूल मानते हैं।[27] यह सतत विभावन ही भक्ति है। अतः भक्ति की उत्कृष्टता सर्वोपरि है। इसी तथ्य को अभिनवगुप्त अपनी *ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी* में अपने द्वारा रचित एक स्तोत्र के उद्धरण के माध्यम से पुष्ट करते हैं कि सभी क्रियाओं अथवा विधियों का पर्यन्ततः एक ही फल है—त्वन्मयता।[28] अपने *शिवस्तोत्रावली* नामक ग्रंथ में उत्पल स्पष्टतः भक्ति को सभी उपायों में श्रेष्ठ मानते हैं। अभिनवगुप्त अपनी *विमर्शिनी* टीका में इस 'कथंचित्' की व्याख्या परमेश्वर के मायीय कार्यकारणभाव के नियमों से शून्य स्वेच्छावभासित स्वात्मप्रथन रूप से करते हैं। इसे ही यहाँ की दार्शनिक शब्दावली में 'अनुग्रह' रूप कृत्य कहा गया है। अतः बिना किसी लोकदृष्ट नियमबद्ध कारणता के परमेश्वर स्वेच्छा मात्र से जिस किसी पर भी अनुग्रह करता है वही उसके शक्तिपात का अधिकारी होता है। फलतः उसमें शिवैकात्म्यबुद्धि का उदय होता है और वह शिवाद्वयवादी भक्ति का अधिकारी बनता है। इस शक्तिपात का सूचक चिह्न ही है वह भक्ति भाव। शिवाद्वयवाद में भक्ति प्रारम्भ होती है उस समावेशात्मिका चित्तवृत्ति से, जिसका उदय किसी सांसारिक निमित्त से न होकर परमेश्वर की इच्छा मात्र से होता है।[29] पर अब उसके समस्त भक्तिप्रवण व्यापार इसी समावेश बुद्धि से आपूरित रहते हैं। यहाँ नमस्कार का अभिप्राय है शरीर, मन व वचन से तदैकात्म्य प्राप्ति की भावना से पूर्ण प्रह्वीभाव।[30] उस भक्ति का फल है 'दास्य' भाव जिसको अभिनवगुप्त सामान्य अभिप्राय से भिन्नतया 'परमेश्वररूप स्वातन्त्र्य की पात्रता' रूप से व्याख्यात करते हैं।[31] *ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविवृति-विमर्शिनी*[32] में वे इस 'महेश्वरस्य दास्यं' शब्द को और स्पष्ट करते हुए 'महेश्वरप्रत्यभिज्ञानप्राणितभक्तत्व' रूप से प्रस्तुत करते हैं। इस परमेश्वरता का लाभ होने पर सारी सम्पत्तियाँ उसे स्वतः प्राप्त हो जाती हैं।[33]

यह 'प्रह्वीभाव' भक्तिमार्ग का सार है। इस प्रह्वता की व्याख्या करते हुए अभिनवगुप्त *विवृति-विमर्शिनी* में कहते हैं कि प्रह्वता भगवत्स्वरूप के उत्कर्ष के दर्शन से सिद्ध होती है और उसके लिये आवश्यक है कल्पित मायाप्रमातृगत अभिमान का न्यग्भाव। अब संवित् के यथार्थ स्वरूप का ज्ञान प्राप्त होता है जिसे दार्शनिक शब्दावली में 'समावेश' की स्थिति कहते हैं।[34] यह प्रह्वता

अपने से उत्कृष्ट के प्रति ही उचित है, न समान के प्रति व न हीन के प्रति। यह प्रह्वता व उत्कर्षरूप परामर्श मानस संवेदन और उसके साररूप वाक् तत्त्व का ही विषय है, अतः भक्त भगवान् के प्रति इसी मनोवागात्मक परामर्श को अर्पित करता हुआ सब कुछ उसे समर्पित कर देता है।[35]

इस प्रकार समावेश के बल से स्वस्वरूप में परमार्थतः उस परमेश्वर के ही प्रकाशित होने पर भ्रान्त अपारमार्थिक अभिमान की तुच्छता का बोध हो जाता है और तब उस आनन्द-स्वरूप पूर्ण तत्त्व में सतत समावेश के प्राबल्य से युक्त शुद्धबोधमयी भक्ति का उदय होता है। इसी भक्ति से मोक्ष की प्राप्ति होती है। मोक्ष है दृक्क्रियात्मक परिपूर्णता का आस्वादन। इस अवस्था की प्राप्ति होने पर पुनः व्युत्थान की आशंका समाप्त हो जाती है।[36] क्योंकि मोक्ष की अवस्था सर्वथा 'नैर्मल्य' की अवस्था है जिसमें भगवद्रूपता या तादात्य की स्थिति निरन्तर बनी रहती है।[37] इसमें कोई मायागत संस्कार अवशिष्ट नहीं रहता। भक्त का मन सदैव उस आस्वाद के लाभवश उस आवेश के वश में रहता है। जिसने इस आस्वाद को प्राप्त नहीं किया है उसमें स्थित श्रद्धा ही उसको इस आस्वादात्मक भक्ति की पात्रता देती है।[38] इस परमेश्वरदास्यभाव की प्राप्ति के अन्य निमित्त भी संभव हैं जैसे आर्ति, जिज्ञासा, फलौत्सुक्य आदि, पर परमेश्वरापत्तिरूपा भक्ति ही सर्वोत्कृष्ट है जिसमें किसी फल की चाह नहीं है। आर्ति में दुःखनिराकरण की इच्छा रहती है, सुखसंपत्ति-प्राप्ति की चाह फलौत्सुक्य में निहित है तथा तत्त्वज्ञान की जिज्ञासा में भी निष्कामित्व नहीं है। अतः समावेशभाव से युक्त भक्ति ही सर्वश्रेष्ठ है।[39]

वस्तुतः समस्त 'स्तुति', 'प्रणाम', 'पूजा', 'ध्यान', 'समाधि' आदि कृत्य इस समावेशात्मिका बुद्धि के पल्लव ही हैं। इन सभी कृत्यों में प्रह्वीभाव की भावना की अनुप्राणकता है।[40] अभिनवगुप्त की दृष्टि में उपासना के दो अंग हैं—(1) विशुद्ध भक्तिपरक, (2) साधनापरक। इनमें से प्रथम 'पराभक्ति' का क्षेत्र है जबकि द्वितीय 'अपराभक्ति' का। द्वितीय में मंत्र, मुद्रा, योग आदि रूप से सम्पादित साधना भी आती है व स्वात्मपूजन भी साधना के प्रकृष्ट रूप में स्वीकृत होता है। यह स्वात्मपूजन उस अपर साधना की परिपक्वावस्था है।

अभिनवगुप्त *तंत्रालोक* में दार्शनिक सन्दर्भों में भक्ति की संभावना पर स्पष्ट विवेचन करते हैं। उनकी दृष्टि में यह सारा जगत् परमेश्वर के ही अवरोहण व आरोहण की क्रीडा है।[41] मोक्ष व बन्ध भी उसकी क्रीडा के ही परिस्पन्द हैं, अतः वह स्वयं ही स्वेच्छापरिकल्पित बन्धनों में बँधता है व स्वनिर्मित साधनों से मुक्त होता है।[42] अतः जब वह अपने किसी अंश के प्रति स्वरूपावरण व्यापार का निरोध करना चाहता है तब उस अणु को शिवरश्मियों के स्पर्श से अपने यथार्थ ज्ञान-क्रिया स्वातन्त्र्य का बोध करा देता है। पर इस शिवरश्मि के स्पर्श की मात्रा में भेद रहने से इस बोध में विविध प्रकार से तरतमभाव प्राप्त होता है। यह शिवरश्मिस्पर्श ही पारिभाषिक शब्दावली में 'शक्तिपात' है।[43] इस अनुग्रह कृत्य में परमेश्वर को अपनी इच्छा के अतिरिक्त अन्य किसी निमित्त की अपेक्षा नहीं होती।[44] पर इस अनुग्रह कृत्य के कई प्ररूप हो सकते हैं। कहीं 'भक्तियोग' से, कहीं 'कर्म' से, कहीं 'विद्या' अर्थात् 'ज्ञान' से, कहीं 'ज्ञान-धर्म' के उपदेश से, कहीं 'मंत्रों' से व कहीं 'दीक्षा' से—इस प्रकार नाना प्रकारों से परमेश्वर संसारियों पर अनुग्रह करता है। यह नाना-प्रकारता अनुग्राह्यों के वैचित्र्य पर ही निर्भर करती है।[45] इस शक्तिपात का

सूचक प्रथम चिह्न है शंकर के प्रति भक्ति का उदय। इस भक्ति के, फल की इच्छा न करने वाले मुमुक्षु के मन में, उदित होने पर इसे किसी कर्म आदि की अपेक्षा नहीं रहती पर फलार्थी के मन में उदित होने पर कर्मों की अपेक्षा रहती है क्योंकि कर्मवैचित्र्य के आधार पर ही फलवैचित्र्य का निर्धारण होता है।[46] अत: शक्तिपात की दो स्थितियाँ हैं। प्रथम है 'पर शक्तिपात' की स्थिति जिसमें परा भक्ति का उदय होता है तथा द्वितीय है 'अपर शक्तिपात' की स्थिति जो अपराभक्ति का कार्यक्षेत्र है। परन्तु अपर शक्तिपात भी पार्यन्तिक रूप से शिवत्वलाभ ही कराता है।[47] वैसे तारतम्यवश इस शक्तिपात के नाना प्रकार हैं पर भक्ति शक्तिपात के सभी प्रकारों में समान रूप से प्रथम लक्षण रूप में विद्यमान रहती है।[48] यह भक्ति ही पराकाष्ठा को प्राप्त कर मोक्ष कही जाती है।[49] इस प्रकार यहाँ भक्ति का एक मात्र निमित्त है शिव का प्रसाद या अनुग्रह और इससे ही परमसिद्धि का लाभ घटित होता है।[50] शिव के इस प्रसाद का अभिप्राय है मलापगम, फलत: नैर्मल्यभाव, जिससे पूर्णरूपता का प्रकाशन होता है। अभिनवगुप्त स्पष्ट शब्दों में वैष्णव सम्प्रदायों में स्वीकृत भक्ति की निकृष्टता सिद्ध करते हैं क्योंकि उनकी दृष्टि में द्वैत माया का क्षेत्र है और कर्मसापेक्ष विष्णु आदि की उपासना उस शिवीभाव रूप महासिद्धि का लाभ नहीं करा सकती।

भक्त को किसी दीक्षा आदि की आवश्यकता नहीं है वह तो भक्तिमात्र से सब कुछ पाने में समर्थ है।[51] जैसे एक मरणासन्न व्यक्ति की मृत्यु में अल्प या बहुत मात्रा में दिया गया विष कारण तो है पर साक्षात् कारणता भोग क्षय की है। उसी तरह मुक्ति में भी शक्तिपातैकलक्षणा भक्ति की ही मुख्य कारणता है। अन्य दीक्षादि उपाय तो उसी अपराभक्ति से एक रूप होकर उपाय हैं।[52] अत: भक्ति का ही दृढ़ता से आश्रय लेना चाहिए।

वैसे तो काश्मीर शिवाद्वयवादी आचार्य दार्शनिक ग्रंथों के साथ-साथ बराबर भक्तिपरक स्तोत्रों का प्रणयन करते आये हैं यहाँ तक कि आचार्य अभिनवगुप्त अपने *तंत्रालोक* जैसे बृहत् दार्शनिक ग्रंथ को भी अन्त में शिव की ही नुति अर्थात् स्तुति बतलाते हैं,[53] पर इस सम्प्रदाय में कुछ ग्रंथ विशेषत: उल्लेखनीय हैं जिनमें कि इस शिवाद्वयवादी भक्ति की धारा के बहुरंगी स्वरूप को अभिव्यक्ति मिली है। ये ग्रंथ हैं—आचार्य उत्पलकृत *शिवस्तोत्रावली* तथा भट्टनारायणकृत *स्तवचिन्तामणि* । *शिवस्तोत्रावली* में आचार्य उत्पल इस अद्वैत भक्ति का परम प्राप्तव्य माहेश्वर दास्यभाव को ही मानते हैं।[54] अत: वे समावेशात्मिका पराभक्ति का ही सर्वत्र गुणगान करते हैं।[55] उनकी दृष्टि में ऐसे ही भक्तों के लिये संसार का क्षुद्र से क्षुद्र अंश भी परसिद्धि की प्राप्ति का साधन है।[56] यह भक्ति वह आनन्दरस है जिसका एक बार आस्वादन करने वाला हमेशा उसके आस्वाद में मग्न रहता है।[57] वह भक्त ज्ञेय व ज्ञातृभाव की संक्षुभित अवस्था में भी उस शिवरूपता का ही सर्वत्र दर्शन करता है। जिनको यह भक्ति रूपी महाविद्या प्राप्त हो जाती है उन्हें विद्या व अविद्या दोनों के यथार्थ तत्त्व का ज्ञान प्राप्त हो जाता है।[58] इस भक्ति के प्रकाण्ड महत्त्व को बतलाने के लिये वे यहाँ तक कहते हैं कि शास्त्रों में जो कहा गया है कि 'शिवो भूत्वा यजेत' उसकी जगह 'भक्तो भूत्वा यजेत' ही कहना चाहिए क्योंकि भक्त ही उस अद्वयरूप शिवतत्त्व के यथार्थ रूप को जान पाते हैं।[59]

अन्य मार्गों से उस परतत्त्व की प्राप्ति किसी नियत समाधि की अवस्था में या हृदय आदि किसी निश्चित स्थान पर ही संभव है पर भक्त को उसकी प्राप्ति सभी अवस्थाओं में समान रूप

से होती है (*शि०स्तो०* 1/16)। भक्त तो व्युत्थानावस्था में भी समाधिस्थ ही होता है यही उसकी योगी से उत्कृष्टता है(1/17)। वस्तुतः इस माया-रहित शिवमार्ग में न तप, न योग, न अर्चाक्रम का इतना महत्त्व है जितना कि भक्ति का।[60] भक्तों के जिह्वाग्र पर सदैव 'शिव' रूप एक शब्द विद्यमान रहता है, अतः समस्त विषयगत आस्वाद उन्हें सदैव प्राप्त होते रहते हैं (1/20), क्योंकि वह शिवतत्त्व तो जगदानन्दरूप है। विविध तपोनिष्ठ मुनियों के द्वारा भी जो अज्ञेय है, भक्त जन उसको सहज ही पा लेते हैं। सच्चे भक्त जन किसी भी प्रकार के दैन्यभाव से शून्य होकर सारे जागतिक व्यापार को परतत्त्व की क्रीडा के प्रसार रूप से और अपने सारे कार्यों को उसकी पूजा के रूप में (7/8) ही देखते हैं। वे पूर्णाहन्ता के आस्वाद से युक्त भक्ति के रसास्वादन के कारण 'नमो मह्यं शिवाय' कहते हुए तिनके की भी पूजा कर सकते हैं (5/15)। इस भक्ति रस के आभोग की पार्यन्तिकता वह विह्वलभाव है जिसमें भक्त कभी रोता है, कभी हँसता है व कभी नाचता है (5/8, 9/16)। ऐसा भक्त केवल एक ही इच्छा करता है कि वह कभी भी अपने प्रभु से वियुक्त न हो।[61] वह तो अपनी समस्त इन्द्रियों की वृत्तियों के माध्यम से उस परतत्त्व की ही प्राप्ति करना चाहता है। अब तो उसका सर्वस्व शिव है, अतः उसे किसी सांसारिक बन्धु, बान्धव की आवश्यकता नहीं है।[62] उसका सुख है उसके प्रभु का समागम और दु:ख है प्रभु का विरह (13/1)। इस भक्ति की पराकाष्ठा में भक्त को, चित्स्वरूप को आवृत करने वाली जरा भी मलिनता जो कि यहाँ प्राणादि का संस्कार रूप ही है, सह्य नहीं होती। वह तो उस चिदानन्द रूप में पूर्णतया एकाकार हो जाना चाहता है (13/2)। वह रोते, हँसते, व्युत्थान व समाधि सभी अवस्थाओं में अपने आराध्य को ही जोर-जोर से स्तुति पद गा गाकर पुकारता है (15/3)। उसे न मोक्ष की आकांक्षा है न नाना सिद्धियों की। वह तो सर्वदा, मात्र भक्ति रस से ही सिक्त रहना चाहता है (15/4)। उसके लिये अब न तो कुछ प्राप्य है न कुछ दुर्लभ है। वह तो भक्ति के रस में मस्त होकर मात्र स्वेच्छा से घूमता रहता है (17/23)।

इस प्रकार शिवस्तोत्रावलीकार की भक्ति में कातरता भी है और विनय भी, समर्पण भी है और आर्त पुकार भी, पर कहीं उस समावेशात्मक एकात्मभाव से च्युति नहीं है। सर्वत्र उस भक्ति रस के आनन्द की संतृप्ति के माहात्म्य का गुणगान करते हुए उसे पाने की विकल इच्छा ही यहाँ का एकमात्र प्रतिपाद्य है। साथ ही उस सम्प्रदायगत दार्शनिक पृष्ठभूमि को भी कहीं दृष्टि से ओझल नहीं किया गया है। परमेश्वर अपनी स्वेच्छा से शक्तिपात कर दासत्व तो प्रदान कर देता है पर रुद्रशक्ति के समावेश से जन्य आह्लाद का आभोग भक्ति से ही बनता है (13/10)। इस चमत्कार के आभोग की एक सर्वजनसंवेद्य युक्ति देते हुए उत्पल कहते हैं कि समस्त सुन्दर व उपयोगी वस्तुओं के प्राथमिक आलोचन मात्र से जैसे एक अलौकिक चमत्कारात्मक बोध प्राप्त होता है वैसे ही परमेश्वर के स्वरूप के बोध मात्र से भक्त को उस अनिर्वचनीय आनन्द का आस्वादन होता है (13/14)। उत्पल यहीं इस प्रश्न का भी उत्तर देते हैं कि उस निर्मल स्वरूप परमेश्वर की अर्चना के लिये जो विविध साधनों का उपयोग बतलाया जाता है वह कैसे संभव है, क्योंकि मलिन पदार्थों से शुद्ध स्वरूप की उपासना कैसे की जा सकती है। उत्पल का मत है कि सारा जगत् परमेश्वर का ही स्फार है, उसी का घूर्णन है, अतः कुछ भी उस परमेश्वरत्व से रहित नहीं है, अतः मलिनता की कहीं बात नहीं आती। सब कुछ उसी आनन्दघन का ही अंश है (13/15)।

मलिनता के लिये तो प्रमाता की भेद दृष्टि ही उत्तरदायी है जिसका कि उदात्तीकरण परमेश्वर की अनुग्रह शक्ति द्वारा हो ही चुकता है (13/16)। इस समावेशात्मिका भक्ति में उच्चार, करण, ध्यान आदि बाह्य उपायों की अकृतकार्यता है, सर्वदा स्वत:घटित चित्स्वरूप के स्पर्श का उत्सव ही इसकी पूजाविधि है (17/4)। इस पूजा में कोई प्रारम्भ व कोई अन्त नहीं है, कोई कालक्रम नहीं है। समावेशात्म भक्त की कोई भी क्रिया इस पूजा का वाच्य है। यह भक्ति ज्ञान की परमा भूमि भी है और योग की परमा दशा भी (9/9)। अणिमादि सिद्धियों से लेकर मोक्ष तक सभी इसी भक्तिलता के फल हैं। आचार्य उत्पल की दृष्टि में यह समावेशात्मिका भक्ति अणिमादि सिद्धियों से मिल कर ही पूर्ण होती है।[63] भक्तजनों की महिमा यह है कि ये अपने सम्पर्क में आने वाले मलिन मन वाले लोगों को भी अपने भक्ति-प्रसूनों की सुगन्ध से सुवासित कर देते हैं (15/16)। अत: जो उपाय-क्रम से प्राप्त है वही भक्ति के द्वारा एक बार में ही अपने पूर्ण विशुद्ध रूप से भासित हो जाता है। इस अद्वैत भक्ति में जो द्वैतभाव की परिकल्पना की जाती है भक्त अपनी पराकाष्ठा पर जाकर उससे मुक्त होकर उस अद्वैततत्त्व के आनन्द में निमग्न हो जाता है (16/13)। द्वैत भक्ति से अद्वैत भक्ति की यही उत्कृष्टता है कि द्वैत भक्ति में मात्र शिवता की आकांक्षा रहती है जबकि अद्वैत भक्ति 'सद्य:समावेशमयी' है।[64] इस भक्ति की विपक्वावस्था का नाम ही मुक्ति है।[65] भक्ति व प्रेम का घनिष्ठ सम्बन्ध है। भक्ति प्रेम से जन्म लेती है व प्रेम भक्ति से।[66] पूजा भक्ति प्रकट करने का अनिवार्य माध्यम है। इसीलिये पूजा की महिमा का पर्याप्त बखान *शिवस्तोत्रावली* में किया गया है। यह पूजा दो तरह से संभव है—बाह्य पूजा व आन्तर पूजा। इनमें से 'बाह्य पूजा' का सम्बन्ध अपराभक्ति के क्षेत्र से है, समावेशात्मिका परा-भक्ति का सम्बन्ध 'आन्तर पूजा' से है जिसमें पूजक ही पूज्य बन जाता है। देह की समस्त क्रियाएं ही अर्चाविधि का अंग हो जाती हैं।[67] यहाँ शंका केवल यह होती है कि यदि शक्तिपात से पूजक को शिवैकात्म्य का ज्ञान हो गया है तब वह किसी प्रतीक की विविध उपचारों से पूजा क्यों करता है। उत्तर में संभवत: हम यही कह सकते हैं कि उस पूजा के माध्यम से वह उस एकात्मता के ज्ञान को अपने अनुभव से सिद्ध करने का प्रयास करता है, अत: द्वैत की कल्पित अवस्था को स्वीकार कर पूजा, पूजक, पूज्य की त्रिपुटी का आश्रय लेता है।

स्तवचिन्तामणिकार भी भक्ति के माहात्म्य का निरूपण करते हुए भक्त की अनुभूतियों का विस्तार से वर्णन करते हैं। भक्त को जाग्रत् व स्वप्न सभी अवस्थाओं में, तथा अपने सभी व्यापारों में बराबर उस शिवैकात्म्य की अनुभूति होती रहती है। उसे भक्ति के प्रकर्ष के कारण समस्त शास्त्रवाक्यों में एकवाक्यता का बोध होता है।[68] उसके लिये कोई ऐसा मार्ग नहीं है जिसका प्राप्तव्य वह न हो, कोई ऐसी वाणी या शब्द नहीं है जिससे उसका उच्चारण न होता हो, न कोई ऐसा ध्यान है जिसका ध्यातव्य वह न हो अर्थात् कुछ भी ऐसा नहीं है जो प्रभु का रूप न हो।[69] उनकी दृष्टि में इस शार्व भक्ति-चिन्तामणि को प्राप्त कर लेने वाले के लिये कुछ भी ऐसा नहीं है जिसे वह न प्राप्त कर सके।[70] वह भक्ति तो उत्तरोत्तर प्रकृष्ट परमानन्दसंपत्तियों को प्रदान करने वाली है।[71] इस भक्ति रूप कल्पलता के पल्लव हैं—ब्रह्मा आदि को अणिमादि की सिद्धि, सदाशिव आदि को सदैश्वर्य की प्राप्ति तथा शुद्धात्माओं को संसार के क्षय की अनुभूति। इस का कुसुम है—भगवत्-शक्तिमयता तथा फल है—भगवद्रूपता।[72] स्तवचिन्तामणिकार अपरा व पराभक्ति के

लिये 'कृत्रिम' व 'अकृत्रिम' शब्दों का प्रयोग करते हैं। कृत्रिम भक्ति है बाह्य पूजा, ध्यान, जप आदि से निर्वर्त्य भक्ति तथा अकृत्रिम भक्ति है बाह्य साधनों की अपेक्षा से रहित सर्वदा महान् अनुराग से उच्छलित भक्ति। पर यह कृत्रिम भक्ति भी अकृत्रिम फल रूप शिव-समावेश को प्राप्त कराने में समर्थ है और अकृत्रिम भक्ति का तो कहना ही क्या, वह तो जीवन्मुक्ति रूप समावेशात्मता की सदैव प्राप्ति कराती है।[73] स्तवचिन्तामणिकार की दृष्टि में तो भक्ति परमेश्वर से भी उत्कृष्ट है क्योंकि परमेश्वर तो शुभ-अशुभ दोनों का कर्ता है, पर भक्ति केवल शुभ की ही जननी है।[74]

भास्करकण्ठ अपने ग्रंथ *चित्तानुबोधशास्त्र* में 'नमस्कार' की धारणा के विस्तृत विवेचन के संदर्भ में भक्ति के प्रत्यय पर भी विचार करते हैं। उनकी दृष्टि में नमस्कार के कृत्य के मूल में यह भक्ति-भावना ही है। इसके बिना इसका कोई अर्थ नहीं है।[75] यह भक्तिमात्रता ही इस शिव मार्ग में प्रवेश के लिये अनिवार्य अर्हता है।[76] भक्तिहीन को दिया हुआ कोई भी ज्ञान या उपदेश सब निष्फल है।[77] उनकी दृष्टि में भक्ति मुक्ति से भी श्रेष्ठ है क्योंकि मुक्ति का तो एक ही आस्वाद है पर भक्ति के आस्वाद नानाविध हैं।[78]

इस प्रकार के उपर्युक्त विवेचन से निम्नलिखित निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं—

- काश्मीर शिवाद्वयवाद में प्रतिपादित भक्ति अनिवार्यत: समावेशात्मक है फलत: अद्वैत के सिद्धान्त के विरोध में कहीं नहीं जाती। शिव के शक्तिपात से साधक को जिस एकात्मता का बोध प्रारम्भ होता है, उसकी प्रकृष्टतम अभिव्यक्ति भक्ति के पार्यन्तिक रूप में जाकर होती है जिसे इस सम्प्रदाय की शब्दावली में 'चिदानन्दलाभ' कहा गया है।

- द्वैत भक्ति अर्थात् भेद-बुद्धि-प्रधान भक्ति को अपर या कृत्रिम भक्ति की कोटि में रखा गया है जिसका अन्तिम प्राप्तव्य तो वही अकृत्रिम समावेशरूपा परा भक्ति ही है।

- दास्य, वाल्लभ्य व समर्पण की शब्दावली में भी अद्वैत के ही रंग भरे गये हैं। दास्यभाव माहैश्वर्य का पर्याय है, वाल्लभ्य अनुग्रहपात्रता को लक्षित करता है तथा समर्पण भेद-बुद्धि का ही अर्पण है।

- निष्काम, निर्हेतुक निरतिशय राग ही भक्ति है—इस लोकसम्मत भक्ति की व्याख्या को यहाँ और प्रौढ़ता प्रदान की गयी है। इस अद्वैत दृष्टि में शिवैकात्म्य का अनुभव अकारण ही भक्त को सारी सृष्टि का निर्बाध स्वामित्व प्रदान कर देता है क्योंकि वह तो स्वयं शिव है। अत: कौन सा ऐसा काम है जो वह कर नहीं सकता, कौन सी ऐसी वस्तु है जिसे वह पा नहीं सकता।

- यहाँ इस भक्ति में 'आनन्द' की धारणा का ऐसा अनुप्रवेश है कि भक्ति एक अलग रस ही बन गयी है। वह रस स्वात्मचमत्कृतिरूप है जिसे आस्वादन-प्राणित आह्लाद रूप कहा जा सकता है। यह रसात्मक बोध सबसे मौलिक है, अन्य सारे रस इसी से उद्भूत होते हैं। अभिनवगुप्त उन सभी रसों को ब्रह्मानुभूति के आनन्द का एक बिन्दु ही मानते हैं। यह रसात्मक बोध इस भक्तिमार्ग की पूरी प्रक्रिया में विद्यमान रहता है।[79]

- इस शिवाद्वयवादी भक्ति में अहंकार का विलय नहीं होता वरन् अहंभाव का रूपान्तरण या उदात्तीकरण होता है। यह अस्वच्छता से स्वच्छता की ओर प्रसरण की प्रक्रिया है।

- यह आस्वादात्मक बोध शिवाद्वयवादी भक्ति को ऐसा सरस व जीवन्त रूप प्रदान करता है कि भक्त को जीवन की प्रत्येक क्रिया में उस परमानन्द के अंश का ही आस्वादन होने लगता है।

• भक्ति की रसात्मकता भक्ति की अवस्था में होने वाली अनुभूति की विलक्षणता को बतलाती है । जैसे रस ज्ञापक, कारक आदि लौकिक हेतुओं से विलक्षणतया जन्म लेता है और इसका आस्वादात्मक बोध लौकिक व अलौकिक (समाधि व ब्रह्मानन्दरूप) सभी आस्वादों से विलक्षण होता है वैसे ही भक्त की अनुभूतियाँ भी सबसे पृथक् हैं। इस तथ्य का उल्लेख बार-बार उत्पल व भट्ट नारायण अपने स्तोत्र ग्रंथों में करते हैं। भक्त अद्वैतानुभूति के महासागर में निरन्तर निमग्न रहकर भी बार-बार कल्पित द्वैत का आश्रय लेकर उस परमेश्वर की विविध प्रकार से अर्चना व नमन करता है, इसी स्थिति को गौरांग महाप्रभु 'अचिन्त्यभेदाभेद' की स्थिति कहते हैं।

• भक्ति की आनन्दात्मकता का स्रोत है स्वात्मचमत्कारात्मक बोध या चिदानन्दरूपता का लाभ अर्थात् अपने चित् व आनन्द रूप पक्षों के पूर्ण बोध की अवस्था। गोपीनाथ कविराज इनमें से चिदंश को ज्ञान का व आनन्दांश को भक्ति का प्रतिनिधि मानकर परम अद्वैत की अवस्था को ज्ञान व भक्ति के समग्र के रूप में ही प्रस्तुत करते हैं। वस्तुत: पराभक्ति की अवस्था है भी ऐसी ही जिसमें समावेशात्मक ज्ञान भी है और उस ज्ञान का आस्वादात्मक आभोग भी।

• इस अद्वैत भक्ति की धारणा में आत्मपूजा व देहपूजा का विशेष स्थान है क्योंकि शिवैकात्म्य लाभ के बाद तो भक्त या साधक स्वयं शिव हो जाता है, अत: उसका पूजन ही शिव का पूजन है।[80] देह द्वारा निष्पाद्य सारी क्रियाएं उस परतत्त्व का ही यजन हैं। इसी दृष्टि से इस भक्ति मार्ग में किसी बाह्य दीक्षा की अपेक्षा न होकर स्वात्मदीक्षा ही पर्याप्त है। जबकि अन्य मार्गों—ज्ञान व क्रिया—में प्रवेश हेतु दीक्षा अनिवार्य है।

• सामान्यत: भक्ति एक साकार ईश्वर की कल्पना के बिना संभव नहीं मानी जाती। इसी कारण यहाँ परमेश्वर की साकार रूप में भी कल्पना है। पर वह कल्पना भी अर्धनारीश्वर रूप में शिवशक्ति के संघट्ट को ही प्रस्तुत करती है जिसमें शान्तभाव भी है व लीला का विलास भी, विश्वोत्तीर्णता भी है व विश्वमयता भी, निर्वेद भी है व माधुर्य भी। अत: भक्तिगत रसात्मक बोध में भी दो ध्रुवों को एकाकार करने का प्रयास है। भक्त में वैराग्य भी है व अनुराग भी, भेदक्षपण की चेतना भी है व आत्मविभव के चमत्कार का बोध भी। इससे विद्वानों के समक्ष यह समस्या उपस्थित होती है कि समावेशात्मक बोध को शान्तरसगत निर्वेदप्रधान मानें या शृंगाररसगत माधुर्यप्रधान।

• इसी दृष्टि से इस सम्प्रदाय में भक्ति के सन्दर्भ में दो दृष्टियाँ प्रचलित हुईं—दास्यभाव प्रधान तथा माधुर्यभाव प्रधान। जहाँ दर्शन-प्रक्रिया में भक्ति दास्यभाव प्रधान है वहीं तंत्रप्रक्रिया में भक्ति माधुर्यभाव प्रधान है। तंत्र मार्ग की सारी प्रतीक-संरचना, पद्धति व साधना विधि इसी माधुर्यभाव को ही मूल में लेकर चलती है क्योंकि उस जगदानन्द का अन्वेषण व अनुभावन ही पूरी तांत्रिक साधना का लक्ष्य है।

• यहाँ भक्ति साध्यरूप ही है। इसी दृष्टि से उत्पल इसे अन्तत: प्रत्यभिज्ञानात्मक मान लेते हैं। पर साधनरूप भक्ति की विधा को भी अस्वीकृत नहीं किया गया है, मात्र उसे अपर कोटि में ही रखा गया है।

• विविध उपायों की कल्पना के सन्दर्भ में इस भक्ति की धारणा को कहां रखा जाये इस विषय पर कोई स्पष्ट विचार तो नहीं मिलता, पर शक्तिपात का प्रथम चिह्न होने से सभी उपायों में उसकी अन्तरंगता स्वत: सिद्ध है। भक्ति के प्रकर्ष के साथ-साथ उपायों की भी प्रकृष्टता होती

जाती है अन्ततः अनुपाय का स्तर उस पराभक्ति का ही कार्यक्षेत्र है। वस्तुतः बुद्धि जहाँ पहुँचने के लिये विविध साधन रूप उपायों की कल्पना करती है भावना वहाँ क्षण भर में पहुँच कर सतत प्रेमपूर्वक चिन्तन से उस अवस्था के आनन्द का प्रतिक्षण आस्वादन करती है। अतः भक्ति समस्त उपायों की पूर्वदशा भी है साथ ही समस्त उपायों का साध्य भी।

- ज्ञान व भक्ति में अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है। भक्ति ज्ञान-प्राप्ति की अनिवार्य अर्हता भी है व ज्ञान का प्राप्तव्य भी। ज्ञान में बुद्धि द्वारा आत्म-तत्त्व के यथार्थ स्वरूप का आकलन होता है जबकि भक्ति में श्रद्धा द्वारा उसका ग्रहण किया जाता है। अन्ततः इस भेद का विलय हो जाता है क्योंकि स्वाहंताचमत्कार जो ज्ञान का चरम प्राप्य है वही भक्ति की अन्तिम सीमा भी है। पर ज्ञान के उपरान्त होने वाली भक्ति भक्तिप्रवण चित्त में ही उदित होती है ज्ञानप्रवण बुद्धि में नहीं। पर इस भक्ति से जो आस्वादात्मक बोध जन्म लेता है वह ज्ञान का ही 'आवरणभंगजनित समुन्मेष' है[81]।
- यहाँ भक्ति के दो सोपान हैं—पहला है शान्त भक्ति व दूसरा है दास्यभक्ति। शान्त भक्ति, भक्ति की स्फुरणावस्था मात्र है। किंचित् विकसित होते ही इस पर दास्यभाव का रंग चढ़ जाता है। यद्यपि गौडीय वैष्णव आदि सम्प्रदायों में सख्य, वात्सल्य और माधुर्यभाव भी स्वीकारे गये हैं पर दास्यभाव इन सभी के मूल में निहित है। जहाँ अटूट निष्ठा शान्तभाव का लक्षण है, वहीं सर्वस्व-अर्पणबुद्धि दास्यभाव का विशिष्ट स्वरूप है। यह दास्यभाव भक्ति की सभी अवस्थाओं में अनुस्यूत है। इस दास्यभाव की ही अभिव्यक्ति है आत्मनिवेदन-प्रभु/स्वामी/नाथ/गुरु/देव के प्रति आत्मनिवेदन।
- यह शिवाद्वयवादी भक्ति अदृष्टनिरपेक्ष है।
- तांत्रिक धारा में दो तरह से उपासना का निरूपण मिलता है—एक तो विधिविधानसम्मत शास्त्रमर्यादापूर्ण रूप में तथा दूसरे समावेशमयी रागात्मिका भक्ति के रूप में। इस शास्त्रोक्त विधि विधानसम्मत उपासना के प्रमुख अंग हैं—उपास्य, उपासक, पूजाद्रव्य, पूजाविधि व मंत्रजाप। पर समावेशमयी रागात्मिका भक्ति में भगवत्कृपा व समर्पणभाव का ही विशेष महत्त्व है। यहाँ स्वात्मपूजन का ही माहात्म्य है।

इस प्रकार अन्ततः हम यही कह सकते हैं कि भक्ति एक संवेगात्मक अनुभूति है, दार्शनिक नहीं। इसी कारण भक्ति को रसात्मक बोध ही माना गया है और यह दृष्टि काश्मीर शिवाद्वयवाद में विशेषतः पल्लवित है क्योंकि यह सम्प्रदाय जिस उत्स से निःसृत है उसमें 'आनन्द' व 'शान्तभाव' के सामरस्य की ऐसी उत्कट चेष्टा है[82] कि वहाँ प्रस्तुत सारी मीमांसा इस 'उभयमेलनप्रक्रिया' को ही मूल में लेकर चलती है। अतः भक्ति सच्चे अर्थों में इस पूर्णतावादी तांत्रिक दृष्टि में ही संभव हो पाती है क्योंकि भेद व अभेद को जिस तरह यहाँ समरस बताया गया है वैसा अन्यत्र कहीं नहीं, और भक्ति न नितान्त भेद में संभव है और न नितान्त अभेद में।

पाद-टिप्पणी

1. यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ।
   तस्यैते कथिता ह्यर्था प्रकाशन्ते महात्मनः। —श्वे०उप०, 6/23
2. वे०सू० 3/2/17.

3. ज्ञानस्य परमा भूमिः योगस्य परमा दशा।
त्वद्भक्तिर्या विभो कर्हि पूर्णा मे स्यात् तदर्थिता।। —*शिवस्तोत्रावली* 9/9
4. अचिन्त्याः खलु ये भावाः न तांस्तर्केण चिन्तयेत्। —*गीता* 6/47
5. सा (भक्तिः) परानुरक्तिरीश्वरे। —*शाण्डिल्यसूत्र* 2
6. अहैतुक्यव्यवहिता या भक्तिः पुरुषोत्तमे। —*भागवतपुराण* 3/29/12
7. *विशिष्टाद्वैतकोश,* पृ० 184 पर उद्धृत।
8. उपरिवत्, पृ० 184.
9. एकाग्रचित्तवृत्तिः नैरन्तर्यरूपा स्मृतिसंततिः। —उपरिवत्
10. यमनियमाद्यष्टांगयुक्ततैलधारावद् विच्छिन्नस्मृतिसन्तानरूपः। —उपरिवत्
11. आराध्यप्रकारकत्वं ज्ञानम्। —*न्या०को०*, पृ० 615 पर उद्धृत
12. *शब्दकल्पद्रुम,* भा० 3, पृ० 463-64.
13. *यो०सू०* 2/7.
14. *विशिष्टाद्वैतकोश,* पृ० 65 पर उद्धृत।
15. *ना०सू०* 2.
16. *श्रीभगवद्भक्तिरसायन,* श्लो० 3.
17. *शब्दकल्पद्रुम,* भा० 3, पृ० 463-64; *वाचस्पत्यम्,* भा० 6, पृ० 4625-28.
18. *गीता* 10/16.
19. *भागवतपुराण* 7/5/23.
20. *ना०सू०* 82.
21. भक्ति मार्ग में प्रत्येक मनुष्य अपनी इच्छा और अधिकार के अनुसार किसी न किसी प्रतीक का आश्रय लेता है परन्तु सत्य परमेश्वर उस प्रतीक में निहित न होकर हमारी आन्तरिक भावना में है। जिस रूप में उसकी भावना की जाती है उसी रूप में वह फल देता है। इसी बात को *गीता* इस प्रकार कहती है— ''श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः।'' (17/3)
22. *गीता* 3/3.
23. *मा०वि०तं०* 2/13-14.
24. *शि०दृ०* 7/5-9.
25. सर्वामूर्तत्वतत्त्वास्थाबुद्धिदृष्टिप्रसक्तितः।।
सम्यगुत्पद्यतेऽन्तर्धिरूपणं भक्तिनिर्गतिः।
मतिर्ममत्वनिर्माणमनसां महतां तराम्।। —उपरिवत् 7/56-57
26. उपरिवत् 7/78, 7/90.
27. इति प्रकटितो मया सुघट एष मार्गो नवो
महागुरुभिरुच्यते स्म शिवदृष्टिशास्त्रे यथा।

तदत्र निदधत्पदं भुवनकर्तृतामात्मनो
विभाव्य शिवतामयीमनिशमाविशन्सिद्ध्यति।। —*ई०प्र०का०* 4/1/16

28. फलं क्रियाणामथवा विधीनां पर्यन्ततस्त्वन्मयतैव देव। —*ई०प्र०वि०* (भा०), भा० 1, पृ० 42

29. यद्यपि आयातदृढेश्वरशक्तिपातस्य स्वयमेवेयमियती परमशिवभूमिरभ्येति हृदयगोचरम्, न तु अत्र स्वात्मीय: पुरुषकार: कोऽपि निर्वहति, सर्वस्य तस्य मायामयत्वेनान्धतमसप्रख्यस्यामायीयं शुद्धप्रकाशं स्वप्रतिद्वन्दिनं प्रति उपायतानुपपत्ते ···। —उपरिवत्, पृ० 20-21

30. इह परमेश्वरं प्रति या इयं कायवाङ् मनसां तदेकविषयतानियोजनालक्षणा प्रह्वता सा नमस्कारस्य अर्थ:। —उपरिवत्, पृ० 18

31. दीयते अस्मै स्वामिना सर्वं यथाभिलषितम् इति दास:, तस्य भाव इत्यनेन परमेश्वररूपस्वातन्त्र्यपात्रता उक्ता। —उपरिवत्, पृ० 29

32. *ई०प्र०वि०वि०*, भा० 1, पृ० 291.

33. परमेश्वरतालाभे हि समस्ता: संपद: तन्निष्यन्दमय्य: संपन्ना एव, रोहणलाभे रत्नसंपद इव। —*ई०प्र०वि०* (भा०) भा० 1, पृ० 33
इसी वात को उत्पल *शिवस्तोत्रावली* में इस प्रकार कहते हैं—
भक्तिलक्ष्मीसमृद्धानां किमन्यदुपयाचितम्।
एनया वा दरिद्राणां किमन्यदुपयाचितम्।। —20/21

34. प्रह्वता च उक्तरूपा भगवत्स्वरूपोत्कर्षदर्शनेन तदिच्छावशाविशीर्णशरीरप्राणादिकल्पितप्रमातृभावनासंस्कारात्मकशेषवृत्तिसंभवे व्युत्थानसमयसंभाव्यमानस्य शरीरादिगतप्रमातृताभिमानोद्रेकस्य अपासनेन मायाप्रमात्रभिमानातिरेकन्यग्भावितसंविदात्मस्वरूपताया उन्मग्नतात्मक: समावेश:। —*ई०प्र०वि०वि०*, भा० 1, पृ० 7

35. तेन मनोवागात्मकं यदविभक्तं संविच्छक्ते:, तदेव अर्पयता भक्तेन विश्वमर्पितं भगवति भवतीति। ततस्तु तन्नान्तरीयकत्वादेव शरीरधनदारादीनामपि तत्र अर्पणं जायते इति पूजनहवनशिरोविनमनाष्टाङ्गप्रणिपातनादि तदनुमानहेतुतया उपचारात्प्रणाम इति व्यवह्रियते न मुख्यतया। —उपरिवत्, पृ० 21-22

36. उपरिवत्, पृ० 24-25.

37. सर्वथा नैर्मल्यात्मा प्रसादो भगवद्रूपता तादात्म्यं मोक्ष एव। —उपरिवत्, पृ० 25-26

38. तद्भावं तदास्वादलाभेन तदावेशवैवश्यं गतं मानसमेषामिति भक्ते: स्वरूपमुक्तम्। अलब्धतदास्वादस्यापि तु तत्र प्राप्तिग्रह: श्रद्धेति। तदाहु:—
''श्रद्धाफलं भक्तिरुक्ता तद्विना नासितुं घट:।''—उपरिवत्, पृ० 27

39. ऐश्वर्यमयी महेश्वरसमावेशरूपा या प्रकृष्टा भक्ति: फलांगिभावभागिभवानीवल्लभभक्त्यन्तरविलक्षणा विवक्षिता सा लक्ष्मीशब्देन संपत्पदेन च समस्तेत्यस्य दास्यविशेषणतासूचनेन निर्दिष्टा। —उपरिवत्, पृ० 28

40. *ई०प्र०वि०* (भा०), भा० 2, पृ० 258.

41. वस्तूक्तमत्र स्वातन्त्र्या-
त्स्वात्मरूपप्रकाशनम्।। —*तं०आ०* 13/125

42. उपरिवत् 13/122-24.

43. उपरिवत् 13/50-52.

44. उपरिवत् 13/286.

45. उपरिवत् 4/55-57.
46. उपरिवत् 13/118.
47. उपरिवत् 13/255-256.
48. देवीभिर्दीक्षितस्तेन
सभक्तिः शिवशासने। —*तं०आ०* 13/142
49. भक्तिरेव परां काष्ठां प्राप्ता मोक्षोऽभिधीयते। —*तं०आ०वि०*, भा० 5, पृ० 2337
50. पुराणेऽपि च तस्यैव
प्रसादाद् भक्तिरिष्यते।
यया यान्ति परां सिद्धिं
तद्भावगतमानसाः।। —*तं०आ०* 13/285
51. यस्तु दीक्षाविहीनोऽपि
शिवेच्छाविधिचोदितः।
भक्त्याश्नाति स संपूर्णः
समयी स्यात्सुभावितः।। —उपरिवत् 16/31
52. उपरिवत् 25/27-29.
53. उपरिवत् 37/85.
54. दासधाम्नि विनियोजितोऽप्यहं
स्वेच्छयैव परमेश्वर त्वया।
दर्शनेन न किमस्मि पात्रितः
पादसंवहनकर्मणापि वा।। —*शि०स्तो०* 13/10
55. न ध्यायतो न जपतः स्याद्यस्याविधिपूर्वकम्।
एकमेव शिवाभासस्तं नुमो भक्तिशालिनम्।। —*शि०स्तो०* 1/1
56. साक्षाद्भवन्मये नाथ सर्वस्मिन् भुवनान्तरे।
किं न भक्तिमतां क्षेत्रं मन्त्रः क्वैषां न सिद्ध्यति।। —उपरिवत् 1/1
57. उपरिवत् 1/16.
58. उपरिवत् 1/12.
59. शिवो भूत्वा यजेतेति भक्तो भूत्वेति कथ्यते।
त्वमेव हि वपुः सारं भक्तैरद्वयशोधितम्।। —उपरिवत् 1/14
60. न योगो न तपो नार्चाक्रमः कोऽपि प्रणीयते।
अमाये शिवमार्गेऽस्मिन् भक्तिरेका प्रशस्यते।। —*शि०स्तो०* 1/18
61. वियोगसारे संसारे प्रियेण प्रभुणा त्वया।
अवियुक्तः सदैव स्यां जगतापि वियोजितः।। —उपरिवत् 6/2

62. जगदिदमथवा सुहृदो बन्धुजनो वा न भवति मम किमपि।
त्वं पुनरेतत्सर्वं यदा तदा कोऽपरो मेऽस्तु।। —उपरिवत् 11/1

63. भक्तिर्भगवति भवति
त्रिलोकनाथे ननूत्तमा सिद्धिः।
किन्त्वणिमादिकविरहात्
सैव न पूर्णेति चिन्ता मे।। —उपरिवत् 15/15

64. द्वैतभक्तेरद्वैतभक्तेश्च शिवप्राप्तिर्भवत्येव किन्त्वद्वैतभक्तिः सद्यःसमावेशमयी द्वैतभक्तिस्त्वतथात्वाच्छिवताकाङ्क्षामयी। —*शि०स्तो०वि०*, पृ० 257

65. मुक्तिसंज्ञा विपक्वाया भक्तेरेव त्वयि प्रभो।
तस्यामाद्यदशारूढा मुक्तकल्पा वयं ततः।। —*शि०स्तो०* 16/19

66. त्वं भक्त्या प्रीयसे भक्तिः प्रीते त्वयि च नाथ यत्।
तदन्योन्याश्रयं युक्तं यथा वेत्थवमेव तत्।। —उपरिवत् 16/21

67. जयत्येष भवद्भक्तिभाजां पूजाविधिः परः।
यस्तृणैः क्रियमाणोऽपि रत्नैरेवोपकल्पते।। —उपरिवत् 17/48

68. शाखासहस्रविस्तीर्ण-
वेदागममयात्मने।
नमोऽनन्तफलोत्पाद-
कल्पवृक्षाय शंभवे।। —*स्त०चि०* 16

69. कः पन्था येन न प्राप्यः
का च वाङ् नोच्यसे यया।
कि. ध्यानं येन न ध्येयः
किं वा कि नासि यत्प्रभोः।। —उपरिवत् 22
नमः स्तुतौ स्मृतौ ध्याने
दर्शने स्पर्शने तथा।
प्राप्तौ चानन्दवृन्दाय
दयिताय कपर्दिने।। —उपरिवत् 36

70. उपरिवत् 26.

71. यावदुत्तरमास्वाद-
सहस्रगुणविस्तरः।
त्वद्भक्तिरसपीयूषा-
न्नाथ नान्यत्र दृश्यते।। —उपरिवत् 50

72. *स्त०चि०वि०*, पृ० 65.

73. *स्त०चि०* 108.

74. उपरिवत् 116.

75. गुर्वादौ तु भक्त्या स्याद् या नमस्कृतिभावना।
अयुक्तत्त्वं न तस्याः स्यादनौचित्येऽपि संस्थिरे।। —*चि०शा०* 6/4
यथा तथा नमस्कारो महाफलकरः स्मृतः।
भक्त्या कृतोऽन्यथा सोऽयं लगुडैर्व्योमताडनम्।। —उपरिवत् 6/288

76. उपरिवत् 6/189.

77. उपरिवत् 6/199.

78. उपरिवत् 7/234.

79. *अभिनवभारती* में शान्तरस की नवम रस के रूप में गणना और उसकी प्रधानतम रस के रूप में परिकल्पना के पीछे अभिनवगुप्त की यही दृष्टि बीज रूप से सक्रिय है।

80. श्रीमदुत्पलदेवेनेत्युक्तमस्ति निजे स्तवे।
आत्मैव सर्वजन्तूनां देव इत्येव निश्चयः।।
इत्यात्मपूजा सर्वासां पूजानां प्रथम स्थिता।
तां विना ता हि सर्वाःस्युर्निष्फला शरदभ्रवत्।। —*चि०शा०* 6/124-25

81. *भा०सं०सा०*, भा० 1, पृ० 7.

82. आचार्य सोमानन्द इसी को निर्वृतचित् कह कर अपनी *शिवदृष्टि* में प्रस्तुत करते हैं—
आत्मैव सर्वभावेषु स्फुरन्निर्वृतचिद्विभुः।
अनिरुद्धेच्छाप्रसरः प्रसद्दृक्क्रियः शिवः।। —*शि०दृ०* 1/2

अध्याय तेरह

योग

तांत्रिक परम्पराओं के आधारभूत आगम-साहित्य में प्रत्येक आगम अपनी विषयवस्तु की दृष्टि से चार हिस्सों में बंटा दीखता है—'ज्ञान', 'योग', 'क्रिया' और 'चर्या'। इससे स्पष्ट है कि तंत्रों की आधारभूत विषयवस्तु का योग एक अनिवार्य अंग है। कुछ आगम तो साफ-साफ इस विभाजन मर्यादा का पालन करते हैं पर अधिकतर आगम ऐसे हैं जो इस विभाजन को आदर देते हुए भी इनके बीच लक्ष्मण-रेखा खींच नहीं पाते। अनेक बार तो ऐसा होता है—विशेषतः अद्वयवादी शैवतंत्रों में, कि चारों में या तो चढ़ा-ऊपरी (परस्परानुप्रवेश) होती रहती है या पारस्परिक सामनन्तर्य या समीकरण ढूँढने का सायास-निरायास प्रयास साफ जारी रहता है। अभिनवगुप्त के *तंत्रालोक* और उसके उपजीव्य तंत्र *मालिनीविजयोत्तर* में यह प्रवृत्ति अपने चरम प्रकर्ष पर दिखाई देती है।

यह परस्परानुप्रवेशी प्रवृत्ति हमारी गवेषणा के मूल में निहित संशय को एक नया आयाम प्रदान करती है कि काश्मीर शिवाद्वयवाद में स्वीकृत योग का प्रातिस्विक रूप क्या है। क्या यह एकल है या जटिल या अनेक प्ररूपों का सहवर्ती अभ्युपगम है? ऐसा लगता है, जैसा कि हम अभी देखेंगे, कि तांत्रिक शिवाद्वयवाद में योग की अनेक विधाएं मान्य हैं और यह भी कि आपातिक विभिन्नता के बावजूद भी उनमें गहरी आंतरिक अन्विति है और इस अन्विति के अनेक कारणों में से एक महत्त्वपूर्ण कारण है उसका मूल पातंजल योग की आधारभूत निष्ठा से किसी न किसी प्रकार का प्रभवात्मक (genetic) सम्बन्ध।

काश्मीर शिवाद्वयवाद में योग के स्वरूप को समझने में 'योगी' की भूमिका पर ध्यान देना उचित होगा। आगमों की संरचनात्मक परिघटना (constitutional structuring) के अलावा योगिन् के दृष्टान्त का उपयोग माहेश्वर्य की सिद्धि की युक्ति के रूप में किया गया है। विशेष रूप में अस्तित्व में अंतर्व्याप्त स्वातन्त्र्य या चरम सत् की कर्तृता की व्याख्या के लिए सर्वसंदेहातीत, सर्वमान्य और सार्वभौम प्रमाण के रूप में योगी के दृष्टान्त का उपयोग हुआ है और इस युक्ति का न केवल आगम साहित्य में अपितु परवर्ती सिद्धान्त शास्त्र में निरपवाद रूप से आश्रय लिया गया है। अर्थात् योगी लोकोत्तर सामर्थ्य और कर्तृत्व का लोकदृष्ट, लोकोपलब्ध प्रतीक है।

इस युक्ति का आनुषंगिक निहितार्थ यह भी है कि चरम कर्तृत्व केवल एक वायवीय आदर्श ही नहीं है वरन् वह इसी जीवन में प्राप्य, उपलभ्य स्थिति है। इससे हम अनजाने ही जिस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं उसका संबंध भारतीय चिन्तन की मूलभित्ति से है। भारत में वस्तु या सत् को जानने का अर्थ है उसकी उपलब्धि करना। इसी अर्थ में सारा बोध-व्यापार उपलब्धिमूलक या प्रत्यक्षात्मक कहा जाता है। ज्ञान और प्राप्ति की यह पर्यायता योग के क्षेत्र में भी प्रबल रूप से

दिखाई पड़ती है। योग के परम्परा से आदर प्राप्त अनेक अर्थों में एक अर्थ 'प्राप्ति' भी है। योग के अन्य मान्य अर्थों में प्राप्ति का यह अंश किसी न किसी रूप से स्वीकृत है। क्षेमराज योग को 'परमतत्त्व से एकात्मता प्राप्ति' रूप मानते हैं।[1] और उससे पूर्व, त्रिक के मूल आगम *मालिनीविजयोत्तर* में 'दो वस्तुओं की एकात्मता प्राप्ति' को ही योग के रूप में ग्रहण किया गया है।[2] योग शब्द के अनेक पारिभाषिक, यौगिक व रूढ अर्थ हैं जैसे जीवात्मा और परमात्मा का संयोग, प्राण और अपान का संयोग।[3] कविराज जी इसमें एक अर्थ और जोड़ते हैं—शिव और शक्ति की एकता या सामरस्य।[4] इन सबके मूल में 'प्राप्ति' का भाव छिपा हुआ है। *गीता* में योग शब्द का संदर्भ-भेद से अनेक अर्थों में प्रयोग हुआ है। परन्तु उस अर्थवैचित्र्य के बावजूद भी, प्रो० काणे की दृष्टि में, उन सारे अर्थों में इस बात को लेकर अन्विति है कि योग उन पद्धतियों या पद्धति की संज्ञा है जिनके द्वारा व्यक्ति परमात्मा के साथ एकत्व-प्राप्ति में अग्रसर हो सके। *तंत्रालोक* में प्रस्तुत शैवशासन के दो मूलभूत स्रोतों में से एक लकुलीश पाशुपत संप्रदाय में योग की परिभाषा[5] में 'प्राप्ति' की अनुस्यूति साफ पता चलती है।

यह कहना अप्रासंगिक न होगा कि कर्तृता का यह स्पर्श संभवत: योग के मौलिक प्रत्यय का आदित: अंग रहा है। *महाभारत* में योग को प्रवृत्तिलक्षण (प्रवृत्तिलक्षणो योग:) कहा गया है। *गीता* के *शांकरभाष्य* में भी यही अर्थ गृहीत हुआ है। वैदिक धर्म-ग्रन्थों तथा पालि व संस्कृत के बौद्ध ग्रन्थों में भी यही अर्थ मान्य हुआ है। यह धारणा योग के पतंजलिगृहीत अर्थ की, देखने में, विरोधी लगती है। स्वयं *गीता* में जहाँ दो निष्ठाओं की चर्चा हुई है और योग को ज्ञान और कर्म दोनों से जोड़ा गया है वहाँ गीताकार ने इस संदेह को बिल्कुल नहीं रहने दिया है कि वस्तुत: योग का सम्बन्ध कर्मयोगियों की निष्ठा से है।[6] रामकण्ठ ने अद्वयवादी योग की मूल निष्ठा कर्मानुष्ठान में ही मानी है।[7] इससे प्रतीत होता है कि योग की 'कर्तृतापरक' सोच का बीज प्राचीन है और काश्मीर शिवाद्वयवाद में उसका यौक्तिक पल्लवन हुआ है।

पाणिनि योगिन् शब्द की निष्पत्ति युज् में इन (धिनुण्) प्रत्यय लगाकर करते हैं 'ताच्छील्ये' अर्थ में। युज् का रुधादिगण में अर्थ है जोड़ना, एक करना, मिलाना। इस आधार पर, एकत्र अवस्थिति का नाम योग है। ऐसी स्थिति की प्राप्ति के उपाय, साधन, युक्ति या कर्म को भी योग संज्ञा से पुकारा जाता है। *अमरकोश* में योग को 'संहननोपाय'[8] इसी दृष्टि से कहा जाना समझ में आता है।

परन्तु योग का सामान्यत: जो अर्थ लिया जाता है वह उपर्युक्त अर्थ से थोड़ा हटकर है। योग का लोक-गृहीत अर्थ है 'समाधि'। काशिकाकार के अनुसार युज् रुधादिगण के अलावा दिवादिगण में भी पढ़ी गयी है और वहाँ इसका अर्थ है समाधि। काशिकाकार तो वस्तुत: दोनों ही अर्थों को समान महत्त्व देते हैं।[9] परन्तु पतंजलि के संप्रदाय में, जो वस्तुत: योग शब्द का एक प्रकार से अभिधेय बन गया है, योग का तात्पर्य समाधि से लिया जाता है। व्यास अपनी व्याख्या में योग को स्पष्टत: समाधि से समीकृत करते हैं।[10] यह विचित्र संयोग कहा जाएगा कि रामकण्ठ भी मुक्तकण्ठ से योग का अर्थ समाधि से लेते हैं।[11] आचार्यों और संप्रदायों में इस बात के बारे में अवश्य मतभेद हैं कि समाधि का वास्तविक अर्थ क्या है। पतंजलि का 'चित्तवृत्तिनिरोध'[12] वस्तुत: समाधि की परिभाषा है। हरिहरानंद आरण्यक के शब्दों में 'इस शास्त्र में योग का अर्थ

समाधि ही समझना चाहिए'।[13] उसी प्रकार यहाँ समाधि 'अद्वयात्मा का प्रत्यभिज्ञानात्मक प्रतीतिविषयक योग'[14] रूप या अद्वैतज्ञाननिष्ठता रूप मानी गयी है। वस्तुत: समाधि की इसी धारणा को केन्द्र में रखकर सांख्यीय और शैवाद्वैती निष्ठाओं के भेद को सशब्द रेखांकित किया गया है।[15-16] अत: यह निर्णय अनुचित नहीं होगा कि योग निरुक्तित: और अर्थत: दोनों ही तरह से न तो नकारात्मक अवधारणा है और न ही सकारात्मक। सकारात्मकता और नकारात्मकता की अवधारणाएँ तो समाधि के रूपाकलन से उपजती हैं। पातंजल योग के विद्यार्थी चित्तवृत्ति-निरोध की नकारात्मकता को मात्र लाक्षणिक मानते हैं। व्यास के भाष्यकार आरण्य को यदि प्रमाण माना जाए तो योग का चरम लक्ष्य है कैवल्य रूप परमशान्ति। योग अर्थात् समाधि कोई नितान्त निष्क्रिय या निषेधात्मक स्थिति नहीं है। यह तो स्ववश तथा पूर्ण चेतन अवस्था है। चेष्टा के बिना स्वत: अथवा इच्छा के विना प्राप्त चित्त का स्तब्धभाव योग नहीं है। केवल वृत्तिरोध योग नहीं है वरन् ग्रहीता, ग्रहण व ग्राह्य आदि किसी में इच्छापूर्वक चित्त को स्थिर कर सारी वृत्तियों का निरोध ही योग है।[17] यदि योग की यह व्याख्या सही है तो *महाभारत* में योग की प्रवृत्तिलक्षणता की अनुस्यूति सांख्यीय योग की तथाकथित निषेधरूपता में भी अंतर्व्याप्त है। यही नहीं एक दूसरी दिशा से भी इस मन्तव्य की पुष्टि होती है। पतंजलि के यहाँ गृहीत योग की अवधारणा की छाप काश्मीर शिवाद्वैती योग की आकार-संरचना में काफी गहरे तक दिखाई पड़ती है। महीन विश्लेषण करने पर पता चलता है परमतत्त्व की उपलब्धि के लिए शिवाद्वय-योग दो पद्धतियों का उपयोग करता है—एक पद्धति है 'विकल्प-संस्कार' की जिसे शब्दान्तर से 'चित्तवृत्ति-संस्कार' भी कहा जा सकता है और दूसरी पद्धति है 'वृत्ति-क्षय' की। इन दोनों पद्धतियों के पारस्परिक समीकरण पर हम बाद में विचार करेंगे। परन्तु यह बात ध्यान देने की है कि वृत्तिक्षय वाली पद्धति का उपयोग शिवाद्वयवाद के अन्यतम घटक स्पन्दसंप्रदाय में अपेक्षाकृत आग्रहपूर्वक हुआ है। मजे की बात है कि स्पन्द-दर्शन के दोनों ही शिविर—कल्लटानुयायी और वसुगुप्त के पक्षधर—इस बात में एक मत हैं। कल्लट के वशंवद रामकण्ठ तुरीया स्थिति में सारी वृत्तियों का अस्तभाव मानते हैं।[18] वसुगुप्त के पक्षस्थ क्षेमराज सारी इतर वृत्तियों के प्रशमन को योग का सर्वाधिक उपकारक अंश मानते हैं।[19] स्पन्द है वृत्तिक्षयात्मक पद, इसी स्पन्द तत्त्व के विवेचन के लिए योगी लोग निरन्तर उद्यत रहते हैं। इसे चाहे 'वृत्तिक्षय' कहें चाहे 'वृत्तिप्रशम', संप्रदाय में समान अर्थ ही व्यक्त करते हैं।[20] स्वयं अभिनवगुप्त ने योगी की विशेषता मानी है वृत्तिक्षय के सुख का अनुभव।[21] ऊपर चर्चित दूसरी पद्धति—विकल्पसंस्कार—की चरम स्थिति को निर्विकल्पक माना गया है। निर्विकल्पक का अर्थ है विकल्पों का क्षय जो वृत्तिक्षय या वृत्ति के अनादर से एक रूप है, यही संवित् की प्रकटता की स्थिति है।[22] इसलिए दोनों पद्धतियाँ परिणाम की दृष्टि से एक ही हैं। अत: योग की पारम्परिक अनुगूंजों और सांप्रदायिक दृष्टि का सामंजस्य किया जाए तो योग का अर्थ है ऐसी समाधि जिसमें सारी वृत्तियों का क्षय हो जाने के कारण परम-प्रमातृता या चित्प्रमातृता की अद्वयानुभूति कभी लुप्त नहीं होती। साम्प्रदायिक शब्दावली में यह शुद्धविद्या से उत्पन्न होने वाली स्वरूपनिश्चय की अवस्था है।[23]

यह समाधि जीवनव्यापी साधना का गलित फल है। अत: साधना की इस संपूर्ण प्रक्रिया को भी योग कहते हैं। सच पूछा जाए तो भारतीय दर्शन का अंतरंग स्वभाव है साधनाप्रवणता जिसे

स्वर और प्राण मिलते हैं योगनिष्ठता से। काणे के अनुसार भारत में योग की मुख्यत: दो धाराएं हैं। एक मन को अनुशासित करने से संबद्ध है जिसका प्रतिपादन *पातंजल योग-सूत्र* करता है और दूसरी शरीर को अनुशासित करने से संबद्ध है, जिसका पल्लवन *गोरक्षशतक* व *हठयोगप्रदीपिका* इत्यादि में होता है। इन्हें क्रमश: 'योग/राजयोग' तथा 'हठयोग' के पारिभाषिक नामों से भी जाना जाता है। पातंजल योग चक्रों व नाड़ियों की बात नहीं करता परन्तु हठयोग में आसन, प्राणायाम, मुद्राओं और अन्य साधना का लक्ष्य है कुंडलिनी को विभिन्न चक्रों और सुषुम्णा नाड़ी से ब्रह्मद्वार तक ले जाना। तंत्रों में सामान्येन जिस योग का वर्णन मिलता है वह कई अंशों में दोनों का मिश्रित रूप है। परन्तु शिवाद्वयवादी तंत्रों में हठयोग की सारी प्रक्रिया को मानसिक रूप से भी घटित किए जा सकने की वास्तविक संभावना के कारण यह राजयोग की ही एक अवान्तर पद्धति के रूप में उभरती है। पर योग की एक तीसरी धारा भी है और वह है अति-मानस धारा जिसका संबंध व्यक्ति के चिद्रूपता-प्रकाशन से है। शिवाद्वयवाद में अभ्युपगत योग का सम्बन्ध इसी तीसरी धारा के विकास से जुड़ा हुआ है।

त्रिक धारा में योग के किसी एक सांचे में ढले प्रतिनिधि रूप की परिकल्पना कठिन काम है। इस दिशा में किसी भी नतीजे पर पहुँचने के लिए हमें परिभाषात्मक स्थलों को वर्णनात्मक स्थलों से अलग करना पड़ेगा। उदाहरण के लिए *स्वच्छन्द तंत्र* में आया हुआ 'दशधा योगमार्गेण' शब्द योगांगों की कोई नयी सूची प्रस्तुत नहीं करता, केवल प्राणायाम के ही स्वरूप की षड्विध विवृति करता हुआ दशप्रकारता की चर्चा करता है।[24] ऐसे स्थल अनेक हैं और यहाँ पर उनका उल्लेख न संभव है और न वांछनीय। थोड़ा मथने पर योग के तीन प्ररूप मिलते है। इनमें से दो त्रिविध हैं और एक षडंग। पहला त्रिविध योग *मालिनीविजयोत्तर तंत्र* में मिलता है पर अभिनवगुप्त इत्यादि में उसका विकास एक तरह से चतुर्विध रूप में होता है। अत: इसे हमने चतुर्विध कहा है। दूसरा त्रिविध योग *नेत्र-तंत्र* में मिलता है जिसका पल्लवन क्षेमराज के हाथों होता है। इस सम्बन्ध में महत्त्वपूर्ण बात यह है कि क्षेमराज इस योग पर 'कुलप्रक्रिया' और 'तंत्रप्रक्रिया' दोनों दृष्टियों से विचार करते हैं।[25] तीसरे षडंग-प्ररूप के बीज भी परोक्षत: *मालिनीविजय* में मिल जाते हैं पर उसे अपेक्षाकृत मूर्त आकार मिलता है जयरथ में।

हम सबसे पहले *मालिनीविजयोत्तर* में प्रतिपादित 'त्रिविध योग' के प्ररूप से प्रारम्भ करते हैं। इस प्रसंग में शायद यह उल्लेख भी रोचक हो कि *नेत्र-तंत्र* में योग एक अवान्तर विषय के रूप में आया है जब कि *मालिनीविजय* शब्दत: योगपरक तंत्र है, उसका प्रादुर्भाव वास्तविक योग के प्रतिपादनार्थ हुआ है।[26] परन्तु इस घोषणा के बावजूद भी उपलब्ध सामग्री बहुत ही अल्प है। जैसा कि हम देख चुके हैं कि यहाँ योग का अर्थ है एकत्व की प्राप्ति।[27] तीन समावेशों की भांति यह योग भी तीन प्रकार का माना गया है,[28] यद्यपि इन संज्ञाओं का उल्लेख नहीं किया गया है। इन तीन समावेशों की चर्चा दूसरे अधिकार में आई है। ये समावेश हैं आणव, शाक्त और शांभव।[29] इससे सहज ही अनुमान होता है कि इन तीनों योगों को भी 'आणव-योग', 'शाक्त-योग' और 'शांभव-योग' की संज्ञा से पुकारा जाना चाहिए। इन योगों के स्वरूप या पद्धति को लेकर हमें कोई स्वतन्त्र मन्तव्य उपलब्ध नहीं होता। परन्तु यदि त्रिविध समावेशों के निरूपण को ध्यान से देखा जाए तो साफ हो जाता है कि वहीं पर समावेशों के स्वतन्त्र साधनों का प्रतिपादन

किया गया है, अतः दी हुई परिस्थिति में उन्हें ही योग कहा जाना चाहिए। इस प्रकार प्राणों के मूल पर एकाग्र ध्यान (उच्चार), बाह्य और आतंरिक शारीरिक अंगरचना (करण), वायु में ध्वनियों का चक्रण (वर्ण), क्रिया के आश्रय का मानस-न्यास (स्थानप्रकल्प) आणव-योग के अंतर्गत आता है। प्राणीय उच्चार के बिना वस्तु का मानस चिन्तन शाक्त योग है। गुरु के प्रबोधन द्वारा या स्वतः आत्मसंवित् का विकल्प-मुक्त उद्बोध शांभव योग है। इस संदर्भ में योग की भावना साधन रूप में हुई है और साध्य समावेश के उपकरण के निर्वचन के माध्यम से त्रिविध योग का प्रतिपादन हुआ है। योग के प्ररूप के संबंध में इसके अतिरिक्त सामग्री *मालिनीविजयोत्तर* में नहीं मिलती।

मालिनीविजयोत्तर में प्रतिपादित इस योग का उपबृंहण परवर्ती शास्त्र में दो प्रकार से हुआ है—एक ओर साधनात्मक ज्ञान की विधा के रूप में और दूसरी ओर योग के विभिन्न सोपानों के रूप में। निश्चय ही पहली विचारधारा पर *मालिनीविजय* के अतिरिक्त *विज्ञानभैरव* तंत्र का भी प्रभाव पड़ा है और इन तीनों उपायों को एक ही ज्ञान की तीन—भेद, भेदाभेद और अभेदमयी—स्थितियों के रूप में स्वीकार किया गया है। इसपर आगामी अध्याय में विचार किया गया है।

दूसरा रूप इन्हें त्रिक योग की ही विभिन्न भूमिकाओं के रूप में स्वीकार करने का रहा है। बाद के *मालिनीविजय* के चतुर्थ अधिकार से प्रेरणा लेकर इन दोनों ही दिशाओं का एक में समन्वयन किया गया है। *तंत्रालोक* में अभिनवगुप्त स्वयं यही करते हैं। परन्तु यह समीकरण महत्त्वपूर्ण होते हुए भी तात्कालिक रूप से प्रासंगिक नहीं है। *मालिनीविजयवार्तिक* के दोनों काण्डों में ज्ञान और योग पर यह क्रमिक आग्रह स्पष्ट[30] है। परवर्ती शास्त्र में एक और परिवर्तन आया है, वह है 'अनुपाय' के रूप में चतुर्थ विधा का आसूत्रण। 'चतुर्विध योग' की अभिधा के पीछे इस परवर्ती आयाम को भी समेट लेने की दृष्टि रही है। अभिनवगुप्त की दृष्टि में यह चतुर्विध योग त्रिक मार्ग की अपनी विशेषता है।[31] इस योग पद्धति को अभिनव 'हृदयस्पन्दनात्मक उपाय-पद्धति' कहते हैं।[32] और इस पद्धति का उपयोग, यदि हम अपनी शब्दावली में कहें तो, *मालिनीविजयोत्तर* में प्रतिश्रुत और उपक्रान्त 'आनन्द-योग'[33] की सिद्धि के लिए करते हैं। छह आनन्दों की यह सोपान परम्परा 'निजानन्द' से प्रारम्भ होकर 'जगदानन्द' में पर्यवसित होती है जिसमें चरम अद्वय दशा का उल्लास छलका पड़ता है। इसकी उपलब्धि में हृदयस्पन्द का पहला सोपान है शाम्भवोपाय जिसमें पूर्णाहन्ता है, दूसरा शाक्तोपाय (*मा०वि०वा०* 2/26) और तीसरा है हृदयोच्चार (2/41) जिसे आणवोपाय कहने में कोई हानि नहीं है। वस्तुतः यह प्राणीय उच्चार की भूमि है जिसकी सोपानमालिका से हम अन्ततः चिद्भूमि में पहुँचते हैं। तत्त्वसर्ग और वाग्व्यापार के साथ-साथ भ्रकुटी, बिन्दु, नादान्त और शक्ति की सोपान-परम्परा से भैरवीय भूमि की प्राप्ति इसका लक्ष्य है। यहाँ पर योगी स्वात्मस्थ होता हुआ चाहे शिवचित्स्पन्द की भूमि में विश्रान्त हो और चाहे बाह्यविषय रूप विशेषस्पन्द में वह जगदानन्दरूप सामान्याभासमय (2/77) भैरवभूमि में ही आविष्ट रहता है (2/83)। ये तीनों उपाय सोपानीभूत होकर जिस परमस्थिति पर पहुँचते हैं वह अखिल वृत्तियों के विलय की स्थिति है।[34] यह ध्यान देने की बात है कि अभिनव इसे पुनः (2/87) शाम्भव योग (1/23) से जोड़ते हैं और यह भी कि योग की जो आधारभूत परिभाषा है उसका विस्तार यहाँ तक मिलता है। अभिनव इस भूमि

को अनुपाय की स्थिति कहते हैं केवल उपाय और उपेय को जोड़ने के लिए। इस अर्थ में ही अनुपाय का उल्लेख होता है, वस्तुत: वह शांभव की ही पार्यन्तिक स्थिति है।[35] वृत्तियों के विलय का अर्थ है एकमात्र चिद्वृत्ति होना जिसमें विश्व अपनी समग्रता में सर्वदा भासित होता है। इसी नित्योदित समाधि का नाम जीवन्मुक्ति है और यही 'त्रिक' या 'अनुत्तर' योग है।[36]

स्वयं अभिनव के *तंत्रालोक, तंत्रसार* तथा परवर्ती युग के क्षेमराज एवं महेश्वरानन्द इत्यादि के ग्रन्थों में इस 'उपाय-योग' के अनेक आयामों का विकास हुआ है परन्तु ग्रन्थ की सीमाओं की दृष्टि से सबको समेट पाना न संभव है और न उचित ही। फिर भी एक-दो बातों का उल्लेख आवश्यक जान पड़ता है। पहली बात तो यह है कि आणव-योग का संबंध देह और प्राण, शाक्त-योग का चित्त या भावना और शांभव का शुद्ध चेतना से जोड़ा गया है। अर्थात् देह और प्राण के व्यापार का अवकाश आणव में, चित्त और बुद्धि के व्यापार का शाक्त में और संविन्मयता का अवकाश शांभव में माना जाता है। इन तीनों प्रकार के योगों का विधान अभिनवगुप्त 'कुण्डलिनी-योग' के संदर्भ में भी करते हैं। योगभेद से कुण्डलिनी भी तीन प्रकार की है—'प्राणकुण्डलिनी', 'नादकुण्डलिनी' और 'बोधकुण्डलिनी'। शारीरिक योग, जो आणवोपाय स्थानीय है और प्राणायाम इत्यादि से साध्य है, से प्राण-कुण्डलिनी जाग्रत होती है। मानसिक योग, जो शाक्तोपाय स्थानीय है और चक्रप्रणिधान आदि से साध्य है, से नाद-कुण्डलिनी जाग्रत होती है और आत्मिकयोग, जो शांभवोपाय स्थानीय है और शुद्ध अहंभाव के अनुसंधान से साध्य है, से बोध-कुण्डलिनी जाग्रत होती है। अर्थात् अहंकार के आत्मभाव में पूर्णसमर्पण या समावेश के माध्यम से चिद्भाव का गंभीरीकरण (deepening) होता है, जिसका परिणाम है चेतना का ऊर्ध्वोन्मुख (vertical) आनुपूर्व विकास अथवा आत्मावस्थान के द्वारा चिद्भाव का विस्तारीकरण (widening) होता है जिसका प्रतिफल है चेतना का समानान्तर (horizontal) विकास। विश्वाहन्ता के निरन्तर उदय का यही अर्थ है। इस योग का तीसरा आयाम है चित्त। मात्र चित्त के परिप्रेक्ष्य में देखे जाने पर तीन पार्यन्तिक स्थितियाँ इस योग की त्रिविधता की व्याख्या करती हैं—'चित्तविश्रान्ति', 'चित्तसंबोध' और 'चित्तप्रलय'। ये वे भूमियाँ हैं जिनका संबंध क्रमश: विकल्प, शुद्धविकल्प और निर्विकल्प स्थितियों से जोड़ा गया है।

योग की इस प्रक्रिया के पल्लवन में क्षेमराज का योगदान उल्लेखनीय है। *स्पन्दनिर्णय* और *शिवसूत्रविमर्शिनी* में एक ओर तो वह *मालिनीविजय, स्वच्छन्द, विज्ञान-भैरव* और *नेत्र* आदि तंत्रों का स्पन्द सिद्धान्तों से समन्वयन करते हैं और दूसरी ओर, उसे पातंजल योग की पृष्ठभूमि में रखते हुए अपेक्षाकृत ठोस आधार प्रदान करते हैं। क्षेमराज के अनुसार *मालिनीविजय* में आणव योग की परिभाषा में ध्यान शब्द का प्रयोग प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधि सभी को ग्रहण करता है। आगे के विवेचन से स्पष्ट है कि देह-शुद्धि और भूत-शुद्धि की भी इसमें गणना है। दूसरे शब्दों में पातंजल योग-प्रक्रिया आणवयोग में अंतर्भुक्त है। आणवयोग से मोहावरण के कारण तत्त्व-भोग रूप सिद्धि होती है (*शि०सू०वि०* 40)। मोह के अभिभव से सहज विद्या का उदय होता है। यह शाक्त योग की भूमि है। सहज अर्थात् शुद्धाविद्या के उदय से परामृतमय आत्मकर्तृत्वमय आत्मतत्त्व की उपलब्धि होती है। यह शांभवयोग की भूमि है।[37] क्षेमराज की

दृष्टि में आणवोपाय की गणना 'स्थूल योग' और शाक्त/शाम्भव की 'सूक्ष्म योग' में होती है। स्थूलोपाय परमसंवित् की अनुभूति में साक्षात् साधन नहीं बन पाता।

मालिनीविजयोत्तर में भी मूल्यात्मक आधार योग के पर दो विभाग किए गए हैं—'कृत्रिम' और 'अकृत्रिम'। सामान्य रूप से 'कृत्रिम योग' से पातंजल योग पर चुटकी कसी गयी है। प्राणायाम इत्यादि की सहायता से किया गया योग कृत्रिम है, इसलिए वहाँ मुक्ति की संभावना अकिंचित्कर है।[38] अकृत्रिम योग अर्थात् त्रिक योग की विशेषता यह है कि यहाँ 'तर्क' योग का साक्षात् या सर्वोत्तम अंग है।[39] हेयोपादेय विवेक रूप शुद्ध बुद्धि को पर्यायशः 'भावना' शब्द से भी कहा गया है।[40] इसके उदय से तुरंत समाधि या परम पद का लाभ होता है।[41] प्राणायाम इत्यादि तर्क के माध्यम से ही उपयोगी हो पाते हैं,[42] अन्यथा नहीं। सत्तर्क के स्वरूप पर *तंत्रालोक* और *तन्त्रसार* में बड़ा विचार हुआ है। शुद्धा विद्या तथा शक्तिपात से उसका संबंध जोड़ा गया है (*तं०आ०* 4/34-37)। सत्तर्क को शुद्धविद्यात्मक और प्रातिभ कहने का अर्थ यह है कि योग को मन और चित्त की भूमि से हटाकर विशुद्ध प्रज्ञा की भूमि पर प्रतिष्ठित किया जा रहा है। शरीर और मन से ऊपर विशुद्ध प्रज्ञा के धरातल पर योग की प्रतिष्ठा योग की तीसरी धारा या तीसरे स्तर का प्रतिनिधित्व करती है। यह विचारद्वय—प्राणायाम आदि का तिरस्कार और सत्तर्क का अभ्युपगम—त्रिक योग के ऐतिहासिक विकास की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है क्योंकि जयरथ इस विवेचन में योग के एक नए प्ररूप की संभावना देखते हैं।

जयरथ के अनुसार त्रिक योग पतंजलि का अष्टांगयोग न होकर 'षडंग योग' है। जहाँ तक अभिनवगुप्त का प्रश्न है वे *मालिनीविजय* के कृत्रिम और अकृत्रिम भेदों में एक अन्य आगम—*वीरावलि*—का आश्रय लेते हुए पतंजलि की मूल प्रक्रिया की छाया स्वीकारते जान पड़ते हैं। 'यम', 'नियम', 'आसन', 'प्राणायाम' और 'प्रत्याहार' योग के ये पाँच अंग बहिरंग हैं और इनकी तुलना में 'धारणा', 'ध्यान' और 'समाधि' को पातंजल योग में अंतरंग माना गया है।[43] परन्तु यह अंतरंग-त्रितयी भी निर्बीज समाधि की दृष्टि से बहिरंग है।[44] निर्बीज समाधि में अंतरंगतम है 'श्रद्धा' और 'परवैराग्य'। पातंजल योग के त्रिविध साधनक्रम को इस प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है—

1. अन्तरंगतम=परवैराग्य
2. अंतरंग=ध्यान, धारणा, समाधि
3. बहिरंग=यम से प्रत्याहार तक

इस पातंजल प्रक्रिया में अभिनवगुप्त केवल एक ही अंतर करते हैं कि वह यमादि अष्टांगों को स्वपूर्वपूर्वोपायरूप से अन्ततः तर्क में उपयोगी मानते हैं, संवित् के प्रति उनका कोई उपयोग नहीं है (*तं०आ०* 4/95-96)। इससे ऐसा मालूम पड़ता है कि समाधि रूप अंतिम अंग भी तर्क का उपकारक या सहायक है और वस्तुतः तर्क अंतिम और सर्वोच्च अंग है। हम यहाँ पर आकर अटकते हैं। जयरथ का कहना है कि यद्यपि तंत्रयोग के छह अंग हैं परन्तु उसे छोड़कर अभिनव के द्वारा आठ अंगों के उल्लेख के पीछे आशय यह है कि कहीं भी आठ से अधिक अंग नहीं माने गए हैं।[45] और ये सारे तर्क के ही उपाय हैं न कि संवित्साक्षात्कार के, वह तो केवल तर्कलभ्य है।[46] इस आधार पर शैव योग, पातंजल योग से भिन्न और विशिष्ट है।[47]

ये छह अंग कौन हैं और इनका स्वरूप क्या है इस पर जयरथ मौन हैं। *तंत्रालोक* 4/15 में तर्क शब्द की व्याख्या में वह अनाम स्रोत से एक श्लोक[48] उद्धृत करते हैं जिसमें प्रत्याहार से समाधिपर्यन्त पातंजल योग के पाँच अंगों की ही गणना की गयी है और धारणा तथा समाधि के मध्य तर्क को रखा गया है। वस्तुत: यह श्लोक भट्टभास्कर के *गीताभाष्य* में हम उससे भी पहले पाते हैं।[49] परन्तु वहाँ भी यह किसी अन्य स्रोत से ही उद्धृत है।[50] यहाँ पर दो बातें विचारणीय हैं: एक, इस उद्धरण का उद्गम क्या है, क्योंकि इस निर्णय के बिना त्रिक में षडंगता के आविर्भाव का निश्चय संभव नहीं है; और दूसरे, षडंग के अवयवभूत तर्क और अन्य योगांगों का स्वरूप और प्रक्रियागत स्थिति क्या है? तभी षडंगता की त्रिक में मान्यता का आधार स्पष्ट हो सकेगा।

मैत्रायणी उपनिषद् में जयरथ वाले ही छह अंगों का उल्लेख मिलता है पर वहाँ क्रम इस प्रकार है—प्रत्याहार, ध्यान, प्राणायाम, धारणा, तर्क और समाधि।[51] पांचरात्र आगमों के अन्तर्गत *विष्णु संहिता* (33.61-72), *वैखानससूत्र* (5/2/16) इत्यादि में भी थोड़े क्रम भेद से इन्हीं अंगों का उल्लेख हुआ है। दूसरी ओर थोड़ी गवेषणा से पता चलता है कि जयरथ तथा भट्ट भास्कर का उद्धरण अपने उसी रूप में हमें *गुह्यसमाज तंत्र* (पृ० 163) में उपलब्ध होता है केवल एक परिवर्तन के साथ। वहाँ 'तर्कश्चैव' की जगह 'अनुस्मृति' का प्रयोग हुआ है।[52] बाद में नाडोपाद ने अपनी *सेकोद्देश टीका* में इन पर विस्तार से विचार किया है। अनुस्मृति का अर्थ है पूर्व जन्मों में हुई उपलब्धियों का स्मरण जो कि तर्क की इस संप्रदायगत धारणा से भिन्न है। ऊपर के विवेचन से लगता है कि षडंग योग की धारणा तंत्रयोग की सामान्य विशेषता के रूप में उद्गत हुई थी। बौद्ध, शैव, वैष्णव तंत्रों में किसने किससे लिया, यह कहना कठिन है। सामान्यत: यम, नियम और आसन के परित्याग के पीछे तंत्रों की यह मान्यता है कि तंत्रयोग सुखोपाय है और तंत्रेतर योग शरीर पीड़ा के कारण कष्टसाध्य है। और यह भी कि योग का संबंध चित्तवृत्ति के अनुशासन से है अत: शरीर से संबद्ध यम, नियम और आसन की कोई सार्थकता नहीं है।[53] यद्यपि यह दूसरी बात है कि इस परित्याग का दुष्परिणाम यह हुआ कि तांत्रिक आचार की विश्वसनीयता संदिग्ध हो गयी। प्रो० काणे को कहना पड़ा कि यम, नियम का परित्याग इसलिए किया गया क्योंकि वे पंच मकार की वर्जनाहीन दृष्टि के विरुद्ध पड़ते थे। *मालिनीविजय* में 'कृत्रिम' रूप से व्याख्यात प्राणायाम आदि लिंगों वाले योगों (18/19) में इस प्रकार पातंजल योग ही नहीं आता, बल्कि अन्य तांत्रिक परम्पराएं भी आ जाती हैं जो तर्क को स्वीकार नहीं करती।

फिर भी यह समस्या रहती है कि क्या त्रिक योग षडंग है। जहाँ तक *मालिनीविजय* और *वीरावली* तंत्रों का प्रश्न है वे इस पर शांत हैं। उनका कहना है कि योगांग दो प्रकार के हैं—साधारण और उत्कृष्ट। जहाँ अन्य सब योगांग साधारण हैं, तर्क उत्कृष्ट अंग है। तर्क बुद्धि की वह स्थिति है जिसमें वह हेय और उपादेय का विवेक कर सकती है और हेय मार्ग में प्रवृत्त मन को भी अनामय पद की ओर प्रेरित कर सकती है। जैसा कि हम देख चुके हैं अभिनव अनामय मार्ग की प्राप्ति के हेतु सद्गुरु के पास जाने की इच्छा में इसी सत्तर्क को सक्रिय मानते हैं क्योंकि उनके लिए वह परमेश्वर का अनुग्रह, शुद्धविद्या (4/34) है। जयरथ एक अनाम स्रोत से उद्धरण देते हुए उसे ऊह का पर्याय मानते हैं।[54] *मृगेन्द्रागम* के योग-पाद में[55] योग के अंग के रूप

में वीक्षण (अभिवीक्षण) का उल्लेख हुआ है। उसी को ऊह भी कहा गया है।[56] वृत्तिकार नारायणकण्ठ ने यहाँ ऊह की पुष्टि में *स्वायम्भुवागम* को भी उद्धृत किया है। रामानुज ऊह को प्रमाणों का अनुग्राहक ज्ञान मानते हैं। जयरथ ने जो दूसरा उद्धरण दिया है वहाँ शास्त्रों के अविरोधी तर्क को सत्तर्क कहा गया है।[57] जयरथ का यह उद्धरण मनु के कथन का अनुवदनमात्र है।[58] भारतीय परम्परा में तर्क की प्रतिष्ठा तो *निरुक्त* के काल से चली आ रही है। ऋषियों की परम्परा के समाप्त हो जाने पर मनुष्य ने देवताओं से पूछा कि हमारे मध्य अब ऋषि का काम कौन करेगा? इस के समाधान में देवताओं ने मनुष्य को तर्क शक्ति दी कि यही अब तुम लोगों के बीच ऋषि का काम करेगी।[59] इससे यह स्पष्ट है कि तर्क/सत्तर्क की मान्यता वैदिक और तांत्रिक संस्कृतियों के उर्वर विनिमय का दस्तावेज़ है। परन्तु त्रिक योग की षडंगता इससे भी पुष्ट नहीं होती।

जयरथ के अतिरिक्त केवल एक व्यक्ति षडंग योग का उल्लेख शिवाद्वयवादी परम्परा में करता है। वह हैं क्षेमराज। क्षेमराज *नेत्र-तंत्र* 1/8 पर अपनी *टीका* में योगी का अर्थ लेते हैं 'षडंग योग के माध्यम से ईश्वर की आराधना करने वाले।'[60] इसके अतिरिक्त क्षेमराज भी मौन हैं। स्वयं *नेत्र-तंत्र* अष्टांग योग का ही उल्लेख करता है।[61] इस अष्टांगयोग और पातंजल अष्टांगयोग के पारस्परिक अंतर का अवलोकन हम यथासमय करेंगे। ऊपर हमने अभी *मृगेन्द्रागम* को भी अष्टांगयोग का ही पोषक पाया था यद्यपि वहाँ भी पातंजल प्रक्रिया से भेद है। अठारहवीं शताब्दी के भास्करकण्ठ, अभिनवगुप्त की *ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी* के टीकाकार, भी योगी का अर्थ अष्टांगयोगी से ही लेते हैं। दूसरे षडंग योग का जो क्रम जयरथ लेते हैं, वह क्रम *मालिनीविजय* में तो है ही नहीं, *तंत्रालोक* में प्रतिपादित अभिनव की दृष्टि से भी समर्थित नहीं होता। जयरथ के अनुसार तर्क समाधि के पूर्व है जब कि अभिनव के अनुसार समाधि के बाद तर्क आता है, अंतिम योगांग तर्क है।[62]

उपर्युक्त विवेचन से यह निष्कर्ष निकालना सम्भवत: अनुपयुक्त नहीं होगा कि तंत्रयोग की षडंग प्रकृति के प्रभाव में कई बार यह प्रयास किया गया कि त्रिक योग की मूल धारा को मौलिक रूप से षडंग योग की धारा में ढाल लिया जाए परन्तु त्रिक योग की संपूर्णता वादी (अष्टांग) और दूसरी ओर अद्वयवादी (एक मात्र सत्तर्क) दृष्टि के कारण यह संभव नहीं हो सका। पर यह भी ध्यान में रखना होगा कि योग के मूल प्ररूप को ग्रहण करते हुए भी शैव तांत्रिकों ने उसमें आवश्यक संशोधन किए हैं। यही कारण है तर्क को अन्त्य योगांग मानकर भी हमारा प्रतिज्ञात योग और समाधि का समीकरण खंडित नहीं होता। अभिनव की दृष्टि में पातंजल समाधि योगांगीभूत है जबकि यहाँ तर्क से अद्वय संवित् की अभिव्यक्ति रूप समाधि उपेयरूपा है।

अब हम तंत्र योग के तीसरे प्ररूप की ओर चलते हैं। *नेत्र-तंत्र* की प्रकृति वस्तुत: त्रिकात्मिका है। परमतत्त्व के बोध के लिए यहाँ तीन उपायों का उपदेश किया गया है—'मन्त्र', 'योग' और 'ज्ञान'।[63] इनमें से योग भी 'स्थूल', 'सूक्ष्म' और 'पर' भेद से तीन प्रकार का है। इनका वर्णन मुख्य रूप से छठे से आठवें तथा बीसवें अधिकार में संक्षेप से हुआ है। परन्तु छठे से आठवें अधिकारों में जिन शब्दों का प्रयोग हुआ है वे हैं 'उपाय', 'यजन' और 'ध्यान'। परन्तु दूसरे तथा बीसवें अधिकार के साथ संगति बैठाने से यह स्पष्ट हो जाता है कि ध्यान, यजन और उपाय

शब्दों से यहाँ योग अभिप्रेत है। होम, जप, मुद्रा, ध्यान, यन्त्र और विविध मन्त्रों की गणना स्थूल योग के अंतर्गत होती है। षट्चक्र तथा षोडश आधारों के माध्यम से तथा कलाप्रधान नाड़ियों के उदय इत्यादि से सिद्ध होने वाला योग सूक्ष्म है और अमृतेश के विश्वात्मक अद्वय स्वरूप की भावना पर योग है।[64] स्थूलोपाय से ऊर्ध्वगति या शुद्धविद्यादि पद की प्राप्ति होती है। सूक्ष्म से शरीर में दिव्यता के आपादन द्वारा 'मृत्युजित् भट्टारक' की प्राप्ति होती है और पर योग से योगी को पूर्ण मुक्ति और परम प्रमातृता का आपादन होता है।

सामान्यत: 'स्थूलोपाय' में वर्णित विधियों का अंतर्भाव मन्त्रवाद में किया जा सकता है। इस प्रसंग में एक नई विधि का आसूत्रण करते हुए बताया गया है[65] कि योगिनी आदि शक्तियाँ स्थूल शरीर में वर्तमान जीव की पुर्यष्टकमय सूक्ष्म देह को प्रतिकृति आदि के माध्यम से, मंत्र और मुद्रा की सहायता से, पांसवविधि से ध्यान और योग के बल से, एवं छुम्मक विधि से बाहर निकाल देती हैं। इनसे बचने का उपाय यह बताया है[66] कि आचार्य को ऐसे प्राणी की रक्षा स्थूल उपायों का आश्रय लेकर करनी चाहिए। क्षेमराज ने संबद्ध श्लोक की व्याख्या में इन विधियों पर प्रकाश डाला है पर अनावश्यक विस्तार भय से हमें उसे छोड़ना पड़ेगा।

'सूक्ष्म योग' का विवेचन क्षेमराज ने कुलप्रक्रिया और तंत्रप्रक्रिया के आधार पर दो प्रकार से किया है। 'कुलप्रक्रिया' के अनुसार,[67] संक्षेप, में परमशिव से अविनाभूत चितिशक्ति को सुषुम्णा नाड़ी में स्थित उदान मार्ग से ऊपर उठाना चाहिए। मन्त्रवीर्य के प्रभाव से जन्माधार में प्रतिष्ठित हो योगी को नादरूपी सुई की सहायता से सोलह आधार और बारह ग्रन्थियों का भेदन कर सुषुम्णा मार्ग से द्वादशान्त धाम तक उसे पहुँचाना चाहिए। यहाँ विराजमान नित्योदित पराशक्ति और निष्कल परमशिव का अपने हृदयकमल में ध्यान करने से परानन्दस्वरूप अद्भुत रसायन की प्राप्ति होती है। योगी ऐसी भावना करे कि वह रसायन अनन्त नाड़ियों के माध्यम से उसकी रग रग में भर गया है। इस विधि से अजर, अमर होकर योगी साक्षात् मृत्युजित् भट्टारक बन जाता है।

'तन्त्रप्रक्रिया'[68] के अंतर्गत सूक्ष्मयोग-विधि का साध्य है योगी के चित्त को कन्दभूमि में स्पन्दनशील प्राणशक्ति के साथ एकाकार कर देना। खेचरी दशा में अवस्थित योगी ज्ञानशूल से छह चक्रों, सोलह आधारों, बारह ग्रन्थियों का भेदन कर द्वादशान्त धाम में प्रवेश कर जाता है। वहाँ परमशिव का साक्षात्कर उसको समनापद में उतार लाकर सृष्ट्युन्मुख कर देता है। अब वह अपान का उल्लास अर्थात् चन्द्रोदय होने पर उससे प्राप्त अमृत से सुषुम्णा मार्ग से अपनी अंतर्मुख शक्ति को नीचे लाकर, अपने सभी चक्रों और आधारों को सींचता है। यह अमृत योगी के शरीर को निर्मल बना देता है। और वह इच्छा, ज्ञान तथा क्रियाशक्ति संपन्न शिव से अभिन्न हो जाता है। बीसवें अधिकार में क्षेमराज इसे शाक्तोपाय से एकीकृत करते हैं। उनके अनुसार सहज नाद का परामर्श करने वाली ज्ञान शक्ति से इसकी प्रतीति हो सकती है। इस संदर्भ में क्षेमराज 'गोलकविधि' का भी उल्लेख करते हैं जिससे द्विवेदी कुण्डलिनी योग को विवक्षित मानते हैं।[69]

'अष्टांग योग' को ही यहाँ 'पर योग' कहा गया है।[70] परन्तु यह अष्टांग योग पातंजल अष्टांग योग से भिन्न है। सारे नाम यद्यपि पतंजलि से ही लिये गये हैं परन्तु उनकी ज्ञानपरक परिभाषाएँ की गयी हैं। 'यम' है संसार से नित्य विरति। 'नियम' है परतत्त्व की नित्य भावना। मध्यम प्राण अर्थात् उदान का आश्रय लेकर ज्ञान शक्ति के सहारे ज्ञानशक्ति में स्थित रहना ही

'आसन' है। प्राण, अपान, समान आदि प्राणों में संपन्न होने वाले रेचक, पूरक आदि स्थूल भेदों को, और आन्तर मध्यधाम में होने वाले रेचन, आचमन आदि प्राणायाम को छोड़ दें तो जो सूक्ष्मातीत प्राणात्मिका चित् के स्पन्दन की अनुभूति होती है वही 'प्राणायाम' है। चित्त के द्वारा शब्द, स्पर्श आदि विकल्पात्मक वृत्तियों के अनुभव को छोड़कर अपने चित्त द्वारा परमधाम में प्रवेश ही 'प्रत्याहार' है। बुद्धि के गुणों को लांघकर निर्ध्येय, विभु, अव्यय व स्वसंवेद्य तत्त्व का ध्यान करना ही 'ध्यान' है। जिसके द्वारा परमात्मतत्त्व को 'धारण' किया जाए वह धारणा है।

'समाधि' की चार व्याख्याएँ *नेत्र-तंत्र* में उपलब्ध हैं।[71] क्षेमराज के अनुसार ये चारों क्रमशः आणव, शाक्त, शांभव और अनुपाय लभ्य समाधियों के निर्वचन हैं। सभी प्राणियों में समता बुद्धि का आधार समाधि का प्रथम प्रकार है। अहन्ता और इदन्ता का एकीकरण कर 'मैं ही शिव हूँ और मेरे अतिरिक्त कुछ भी नहीं है' यह भावना शाक्त समाधि है। क्षेमराज इसे शुद्धविद्या से उत्पन्न अध्यवसाय रूप मानते हैं। यह देखना निश्चय ही रोचक होगा कि यदि क्षेमराज की व्याख्या सही है तो अभिनवगुप्त के द्वारा सत्तर्क को शुद्धा विद्या रूप मानना और उसे अद्वय संवित् के लाभ का निमित्त मानना और यहाँ प्रतिपादित समाधि की दूसरी विधा में अत्यन्त साम्य है। क्षेमराज की दृष्टि से समाधि की शैवसम्प्रदायगत यही पारम्परिक अवधारणा है। स्वसंवेद्य संवित्स्वरूप का स्वाभाविक रूप में भासित होना समाधि की तीसरी विधा है जो अनुपायसाध्य सततोदित अव्युत्थान समाधि से एक रूप है। जड वर्ग तथा चेतन वर्ग में वर्तमान नित्य और शाश्वत चित्तत्व का अपनी वृत्ति में स्फुरण निर्विकल्प शांभव समाधि है।

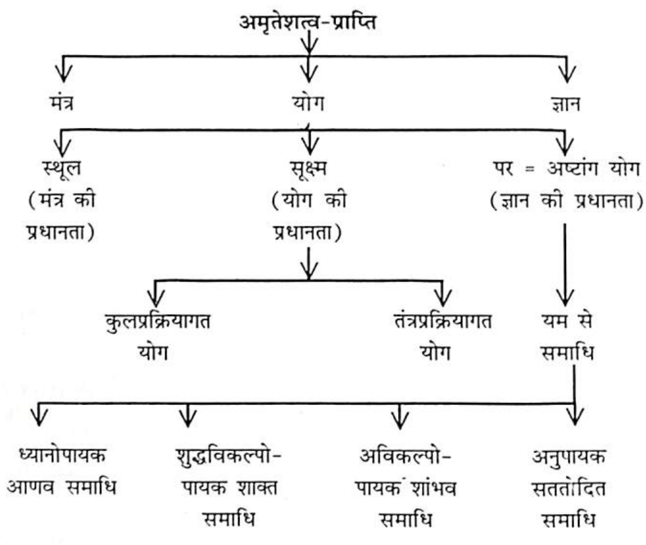
इस अष्टांगयोग के अभ्यास से योगी परम, ध्रुव, अमृतेश को अपने में ही स्थित देखकर काल अर्थात् मृत्यु को जीत लेता है। दूसरे शब्दों में वह साक्षात् मृत्युंजय भट्टारक हो जाता है।

नेत्र-तंत्र में प्रतिपादित इस त्रिविध योग में भेद का निमित्त है उनका क्रमशः मन्त्र, योग और ज्ञान पर प्रधानतया आश्रित होना।[72] इस प्रकार स्थूल का संबंध है मन्त्र की प्रधानता से, सूक्ष्म का योग की प्रधानता से और पर का ज्ञान की प्रधानता से। इस दृष्टि से इन तीनों और उपाय-चतुष्टय में एकरूपता की छाया देखी जा सकती है। स्थूल-ध्यान रूप स्थूल-योग को आणव उपाय से, सूक्ष्म-ध्यान रूप सूक्ष्म-योग को तन्त्र और कुल प्रक्रिया भेद से, शाक्तोपाय और शांभवोवाय से (इस समीकरण का आश्रय चिन्तन से अधिक शक्ति की उल्वणता से है) और परयोग को पर-ध्यान ज्ञान रूप अनुपाय से एकीकृत किया जा सकता है। पर योग से निष्पद्यमान समाधि चतुष्टय का यही सहज फलितार्थ होना चाहिए। इस बात को थोड़ा बढ़ाकर यों कहा जाता है कि *नेत्र-तंत्र* के त्रिविधयोग और *मालिनीविजय* में वर्णित त्रिविध/चतुर्विध योग में भले ही साक्षात् सामनन्तर्य न हो, उत्तरत्र प्रतिपादित योग-चतुष्टय का यहाँ की समाधि-चतुष्टय से समन्वय अवश्य संभव है।

जहाँ तक अष्टांग योग और पातंजल अष्टांग योग के पारस्परिक संबंध का प्रश्न है, पातंजल अष्टांग योग क्रियाप्रधान है और *नेत्र-तंत्र* का अष्टांग योग ज्ञानप्रधान। क्षेमराज इसी बात को दूसरे ढंग से रखते हैं। वे कहते हैं कि *नेत्र-तंत्र* में अष्टांग योग का प्रतिपादन लोकोत्तर दृष्टि से हुआ है, लक्षणया जिसका तात्पर्य है कि पातंजल योग में अष्टांगता लौकिक है।[73] पर इस प्रकार के मन्तव्यों को एक सीमा तक ही स्वीकार किया जा सकता है। वह इस अर्थ में कि अष्टांग

प्रक्रिया से उपायों का कोई स्वीकृत या सर्वमान्य संबंध नहीं है फिर भी समाधि को उपायगत्या चार प्रकार की मान कर और उन्हें तत्तदुपायसाध्य कहकर अष्टांग प्रक्रिया व चतुर्विध उपाय की तांत्रिक प्रक्रिया के मध्य सामंजस्य बैठाने का प्रयास अवश्य किया गया है। इससे कदाचित् इस संभावना को बल मिलता है या मिल सकता है कि चतुर्विध उपायों/योगों में यह अष्टांग प्रक्रिया समभाव से वर्तमान है जो इन उपायों की कार्यान्विति की पूर्वपीठिका के रूप में उभरती है।

संक्षेप में *नेत्र-तंत्र* के योगक्रम को इस प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है—



ऊपर के विवेचन से कतिपय तथ्य प्रकाश में आते हैं। एक तो यह कि त्रिक योग पर पातंजल योग का गहरा प्रभाव पड़ा है—आंतरिक संरचना और बाह्य विकास दोनों पर। इसके दो परिणाम हुए हैं। पहला, षडंग योग की तरफ झुकाव के छिटपुट प्रयासों के बावजूद भी अष्टांग योग के प्रति निष्ठा रही है। और दूसरा, अष्टांगयोग का अभ्युपगम उसकी मूल दिशा (orientation) को परिवर्तित करके हुआ है। दूसरा तथ्य यह है कि तांत्रिक धारा की निजी विशेषताओं ने तंत्र योग को एक नया आकार और आग्रह (thrust) दिया है जिसके कारण वह पातंजल योग और हठयोग के मिश्रित रूप का प्रस्तोता होकर भी ज्ञान और क्रिया की अन्विति रूप संविद् के उदय या उसमें समावेश के एकाभिनिवेश के कारण एक अतिक्रामी व्यक्तित्व को अर्जित करता है। शास्त्र की आंतरिक प्रवृत्ति की पहचान का एक प्रामाणिक साधन व्यवहार और संप्रदाय में उसके अनुवदन की परीक्षा है। व्यवहार वाला पक्ष आज उपलब्ध नहीं है, अत: संप्रदाय की परीक्षा वाला ही विकल्प शेष बचता है।

संप्रदाय में इन योगांगों के प्रति आदर होते हुए भी पूरी सोपान-प्रक्रिया का क्रमवार एकत्र अध्ययन उपलब्ध नहीं होता। 'यम' और 'नियम' की यदि *नेत्र-तंत्र* वाली व्याख्या छोड़ दें

जिसका समर्थन *स्वच्छंद तंत्र*[74] से भी होता है तो एक तरह से इनकी कोई चर्चा नहीं मिलती (यह एक प्रकार से षडंगता की पोषक अभिव्यक्ति मानी जा सकती है)। पातंजल योग में निश्चल और सुखावह उपवेशन ही 'आसन' है।[75] सुखसाध्य शारीरिक अवस्थाओं को तंत्र में स्वीकृति मिली है ऐसा संकेत *शिवसूत्र*[76] और *स्वच्छन्द तंत्र* पर क्षेमराज के *उद्योत* से मिलता है।[77] परन्तु अपनी *विमर्शिनी* में क्षेमराज की व्याख्या[78] ठीक *नेत्र-तंत्र* के निकट जा पहुंचती है, ज्ञानशक्ति के स्थान पर शाक्तबल को अधिष्ठान मानती हुई। प्राणायाम पर निश्चित रूप से गंभीर विचार हुआ है। पातंजल योग में आसनसिद्धि हो जाने पर श्वास और प्रश्वास दोनों की गतियों का जो विच्छेद है वही एक प्राणायाम है। किसी भी प्रकार से गति-विच्छेद करना ही प्राणायाम है।[79] इससे लगता है कि हठयोग और तंत्रयोग में जो रेचक, पूरक और कुम्भक इत्यादि का उल्लेख हुआ है वह योग के प्राणायाम से भिन्न है।[80] श्वास-प्रश्वास का यह गति-विच्छेद चित्त के निरोध अर्थात् गति-विच्छेद की वास्तविक पीठिका है। ध्यान, धारणा वस्तुतः परम्परया इसी प्रक्रिया का विस्तार हैं। समाधि में श्वास-प्रश्वास सूक्ष्म होते-होते अलक्ष्य हो जाते हैं या पूरी तरह से रुद्ध हो जाते हैं। *मालिनीविजय* में प्राणायाम की स्वरूपावधारणा गतिभंग की शब्दावली में मिलती है जो पातंजल धारणा को प्रतिध्वनित करती है। परन्तु यहाँ यह पांच प्रकार का है—पूरक, कुम्भक, रेचक, अपकर्षक और उत्कर्षक।[81] अन्यदेश की प्राप्ति का साधन उत्कर्षक और वहाँ से पुनः प्रत्यावृत्ति को अपकर्षक कहा जाता है।[82] *नेत्र-तंत्र* का प्राणायाम निश्चय ही योग के प्राणायाम से भिन्न है क्योंकि वहाँ वह परम स्पन्दन के लाभ की स्थिति है और यहाँ स्पन्दनहीनता की। प्राणायाम की तीसरी परिभाषा मिलती है प्राणों के यथास्थित प्रवाह को सिद्ध कर स्वायत्त कर लेने के अर्थ में। यह व्याख्या है क्षेमराज की *स्वच्छन्दतन्त्रोद्योत* में।[83] परन्तु स्वयं *स्वच्छन्द तन्त्र* प्राणायाम की कोई व्याख्या नहीं करता, हाँ उसके तीन प्रकार अवश्य बताता है—रेचक, पूरक और कुम्भक। इनके दो रूप हैं—बाह्य और आन्तरिक। हमारी जो सामान्य धारणा है उस अर्थ में वह बाह्य है। अपने आंतरिक रूप में मध्य मार्ग से द्वादशान्त में रेचन, हृदय में पूरण और निष्कम्पकता की स्थिति में कुम्भन होता है। यह प्रत्यय महत्त्वपूर्ण है क्योंकि तंत्रों में अत्यन्त समादृत प्राणवृत्ति का उच्चार या *नेत्र-तंत्र* में प्रतिपादित सूक्ष्म योग आदि का आधार इससे प्रशस्त होता है। इस प्रकार इन छह प्रकार के प्राणायामों के अतिरिक्त एक सातवाँ (या चौथा) प्रकार है 'प्रशान्तकुम्भक' का।[84] यह प्राणायाम की निरायास स्थिति का नाम है। प्रत्याहार, धारणा, ध्यान के साथ जुड़कर यही *स्वच्छन्द तंत्र* के 'दशधा योग मार्ग' की व्याख्या करता है।[85] तंत्र योग में 'प्रत्याहार' की चर्चा कठिनाई से मिलती है। पातंजल योग में प्रत्याहार (abstraction) वह है जिसके कारण इन्द्रियां विषय के संपर्क में आए बिना चित्त का इस प्रकार अनुकरण करती हैं कि मानो वह मन का स्वभाव हो।[86] क्षेमराज के अनुसार *शिवसूत्र* का भूत-कैवल्य[87] शब्द प्रत्याहार की स्थिति को बताता है। पंचभूतों से असम्पृक्त या विरत होने पर चित्त का प्रत्याहार होता है।[88] परन्तु क्षेमराज इसे हठयोगी आयाम देते हैं और इसी स्थल पर संकेत करते हैं कि *स्वच्छन्द तंत्र* का 'सुप्रशान्त प्राणायाम', जो कि प्रशान्तकुम्भक के अनन्तर होता है, प्रत्याहारस्थानीय है। धीरे-धीरे हृदय से नीचे लाकर प्राण और विषयों से हटाकर इन दोनों को नाभि में संचारित या स्थापित करना प्रत्याहार है। *मालिनीविजय* में भी प्रत्याहार की चर्चा आती है। बाह्य शब्दादि किसी विषय

पर चित्त को स्थिर करने से उसी विषय का ग्रहण करते हुए चित्त उससे अभिन्न हो जाता है। उससे तन्मयता पाकर वह फिर शून्य हो जाता है, इतना शून्य कि चाहे जितना प्रयत्न किया जाए अन्य विषय-व्यापार से चित्त विरत रहता है। इस प्रकार बार-बार मन के प्रत्याहारपूर्वक प्राणायाम आदि से योग क़ी सिद्धि होती है। *मालिनीविजय* का यह प्रतिपादन योग के प्रत्याहार के निकट है सिवाय इसके कि इन्द्रियों के स्थान पर चित्त को रखा गया है।[89] जैसा कि हम पहले कह चुके हैं कि इन विवेचनों में पातंजलीय क्रम का अभाव मिलता है। प्रत्याहार का यह वर्णन तर्क और समाधि के बाद आता है। अंतरंग योगांगों में प्रथम है 'धारणा'। व्यास धारणासूत्र[90] की व्याख्या करते हुए कहते हैं कि नाभिचक्र, हृदयपुण्डरीक, मूर्द्धज्योति, नासिकाग्र और जिह्वाग्र इत्यादि (आध्यात्मिक) दशा में अनुभव द्वारा चित्त का बन्ध और बाह्य विषय में इन्द्रिय वृत्ति के द्वारा चित्त का बन्ध ही धारणा है। हरिहरानन्द आरण्यक के अनुसार धारणा प्रधानत: द्विविध होती हैं—तत्त्वज्ञानमय तथा वैषयिक।[91] यद्यपि पहली प्रकार की धारणा में भी इन्द्रियादि के अभ्यन्तरस्थ आध्यात्मिक देशों का सहारा लेना होता है, तब भी तत्त्वज्ञान ही इसका मुख्य आलम्बन रहता है। वैषयिक धारणाओं में शब्द तथा ज्योति की धारणा प्रधान है। यह धारणा का प्रत्यय तंत्रों में बहुमान्य है क्योंकि चक्रों की धारणा का, विशेषकर कुण्डलिनी के ऊर्ध्वारोहण के संदर्भ में, बहुत महत्त्व है। यह बात अवश्य विचारणीय है कि जहाँ *मालिनीविजय* धारणा इत्यादि को बहिरंग योगांग या संविल्लाभ में साक्षात् अनुपयोगी मानता है, वहीं बारह से लेकर सत्तरह (बल्कि एक प्रकार से अट्ठारह तक पर यहाँ आंशिक) तक उसके सात अधिकार सिर्फ धारणा-विचार पर केन्द्रित हैं।[92] *मालिनीविजय* में धारणा की कोई परिभाषा नहीं मिलती पर कुछ संकेत अवश्य मिलते हैं जिनसे योग और तंत्र की धारणाओं के संबंध पर प्रकाश पड़ता है। धारणाओं का विभाजन या तो लक्ष्य (विषय) भेद से होता है या चित्तभेद से। छह प्रकार के लक्ष्य गिनाए गए हैं—व्योम, विग्रह, बिन्दु, अर्ण, भुवन और ध्वनि[93] (इनके अवान्तर भेदों के गिनाने का यहाँ कोई प्रयोजन नहीं है)। विषय-भेद से यहाँ अनेक फल-भेदों की कल्पना की जाती है। परन्तु जहाँ तक चित्तभेद या चित्ताश्रित धारणाओं का प्रश्न है वहाँ फलभेद नहीं होता।[94] चित्तभेद वाली धारणाओं का विचार सत्रहवें तथा अंशत: अट्ठारहवें में हुआ है।[95] प्रधानरूप से यहाँ चार धारणाओं की गणना हुई है—'शिखी', 'अम्ब्वी', 'ईशानी' और 'अमृता'। इनके आध्यात्मिक देश हैं—नाभि, हृत्, तालु और कण्ठ। इन धारणाओं की विशेषता है एकाग्रीभूत वस्तु का उसकी विश्वात्मकता रूप में ग्रहण।[96] और दूसरी विशेषता है हेय के परित्यागपूर्वक योगी को अनुत्तम पद की प्राप्ति।[97] यहाँ ध्यान देने योग्य है योग की त्रिक मान्यता से धारणाओं का तालमेल बैठाया जाना। चित्तभेद और लक्ष्यभेद की तत्त्वज्ञानमयी और वैषयिक के भेद से तथा नाभि, हृत् आदि स्थानों की नाभिचक्र आदि से निकटता स्पष्ट है। क्षेमराज *शिवसूत्र* के 'भूतजय'[98] शब्द को धारणा से जोड़ते हैं। पृथिवी आदि भूतों की जय का अर्थ है धारणाओं के द्वारा उनका वशीकार।[99] अपना प्रमाण वह *स्वच्छन्द तंत्र*[100] में ढूंढते हैं। वहां धारणाचतुष्टय—वायवी, आग्नेयी, पार्थिव और वारुणी—का नाभि, कण्ठ, हृदय और घण्टिका में आश्रयण कर अंगुष्ठ से द्वादशान्त तक पहुंच कर सारी सिद्धियों की प्राप्ति का बखान किया गया है। धारणा का यह स्वरूप पातंजल योग से काफी हटा हुआ लगता है। रामकण्ठ धारणा की दो परिभाषाएं देते हैं।

स्पन्दकारिका की टीका में ध्येय अर्थ में चित्त की स्थिर प्रवृत्ति को धारणा कहा है[101] और *गीता* के भाष्य में भ्रूमध्य में केवल ज्योति का अवलम्बन करने वाले चित्त के बन्ध को।[102] ये दोनों व्याख्याएँ *योगभाष्य* के दोनों अंशों का पृथक्-पृथक् अनुवदन करती हैं। परन्तु क्षेमराज और रामकण्ठ लगता है कि धारणा के क्षेत्र को अपेक्षाकृत संकुचित किए दे रहे हैं। संकुचित करने का कारण है कि क्षेमराज धारणा अदि से होने वाली सिद्धि को मोह के आवरण से उत्पन्न मानते हैं न कि तत्त्वज्ञान से। विगलित मोह वाले योगी के लिए तो धारणा, ध्यान आदि का अर्थ ही *नेत्र-तंत्र* वाली भंगिमा में बदल जाता है।[103]

'ध्यान' के विषय में त्रिक ग्रन्थों में बहुत कम कहा गया है। एकआध स्थल पर जहाँ ध्यान आदि का उल्लेख आया है[104] वह अतिक्रामी ध्यान या जप के प्रतीक के रूप में आया है। योगांग के रूप में *नेत्र-तंत्र* की विशुद्ध ज्ञानपरक व्याख्या के अतिरिक्त केवल रामकण्ठ ही मुखर लगते हैं। *स्पन्दकारिकाविवृति* में उनका ध्यान का लक्षण[105] *व्यासभाष्य* का शब्दान्तर मात्र है। धारणा में प्रत्यय केवल अभीष्ट देश में बंधा होता है, अभ्यास के बल से विजातीय प्रत्यय का परिहार कर उसी की अखण्ड धारा का प्रवाह ध्यान है। परन्तु यही रामकण्ठ *सर्वतोभद्र* में चित्त से हटाकर प्राण-संचार की शब्दावली में ध्यान को परिभाषित करते हैं। एक साथ समानरूप से बहने वाले प्राण और अपान नामक दोनों वायुओं को जिस एकाग्र बुद्धि से समान रूप में संपादित किया जाता है वही ध्यान नामक योग का अंग है।[106]

धारणा और ध्यान के संबंध में *स्पन्दकारिकाविवृति* में प्रतिपादित रामकण्ठ के मन्तव्य से संभावित भ्रान्ति—यह योगगत परिभाषा है या त्रिकगत—का, निराकरण उचित रहेगा। यहाँ वस्तुत: रामकण्ठ की आत्म-स्वीकृति के अनुसार वह योग के विभिन्न सोपानों को दैनिक अनुभव की त्रिकाभिमत अनेक अवस्थाओं से समीकृत करना चाहते हैं। इसलिए मूलत: ये पातंजल परिभाषाएँ हैं जो यहाँ की जाग्रत् आदि अवस्थाओं से अभिन्न हैं, इस प्रकार ध्यान के विषय में तुरन्त प्रवृत्तिमात्र जाग्रत् अवस्था है जो योग में धारणा के नाम से प्रसिद्ध है। समान प्रत्यय की एकतानता रूप पातंजल ध्यान यहाँ की स्वप्नावस्था है। 'संप्रज्ञात समाधि' को त्रिक की सवेद्यसुषुप्तावस्था से एकरूप माना है।[107] यहाँ पर रामकण्ठ ने जो संप्रज्ञात की परिभाषा की है वह वस्तुत: उसके एक भेद सविचारा समापत्ति (विचारानुगत) की है परन्तु वह उसे संप्रज्ञात के सभी प्रकारों में अनुगत मानकर उसके दो अवस्था-विशेषों—आनन्दानुगत और अस्मितानुगत—से समीकृत करते हैं। रामकण्ठ के विवेचन से यह भी स्पष्ट है कि वे संप्रज्ञात समाधि में योग की मौलिक धारा (जहाँ आनन्दानुगत और अस्मितानुगत निर्विचारा समापत्ति के अधीन हैं) से हटकर वाचस्पति की परम्परा को स्वीकार करते हैं जो वितर्कानुगत (सवितर्का/निर्वितर्का) और विचारानुगत (सविचार/निर्विचार) के अतिरिक्त आनन्दानुगत और अस्मितानुगत को दो स्वतंत्र भेद मानते हैं। जिसे 'असंप्रज्ञात' समाधि कहा गया है और *योगसूत्र* जिसे सब प्रकार की सालंबनवृत्तियों के निरोध (विराम) के कारणभूत परवैराग्य के अभ्यास द्वारा साध्य संस्कारशेषरूप समाधि की शब्दावली में प्रस्तुत करता है, अपवेद्य सुषुप्त से एकरूप है।[108] इस अवस्था में निरोध का संस्कार शेष रहता है परन्तु असंप्रज्ञात समाधि की और भी उन्नत अवस्था जो 'संस्कारहीनता' की स्थिति है, वह भी अपवेद्य सुषुप्त की ही स्थिति है। बात तो यह है कि वह कृत्रिम और

काल्पनिक है।[109] हमारी दृष्टि में इस प्रकार के समीकरण केवल आपातसाम्य को बताते हैं और एक प्रकार के दार्शनिक दम्भ की उपज हैं, वे उपमान दर्शन की आंतरिक निष्ठा (spirit) के साथ न्याय नहीं कर पाते।

समाधि के संबंध में हम प्रारम्भ में विचार कर चुके हैं और *नेत्र-तंत्र* के पर योग के प्रसंग से भी। अत: यहाँ दो बातों पर ध्यान देना उचित होगा। पहली तो यह कि योग की समाधि मूलत: पुरुष अर्थात् चितिशक्ति की स्वरूप-प्रतिष्ठा अर्थात् प्रकृति के स्पर्श से नितान्त शून्य कैवल्य की स्थिति है, जबकि त्रिक योग में यह समग्र क्रिया-सामर्थ्य से युक्त चेतना की सहजावस्था है— स्वांशभूत अचित् का अपने में ही निमज्जन करती हुई अपने स्वातन्त्र्यमय स्वरूप का बोध या परामर्श ही समाधि है।[110] योग की पूर्ण शान्तावस्था या वृत्तिशून्यता से भिन्न यह चेतना की आत्मवृत्ति का प्रत्यभिज्ञान है। कैवल्य में जहाँ चित् और अचित् की व्यावृत्ति मुखर है, यहाँ की समाधि में अचिद् के ऊर्ध्वीकरण द्वारा चिद् से अन्विति पर आग्रह है। उनके जीवन के प्रति सौन्दर्यात्मक दृष्टिकोण की तुलना से दोनों समाधियों की स्वरूपभिन्नता और भी स्पष्ट हो जाती है। सांख्य (अर्थात् योग) में योगी (मुक्त पुरुष) प्रकृति के व्यापार को तटस्थ सामाजिक की भाँति देखता है।[111] परन्तु यहाँ योगी की इन्द्रियाँ अपने उस स्वरूप, जो संसार रूप नाट्य के प्रकटन से उत्पन्न आनन्द को पाने के लिए ही प्रवृत्त है, को अपने अंदर साक्षात् रूप से देखती हैं। इस नाट्य-प्रयोग से प्ररूढ होकर (established/nourished) सारे विभाग को गलाकर आत्मास्वादन रूप चमत्कार के रस को उसकी पूर्णता में ग्रहण करती हैं।[112] जहाँ यह स्थिति *कठोपनिषद्*[113] की याद दिलाती है वहीं योग की कैवल्यनिष्ठा और त्रिक की अखण्ड (integral) संविन्मयता के वैलक्षण्य को भी रेखांकित करती है।

परन्तु यह बात भी सच है, और ध्यान देने योग्य भी, कि योग में समाधि का जितना प्रौढ़ संरचनात्मक विकास हुआ है, वह त्रिक योग में देखने को नहीं मिलता। और जो है भी वह बहुत बिखरा हुआ है। कहीं पर योग और कहीं पर योगी इन के स्तरों और भेदों की कल्पना के द्वारा हम यह देखेंगे कि क्या कोई ठोस संरचना उभरती भी है कि नहीं।

मालिनीविजय में 'सबीज योग' का उल्लेख हुआ है इससे संभावना होती है कि 'निर्बीज योग' का कोई संस्कार *मालिनीविजयकार* के मन में अवश्य रहा होगा। इस विभाग को देखते ही पातंजल योग के सबीज और निर्बीज योग का स्मरण होता है जो संप्रज्ञात और असंप्रज्ञात समाधि के सभी भेदों को क्रमश: व्यक्त करते हैं। परन्तु *मालिनीविजय* के[114] कथन से स्पष्ट नहीं है कि वहाँ सबीज योग का लक्षण क्या है। केवल इतना कहा गया है कि सबीज योग (अर्थात् सविकल्पक योग) की सिद्धि के लिए मन्त्रज्ञान पर्याप्त है। पूरे प्रसंग को देखने से ऐसा मालूम पड़ता है कि शांकर (शैव) योग की धारणा अपेक्षाकृत व्यापकतर रही होगी क्योंकि शांकर योग की पात्रता ज्ञान और क्रिया रूपी 'शिवदीक्षा' के बिना संभव नहीं है और यह शिवदीक्षा केवल योग के लिए ही पात्रता नहीं देती अपितु मन्त्र के लिए भी देती है। यदि सबीज योग की सिद्धि के लिए मन्त्रज्ञान साधन है तो क्या यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि 'योगाधिकारित्व' में योग शब्द निर्बीज योग का वाचक है और उस निर्बीज योग की सिद्धि के लिए ज्ञानमयी शिव दीक्षा का सहारा आवश्यक है। शिवदीक्षा (शांकरीदीक्षा) का जिक्र पहले भी आया है। 'शांकरीदीक्षा'

का 'योगदीक्षा' से भेद करते हुए बताया गया है कि शिवदीक्षा से सद्य:मुक्ति या भोगपरिपाक के बाद देहपात के अनन्तर मुक्ति प्राप्त होती है। जबकि योगदीक्षा क्रमिक योग से संबद्ध है। योगदीक्षा से योग सिद्ध होता है और अंतत: शाश्वत पद को प्राप्त कर योगी शुद्ध आत्मा में प्रतिष्ठित हो जाता है।[115] उपलब्ध ज्ञान के आधार पर यह संभावना नितान्त अप्रामाणिक नहीं कही जा सकती कि शिवदीक्षा की व्यापक परिधि में ज्ञान और मंत्र/शांकरीदीक्षा और योगदीक्षा, दोनों आ जाते हैं और शांकरीदीक्षा ज्ञान का और योगदीक्षा मंत्र अर्थात् क्रिया का आश्रय लेकर चरम योगफल की उपलब्धि कराते हैं। सबीज योग की सिद्धि के लिए मन्त्रज्ञान की उपकारिता का यही अर्थ है।

समाधि के दो प्रकारों का क्षेमराज *स्पन्दनिर्णय* में उल्लेख करते हैं—'निमीलन समाधि' और 'उन्मीलन समाधि'।[116] क्षेमराज इस प्रक्रिया को विशिष्ट रूप से तांत्रिक मानते हैं और इस बात का श्रेय लेते हैं कि प्रत्यभिज्ञाग्रन्थों में प्रतिपादित न होने पर भी वह इसका प्रतिपादन कर रहे हैं।[117] *शैवाष्टक कोश* निमीलन समाधि को शाम्भवोपाय द्वारा प्राप्य परमशिवास्था से और उन्मीलन को शाक्तोपाय से उपलब्ध विश्वाहन्ता की प्रतीति से जोड़ता है।[118] पर *प्रत्यभिज्ञाहृदय* में क्षेमराज के विवेचन से स्पष्ट है कि वे इसे सभी उपायों से जोड़ते हैं। महेश्वरानन्द त्रिक योग की इस चरम स्थिति में दोनों समाधियों के सामरस्य का दर्शन करते हैं।[119] शैव ग्रन्थों में इसी स्थिति का उल्लेख भैरवीमुद्रा, क्रममुद्रा इत्यादि रूपों में हुआ है। पातंजल योग में वर्णित व्युत्थान और निर्व्युत्थान (अथवा निरोध) या सबीज, निर्बीज समाधियों का प्रभाव यहाँ स्पष्ट देखा जा सकता है—आकृति और संज्ञा दोनों पर ही। क्योंकि यहाँ भी 'नित्योदित समाधि' को निर्व्युत्थान कहा जाता है। योग में व्युत्थान समाधि सविकल्पक और निर्व्युत्थान निर्विकल्पक होती है। सारी सिद्धियाँ, जिन्हें योग में विभूति कहा गया है, व्युत्थित चित्त से ही संबंध रखती है, समाहित चित्त या निर्व्युत्थान के लिए उन्हें विघ्न माना गया है। त्रिक योग में इन दोनों स्थितियों का समन्वय दो प्रकार से किया गया है। एक तो विशुद्ध त्रिक योग की पद्धति पर, दोनों स्थितियों में सातत्य और अंतर्विनिमय को मान्यता देकर जैसा कि हमने 'निमीलनोन्मीलन समाधि' में देखा है। और दूसरा समन्वय मिलता है ठीक पातंजल योग की पद्धति पर मितयोगी और महायोगी या परमयोगी और लक्षणया, मितयोग और महायोग का भेद कर।[120] योग-प्रक्रिया के सोपानक्रम का अभ्यास करते हुए योगी को 'मितयोगी' और अपने प्रातिस्वक स्वरूप में अनायास प्रतिष्ठित योगी को 'महायोगी' कहा जाता है। इसलिए योग का लक्ष्य यहाँ अपने निष्क्रिय साक्षी रूप की प्राप्ति नहीं है वरन् स्वाभाविक ज्ञानक्रियासामर्थ्यमय स्वरूप की प्राप्ति है। दूसरे शब्दों में पातंजल योग क्रिया से प्रारम्भ तो होता है, पर अंत में उसका तिरस्कार कर देता है। परन्तु तंत्र योग क्रिया से प्रारम्भ होता है और क्रिया में ही पर्यवसित होता है। इसलिए निरोध के स्थान पर वह ऊर्ध्वीकरण या उदात्तीकरण की प्रक्रिया का आश्रय लेता है—इससे चित् के सातत्य का निर्वाह भी होता है और पूर्णता का भी। त्रिक योग में इस परमयोगी को 'सांसिद्धिक' कहा गया है जिसमें सत्तर्क को स्वत:, स्वाभाविक रूप से उदित माना गया है।[121] यही महायोगी है। सिद्धान्त में चरम कर्तृत्व या माहेश्वर्य के निदर्शन के लिए जिस योगी[122] या महायोगी[123] का उल्लेख होता है, वह यही है।

पाद-टिप्पणी

1. ज्ञानं तज्ज्ञेयतत्त्वानुभवं, योगं तदैकात्म्यप्राप्तिम् ···। —*स्व०तं०उ०*, भा० 3, पृ० 141
2. योगमेकत्वमिच्छन्ति वस्तुनोऽन्येन वस्तुना। —*मा०वि०तं०* 4/4
3. *हरि०आर०*, पृ० 3, पा० टि० 4.
4. *भारतीय संस्कृति और साधना*, पृ० 382.
5. चित्तद्वारेण आत्मेश्वरसंबंधो योग:। —*स०द०सं०*, पृ० 169
6. *भ०गी०* 3/3.
7. तथा इह उपदिष्टस्य आत्माद्वयज्ञानस्य कर्मानुष्ठानौ निष्ठा ···। —*सर्वतोभद्र*, पृ० 46
8. योग: संहननोपायध्यानसंगतियुक्तिपु ···। —*अमरकोश* 3/3/22
9. युज् समाधौ दिवादि:। युजिर् योगे रुधादि:। द्वयोरपि ग्रहणम्। —*काशिका*, पा० 3/2/142
10. योग: समाधि:। —*यो०सू०* 1/1/2
11. समाधिर्योग उच्यते। — *सर्वतोभद्र*, पृ० 46
    योग: समाधि:। —उपरिवत्, पृ० 62
12. *यो०सू०* 1/1/2.
13. *हरि०आर०*, पृ० 3.
14. यथाप्रतिपादिताद्वयचिन्मात्रस्वरूपस्य आत्मतत्त्वस्य प्रत्यभिज्ञानलक्षणा प्रतिपत्तिरिह ज्ञानमुच्यते, तद्विषयो योग: समाधि: कर्मण्यपि सति यथोक्तस्वरूपाप्रच्युतिलक्षणं प्रणिधानम्। —*सर्वतोभद्र*, पृ० 62
15. शास्त्रविहितानां कर्मणामनुष्ठाने यथोक्तात्माद्वैतज्ञाननिष्ठत्वलक्षण: समाधिर्योग उच्यते। यथा कपिलादिप्रणीतस्य सांख्यसंज्ञकस्य ज्ञानस्य पातंजलादिप्रणीते चित्तवृत्तिनिरोधलक्षणे योगे निष्ठा तथा इह उपदिष्टस्य आत्माद्वयज्ञानस्य कर्मानुष्ठानौ निष्ठा ···। —उपरिवत्, पृ० 46
16. एवं चित्तवृत्तिनिरोधलक्षणयोगाभ्यासनिष्ठस्य योगिन: सकाशात् सदा स्वरूपप्रतिष्ठसंवित्कर्मयोगी विशिष्ट: प्रतिपादित:। —उपरिवत्, पृ० 133
17. *पा०यो०द०*, भूमिका, पृ० 26-27.
18. समस्तवृत्तिप्रत्यस्तमये सति संवित् तुरीयां दशाम् अवश्यमेवाविशति, तत्प्रत्यवमर्शाभ्यासात् परतत्त्वोपलब्धि:। —*स्प०का०वि०*, पृ० 78
19. सर्वत्र तावदुपायमार्गे समस्तेतरवृत्तिप्रशमपूर्वकमेकाग्रीभवन्ति योगिन: ···। —*स्प०नि०*, पृ० 39
20. *तं०आ०* 3/260-61.
21. अनाविशन्तोऽपि निमग्नचित्ता जानन्ति वृत्तिक्षयसौख्यमन्त:। —*मा०वि०वा०* 2/114
22. विकल्पस्य च निर्ह्रासो निर्विकल्पोपलक्षणम् ···।
    विकल्पविश्रान्तिबलात्तां वृत्तिं नाभिमन्वते।
    विकल्पनिर्ह्रासवशेन याति विकल्पवन्ध्या परमार्थसत्या। —उपरिवत् 1/988-90
    तत: स्फुटतमोदारताद्रूप्यपरिबृंहिता।
    संविदभ्येति विमलामविकल्पस्वरूपताम्।। —*तं०आ०* 4/6

23. सर्वावस्थासु अविलुप्तभैरवसमापत्तिः एषैव च निर्व्युत्थानसमाध्यात्ममहारहस्यभूः। योगिनां तु तत्र आद्यन्तमध्यदशावगाहिप्रमातृस्वरूपाऽविस्मरणरूपा समाधानतेति। शुद्धविद्योत्थानाध्यवसायरूपा समाधिः। —*शि०सू०वि०*, पा० टि० 140

24. दशधा योगमार्गेणेति बाह्याभ्यन्तररेचनादिषट्कप्रशान्तकुम्भकप्रत्याहारधारणाध्यानात्मना ···। *स्व०तं०*, भा० 3, पृ० 334

25. संभवत: क्षेमराज शैवाद्वैत के इतिहास में पहले व्यक्ति हैं (जयरथ के भी पूर्व) जो इन दोनों प्रक्रियाओं का शब्दशः पहली बार उल्लेख करते हैं।

26. सा च योगं विना यस्मान्न भवेत्तमतो वद।
ऋषिभिर्योगमिच्छद्भिः स तैरेवमुदाहृतः।। —*मा०वि०तं०* 1/5
योगमार्गस्त्वया प्रोक्तः सुविस्तीर्णो महेश्वर।। —उपरिवत् 1/10

27. उपरिवत् 4/4.

28. समावेशोक्तिवद्योगस्त्रिविधः समुदाहृतः। —उपरिवत् 4/34

29. उपरिवत् 2/21-23.

30. एवं महेश्वरो देवो विश्वात्मत्वेन संस्थितः।
क्रमिकज्ञानयोगाभ्यां धारणाभिरुपास्यते।। —*मा०वि०वा०* 2/1

31. उपरिवत् 2/32-2/33.

32. उपरिवत् 2/19.

33. यत्रैवानन्दयोगः क्वचन ननु भवेत्तत्र पूर्णः स्वभावो। —उपरिवत् 2/118

34. महासाहससंयोगविलीनाखिलवृत्तिकः।

35. उपरिवत् 2/120-21.

36. उपरिवत् 2/140-41.

37. तदेवं नाडीसंहाराद्याणवोपायक्रमासादितमोहजयोन्मज्जच्छुद्धविद्यात्मकशाक्तबलासादनप्रकर्षाद् आत्मीकृतपरामृतहृदात्मकशाम्भवपदो योगी ···। —*शि०सू०वि०*, पृ० 46

38. न च कृत्रिमयोगेषु स मुक्तः सर्वबन्धनैः।।
प्राणायामादिकैर्लिङ्गैर्योगाः स्युः कृत्रिमा मताः।
तेन ते कृतकस्यास्य कलां नार्हन्ति षोडशीम्।। —*मा०वि०तं०* 18/18-19

39. योगाङ्गत्वे समानेऽपि तर्को योगाङ्गमुत्तमम्।
हेयाद्यालोचनात्तस्मात् तत्र यत्नः प्रशस्यते।। —उपरिवत् 17/8

40. तदेव परमं ज्ञानं भावनामयमिष्यते। —उपरिवत् 17/20

41. मुहूर्तादेव तत्रस्थः समाधिं प्रतिपद्यते। —उपरिवत् 17/21

42. इत्यनेन विधानेन प्रत्याहृत्य मनो मुहुः।
प्राणायामादिकं सर्वं कुर्याद्योगप्रसिद्धये।। —उपरिवत् 17/24
इस वाक्य में योग शब्द योग का या सत्तर्क का वाचक है, यह स्पष्ट नहीं है। पर पूर्वापर अन्विति तथा *तंत्रालोक* के आधार पर उपर्युक्त अर्थ लिया गया है।

43. त्रयमन्तरंगं पूर्वेभ्यः। *यो०सू०* 3/7

44. तदपि बहिरंगं निर्बीजस्य। —उपरिवत् 3/8

45. यन्नाम अत्र योगस्य स्वदर्शनोक्तानि षडङ्गान्यपहाय पातंजलीययमाद्यष्टकमुक्तं, तत्रायमाशयो—यत् क्वचिदपि एतदङ्गाष्टकातिरिक्तम् अन्यदंगान्तरं नास्ति, इति सर्वत्र तर्कस्यैवाङ्गान्तराण्युपायः, स च स्वसंवित्साक्षात्कारस्येति। —*तं०आ०वि०*, भा० 3, पृ० 718-19

46. योगाङ्गता यमादेस्तु समाध्यन्तस्य वर्ण्यते।
स्वपूर्वपूर्वोपायत्वादन्त्यतर्कोपयोगतः।। —*तं०आ०* 4/96, 104-05

47. स्वरससिद्धसंविदद्वयात्मनो योगस्य स्वल्पेनापि अंशेन दर्शनान्तरीया योगाः साम्यमात्रमप्यधिगन्तुं नोत्सहन्ते। —*तं०आ०वि०*, भा० 3, पृ० 729

48. प्राणायामस्तथा ध्यानं प्रत्याहारोऽथ धारणा।
तर्कश्चैव समाधिश्च षडंगो योग उच्यते।। —उपरिवत्, पृ० 631

49. भट्टभास्कर कृत *गीताभाष्य*, पृ० 127। यह भट्टभास्कर कौन हैं, यह अभी विवादास्पद है+ परन्तु काश्मीर के गीताभाष्यों पर इनका प्रभाव निश्चित रूप से पड़ा है। *गीतार्थसंग्रह* से पता चलता है कि अभिनवगुप्त इनसे परिचित थे। अभिनव के गुरुओं में भास्कर की गणना हुई है, यदि यह वही हैं तो षडंग योग की काश्मीरी परम्परा के इतिहास के बारे में हमारी एक सूचना बढ़ जाती है।

50. षडंग योग का एक संस्करण (यद्यपि वहाँ इस प्रकार का नाम नहीं दिया गया है) हमें रामकण्ठ की *सर्वतोभद्र* टीका (पृ० 133) में मिलता है जिसमें यम और नियम को छोड़कर आसन से समाधिपर्यन्त छह पातंजल अंगों की गणना है। पर यहाँ सत्तर्क या तर्क की ओर संकेत भी नहीं है।

51. *मैत्रायणी* 6/18 और भी देखिए *अत्रिस्मृति* 11/6; दक्षस्मृति 7/34; *स्कन्दपुराण* (काशी खण्ड) 41/59.

52. बौद्ध षडंगयोग के विवेचन के लिए देखिए, गोपीनाथ क़विराज की भूमिका, नगेन्द्रनाथ कृत *तांत्रिक बौद्ध साधना और साहित्य;* S.B. Dasgupta, *An Introduction to Tantric Buddhism*, pp. 164-73.

53. पूर्वैर्निरोधः कथितः वैराग्याभासयोगतः।
अस्माभिस्तु निरोधोऽयत्नेनोपदिश्यते।। —जयरथ द्वारा उद्धृत *तं०आ०वि०*, भा० 3, पृ० 905

54. उपरिवत्, पृ० 631.

55. प्राणायामः प्रत्याहारो धारणा ध्यानवीक्षणे।
जपः समाधिरित्यंगान्यङ्गी योगेऽष्टमः स्वयम्।। —*मृ०आ०*, योगपाद 3, *विज्ञानभैरव* की व्र०व० द्विवेदी कृत भूमिका, पृ० 37 में उद्धृत

56. ऊहोऽभिवीक्षणं वस्तुविकल्पानन्तरोदितः।। 8।।
यदा वेत्ति पदं हेयमुपादेयं च तत्स्थितेः। —उपरिवत्
जयरथ किसी अज्ञात तंत्र से एक लम्बा उद्धरण देते हैं जिसमें ऊह, ईक्षण (वीक्षण) और तर्क का समीकरण स्वतः सिद्ध है। हम यहाँ संबंधित वाक्य उद्धृत कर रहे हैं—
लब्धभूमेर्विरक्तस्य तज्जयोपायपेशलः।
ऊहो नाम वितर्कोक्तिः प्रविचारेक्षणात्मकः।
शक्यन्ते मुनिशार्दूल तस्मात्तर्कोऽपि युज्यते। —*तं०आ०वि०*, भा० 3, पृ० 709-10

57. उपरिवत्, पृ० 632.

58. आर्ष धर्मोपदेशं च वेदशास्त्राविरोधिना।
यस्तर्केणानुसन्धत्ते स धर्म वेद नेतर:।। —*मनु स्मृ०* 12/106

59. ''मनुष्या वा ऋषीपूत्क्रामत्सु देवानब्रुवन् को नु ऋषिभिर्भविष्यतीति। तेभ्य एवं तर्कमृषिं प्रायच्छन्।'' *निरुक्त* 13/2; *विज्ञानभैरव* की व्रजवल्लभ द्विवेदी कृत भूमिका, पृ० 36, उद्धृत।

60. योगिन: षडंगादियोगेनेश्वराराधका:। —*ने०तं०उ०*, पृ० 9-10

61. *ने०तं०* 8/9, 8/21.

62. *तं०आ०* 4/96.

63. *ने०तं०* 2/11.

64. उपरिवत् 6/7-8.

65. उपरिवत् 20/38-39.

66. उपरिवत् 20/47-48; 58-63.

67. *ने०तं०उ०*, ने०तं०, भा० 1, पृ० 154-55.

68. उपरिवत्, पृ० 155-59.

69. *ने०तं०*, व्रजवल्लभ द्विवेदी सम्पादित संस्करण, पृ० 39, टिप्पणी 2.

70. उपरिवत् 8/9-16.

71. उपरिवत् 8/17-20.

72. येन येन प्रकारेण ज्ञानयोगेन मन्त्रत:।।
यद्यत्पश्यसि देवेश तदुपायं वदस्व मे। —*ने०तं०* 2/7-8

73. *ने०तं०उ०*, भा० 1, पृ० 185.

74. *स्व०तं०* 7/252-3.

75. *यो०सू०* 2/46.

76. आसनस्थ: सुखं ह्रदे निमज्जति। —*शि०सू०* 3/16

77. *स्व०तं०* 7/290 पर।

78. आस्यते नित्यमैकात्म्येन स्थीयते अस्मिन् इति आसनं, परं शाक्तं बलम् । —*शि०सू०वि०*, पृ० 46

79. तस्मिन् सति श्वासप्रश्वासयोर्गतिविच्छेद: प्राणायाम:। —*यो०सू०* 2/49

80. *पातंजलयोगदर्शनम्*, पृ० 241.

81. गतिभङ्गं ततस्तस्य प्राणायामेन कारयेत्।
स च पंचविध: प्रोक्त: पूरकादिप्रभेदत:।। —*मा०वि०तं०* 17/2

82. उपरिवत् 17/9 (17/4 से 17/10 तक प्राणायाम के अवान्तर भेदों का जिक्र है, जिनका उल्लेख विस्तारभय से यहाँ नहीं किया जा रहा है।)

83. प्राणस्यायमनं यथास्थितवाहविजयेन स्वायत्ततानयनम् । —*स्व०तं०* 7/295 पर

84. *स्व०तं०* 7/296-97.

85. उपरिवत् 7/223 तथा इस पर उद्योत।

86. स्वविषयासम्प्रयोगे चित्तस्य स्वरूपानुकार इवेन्द्रियाणां प्रत्याहार:। —*यो०सू०* 2/54

87. *शि०सू०* 3/5 पर *विमर्शिनी* ।

88. *शि०सू०वि०*, पृ० 39-40; *स्व०तं०* 7/297-98 तथा इस पर *उद्योत* ।

89. यत्किंचिच्चिन्तयेद्वस्तु नान्यत्वं प्रतिपद्यते।
तेन तन्मयतामाप्य भवेत्पश्चादभाववत्।। —*मा०वि०तं०* 17/22

90. देशबन्धश्चित्तस्य धारणा। —*यो०सू०* 3/1

91. *पा०यो०द०*, पृ० 259-60.

92. तान्येवोद्दिश्य तत्सर्वं पूरणाय धरादित:।।
शिवान्तं बहुधा भेदैर्धारणाग्रन्थ उच्यते। —*मा०वि०वा०* 1/1133-34

93. *मा०वि०तं०* 12/8-9.

94. उपरिवत् 12/14.

95. उपरिवत् 16/66.

96. उपरिवत् 17/13-15.

97. धारणाभिरिहैताभिर्योगी योगपथे स्थित:।
हेयं वस्तु परित्यज्य यायात्पदमनुत्तमम्।। —*मा०वि०तं०* 17/16

98. *शि०सू०* 3/5.

99. भूतादीनां पृथिव्यादीनां जयो धारणाभिर्वशीकार:। —*शि०सू०वि०*, पृ० 39

100. *स्व०तं०* 7/299-300.

101. ध्येये अर्थे चेतसा झगिति प्रवृत्तिमात्रम्। —*स्व०का०वि०*, पृ० 23

102. भ्रूमध्यलक्षणे देशे तेजोमात्रालम्बनतया चित्तस्य बन्धो हि अनेन उक्त:। —*सर्वतोभद्र*, पृ० 133

103. एवं देहशुद्धि-भूतशुद्धि-प्राणायाम-प्रत्याहार-धारणा-ध्यान-समाधिभिर्या तत्तत्त्वरूपा सिद्धिर्भवति सा मोहावरणात्, न तु तत्त्वज्ञानात् विगलितमोहस्य तु श्रीमन्मृत्युजिद्भट्टारक-निरूपितनीत्या धारणादिभिरपि परतत्त्वसमावेश एव भवति, न तु मितसिद्धि:। —*शि०सू०वि०*, पृ० 40-41

104. *तं०आ०* 1/89.

105. विसदृशप्रत्ययपरिहारेण ग्रमानप्रत्ययप्रवाहैकतानुसंधानम्। —*स्प०का०वि०*, पृ० 23

106. प्राणापानसंज्ञौ शारीरौ मारुतौ 'समौ' यौगपद्येन तुल्यरूपतया वहनात् समानौ संपाद्य इत्यनेन एकाग्रबुद्धिसम्पाद्यं ध्यानलक्षणं योगाङ्गम् । —*सर्वतोभद्र*, पृ० 133

107. क्रमेण ऐकाग्र्यातिशयात् प्रत्ययान्तरासंकीर्णसूक्ष्मध्येयाभासमात्रविशेषता चित्तस्य सवेद्यसुषुप्तावस्थायां वितर्क विचारानन्दास्मितारूपानुगमलक्षणस्य संप्रज्ञातस्य समाधे: आनन्दास्मितामात्रानुगतम् अवस्थाविशेषम् आचक्षते। —*स्प०का०वि०*, पृ० 23

108. यस्तु 'विरामप्रत्ययाभ्यासपूर्व: संस्कारशेषोऽन्य:' (पा० 1, सू० 17 पातञ्जले)
इति कृतलक्षण: असंप्रज्ञात समाधि: तद् अपवेद्यसुषुप्तम्। —उपरिवत्

109. ध्यातृध्यानध्येयविकल्पोच्छेदरूपा समाध्यवस्था। —उपरिवत्, पृ० 45

110. *तं०वि०*, भा० 2, पृ० 517.

111. प्रकृतिं पश्यति पुरुष: प्रेक्षकवद् स्थित: स्वस्थ:। —*सां०का०* 65

112. योगिनश्चक्षुरादीनि इन्द्रियाणि हि संसारनाट्यप्रकटनप्रमोदनिर्भरं स्वस्वरूपम् अन्तर्मुखतया साक्षात्कुर्वन्ति, तत्प्रयोगरूढ्या विगलितविभागाश्चमत्काररससंपूर्णतामापादयन्ति। —*शि०सू०वि०*, पृ० 44

113. कश्चिद्धीर: प्रत्यगात्मानमैक्षद् आवृत्तचक्षुरमृतत्वमश्नन्। —*कठो०* 2/4।

114. सबीजयोगसंसिद्धयै मन्त्रलक्षणमप्यलम्।
न चाधिकारिता दीक्षां विना योगेऽस्ति शाङ्करे।। —*मा०वि०तं०* 4/6
क्रियाज्ञानविभेदेन सा च द्वेधा निगद्यते।
द्विविधा सा प्रकर्तव्या तेन चैतदुदाहृतम्।।
न च योगाधिकारित्वमेकमेवानया भवेत्।
अपि मन्त्राधिकारित्वं मुक्तिश्च शिवदीक्षया।। —उपरिवत् 4/7-8

115. तमाराध्य ततस्तुष्टामासाद्य शाङ्करीम्।
तत्क्षणाद्वोपभोगाद्वा देहपाताच्छिवं व्रजेत्।।
योगदीक्षां समासाद्य ज्ञात्वा योगं समभ्यसेत्।
योगसिद्धिमवाप्नोति तदन्ते शाश्वतं पदम्।। —उपरिवत् 1/46-47
इन कारिकाओं का संबंध सद्योदीक्षा से भी अभिनवगुप्त जोड़ते हैं। पर वह सब प्रासंगिक नहीं है।

116. *स्प०नि०*, पृ० 25, 49.

117. शक्तिसंकोचादयस्तु यद्यपि प्रत्यभिज्ञायां न प्रतिपादिता: तथापि आम्नायिकत्वात् अस्माभि: प्रसंगात् प्रदर्श्यन्ते। —*प्र०हृ०*, पृ० 84; Navjivan Rastogi, "The Krama Monism of Kashmir: An Analytical Study," Ph.D. thesis, pt. 2, pp. 474-75, 697.

118. निमीलनसमाधि: परमशिवावस्था शांभवोपाय:। उन्मीलनसमाधि: मन्मयमेवेदं सर्वमित्युक्तयुक्ति सम्यक्परिशीलनशक्तिदशारूढि: शाक्तोपाय इति। —*शैवाष्टक कोश* (हस्तलिपि)

119. इयं च निमीलनोन्मीलनसमाधिद्वयसामरस्यौचित्यादत्यन्तमुपलाल्यते । —*म०मं०प०*, पृ० 94

120. इति श्रीमन्मृत्युजिद्भट्टारकनिरूपितनीत्या धारणादिभिरपि परतत्त्वसमावेश एव भवति, न तु मितसिद्धि:। —*शि०सू०वि०*, पृ० 41

121. स तावत्कस्यचित्तर्क: स्वत: एव प्रवर्तते।
स च सांसिद्धिक: शास्त्रे प्रोक्त: स्वप्रत्ययात्मक:।। —*तं०आ०* 4/40-41

122. योगीव निरुपादानमर्थजातं प्रकाशयेत्। —*ई०प्र०का०* 1/5/7

123. महायोगीव य: स्वेच्छया ···। —*श्रीदक्षिणामूर्तिस्तोत्र*, श्लोक 2

अध्याय चौदह

उपाय-चतुष्टय

काश्मीर शिवाद्वयवाद में उपाय-चतुष्टय की धारणा संभवत: आचार्य अभिनवगुप्त की मौलिक उद्भावना है। यद्यपि उनसे पूर्व *शिवसूत्रों* में प्राय: वे सभी सिद्धान्त व साधना-विधियाँ बीज रूप में उपलब्ध होती हैं पर उनको सारे तांत्रिक चिन्तन का सार बनाकर एक व्यवस्थित प्रारूप में प्रस्तुत करने का मौलिक योगदान आचार्य अभिनवगुप्त का ही है। उनके बाद उनके शिष्य क्षेमराज तथा अन्य आचार्य उन्हीं की दृष्टि का अनुसरण करते हुए उत्तरकाल में *शिवसूत्रों* की व्याख्या करते समय इन उपायों के अन्तर्गत ही उन सूत्रों का वर्गीकरण कर प्रस्तुत करते हैं। जहाँ कल्लट व भट्ट भास्कर कहीं भी किसी उपाय की चर्चा नहीं करते, वहीं वरदराज व क्षेमराज स्पष्टत: इन सूत्रों का विभाजन उपायों की दृष्टि से ही करते हैं। अत: उपायों की यह प्रकल्पना अभिनवगुप्त की ही देन है।

अभिनवगुप्त *तंत्रालोक* नामक बृहत् ग्रंथ में इस उपाय परम्परा को पर्याप्त ढंग से विकसित करते हैं। उनकी योजना में *तंत्रालोक* का विवेच्य इन चार उपायों की अवधारणा ही है। वे स्पष्टत: कहते हैं कि पूरे *तन्त्रालोक* का विषय ही ये 'चार ज्ञानोपाय' हैं।[1] ये चार उपाय उस परम सत्य तक पहुँचने के चार मार्ग हैं— इस तथ्य को अभिनवगुप्त (1) सम्प्रदाय के स्तर पर, (2) साधना-प्रक्रिया के स्तर पर, (3) अधिकारी के स्तर पर व (4) शक्ति-प्रसार के स्तर पर तंत्रों में बिखरी विविध दृष्टियों में एक व्यापकतर समन्वित दृष्टि के विकास का निमित्त बना कर प्रस्तुत करते हैं।

जैसा कि अब तक के विवेचन से विदित ही है कि इस स्वातन्त्र्यवादी अद्वैत मत में सब कुछ एक तत्त्व का ही विभव है। यहाँ सारे विवेचन उस एक तत्त्व को ही केन्द्र में लेकर चलते हैं। अत: बन्ध है उस पूर्ण तत्त्व द्वारा स्वेच्छा से परिगृहीत स्वरूपावरण तथा मोक्ष है उसके पूर्ण स्वरूप का प्रथन।[2] इसी कारण यह आवरण व पुन:प्रकाशन रूप क्रीडा तिरोधान व अनुग्रह रूप में अन्य कृत्यों के साथ साथ उसके स्वरूप का ही अविभाज्य अंग हैं। फलत: किसी ऐसे साधन या उपाय के लिये कहीं कोई अवकाश नहीं बचता[3] जो उस अविच्छिन्न पूर्ण तत्त्व के प्रकाशन का निमित्त बन सके।[4] पर उसकी क्रीडा के विलास में सम्मिलित होकर द्वैत दृष्टि का आश्रय लेकर उपाय-उपेय,[5] शक्ति-शक्तिमान्, ज्ञान-ज्ञेय, कर्त्ता-कर्म आदि नानाविध रूपों में उसकी चर्चा की जाती है। जो उपेय है वही नानाविध उपायों का साध्य हो जाता है।[6] ये सारे उपाय उसकी अनुग्रह शक्ति का ही स्फार हैं और अधिकारि-वैचित्र्य के अनुसार ही उनकी कृतकार्यता है।

वैसे तो अभिनवगुप्त इन उपायों की विविध स्तरों पर चर्चा करते हैं पर मुख्यत: वे इन्हें ज्ञान रूप मानते हैं। अत: सर्वप्रथम वे इस सम्प्रदाय के सबसे मौलिक प्रत्यय 'प्रकाश+स्वातन्त्र्य' के माध्यम से उपाय की धारणा को स्थापित करने का प्रयास करते हैं। यह प्रकाशतत्त्व ही संवित् है

जिसे वह महासंवित् भी कहते हैं और परम ज्ञान भी। उसी को 'सकृद् विभातोऽयमात्मा' कह कर वह प्रस्तुत करते हैं। उनका कहना है कि आत्म-तत्त्व का विश्वभाव से एकात्म स्वरूप में प्रथनात्मक बोध ही परम ज्ञान है। जो उस ज्ञान को प्राप्त कराने में साधन हैं वे ही उपाय कहे जाते हैं। वे उपाय ज्ञान के उपाय हैं, अत: उन्हें अज्ञान रूप नहीं कहा जा सकता।[7] अब यदि कोई यह आशंका करे कि एक ही तत्त्व का उपायोपेयभाव कैसे संभव है तो इसका उत्तर यह होगा कि यह ज्ञान तो सर्वदा भात पूर्ण तत्त्व ही है जिसका कहीं अपलाप नहीं होता[8] पर उसके स्वातन्त्र्य के कारण उसकी क्रिया शक्ति उस पूर्णस्वरूप को आवृत कर नाना भेदात्मक वैचित्र्य का उल्लास करती है जिससे उस उपायोपेय भाव का विभ्रम पैदा होता है।[9] पुन: एक प्रश्न उठता है कि अभिनवगुप्त यदि उपाय की धारणा को सामान्यत: ज्ञान से जोड़ते हैं तो फिर आणवोपाय को क्रियोपाय क्यों कहते हैं। यहाँ पर पुन: अभिनवगुप्त स्वयं उत्तर देते हैं कि इस सम्प्रदाय की दृष्टि में क्रिया ज्ञान से भिन्न नहीं है। चित्त में त्रिविध मलों—आणव, कार्म व मायीय, की उपस्थिति के कारण जनित नाना वासनाएं निवास करती हैं उनकी शान्ति के लिये संवित् से एकात्मता का अनुभव की हुई बुद्धि, नाना दीक्षा आदि उपायों का आश्रय लेकर व्यापार करती है, अत: वह क्रिया कही जाती है।[10] अत: जिसे हम क्रिया कह रहे हैं वह भी ज्ञान ही है, इसी कारण मोक्ष का एकमात्र निमित्त ज्ञान को ही माना गया है। अब पुन: पुनरुक्ति दोष की संभावना उपस्थित होती है कि ज्ञान ही उपाय भी है और ज्ञान ही साध्य भी है तो यह कैसे संभव है तो पुन: यही उत्तर होगा कि यह हेतु-फलभाव काल्पनिक ही है, तात्त्विक नहीं।[11] अब यदि कहें कि ज्ञान व मोक्ष का कारणकार्यभाव वास्तविक नहीं है तो ज्ञान के होने पर भी मोक्ष नहीं होगा तो अभिनवगुप्त का मत है कि नहीं। इस तत्त्वमीमांसा की विशिष्ट दृष्टि इस संभावना का निषेध करती है क्योंकि यह कारण-कार्य भाव यहाँ वास्तविक न होकर स्वेच्छा-परिगृहीत ही है। इन उपायों के जिस नानात्व का वर्णन इस सम्प्रदाय में मिलता है वह क्रियागत वैचित्र्य के ही कारण है। ये सारे उपाय अन्तत: ज्ञान रूप ही हैं और इनके भेद से 'उपेय' के स्वरूप में कोई भेद नहीं आता। इसी दृष्टि से इन उपायों के मध्य एक द्वार-द्वारिभाव की कल्पना की गयी है[12] अर्थात् इन उपायों में एक क्रमिक तारतम्य है। आणवोपाय शाक्तोपाय का द्वार है, शाक्तोपाय शांभवोपाय का और शांभवोपाय अनुपाय का। अनुपाय की स्थिति मात्र सांबन्ध्यवृत्ति के कारण ही उपायता के संस्पर्श से युक्त है[13] अन्यथा तो यह चिदानन्द लाभ की वह अवस्था है जिसमें द्वैत का कोई संस्पर्श नहीं है। इन चार उपायों की कल्पना में उन समस्त संभव साधनों को समेटा गया है जो कि उस 'परम ज्ञान' रूप उपेय तक ले जाने में सहायक हो सकते हैं।

अभिनवगुप्त इन उपायों को शक्ति की धारणा से जोड़ने का बराबर प्रयास करते हैं[14] क्योंकि इस सम्प्रदाय की दृष्टि में अद्वैत की धारणा की सिद्धि में यह 'शक्ति-शक्तिमान्' की धारणा पर्याप्त पुष्ट प्रमाण है। उस एक तत्त्व में सारी अनेकता इसी शक्ति रूप से समाहृत होकर उसे पूर्ण बनाती है, अत: सारे उपाय भी उसकी शक्ति के ही विविध रूप हैं।[15] उपायों की इस चेतना का प्रारम्भ होता है 'शक्तिपात' से। शक्तिपात इस सम्प्रदाय की विशिष्ट दृष्टि में अधिकारियों की पात्रता के अनुसार विविध प्रकार से घटित होता है।[16] यह स्थिति कहीं पारतन्त्र्य की संभावना न उपस्थित कर दे इसलिये शक्तिपात को केवल परमेश्वर के स्वातन्त्र्य से ही नियमित माना गया

है,[17] किसी बाह्य निमित्त से नहीं। पर क्योंकि विविध व्यक्ति विविध उपायों का आश्रय लेते हैं, अत: उनके अवलोकन से यह निश्चित हो जाता है कि उन पर होने वाले शक्तिपात का क्या परिमाण है। परमेश्वर की प्रमुख शक्तियाँ 'चित्', 'आनन्द', 'इच्छा', 'ज्ञान' व 'क्रिया' मानी गयी हैं। इनमें चित् व आनन्द तो परमेश्वर का अनिवार्य स्वरूप है और बाकी तीन इसी स्वरूप से निर्गत हैं। अत: हम कह सकते हैं कि ईश्वर इनमें से जिस शक्ति का पात जीव पर करता है वह उसी विधि को अपनाता है। क्रियाशक्ति स्थूल भेदात्मक व्यापार प्रधान है, अत: उससे जिस उपाय को जोड़ा गया है उसे आणवोपाय कहा गया है। आणवोपाय में अणुभाव की प्रधानता है क्योंकि यहाँ भेदात्मक चेतना का बाहुल्य है। ज्ञानशक्ति भेदाभेदात्मक चेतना प्रधान है, अत: इससे जोड़ा जाने वाला उपाय शाक्तोपाय भी इसी भेदाभेदात्मक दृष्टि को मूल में लेकर चलता है।[18] इच्छा-शक्ति में भेद का संस्पर्श रहने पर भी वह मूलत: अभेदात्मक ही है।[19] इसी दृष्टि से शांभवोपाय को इच्छोपाय कहा गया है क्योंकि इच्छा में इष्यमाण जिस तरह अन्त:स्थ रूप से ही विद्यमान रहता है उसी तरह शांभवोपाय में, चित्तत्व में ही सारा विश्व समाहित है—इसी परामर्श को सतत अनुभूत करने का प्रयास किया जाता है। साथ ही इच्छा स्वातन्त्र्य का ही प्रथम विभव है और शांभवोपाय में उस स्वातन्त्र्य के प्रसार की प्रक्रिया को ही आत्मसात् करने की पर्याप्त चेष्टा है, इस दृष्टि से भी शांभवोपाय को इच्छोपाय कहते हैं। इच्छा एक नियत अभाव की चेतना को लक्षित करती है जिसे पूर्णता मिलती है उस विश्वात्मता के बोध के निरन्तर आभोग से। अत: इच्छा उस स्वातन्त्र्य के अनुभव का माध्यम भी है। इस प्रकार यहाँ चित्त के स्तर पर ही उस द्वैतभाव से उत्तीर्णता का प्रयास किया जाता है जबकि ज्ञानोपाय में बुद्धि के स्तर पर तथा आणवोपाय में देह के स्तर पर उस भेदात्मक चेतना के विलय का प्रयास निहित है। अन्तिम अनुपाय की स्थिति चिदानन्दमयी है, अत: यहाँ किसी उपायात्मक प्रयास का कोई अवकाश न होकर जीव को मात्र परमेश्वर की इच्छा मात्र से उस चिदानन्दरूपता का लाभ हो जाता है। इस प्रकार शक्तिपात की धारणा के साथ उपायों की आनुपूर्वी को जोड़ने का प्रयास स्पष्टत: दृष्ट है।

अभिनवगुप्त उस 'पूर्णता' की ही संवाहक एक अन्य संभावना को लेकर भी इस उपाय-परिकल्पना को पुष्ट करने का प्रयास करते हैं। वह संभावना है—सभी द्वैत, द्वैताद्वैत व अद्वैत दृष्टियों का स्रोत उसी पूर्ण तत्त्व को सिद्ध करना, अन्यथा पूर्ण तत्त्व की पूर्णता का कोई अर्थ नहीं होगा। आणवोपाय में भेदात्मक चेतना का प्राधान्य है, अत: परम प्रकाशतत्त्व तक पहुँचने का जो मार्ग भेददृष्टिप्रधान है वह इस उपाय द्वारा गृहीत है। शाक्तोपाय में भेदाभेद-दृष्टि की प्रधानता है, अत: भेदाभेदात्मकदृष्टिप्रधान मार्ग इस उपाय द्वारा गृहीत है तथा अद्वैतदृष्टिप्रधान मार्ग को शांभवोपाय में समेटा गया है क्योंकि यहाँ अभेदात्मक बुद्धि की ही प्रधानता है।[20] अनुपाय वस्तुत: उस पूर्ण तत्त्व के ही स्तर का है जहाँ सारी दृष्टियाँ समरस हैं। इसी सन्दर्भ में वह त्रिक सम्प्रदाय द्वारा गृहीत समस्त द्वैत, द्वैताद्वैत तथा अद्वैत दृष्टियों को भी इस उपाय-परम्परा के माध्यम से अपने *तंत्रालोक* द्वारा स्थापित 'अनुत्तरत्रिक' रूप सम्प्रदाय का अंग बना लेते हैं। इन उपायों की आणवोपाय या नरोपाय, शाक्तोपाय व शांभवोपाय रूप संज्ञाओं के पीछे भी यही ध्वनि है। आणवोपाय अणु का कार्यक्षेत्र है, शाक्तोपाय शक्ति का व शांभवोपाय शंभु का।[21] अणु का ज्ञानक्रिया-स्वातन्त्र्य आवृत है, अत: उसके सारे व्यापार द्वैतबुद्धि-प्रधान हैं। शक्ति को सदैव

व्यापारहेतु शक्तिमान् की अपेक्षा रहती है, पर इन दोनों में ऐसा अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है कि न इन्हें भिन्न कहा जा सकता है और न अभिन्न। शम्भु में शान्त भाव प्रधान है। सब कुछ एकात्म रूप से जानते हुए स्वात्मस्थता ही उसका स्वभाव है। इस प्रकार इस सम्प्रदाय की तत्त्वमीमांसा की विशिष्ट मान्यताओं के अनुरूप ही इस उपाय-कल्पना को विकसित किया गया है तथा इसके माध्यम से पूर्ण समन्वयवादी दृष्टि विकसित करने की चेष्टा की गयी है। वस्तुत: अभिनवगुप्त स्पष्टत: स्वीकारते हैं कि *तंत्रालोक* में यह 'ज्ञानचतुष्क' ही उनका एक मात्र विवेच्य है।[22] इस स्वीकारोक्ति के पीछे उनकी यह मान्यता है कि सब कुछ ज्ञान रूप मानकर ही यहाँ सारी उपासना की जाती है[23] और यह ज्ञान ज्ञाता-ज्ञान-ज्ञेय की त्रिपुटी से मुक्त विशुद्ध संवित् रूप है।[24] इन चतुर्विध उपायों की ज्ञानरूपता सिद्ध कर वह इन्हें परमेश्वर का स्वभाव ही मानते हैं[25] अर्थात् यहाँ वह परमेश्वर ही अपने स्वातन्त्र्यवशात् इन विविध रूपों में परिस्फुरित होता है। अत: उपायों के वैचित्र्य की कल्पना उपपन्न है। वह नाना भावों में भासित होकर नाना प्रकारों से बँधता भी है और मुक्त भी होता है।

यदि कोई यह आशंका करे कि एक उपेय तक जाने वाले सभी मार्गों को एक ही उपाय सामान्य से अभिहित न कर उपायों के इतने वर्ग क्यों किये गये हैं तो इसका समाधान इस प्रकार किया जा सकता है कि इन सभी उपायों का कार्य है मलिनता से स्वच्छता की ओर प्रयाण या सम्प्रदायगत शब्दावली में विकल्पों का निर्विकल्पीकरण। इस कार्य में अधिकरण व करण के भेद से उपायों को इन चार कोटियों में रखा गया है। इसके अतिरिक्त अज्ञान के तीन पक्षों को भी लक्ष्य कर इन उपायों का विभाजन किया गया है।[26] आणवोपाय से कार्ममल का क्षय होता है, शाक्तोपाय से मायीय मल का तथा शांभवोपाय से आणवमल का। यद्यपि इस क्रम का सर्वत्र नियम से पालन नहीं मिलता क्योंकि परमेश्वर की इच्छा तो नियतिकृत नियमों से स्वतन्त्रतया भी व्यापार कर सकती है। अत: अनुपाय की स्थिति में बिना किसी क्रम के एक साथ सारे मलों का क्षय होकर विशुद्ध प्रकाश रूप स्वात्मसंवित् की प्राप्ति होती है। इस विशिष्ट नामावली के सन्दर्भ में आगमिक प्रमाण भी है। *तंत्रालोक* में अभिनव इसका उल्लेख करते हैं। वह तो वैसे भी यह स्वीकार करते हैं कि *तंत्रालोक* में वह वही कह रहे हैं जो *मालिनीविजयोत्तर तंत्र* कहता है। अत: इस सन्दर्भ में वह *मालिनीविजय तंत्र* के ही श्लोकों को उद्धृत करते हैं जिनमें यद्यपि उपायों की चर्चा तो नहीं है पर 'आवेश' के त्रिविधरूपों का वर्णन है। इन त्रिविध आवेशों की वही संज्ञाएं हैं जो अभिनवगुप्त तीन उपायों को देते हैं। आवेश व उपाय में यों तो भेद साध्य व साधन का है पर क्योंकि इस सम्प्रदाय में साध्य-साधन के बीच का भेद वास्तविक नहीं है, अत: दोनों ही पर्याय बन जाते हैं। जिन उपायों से उस समावेश की प्राप्ति होती है वे उपाय भी उन्हीं संज्ञाओं से वाच्य होते हैं जिनसे वह समावेश। इन उपायों के मध्य उत्कृष्टता का साधक प्रमाण भी *मालिनीविजयोत्तर तंत्र* का वाक्य ही है।[27]

इन चार उपायों की अपने तांत्रिक ग्रंथों में पर्याप्त चर्चा करने पर भी अपनी दार्शनिक टीकाओं *ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी* व *ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविवृतिविमर्शिनी* में वे इनका कहीं विवेचन नहीं करते। यद्यपि वहाँ चर्चित 'प्रत्यभिज्ञा' रूप नवीन उपाय को विद्वानों ने अनुपाय के साथ जोड़ने का पर्याप्त प्रयास किया है पर अभिनवगुप्त ऐसा कुछ नहीं कहते। संभवत: दार्शनिक सन्दर्भ में

वह अपने गुरु उत्पल के मत का पूर्णत: अनुगमन करते हुए मात्र प्रत्यभिज्ञा को ही उस विशुद्ध संवित्तत्त्व को जानने का साधन मानते हैं। इस प्रत्यभिज्ञा को किसी बाह्य आयास की आवश्यकता नहीं है मात्र *ईश्वरप्रत्यभिज्ञाकारिका* में प्रतिपादित युक्तियों के आधार पर आत्मतत्त्व के 'ज्ञानक्रिया-सामर्थ्य' का निश्चय कर उसके द्वारा 'मैं ही वह आत्मतत्त्व हूँ और मेरा ही यह सारा ज्ञानक्रियात्मक विभव है' इस प्रकार का प्रत्यभिज्ञान करना ही एक मात्र साध्य है। अत: उपायों की परम्परा के साथ इसका तालमेल बैठाना अनावश्यक है। अभिनवगुप्त दो सन्दर्भों में तांत्रिक परम्परा का अनुशीलन करते हैं। प्रथम, वह तंत्रों में बिखरी विविध दृष्टियों को एक समन्वयात्मक प्ररूप देना चाहते हैं ताकि तंत्रों से एक ऐसी दृष्टि विकसित हो जो सारे विरोधों को आत्मसात् कर सारे प्रश्नों व समस्याओं का उत्तर दे सके तथा दूसरे, वह सोमानन्द द्वारा उद्‌भावित तथा उत्पल द्वारा स्थापित प्रत्यभिज्ञा सम्प्रदाय को पुष्ट रूप भी देना चाहते हैं क्योंकि तांत्रिक धारा की अद्वयात्मक दार्शनिक दृष्टि को यही सम्प्रदाय अन्य दार्शनिक सम्प्रदायों के समकक्ष रूप में प्रस्तुत करता है। अत: उपायप्रकल्पना पूर्णत: तांत्रिक सन्दर्भ में प्रस्तुत दृष्टि है जिसका दार्शनिक सन्दर्भ से सीधा सम्बन्ध नहीं है।

इस प्रकार इस उद्‌भावना के पीछे अभिनवगुप्त के नियत प्रयोजन हैं यह बात तो उपर्युक्त विवेचन से सुनिश्चित है। अब हम उनके द्वारा प्रस्तुत विवेचन के आधार पर इन उपायों का स्वतन्त्रतया विश्लेषण करने का प्रयास करेंगे।

अनुपाय—अभिनवगुप्त इस उपाय को सबसे उत्कृष्ट मानते हैं और इसके संज्ञागत विरोधाभास को स्पष्ट करने का ही सबसे पहले प्रयास करते हैं। अनुपाय कह कर भी इसे उपायों के अन्तर्गत रखने के पीछे अभिनवगुप्त का विशेष अभिप्राय है। एक तो समावेश प्राप्ति की यह विधा शक्तिपात के उस प्रकृष्ट प्ररूप की ओर संकेत करती है जिसमें जीव को कुछ भी नहीं करना पड़ता और परमेश्वर की इच्छा मात्र से उसे अपने चिदानन्द रूप का लाभ हो जाता है, अत: यह *मालिनीविजयोत्तर तंत्र* में वर्णित[28] 'कथंचित् मोक्षफल प्राप्ति' की स्थिति की व्याख्या है। साथ ही यह परमेश्वर के दुर्घट स्वातन्त्र्य के उस पक्ष का प्रकाशन है जहाँ नियतिकृत नियमों को उत्तीर्ण कर परमेश्वर स्वेच्छामात्र से व्यापार करता है। पर इन सारी व्याख्याओं के रहने पर भी अभिनवगुप्त इस उपायता की व्याख्या के लिये कुछ अन्य युक्तियाँ भी देते हैं।

प्रथम, इसमें देशना की एकबार में ही कृतकार्यता है, अन्य उपायों की तरह यहाँ उसकी पुनरावृत्ति की आवश्यकता नहीं है[29] अत: उसके बाद तो यहाँ अनुपायता ही है। देशना की व्याख्या करते हुए *तंत्रालोक* के टीकाकार जयरथ किसी प्राचीन स्रोत का अंश उद्धृत करते हैं जिसके अनुसार सिद्धों और योगिनियों का दर्शन, चरु-भोजन, कथन, शास्त्र में संक्रमण, साधन, गुरु की सेवा आदि ही अनुपाय में उपयोगी साधन हैं।[30]

द्वितीय, यह अनुपाय संज्ञा पर्युदासात्मक निषेधदृष्टि को प्रस्तुत करती है, अत: 'अनुदरा कन्या' की तरह ही यहाँ 'अन्' अल्पता का अभिप्राय देता है[31] फलत: अनुपाय का अर्थ हुआ अल्पोपाय।[32] इस सन्दर्भ में जयरथ एक उद्धरण[33] देकर इस उपाय की स्थिति को स्पष्ट करते हैं। इसके अनुसार "शिव उपायों से भासित नहीं होता बल्कि वे उपाय उस के ही प्रसार से भासित होते हैं।" अत: यदि गुरु ने कहा —'स एवाहं स्वप्रकाशो भासे विश्वस्वरूपक:' अर्थात् वही मैं

स्वप्रकाश विश्वस्वरूप से भासित हो रहा हूँ— तो गुरु का यह वाक्य एक बार सुनकर कुछ लोग आश्वस्त हो जाते हैं और पुन: किसी अनुसंधान की अपेक्षा नहीं करते तथा संविन्मय स्वरूप को प्राप्त कर स्थित रहते हैं। यही स्थिति अनुपाय की है।

यदि अनुपाय शब्द का 'नञ्' प्रसज्यप्रतिषेध रूप माना जाये तो अनुपाय साधन न रह कर साध्य का ही पर्याय हो जाता है और तब वहाँ किसी उपाय की आवश्यकता नहीं होगी। यद्यपि अभिनवगुप्त की दृष्टि में इस स्थिति के साधक के लिए शास्त्रों की कोई आवश्यकता नहीं है।[34] शास्त्रों का उपदेश तो उन अज्ञ-जनों के लिये हैं जो शक्तिपात का पात्र नहीं बनें हैं, उनको उपेय की प्राप्ति उपायों के बिना किसी भी तरह संभव नहीं है। यहाँ इस स्तर की उपायता के न होने पर भी उस सूक्ष्म स्तर की उपायता है जिसके कारण अभिनवगुप्त अनुपाय की व्याख्या 'अल्पोपाय' रूप से ही करते हैं। अल्पता मात्र इतनी है कि उनमें गुरुत:, शास्त्रत: या स्वत: किसी भी प्रकार से एक बार में ही उस विशुद्ध संवित् का उदय होकर समावेश की प्राप्ति हो जाती है। उपाय की दृष्टि से इस स्तर की दो तरह से व्याख्याएं मिलती हैं। एक तो, शांभवोपाय के द्वारिभाव से इसकी स्थिति है और दूसरे, परमेश्वर के दुर्घट स्वातन्त्र्य का यह एक उदाहरण है जहाँ किञ्चित् संकेत मात्र से साधक को उस पारमैश्वर्य का बोध हो जाता है। अनुभव की दृष्टि से इस अनुपायता को शिवैकात्म्यानुभूति के उस प्रकृष्टतम रूप का प्रतिनिधि बनाया गया है जिसमें साध्य व साधक एकाकार रहते हैं। शांभव समावेश में 'ममायं विभव:' की प्रतीति रखने वाला साधक इस स्थिति में सारी सामर्थ्यों को अपने में अन्तर्गर्भित किये हुए स्वात्ममात्र में अवस्थित रहता है। इसी दृष्टि से अभिनवगुप्त प्रकाशमात्र को ही इस स्थिति का वाचक मानते हैं। इसी कारण अनुपाय को शांभवोपाय की पराकाष्ठा भी कहा गया है।

इस अनुपाय के मार्ग से वे ही साधक आत्मज्ञान को प्राप्त करते हैं जो 'तीव्रतीव्रशक्तिपात' का पात्र बने हैं। यहाँ किसी बाह्य या आन्तरिक क्रिया की आवश्यकता नहीं है। पर ऐसे साधकों की पात्रता की निर्णायिका है उनकी निर्मल संवित्। यह 'नैर्मल्य' उनको पूर्वाभ्यासादि के द्वारा प्राप्त हुआ है। ऐसे साधक पर-दर्शनमात्र से ही इस समावेशावस्था को वैसे ही प्राप्त कर लेते हैं जैसे कि दीपक से दीपक प्रज्ज्वलित किया जाता है। 'पर' का अर्थ है सिद्ध व योगिनियाँ। यहाँ दर्शनमात्र रूपा ही अनुग्रहात्मता है।[35] अन्यत्र मुक्ति हेतु 'दीक्षा' को अनिवार्य कहा गया है। इस अनुपाय में दीक्षा उस अनुपाय तत्त्व का ज्ञान ही है।[36] इसी तथ्य का उल्लेख *मालिनीविजयतंत्र* में यह कह कर किया गया है उस अनुपाय तत्त्व में किसी चर्याक्रम की आवश्यकता नहीं है।[37]

यहाँ अभिनवगुप्त इस 'अनुपाय' शब्द को उपायगत सन्दर्भ में भी लेते हैं व उपेयगत सन्दर्भ में भी। यों तो उपाय-उपेय का भेद इस सम्प्रदाय में कहीं वास्तविक नहीं है, पर यह अनुपाय शब्द उस परमतत्त्व के यथार्थ स्वभाव का सही प्रतिनिधि है। उपायों के विवेचन में इस अनुपाय के अन्तर्गत उस उपेय तत्त्व के स्वरूप के विस्तृत विवेचन के पीछे संभवत: उनका विशेष मन्तव्य यह है कि ये चार उपाय ज्ञान के चार प्ररूप हैं, अत: ज्ञान के इस प्ररूप के स्वरूप का विवेचन उनकी योजना का एक अंग है। इसीलिए यहाँ वह उस अनुपाय तत्त्व को पर्याप्त युक्तियों से स्थापित करने का प्रयास करते हैं। इस अनुपाय तत्त्व में किसी बाह्य या आन्तरिक उपाय की कोई

कृतकार्यता नहीं है[38] क्योंकि न वे उसमें कारक हो सकते हैं, न ज्ञापक। वे सभी उपाय तो तन्मुखप्रेक्षी ही हैं।[39] उसका तो स्वभाव प्रकाश मात्र है। उसके अतिरिक्त कुछ नहीं है तो फिर उपायोपेयभाव नाम की कोई अन्य चीज क्या होगी।[40] द्वैत-अद्वैत, भेद-अभेद, मोक्ष-बन्ध, सुख-दु:ख, शब्द-अर्थ सब कुछ वह एक ही प्रकाशतत्त्व है।[41] किसी दूसरे के अभाव में यह न ध्येय बन सकता है न ध्याता, न आश्रित न आश्रय, न शक्ति न शक्तिमान्, न पूज्य न पूजक, न मन्त्र न मन्त्रयिता, न दीक्षा न दीक्षक।[42] अत: इस अनुत्तर पथ में रूढ बुद्धि वाले साधकों को किसी उपाय की अपेक्षा नहीं होती।[43] वे तो स्वरसावस्थान के द्वारा ही उस सामरस्य को प्राप्त करते हैं।[44] ऐसे साधकों के लिए ही अभिनवगुप्त ने अपने स्तोत्र में कहा है—

> यथा स्थितस्तथैवास्स्व मा गा बाह्यमथान्तरम्।
> केवलं चिद्विकासेन विकारनिकराञ्जहि।। (*तं०आ०वि०*, भा० 2, पृ० 339 पर उद्धृत)

ऐसे साधकों को यह सारा विश्व आत्मरूप ही दृष्ट होता है।[45] उन साधकों के लिए सुख, दु:ख, आशंका, आतंक आदि लौकिक अथवा अलौकिक सभी विकार निश्शेष हो कर मात्र निर्विकल्पक परावेश की ही अवस्था बराबर बनी रहती है।[46] अब इनकी शेषवृत्ति का एकमात्र प्रयोजन रहता है परानुग्रह।

शाम्भवोपाय—यहाँ भी दो स्तरों पर विवेचन मिलता है। एक तो अभिनवगुप्त उपाय रूप में इस मार्ग का विवेचन करते हैं, दूसरे ज्ञान की द्वितीय कोटि के रूप में इसे प्रस्तुत करते हैं। अनुपाय उस अनुत्तर तत्त्व का सर्वोत्कृष्ट पक्ष है[47] जिसमें प्रकाशस्वरूपता का ही प्राधान्य है, जहाँ किसी द्वैत के लिये कोई स्थान नहीं है, जो सर्वत: आत्मरूप में ही निमग्न है। एक प्रकाश ही सर्वत्र प्रकाशित है—साधक के इस आत्मबोध के परामर्श से समाविष्ट होने पर सारी कार्यता नि:शेष हो जाती है। वह स्वयं शिवरूप हो जाता है। अनुपाय के ठीक बाद वाला स्तर शांभवोपाय का है जहाँ द्वैत को भी उस प्रकाशतत्त्व के परामर्श रूप से स्वीकारा गया है यद्यपि स्थूल भेद की स्थिति यहाँ भी नहीं है। सारा वैचित्र्य वाक्-तत्त्व की अद्‌भुत संरचना है जिससे एक ही तत्त्व नाना रूपों में अभिव्यक्त होता है, अत: ज्ञान के इस स्तर में आकर वह पूर्णता नाना नि:ष्यन्दों से प्रवाहित होने लगती है। फलत: इस स्तर पर ज्ञान का स्वरूप है 'प्रकाश + स्वातन्त्र्य'।[48] इस स्वातन्त्र्य के विभवन की प्रक्रिया है 'प्रतिबिम्बन' क्योंकि इस प्रक्रिया के द्वारा द्वैत को स्वतन्त्र व्यक्तित्व दिये बिना भी सत् सिद्ध किया जा सकता है। प्रतिबिम्बन यहाँ परामर्श रूप से ही घटित होता है। वस्तुत: इस विधा से भौतिक व मानसिक दो स्तरों को जोड़ने की कोशिश की गयी है। इस स्तर में जैसा उपेय है वैसे ही उपाय मार्ग की भी कल्पना की गयी है। *मालिनीविजयोत्तर तंत्र* इस स्तर के समावेश में किसी विकल्प (स्थूल या सूक्ष्म) की अकृतकार्यता मानते हुए मात्र गुरु के प्रतिबोध से 'अकिंचित्-चिन्तक' को प्राप्त हुआ समावेश मानता है।[49] इस अकिंचित्-चिन्तक का ही लक्ष्यार्थ है 'विकल्प की अनुपयोगिता' और इस स्थिति की अनिवार्य परिणति है तुरन्त ज्ञेय-समापत्ति।[50] अत: भावनादि साधनों की यहाँ कोई अपेक्षा नहीं है।[51] इस उपाय के लिये पात्रता की निर्धारक है संवित्ति के नैर्मल्य की मात्रा, साथ ही ईश्वर की अनियंत्रित इच्छा भी निमित्त है। इस मार्ग के लिये भी वे ही पात्र हैं जो 'तीव्रतीव्रशक्तिपात' के विषय हैं।[52]

इस तरह के शक्तिपात की पात्रता कुछ की ही होती है, सबकी नहीं।[53] इस उपाय में भी विभिन्न उपायों का कोई प्रयोजन नहीं है। शांभवोपाय का भाजन स्वयं दैशिक (गुरु) के पास जाता है और मात्र उसके दर्शन व संभाषण आदि के द्वारा ही इस समावेश की स्थिति को प्राप्त कर लेता है।[54] पर शांभवोपाय से समावेश प्राप्त करने के लिये साधक को शांभवोपाय से समावेश को प्राप्त किये हुए गुरु के पास ही जाना चाहिए। ऐसे तीव्रशक्तिपातवान् साधक को यह सारा वैचित्र्यमय जगत् संवित्-रूप आत्मा में प्रतिबिम्ब रूप से भासित प्रतीत होता है। इस प्रकार का यह 'पूर्णाहन्ताविमर्श' उसमें सदा उदित अवस्था में रहता है। इस पूर्णाहन्ता के परामर्श के अतिरिक्त मन्त्र, मुद्रा, क्रिया, उपासना-पद्धति आदि का यहाँ कोई अर्थ नहीं है। यदि कोई साधक तीव्र शक्तिपात का पात्र न होकर भी शांभव समावेश से युक्त गुरु के पास जाता है तब वह गुरु के सामीप्य, संभाषण या दर्शन मात्र से दीपक से प्रज्ज्वलित दीपक की भाँति उस समावेश का भागी नहीं बनता बल्कि गुरु उसके उद्धार के लिये दीक्षादि विविध उपायों का प्रयोग करता है।[55] यहाँ यह शंका उचित नहीं है कि शाम्भवोपाय से प्राप्त समावेश के भागी गुरु से आणवोपाय की प्रक्रिया का आश्रय लेने पर अनुग्रह कैसे घटित होगा। क्योंकि इन सभी उपायों के मध्य द्वारद्वारिभाव तो है ही, अत: आणवोपाय की प्ररूढावस्था शांभवोपाय में ही परिणत होती है।[56] पर यह अवश्य है कि आणवोपाय से आणव समावेश को प्राप्त गुरु से साधक को शांभव समावेश की प्राप्ति नहीं हो सकती।

शांभवोपाय में 'परामर्शन' ही एक मात्र साधन है जिसके द्वारा साधक पूर्णता का अनुसंधान करता है। इस सन्दर्भ में अभिनवगुप्त तीन परामर्शों की चर्चा करते हुए 'त्रिधोपाय: स शाम्भव:' कहते हैं। तीन परामर्श रूप उपाय हैं—

1. मत्त: एवोदितमिदम्—(यह मुझसे ही उत्पन्न हुआ है)।
2. मय्येव प्रतिबिम्बितम् इदम्—(यह मुझमें ही प्रतिबिम्बित है)।
3. मदभिन्नमिदम्[57]—(यह मुझसे अभिन्न है)।

इस शांभवोपाय के इन निर्विकल्प परामर्शों को स्वात्मसिद्ध करने के लिये पचास आमर्शों[58] में से किसी एक को भी आधार बना कर भी चल सकते हैं[59] अथवा इनकी समष्टि को भी आधार रूप में ले सकते हैं। ये पचास आमर्श स्थूल स्तर पर पचास तत्त्वों के प्रतिनिधि हैं। किसी भी एक आमर्श को अविकल्प रूप से अपने में प्रतिबिम्बित देखते हुए भैरव की प्राप्ति हो जाती है क्योंकि प्रत्येक वर्ण या तत्त्व विश्वरूप है।[60] अत: उसी आमर्श के माध्यम से उपर्युक्त तीनों परामर्श साधक को सिद्ध हो सकते हैं। जैसे सामने स्थित पदार्थ में एक वर्ण मात्र के दर्शन से अनेक सामान्याभासों के सम्मेलन रूप निरंश एक घट की संवित्ति होती है, वैसे ही साधक पचास तत्त्वों में से धरादि किसी एक तत्त्व का अवलम्बन लेकर निर्विकल्प वृत्ति से परामर्श करते हुए स्वात्मसंवित् की ही सर्वत्र अवस्थिति का अनुभव करते हुए 'यह सब कुछ मुझसे ही उदित है'; 'मुझमें ही प्रतिबिम्बित है' और 'मुझसे अभिन्न है', इन तीन प्रकार के परामर्शों के माध्यम से शांभव समावेश को प्राप्त करता है। इस स्थिति को और स्पष्ट करते हुए विवेककार का मत है कि बोध को सभी दशाओं में अनुस्यूत पाकर उसे बोध की एकात्मता का अनुभव होता है जिससे उसकी अखण्डता की चेतना उदित होती है। इस प्रकार की चेतना ही शांभव समावेश की प्राप्ति

है।[61] इस निर्विकल्पक समावेश की सतत प्राप्ति रहने पर उसे 'भैरवीभाव' की प्राप्ति होती है[62] जो कि जीवन्मुक्ति का दूसरा नाम है। इसी स्थिति की प्राप्ति हेतु उपायोपेयभाव की आवश्यकता है[63] और इस उपायोपेयभाव हेतु उपर्युक्त पंचाशत् परामर्शों की अपेक्षा है।[64]

इस शांभवोपाय का अनुपाय से क्या भेद है इस सन्दर्भ में विचार करने पर ज्ञात होता है कि शांभवोपाय में तो परामर्शनवृत्ति को भैरवात्मताप्राप्ति में साधन रूप से स्वीकारा गया है पर अनुपाय में इस प्रकार का भी कोई साधन स्वीकार्य नहीं है। वहाँ तो मात्र ईश्वर की इच्छा से स्वात्मरूप का लाभ होता है। यद्यपि दोनों ही मार्गों में पात्रता तीव्रतीव्रशक्तिपात को प्राप्त साधकों की होती है पर अनुपायात्मक ज्ञान के लाभ के लिये मानसिक, वाचिक या कायिक किसी भी स्तर पर साधक के द्वारा सम्पाद्य किसी भी व्यापार की अपेक्षा नहीं होती। उसे तो अकस्मात् उस अनुपाय तत्त्व का लाभ हो जाता है। पर शांभवोपाय में साधक को चेतना के स्तर पर परामर्शवृत्त्या सर्वात्मता की अनुभूति सिद्ध करनी पड़ती है। मानसिक या भौतिक किसी भी स्तर पर किसी भी भेदात्मक चेतना से रहित होने के कारण यहाँ अभेद का ही प्राधान्य है पर इस अभेद की पूर्णता का आस्वादन स्वत: सिद्ध न होकर प्रयत्नसाध्य ही है। यही है इस स्तर की उपायरूपता। अनुपाय में तो सर्वोत्तीर्ण तत्त्व स्वत: प्रकाशमान है। इसी दृष्टि सें संभवत: *मालिनीविजयोत्तर तंत्र* तीन ही समावेशों की चर्चा करता है, जबकि अनुपाय को ज्ञान का एक प्रकार बनाकर अभिनवगुप्त ही प्रस्तुत करते हैं। अत: अनुपाय को उपायों की प्रकल्पना का अंग क्यों बनाया गया है इसके लिये अभिनवगुप्त की दृष्टि को ही आधार बना कर उत्तर दे सकते हैं। ज्ञान के चार रूपों में ज्ञान का सर्वोत्कृष्ट रूप अनुपाय है, यह बात तो उपपन्न है पर उपाय के रूप में अनुपाय को प्रस्तुत करना कहाँ तक उचित है। इसीलिये यहाँ शांभवोपाय की पराकाष्ठा को ही अनुपाय कहा गया है।[65] साथ ही इस उपायता को सिद्ध करने के लिये जो तर्क दिये गये हैं वे अनुपाय के विवेचन में ऊपर आ चुके हैं। वस्तुत: सूक्ष्म विश्लेषणात्मक दृष्टि से जिन क्रमिक स्तरों की कल्पना अभिनवगुप्त ने की है उनमें इस अन्तिम स्थिति को भी ज्ञान के एक प्ररूप के रूप में स्वीकार करना आवश्यक है। जो सबका स्रोत है, सारे उपाय-उपेयों से परे है, वह सर्वोत्तीर्ण तत्त्व सबका आधार है पर उस तत्त्व तक पहुँचने के लिये रास्ते के सारे पड़ावों को क्रमबद्ध करने में अन्तिम पड़ाव के रूप में वह अनुपाय स्वीकरणीय ही है। शांभवोपाय में साधक 'सर्वात्मता' के आनन्द से उच्छलित रहता है और अनुपाय में 'सर्वोत्तीर्णता' के।

शाक्तोपाय—शाक्तोपाय शाक्त समावेश प्राप्त कराने वाला मार्ग है। *मालिनीविजयोत्तर तंत्र* इस समावेश को इस प्रकार प्रस्तुत करता है—

> उच्चाररहितं वस्तु चेतसैव विचिन्तयन्।
> यं समावेशमाप्नोति शाक्त: सोऽत्राभिधीयते।। (2/22)

अर्थात् इस उपाय में चित्त की प्रधानता है, चित्त मात्र से उस विषय में चिन्तन करते हुए यहाँ समावेश की प्राप्ति होती है, स्थूल उच्चारण आदि की यहाँ अपेक्षा नहीं है। अभिनवगुप्त इस चित्त के प्राधान्य को 'वैकल्पिकपथक्रम:' कहकर विकसित करते हैं।[66] उनके अनुसार तो इस मार्ग का प्रमुख लक्षण 'विकल्पसंस्कार' है। इस संस्कार की व्याख्या करते हुए विवेककार जयरथ कहते हैं कि ''बार-बार सुनने व चिन्तन करने से अस्फुटत्व आदि के क्रम से स्फुटतमत्व

की प्राप्तिपर्यन्त गुणान्तराधान होते होते निर्विकल्प स्वरूप में अनुप्रवेश ही इस विकल्प-संस्कार का लक्ष्यार्थ है।"[67] अभिनवगुप्त इस विकल्पसंस्कार की प्रक्रिया को स्पष्ट करते हुए इस आशंका का निरास करते हैं कि ज्ञान को क्षणिक मानने पर विकल्प भी ज्ञानात्मक होने के नाते क्षणिक होगा फलत: यह उत्पत्ति के तुरन्त बाद नष्ट हो जायेगा तब उसका संस्कार कैसे संभव होगा। ऐसी शंका नहीं करनी चाहिए क्योंकि संस्कृत-विकल्प स्वात्मतुल्य दूसरे विकल्प को जन्म देगा व वह दूसरे को।[68] इस प्रकार चार उपलक्षणात्मक प्रमुख सोपानों में वह संस्कार क्रम से अस्फुट परन्तु स्फुटताभावी, प्रस्फुटित होता हुआ, स्फुटतात्मक, स्फुटतर तथा स्फुटतम रूपता को प्राप्त करता है। पुन: उससे आगे भी वह इसी प्रकार स्वसदृश रूपों को जन्म देता हुआ निर्मल अविकल्परूपता को प्राप्त करता है।[69] अत: ज्ञानक्रियामय भैरवरूप स्वात्मसंवित् का ही लगातार चिन्तन करते हुए अन्तत: वह उस निर्विकल्प बोध को प्राप्त कर लेता है जो सारे विकल्पों से उत्तीर्ण है।[70] इस सम्प्रदाय में द्वयाक्षेपी विनिश्चय का नाम ही विकल्प है और एकमात्र अद्वैत-तत्त्व की ही स्वीकृति करने वाली मीमांसा द्वैत को किसी भी स्तर पर यथार्थ नहीं मान सकती, अत: विकल्प तो उस पूर्ण निर्विकल्प तत्त्व की सर्वात्मता तक पहुँचने का साधन भर है इसी कारण यहाँ शुद्ध या अशुद्ध किसी भी स्तर के विकल्प को हेय माना गया है। इस निर्विकल्पावस्था तक ले जाने की अनिवार्यता को अभिनवगुप्त उस उपाय का विवेचन प्रारम्भ करते ही यह कह कर स्वीकार करते हैं कि इसकी विश्रान्ति शांभवोपाय में ही होती है। अभिनवगुप्त इस उपाय को 'शाक्त उपायमण्डल' कहते हैं[71] क्योंकि विकल्प का संस्कार ही यहाँ मुख्य लक्ष्य है जो कि नाना प्रकार से संभव है। विकल्प-मार्ग का अनिवार्य स्वभाव है क्रम से वस्तु के अखण्ड स्वभाव का भासन। यही बतलाना इस मार्ग को 'वैकल्पिकपथक्रम:' कहने का प्रयोजन है। इस उपाय में विकल्प की ही कृतकार्यता है और विकल्प के कारण हैं बुद्धि, मन व अहंकार। विकल्प इन तीनों के माध्यम से ही व्यापार करता है। यहाँ भेदात्मक चेतना प्रधान रहती है इसी दृष्टि से इसे 'मायोपाय' भी कहते हैं।[72] अभिमान, संकल्प और अध्यवसाय के क्रम से 'अहमेव सर्वत्र स्थित:' अथवा 'सर्वं वा मय्येव स्थितम्' इस प्रकार का जो शाक्त वैकल्पिक प्रत्यय उदित होता है वह विकल्पों के भेदनिष्ठ होने से मायात्मक उपाय रूप ही है पर इन विकल्पों का लगातार अभ्यास करने से अन्त में जिस स्फुटतम अवस्था की प्राप्ति होती है वह निर्विकल्प शांभव समावेश है।[73] इस शाक्तोपाय को इसी विकल्पमाहात्म्य के कारण सविकल्पज्ञानरूपता से भी जोड़ा जाता है।

शाक्तोपाय के लिये जो दो लक्षण दिये गये हैं वे हैं—विकल्पात्मता व उच्चाररहितता। इन दोनों लक्षणों के द्वारा क्रमश: शांभवोपाय व आणवोपाय से इसका भेद दर्शाया गया है। 'विकल्पात्मता' जहाँ इसे निर्विकल्पक शांभवोपाय से भिन्न करती है वहीं 'उच्चाररहितता' आणवोपाय से इसके वैशिष्ट्य को बतलाती है।[74] आणवोपाय में भी वैकल्पिक बुद्धि रहती है पर उसे बाह्य उच्चारादि की अपेक्षा होती है जबकि शाक्तोपाय में उसके बिना मात्र चित्त के द्वारा अवधारणा ही अपेक्षित है। अत: इस शाक्तोपाय में अभेद भी रहता है व भेद भी। बाह्य उच्चार आदि से राहित्य ही यहाँ की अभेदरूपता है तथा विकल्पात्मक होना ही भेदरूपता है। इसी दृष्टि से इसे 'भेदाभेदोपाय' भी कहा गया है।[75]

अभिनवगुप्त इस उपाय के विवेचन में जिन धारणाओं पर विचार करते हैं वे इस उपाय के प्रमुख घटक तत्त्व हैं। वे इस प्रकार हैं—'विकल्पसंस्क्रिया', 'तर्कतत्त्व', 'गुरु', 'योगांगों की अनुपयोगिता', 'कल्पित अर्चा का तिरस्कार', 'संविच्चक्र का उदय', 'मन्त्रवीर्य', 'जप्य की वास्तविकता' और 'निषेधविधितुल्यता'।[76] 'विकल्पसंस्क्रिया' है द्वैत भावना का उच्छेद। इसमें मुख्य करण बनता है 'सत्तर्क'। सत्तर्क सामान्य तर्कणा से विशिष्ट है।[77] इसका स्वरूप है शुद्धविद्या के स्पर्श से पवित्र बुद्धि के कारण उदीयमान स्वात्मप्रत्यभिज्ञापन। यह तर्क यहाँ सारे भेदों के पादप का मूलोच्छेदक कुठार कहा गया है। यही तर्क पराकाष्ठा को प्राप्त कर भावना कहा जाता है।[78] यह उत्तम योगांग है। इसके द्वारा 'यह हेय है और यह उपादेय है' इस प्रकार का चिन्तन करते हुए योगी को तुरन्त यथार्थ ज्ञान की प्राप्ति हो जाती है।[79] योगदर्शन में स्वीकृत अष्ट योगांग इस सत्तर्क के उदय में ही सहायक होते हैं और यह सत्तर्क द्वैत शंका का निर्मूलन करता है। यही सत्तर्क इस सम्प्रदाय में शुद्धविद्या कहा जाता है। इसके विशिष्ट कर्तृत्व को बतलाने के लिये ही इसे परमेश्वर की शक्ति रूप कहा गया है क्योंकि स्वात्मगोपन व स्वात्मावभासन की ये प्रक्रियाएं उसी परमेश्वर का स्वातन्त्र्य हैं। जो साधक भ्रमवश अन्य सम्प्रदायों में अनुरक्त हैं उन्हें भी यह सत्तर्क ही सही दिशा दिखलाकर शिवमार्ग में आरोहित करता है और सद्‌गुरु की प्राप्ति के लिये सचेष्ट करता है।

यह सत्तर्क साधक में तीन तरह[80] से उदित हो सकता है। प्रथम तो है 'स्वतः'। इसी को शास्त्रीय भाषा में 'सांसिद्धिक' कहा गया है[81] इसे ही 'अकल्पित' भी कहते हैं। स्वतः इसलिये है क्योंकि इसे लोकप्रसिद्ध गुरु के उपदेशादि रूप किसी निमित्त की अपेक्षा नहीं है, मात्र परमेश्वर का शक्तिपात ही इसका निमित्त है। सांसिद्धिक का अभिधेय है कि यह जन्मना आगत है अर्थात् जन्मजात है। अकल्पित कहने का भी प्रयोजन इसकी अन्य आचार्य के द्वारा प्रतिपाद्यता का निषेध करना है। इस शांकर योग में अधिकारिता की प्रथम शर्त दीक्षा है। इस मान्यता को पुष्ट करने के लिये ऐसा साधक स्वसंवित्तिरूप देवियों के द्वारा ही दीक्षित माना जाता है।[82] ये स्वसंवित्तिदेवियाँ हैं उसकी इन्द्रियवृत्तियाँ। ऐसे साधक की सर्वत्र अधिकारिता है और वह सभी आचार्यों के बीच प्रमुख है। उसके रहते किसी अन्य कल्पित गुरु की अधिकारिता नहीं है। वह समस्त शास्त्रार्थ को बिना किसी गुरु के, इस सत्तर्क तत्त्व से ही, जान लेता है क्योंकि सत्तर्क शुद्धविद्या है और वह शुद्धविद्या नहीं है जो सत्य को न भासित कर सके।[83] इसी तथ्य को बतलाने के लिए *मालिनीविजयतंत्र* में कहा गया है—

सर्वशास्त्रार्थवेत्तृत्वमकस्माच्चास्य जायते। (2/16)

इसमें 'अकस्मात्' शब्द की व्याख्या में अभिनवगुप्त कहते हैं—

लोकप्रसिद्धो यो हेतुः सोऽकस्मादिति कथ्यते।। (*तं०आ०* 4/46)

इस सांसिद्धिक के कई प्रकार संभव हैं। अभिनवगुप्त कहते हैं कि दो प्रकार से यह नानात्व घटित होता है—पहले प्रकार का सांसिद्धिक परानुग्रह में भी किसी अन्य निमित्त की अपेक्षा नहीं करता, मात्र अनुसंधानरहित दर्शनमात्र से स्वसंविद्रूपता को प्रदान कर अनुग्रह करता है। दूसरे प्रकार के सांसिद्धिक साधकों का परानुग्रह उपकरण की अपेक्षा रखता है। इस सोपकरण अनुग्रह की भी दो विधाएँ है—एक में, वह सभी साधनों व उनके प्रवक्ता शास्त्रों का अनुग्राह्यों के भेद से

करता है और दूसरे में, वह किसी एक ही नियत साधन व उसके प्रतिपादक शास्त्र के माध्यम से तदुपयुक्त अनुग्राह्यों पर अनुग्रह करता है। इसे पारिभाषिक शब्दावली में क्रमश: 'सर्वग' या 'अंशग' कहा गया है। अब इन अंशभूत नाना शास्त्रों में भी उत्तरोत्तर मुख्यता होती है।[84] कोई सांसिद्धिक गुरु इस मुख्यांश को ही अनुग्रह कृत्य के आधार रूप में स्वीकार कर चलता है और कोई उनमें से किसी भी एक को लेकर उसी के आधार पर अनुग्रह करता है। यहाँ यह द्रष्टव्य है कि यह परापेक्षा परार्थ के लिये ही अपेक्षित है, अत: उससे उसका सांसिद्धिकत्व खण्डित नहीं होता। सच पूछिए तो सत्तर्क के स्वत: उदय के कारण समस्त बन्धनों के नि:शेष हो जाने से भैरवीभाव रूप पूर्णता को प्राप्त सांसिद्धिक गुरु स्वात्ममात्र में ही कृतकृत्य रहता है, शेषवृत्ति में तो मात्र परानुग्रह ही प्रयोजन है।[85]

द्वितीय है 'शास्त्रत:'। इसमें ज्ञान शास्त्रों के अध्ययन से ही उदित होता है पर यहाँ किसी गुरु की अपेक्षा नहीं होती। मात्र शास्त्रों के अध्ययन से जो आत्मस्वरूप का ज्ञान उदित होता है उसको सतत भावना आदि के द्वारा दृढ़ता को प्राप्त कराया जाता है। फलत: इस सत्तर्क की उसे प्राप्ति हो जाती है। इस प्रकार के साधक को शास्त्रीय भाषा में 'अकल्पितकल्पक' कहते हैं।[86] यहाँ 'अकल्पितरूपता' है अपने से भिन्न किसी गुरु से प्राप्त न होना तथा 'कल्पकता' है भावना, ध्यान, जप, स्वप्न, व्रत, हुति आदि किसी निमित्त की कृतकार्यता का होना।[87] यह अकल्पित कल्पक भी नाना प्रकार का हो सकता है। इस नानात्व के कारण होंगे अंगीकृत निमित्त रूप उपाय की उत्कृष्टता, मन्दरूपता या मन्दरूपता के विविध परिमाण।[88]

तृतीय है 'गुरुत:' । इसमें गुरु से ही शास्त्र-ज्ञान प्राप्त होता है।[89] जब किसी साधक को स्वत: सत्तर्क की प्राप्ति नहीं होती है तो वह किसी अकल्पित गुरु आदि के पास जाकर उसको सेवा से प्रसन्न कर उससे शास्त्र-ज्ञान प्राप्त करने का प्रयास करता है और उसके व अन्य वृद्ध जनों के व्यवहार से शास्त्रोक्त 'यह करके यह करना चाहिए' के क्रम को जान कर उसका आचरण करता है। इससे उसमें शुद्धविद्या रूप सत्तर्क का उदय होता है। इस साधक को शास्त्रीय भाषा में 'कल्पित' कहते हैं।[90] कभी-कभी किसी कल्पित साधक को भी किसी विषय में आकस्मिक रूप से बिना किसी गुरु की सहायता के स्वत: ज्ञान उदित हो जाता है तब वह उस अंश में अकल्पित कहलाता है।[91]

इस प्रकार के इस सत्तर्क के द्वारा विकल्पों का उच्छेदन किया जाता है। विकल्प है द्वैत-परामर्शन और इस द्वैत-परामर्शन के नाश का उपाय है उस अमल स्वभाव का सतत आमर्शन। विकल्पों का संस्कार जिस शुद्धविद्या रूप परामर्श के द्वारा किया जाता है वह भी विकल्प रूप ही है क्योंकि वहाँ भी द्वैत का संस्पर्श है। वह परामर्श है—'सर्वमेवेदम् अहमेव'। पर इस विकल्प की परिणति निर्विकल्प बोध में होती है।[92] सारी बाह्य पूजा, स्नान, होम, याग, जप आदि रूप अर्चाविधि आदि की स्वात्मसंवित् के उदय में अनुपयोगिता है। मात्र इनसे सत्तर्क का उदय होता है।[93] अत: सत्तर्क ही सारी अशुद्धियों (भेदात्मक चेतनाओं)[94] के प्रक्षालन का निमित्त है। अब साधक में 'संविच्चक्र का उदय' होता है।[95] तदनन्तर साधक इस संवित्परामर्श की दृढ़ता के लिये जो व्यापार करता है वही जप, ध्यान, मुद्रा, होम आदि रूप से कथित होता है।[96] उस सहज अहंपरामर्श में निमग्न रहते हुए साधक बाह्य व्यवहार के लिये जो कुछ भी बोलता है वही उसका

'जप' है, वही 'मन्त्र' भी है क्योंकि वह स्वात्मदेवता के विमर्शन की अनवरत पुनरावृत्ति है।[97] इसी बात को *शिवसूत्रों* में 'कथा जपः' सूत्र रेखांकित करता है, यद्यपि यहाँ उपायों का कोई स्पष्ट नामोल्लेख नहीं है। उसका 'ध्यान' है अपने को समस्त जागतिक सृष्टि आदि कर्तृत्वों के कर्ता रूप से समझना।[98] उस परमेश्वर के साथ ऐकात्म्य भाव की दृढता से देह के रहने पर भी देहभाव को विस्मृत कर साधक की जो स्थिति होती है वही 'मुद्रा' है।[99] यह मुद्रा चित् शक्ति की प्रतिकृति रूप है, नियत कर आदि के द्वारा संपाद्य विशिष्ट रचना रूपा मुद्रा यहाँ मुद्रा रूप नहीं है। अपनी बोधाग्नि में समस्त भेदात्मक भाव जगत् का भस्मीभाव ही 'होम' है।[100] उसकी उपस्थिति मात्र से सम्मुख उपस्थित व्यक्ति दीक्षित हो जाता है।[101] केवल उस व्यक्ति को परमेश्वर के शक्तिपात से पवित्र होना चाहिए। इस प्रकार इस ऐकात्म्यभाव में प्ररोह को प्राप्त हो जाने पर देह की स्थिति रहने पर भी वह जीवन्मुक्त हो जाता है।[102] अब वह सामान्य व्यक्तियों की तरह व्यवहार करता हुआ भी उनसे भिन्न है क्योंकि उसकी दृष्टि में सारे भाव उसी के अंग रूप से भासित होते हैं। अब उसकी दृष्टि में शुद्धि-अशुद्धि, भक्ष्य-अभक्ष्य, द्वैत-अद्वैत, लिङ्ग-पूजा-आदि का ग्रहण या त्याग, जटाभस्मादि का धारण या त्याग, व्रतों का आचरण या अस्वीकरण, समयादि का पालन या त्याग आदि कुछ महत्त्व नहीं रखता। अब उसके प्रति न तो कुछ विहित है और न निषिद्ध।[103] मात्र यथार्थ तत्त्व में चित्त को स्थिर किये रहना ही उसका एकमात्र लक्ष्य है। अतः जब भी जैसा हो वैसा व्यवहार वह करता जाता है पर परमतत्त्व में निश्चल-चित्त होने से विषयों का भोग करते हुए भी वह भेदभावना से मुक्त रहने से दोषमुक्त रहता है ठीक वैसे ही जैसे कमल जल व पंक से अलग रहता है।[104]

इस उपाय में उपायमण्डल की चर्चा होने पर भी अभिनवगुप्त स्पष्टतः कहते हैं कि परतत्त्व के प्रवेश में जो उपाय निकटतम प्रतीत हो, साधक को उसी को स्वीकार कर प्रयत्न करना चाहिए।[105] इस विषय में व्यर्थ के तर्क-वितर्क करने की आवश्यकता नहीं है कि कौन सा उपाय हेय है या उपादेय है। जिस भी उपाय से परतत्त्व के स्वरूप का ज्ञान अतिशीघ्र हो सके, वही उपाय स्वीकरणीय है।[106] निर्विकल्पसंवित्ति प्राप्ति के कई उपाय हो सकते हैं—'भावना', 'ध्यान', 'जप', 'स्वप्न', 'व्रत', 'हुति' आदि। इन सभी के द्वारा जिस शुद्धविद्यात्मक विकल्प का उदय होता है वह है—'सर्वमेव इदम् अहम्'।[107] यही विकल्प अन्य सारे भेदभावक मायीय विकल्पों का प्रतिहनन कर देता है। पर इस उपाय का जो अनिवार्य स्वरूप है वह है कि यहाँ सारी प्रक्रियाएं मानसिक स्तर पर ही घटित होती हैं।

आणवोपाय—आणव समावेश की प्राप्ति कराने वाला मार्ग आणवोपाय है।[108] इस उपाय को 'अणु' से जोड़ना इस मार्ग में भेदात्मक चेतना के प्राधान्य को द्योतित करना है।[109] यद्यपि भेद से अभेद की ओर जाना ही सारे उपायों का अंतिम लक्ष्य है, पर इस भेद के अनेक स्तर हैं। शांभवोपाय में यह भेद चेतना के स्तर पर है, शाक्तोपाय में चित्त के स्तर पर और आणवोपाय में देह के स्तर पर। अतः आणवोपाय में सारी प्रक्रिया देह के माध्यम से ही निष्पाद्य है जिसे हम स्थूल स्तर पर निष्पाद्य साधना भी कह सकते हैं। यद्यपि विकल्पसंस्कार ही शाक्तोपाय का भी लक्ष्य है और आणवोपाय का भी। पर शाक्तोपाय में किसी व्यतिरिक्त उपाय की अपेक्षा नहीं होती, जिस भी उपाय का आश्रय लिया जाता है उसे मानसिक स्तर पर ही सम्पादित किया जाता

है जबकि आणवोपाय में व्यतिरिक्त उपायों का ही आश्रय लिया जाता है।[110] इन उपायों में भी कुछ उपाय संवित् से संनिकृष्ट हैं तथा कुछ विप्रकृष्ट हैं।[111] जैसे प्राण संवित् से सर्वाधिक सन्निकृष्ट है, क्योंकि शास्त्रों में कहा गया है कि सबसे पहले संवित् प्राण रूप में ही परिणत होती है। अत: प्राणगत उच्चारादि बुद्धिगत ध्यानादि की अपेक्षा संवित् से सन्निकृष्ट है तथा बुद्धिगत ध्यान आदि देहगत करणादि की अपेक्षा संवित् से सन्निकृष्ट हैं। सर्वत्र संविद्रूपता की स्वीकृति के कारण[112] ऐसी आशंका यहाँ संभव नहीं है कि प्राण, बुद्धि या देह के माध्यम से सम्पाद्य उपाय उस अद्वैत चित् तत्त्व तक पहुँचाने का मार्ग कैसे बन सकते हैं। वरन् उन सभी में स्थित जडता का तिरोधान कर उनके माध्यम से संविद्‌रश्मिमयता की अनुभूति करना ही यहाँ साधक का प्राप्तव्य है।[113] यहाँ भेद दृष्टि-प्रधान होने से ग्राह्य रूप उच्चारादि व बाह्य रूप कुण्ड, मण्डल आदि के नाना भेद संभव होने के कारण उपाय की अनन्तता है।[114]

इस आणवोपाय के सम्पादन में तीन की पात्रता है—'देहप्रमाता', 'बुद्धिप्रमाता' व 'प्राणप्रमाता' तथा इस आणवोपाय के मुख्यत: पांच साधन हैं—'उच्चार', 'करण', 'ध्यान', 'वर्ण' तथा 'स्थानप्रकल्पन'। बुद्धि ध्यानमयी है, अत: बुद्धिप्रमाता की साधना का माध्यम है ध्यान; प्राण उच्चारणात्मक है,[115] अत: प्राणप्रमाता उच्चार के माध्यम से ही समावेशप्राप्ति करता है। उच्चार दो प्रकार से घटित हो सकता है—'प्राणात्मना' व 'चिदात्मना'। प्राणात्मना घटित उच्चार में प्राण से लेकर व्यान पर्यन्त पाँच वृत्तियाँ रहती हैं जबकि चिदात्मना घटित उच्चार भी दो प्रकार से सम्पादित हो सकता है—'चित्प्रधानतया' तथा 'विमर्शप्रधानतया'। देहप्रमाता इन्द्रिय, विषय व प्राणादि का सम्पिण्डित रूप है।[116] उसकी साधना देह के माध्यम से ही घटित होती है।

इन सारे उपायों में 'ध्यान' सर्वोत्कृष्ट है। यह ध्यान सर्वात्मक प्रकाशतत्त्व का स्वात्मरूप में साक्षात्करण ही है।[117] तत्त्वविद् बाह्यरूप शारीरिक तत्त्वजात को एक-एक कर छोड़ते हुए परमोपादेय आत्मतत्त्व का अनुसंधान करते हुए अन्तत: स्वात्म रूप में उसका साक्षात्कार करता है।[118] इस सन्दर्भ में वह विविध चक्र-रूपों में उस विश्वात्मक संवित्तत्त्व का अनुसंधान करता है।[119] कभी 'अनुत्तर चक्र' रूप से, कभी 'चतुरार', कभी 'पंचार', कभी 'षडर', कभी 'अष्टार', इसी तरह 'पंचाशदरपर्यन्त' रूप से उसका अनुसंधान कर सकता है अथवा कभी 'चतुष्षष्टिशतार' रूप में या 'सहस्रार' रूप में या 'असंख्यारसहस्र' रूप में भी उसका ध्यान कर सकता है।[120] इसका कारण यह है कि उस विश्वमय महेश्वर की शक्तियों की तो गणना ही नहीं संभव है, यह सारा ही जगत् उसका शक्तिरूप है।[121] उसकी इस विश्वमयता के अनुसंधान के नाना प्रकार हो सकते हैं जिसे यहाँ नाना चक्रों की धारणा के द्वारा प्रस्तुत किया गया है। अभिनवगुप्त अपने गुरू शम्भुनाथ का उल्लेख करते हुए इस उपाय की सर्वोत्कृष्टता की प्रामाणिकता को स्थापित करते हैं। उनके अनुसार इस ध्यान के द्वारा, बिना किसी क्रम के, अनुत्तर तत्त्व की प्राप्ति संभव है।[122]

दूसरा उपाय है 'प्राणतत्त्व-समुच्चार' । इसमें प्राण की वृत्ति ही अनुत्तरविमर्श का उपाय बनती है।[123] वैसे तो प्राण की दो प्रकार की वृत्तियाँ हैं—पहली है, सामान्यप्राणीया व दूसरी है विशिष्टप्राणात्मिका। प्रथम वृत्ति का अभिप्राय उसी आशय से है जिस आशय में प्राण शब्द को

सामान्यत: समझा जाता है। अत: यह है जीवन शक्ति। इस रूप में यह अन्य सारी वृत्तियों का आधार है। दूसरी विशिष्टरूपा ही उच्चारात्मक है। यह पाँच प्रकार की है—'प्राण', 'अपान', 'समान', 'उदान', और 'व्यान'।[124] इस पंच प्रकार की प्राण वायु को विविध यौगिक क्रियाओं के माध्यम से उस पूर्ण संवित् तत्त्व तक पहुँचने का माध्यम बनाया जाता है और आनन्द के विविध स्तरों का अनुभव किया जाता है।[125] सबसे पहले योगी संविद्रूप प्रमात्रंश मात्र में विश्रान्त होकर प्राणादि के उदय व लय के स्थान रूप हृदय में 'निजानन्द' का अनुभव करता है। यहाँ मात्र प्रमात्रंश में विश्रान्ति इसलिये है क्योंकि अभी सारी प्रमेयता शान्त हैं। अत: स्वभावत: आनन्दमय स्वात्ममात्र की स्थिति का ही यहाँ आस्वादन होता है। पुन: वह प्राण को हृदय से द्वादशान्त तक रेचक के क्रम सें ले जाकर कुछ बहिरुन्मुखता के कारण 'निरानन्द' का अनुभव करता है। यहाँ प्राण को प्रमाण रूप माना गया है। जैसे प्रमाण में विषय की ओर उन्मुखता रहती है उसी तरह प्राणरूप में परिणत संवित् अपने प्रमातृ-सम्मत आनन्द से निकल कर किंचित् प्रमेयोन्मुख हो जाती है। पुन: अपान में पूरक क्रम से द्वादशान्त से हृदय की ओर लौटते हुए प्रमेयगत आनन्द के अनुभव के कारण यह अवस्था 'परानन्द' की अनुभूति की है। यह अपान समस्त प्रमेयों से पूर्ण होने के कारण नैराकांक्ष्य या निर्वृति की अवस्था है जहाँ पूर्ण तृप्ति है, अत: स्वात्ममात्र में विश्रान्ति है। पुन: कुम्भकवृत्ति से हृदय में क्षण भर को रुक कर प्रमाता-प्रमाण-प्रमेय के माध्यम से एकत्र उन नानाविध आभासों व उनके समवायों से पूर्ण संतृप्त होता हुआ वह एक साथ समस्त मेयों को स्वीकार करने के कारण प्राण की समान वृत्ति की अवस्था को प्राप्त करता है और इस अवस्था में उसे जिस आनन्द का अनुभव होता है वह है 'ब्रह्मानन्द'। यह अवस्था 'परानन्द' की अवस्था से भी विशिष्ट है। अब प्राण-अपान के इस प्रवाह को योगी मध्यमार्ग से ऊर्ध्वगामी उदान वह्नि में उत्कर्षकक्रम से विलीन कर देता है, अब उसे जिस आनन्द की अनुभूति होती है वह है 'महानन्द'। यह महान् इसलिये है क्योंकि यह अन्य निरानन्द आदि से उत्कृष्ट है। यह प्रमाता की अवस्था है। अब उसे व्यानरूपा वृत्ति के माध्यम से उस महाव्याप्ति की अवस्था का अनुभव होता है जहाँ किसी उपाधि के लिये कोई अवकाश नहीं है। इस अवस्था का आनन्द 'चिदानन्द' कहलाता है क्योंकि अब चित् के अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं है। इससे भी ऊपर है वह अवस्था जहाँ कोई व्यवच्छेद नहीं है, जो सर्वदा भासित है, जो परमामृत-रूप है, जहाँ भावनादि की भी कोई उपयुक्तता नहीं है। वह अवस्था 'जगदानन्द' की अवस्था है। इस प्रकार हृदयोच्चार के माध्यम से क्रमश: इन अवस्थाओं का अनुभव करते हुए इस अन्तिम जगदानन्द तक पहुँच कर विश्रान्त हो जाना ही साधक का परम लक्ष्य है। यहाँ सम्यक् विश्रान्ति ही अनुत्तरमयी स्थिति की प्राप्ति है। इस प्रकार साधक को षड्विध प्राणोच्चार के माध्यम से षड्विध आनन्दों की अनुभूति होती है। इस मार्ग में वह विविध मन्त्रों के आश्रय से भी उस पूर्ण तत्त्व तक पहुँच सकता है,[126] साथ ही चर्यात्मक अनुष्ठानों के द्वारा भी उस विसर्ग भूमि को अनुभवसिद्ध कर सकता है।[127] इस पूर्णता का जिसने साक्षात्कार कर लिया है उसका प्रमुख स्वभाव यही है कि वह त्याज्य व ग्राह्य की वृत्ति को छोड़कर स्वात्ममात्र में ही अवस्थित रहता है।[128] उसके अतिरिक्त कुछ भी न होने से कुछ भी अब न त्याज्य है न उपादेय। अब वह सर्वत्र 'आत्मभाव' का ही दर्शन करता है। यही है 'अन्तर्लक्ष्यो बहिर्दृष्टि:'[129] अवस्था जिसे यहाँ की शास्त्रीय शब्दावली में 'भैरवीमुद्रा' कहते

हैं। यही 'आत्मभाव' 'अहंपरामर्श' है जो कि समस्त मंत्र-मण्डल में वीर्यरूप है।[130] मन्त्र मायीय वर्णों से निर्मित होने पर भी उसी वीर्यरूप अहंपरामर्श से अनुप्राणित हैं। अत: भौतिकता का न्यग्भाव होकर संविद्रूपता की चमत्कारात्मकता ही उनका सार है[131] फलत: वे संवित्साक्षात्कार के साधन हैं। यद्यपि कुछ मंत्रों से कुछ नियत सिद्धियों की भी प्राप्ति होती है पर अन्तत: वे भी संवित्साक्षात्कार के ही साधन हैं।

आणवोपाय का तीसरा साधन हैं 'करण' । ये सात प्रकार के हैं—'ग्राह्य', 'ग्राहक', 'चित्', 'व्याप्ति', 'त्याग', 'आक्षेप' और 'सन्निवेश'।[132] इन सातों का बोधपूर्वक अभ्यास करने से उसी स्वात्मैकतानता की प्राप्ति होती है। अभिनवगुप्त के अनुसार इन करणों का ज्ञान गुरु के मुख से ही प्राप्त करना चाहिए। *तंत्रालोक* में इनका वर्णन आगम के रक्षार्थ ही करते हैं।[133] इन करणों का विवेचन वे एक स्थल पर नहीं करते क्योंकि उनकी दृष्टि में रहस्य की बातें एक ही स्थल पर नहीं बतायी जानी चाहिए।[134] अत: सोलहवें आह्निक में वे ग्राह्य और ग्राहक रूप करणों की चर्चा करते हैं, ग्यारहवें में संवित्ति या चित् रूप करण की, पन्द्रहवें में व्याप्ति की, उनतीसवें में त्याग व आक्षेप की तथा बत्तीसवें में सन्निवेश रूप करण की चर्चा करते हैं।[135]

आणवोपाय का चौथा साधन है 'वर्णतत्त्व' । वर्ण उच्चार का ही स्थूल रूप है। वह उस अव्यक्त की अनुकृतिरूप ध्वनि है।[136] वास्तव में वह अनाहत नाद जो समस्त वर्णों की उत्पत्ति का निमित्त है, जिसमें समस्त वर्ण अविभक्त रूप से रहते हैं फलत: जो अव्यक्तप्राय है, जिसका कोई उच्चारण या प्रतिहनन नहीं करता वरन् जो स्वयं हृदय में स्वत: स्फुरित रहता है वही 'नाद' यहाँ वर्ण तत्त्व है।[137] वह सृष्टि-बीज व संहार-बीज रूप दो रूपों में अभिव्यक्त होता है।[138] इनका क्रम से अभ्यास करने से योगी को चिदात्मता की प्राप्ति होती है। इन बीज मंत्रों का स्वररहित या स्वरसहित किसी भी रूप में स्मरण करने पर अथवा उच्चारण करने पर योगी को चिदात्मैक्य की अनुभूति होती है।[139] इन लोकोत्तर मान्त्र वर्णों के अतिरिक्त लौकिक वर्ण भी इस संविदैकात्म्य के लाभ में निमित्त हो सकते हैं।[140] जैसे प्रमाता के लौकिक जीवन में उत्प्रेक्षा, विकल्प आदि व्यापारों में कान्ता आदि शब्द काम, शोक आदि भावनाओं को उत्पन्न करते हुए वहाँ उपस्थित न होने पर भी कान्ता आदि की उपस्थिति का बोध कराते हैं वैसे ही इन वर्णों के द्वारा संविदैकात्म्य का बोध भी हो सकता है क्योंकि वे अन्तत: संविद्रूप तो हैं ही।[141] वस्तुत: इन वर्णों या वर्णों से निष्पन्न मंत्रों के उच्चारण या स्मरणमात्र से ही भैरवैकात्म्य की प्राप्ति हो जाती है।[142] इन बीज मंत्रों को समय की अपेक्षा नहीं होती क्योंकि इनके वाच्य का अभाव है, तथा ये संवित् का स्पन्दस्वरूप ही हैं। इनके उच्चारण में जो प्राण वायु का उल्लास व निरोध होता है वही इनकी प्रमेयोन्मुख प्रसरणशीलता व अन्तर्मुख विश्रमण है। फलत: वे अनन्योन्मुख होने के कारण स्वात्म भाव में ही पूर्ण हैं। अत: ये उस पूर्ण तत्त्व की प्राप्ति कराने के समर्थ माध्यम हैं।[143]

आणवोपाय का पाँचवां साधन है 'स्थानप्रकल्प'। स्थानप्रकल्प स्फुट बाह्य उपाय है।[144] अभिनवगुप्त इसका अत्यन्त विस्तार से वर्णन करते हैं। तभी विवेककार जयरथ ने कहा है— ''स्थानकल्पनस्यैव सकलोऽयं प्रपंच:।''[145] उनके अनुसार *तंत्रालोक* में छठे से बारहवें आह्निक तक तथा पन्द्रहवें आह्निक से अन्तिम आह्निक तक इन्हीं का वर्णन है। स्थानप्रकल्प का अभिप्राय है साधना के अधिकरण। ये मुख्यत: त्रिविध बतलाये गये हैं—'प्राण', 'देह' व 'बहि:'।[146] इनमें

से प्राण के पाँच उपवर्ग हैं। देह के दो उपवर्ग हैं—बाह्य व आन्तरिक। बहि: ग्यारह प्रकार के हैं—मण्डल, स्थण्डिल, पात्र, अक्षसूत्र, पुस्तक, लिंग, तूर, पट, पुस्त (लेपादि से निर्मित आकृति), प्रतिमा व मूर्ति। इनके पुन: नाना उपभेद हो सकते हैं। जैसे मण्डल के शूल, त्रिशूल आदि तरह से नाना भेद हो सकते हैं।[147]

स्थान-भेद के इन विविध प्रकारों में से किसी भी एक को अधिकरण बना कर साधना की जा सकती है क्योंकि सब कुछ यहाँ संविद्रूप ही है, अत: किसी के भी माध्यम से उस संवित् तत्त्व तक पहुँचा जा सकता है।[148] प्राणाश्रित विधि में 'प्राण' में ही सारे अध्वों को एकत्रीभाव से प्रतिष्ठित स्वीकारा जाता है। प्राण के जिन दो रूपों—सामान्य व विशेष—की कल्पना की गयी है उनमें से सामान्य रूप में तो 'षडध्वों' की स्थिति स्वीकृत है पर विशिष्ट रूप में पद, मन्त्र, वर्णात्मा 'त्रिविध' अध्वों की ही स्थिति स्वीकारी जाती है।[149] प्राण में सारे अध्वों की प्रतिष्ठा को स्वीकारने के लिये अभिनवगुप्त कुछ तर्क देते हैं। उनके अनुसार कलन अध्वों का अनिवार्य स्वभाव है। यह कलन क्रम-अक्रम रूप में घटित होता है।[150] यह कलन ही प्राणवृत्ति का भी स्वरूप है।[151] इसी को परमेश्वर की काली नामक पराशक्ति कहा जाता है।[152] ये अध्व क्रियावैचित्र्य व मूर्तिवैचित्र्य रूप से दो भागों में बँट जाते हैं—कालाध्व व देशाध्व।[153] यागादि में प्राण-शक्ति रूप शिखा को बाँध कर अन्य समस्त मार्गों का निरोध कर मध्य धाम में ही निश्चलत्व को प्राप्त करके उस संविदैकात्म्य को प्राप्त किया जाता है।[154] प्राण को पारमेश्वरी शक्ति भी कहा जाता है। क्योंकि सब कुछ इसी में प्रतिष्ठित है, अत: वह सब उसके माध्यम से संवित् में ही प्रतिष्ठित होगा।[155] प्रयत्न से प्राणचार का निरोध करने पर प्राणचार के ग्रास की अवस्था को साधक प्राप्त करता है। यही है कालसंकर्षण की अवस्था। अब किसी नवीन प्राणचार का उदय नहीं होता फलत: कालभेदजनित ज्ञानभेद भी नहीं जन्म लेता। अत: एक पूर्ण संवित् की स्थिति बनी रहती है।[156]

अब 'देह' को लें। *श्रीमालिनी तंत्र* में जिस बात को सांकेतिक रूप से कहा गया है[157] उसी को देहरूप अधिकरण के रूप में अभिनवगुप्त प्रस्तुत करते हैं। यह देह विविध नाड़ियों का जाल है। ये नाड़ियाँ मध्यनाड़ी से जुड़ी रहती हैं। यह मध्यनाड़ी ही सुषुम्णा है जो कि चित् की स्पन्द रूप प्राणवृत्तियों का अन्तिम स्थूल रूप है।[158] इस प्रकार सारी चेतना इस चित् तत्त्व का ही अंश है। अत: इस देह में ही उस विश्वात्मता का दर्शन करके भी उस संविदैकात्म्य का लाभ किया जा सकता है।[159] यही स्थिति स्वात्मपूजन की है क्योंकि वह समस्त विश्वभाव को प्राप्त कर ध्येय, पूज्य व तर्प्य हो जाता है।[160]

'बहि:' के अन्तर्गत अभिगणित किसी भी अधिकरण में इस विश्वात्मभाव की भावना करने से भी इसी तादात्म्यभाव की प्राप्ति होती है।[161] उसमें वस्तुओं का अर्पण ही अर्चना है, सम्पूर्णरूपता का अनुसंधान ही ध्यान है, दृढीभाव के लिये इस पूर्णता का सतत विमर्शन ही जप है। उन अर्पित पदार्थों में भेद दृष्टि का विलोपन ही होम है। इस प्रकार करते हुए सर्वत्र समदृष्टि का उदय ही व्रत है। यह परिपूर्णा स्थिति ही समाधि है।[162]

इन सभी स्थानप्रकल्पों में जिस जिस प्रकार से जिस से स्वसंवित्ति प्रसन्न हो उसी प्रकार से उसके द्वारा साधना करणीय है।[163] इस प्रकार विकल्पों का ह्रास होते-होते अविकल्प की स्फुटता होती जाती है। यही संवित् से नैकट्य है।[164] सारे प्रयास इसी नैकट्य-प्राप्ति के लिये हैं।[165]

इस प्रकार हम देखते हैं कि इस उपाय में सारा कर्म-विस्तार अन्तर्भूत है।[166] इस आणवोपाय की विश्रान्ति शाक्तोपाय में होती है और उसकी शांभवोपाय में तथा शांभवोपाय की अनुपाय में। अत: यहाँ साम्बन्ध्य वृत्ति सर्वत्र विद्यमान है। साधक किसी भी उपाय से प्रारम्भ करे, अन्तत: इस अन्तिम अनुपाय तक पहुँचता है।[167] भेद केवल इस बात में है कि वह कहाँ से प्रारम्भ करता है। इस बात की पात्रता उस पर हुए शक्तिपात की मात्रा पर निर्भर करती है।[168] अत: जिस प्रकार का शक्तिपात उस पर हुआ है वह उसी के अनुरूप उपाय का आश्रय लेता है। यही कारण है कि अभिनवगुप्त सभी उपायों के विवेचन में इन चारों ही उपायों की स्थितियों की चर्चा करते हैं। सारे उपायों का लक्ष्य एक ही है, मात्र कोई संवित् से बहुत निकट है व कोई दूर। यदि ये सारे उपाय एकान्विति की डोर में बँधे हैं तो फिर विविध समावेशों का कथन क्यों किया गया है क्योंकि वह समावेश तो अन्तिम रूप में एक ही होगा। इस शंका के उत्तर में यही कह सकते हैं कि समावेश के स्तर में भेद हैं। आणव उपाय से प्राप्त समावेश की अपेक्षा, शाक्त उपाय से प्राप्त समावेश उत्कृष्ट है। शाक्त समावेश की अपेक्षा शांभवोपाय से प्राप्त समावेश उत्कृष्ट है तथा अंतिम अनुपाय रूप तत्त्व ही वह अन्तिम लक्ष्य है जो इन सभी से श्रेष्ठ व सबका साध्य है। पर यह स्थिति यह भी बतलाती है कि प्रत्येक उपाय समावेश के एक स्तर तक पहुँचाता अवश्य है। *मालिनीविजय तंत्र* पंचाशत् प्रकार के समावेशों का उल्लेख करता है[169] तथा शांभव, शाक्त व आणव इन तीनों समावेशों को पचास-पचास प्रकार का बतलाता है। वहाँ तो इनके भी अनन्त भेदों का उल्लेख है।[170] इससे यही संकेतित होता है कि समावेश तो चित्त की वह अवस्था है जिसमें किसी आधार को लेकर हम चित्त को उससे एकाकार कर देते हैं फलत: समस्त भेदात्मिका चित्तवृत्तियों का उस क्षण लय हो जाता है। इस स्थिति की प्रगाढ़ता व निरन्तरता बनाये रखने के लिये जिस सतत अभ्यास की आवश्यकता होती है वही पारिभाषिक शब्दावली में साधना है। चित्त की यह एकतानता सब कुछ स्वात्मीकृत करते हुए जितना विस्तार पाती जाती है स्वात्मविभव का बोध उतना ही बढ़ता जाता है और अन्तत: साधक जिस आत्मपूर्णता के आवेश से तरंगित होता है वही उसका सहज आत्मबोध है और यही दार्शनिक सन्दर्भ में अनुपाय तत्त्व है।

पाद-टिप्पणी

1. इति ज्ञानचतुष्कं यत्सिद्धिमुक्तिमहोदयम्।
   तन्मया तन्त्र्यते तन्त्रालोकनाम्न्यत्र शासने।। —*तं०आ०* 1/245
2. उपरिवत् 1/156.
3. तावान्पूर्णस्वभावोऽसौ
   परम: शिव उच्यते।
   तेनात्रोपासका: साक्षात्तत्रैव
   परिनिष्ठिता:।।—उपरिवत् 1/108
4. उपायजालं न शिवं प्रकाशयेद्।
   घटेन किं भाति सहस्रदीधिति:।। —*तं०सा०*, पृ० 2

5. यच्चतुर्धोदितं रूपं
   विज्ञानस्य विभोरसौ।
   स्वभाव एव मन्तव्यः
   स हि नित्योदितो विभुः।। —*तं०आ०* 2/4

6. एतावद्भिरसंख्यातैः
   स्वभावैर्यत्प्रकाशते।
   कोऽप्यंशांशिकया तेन
   विशन्त्यन्ये निरंशतः। —उपरिवत् 2/5

7. ज्ञानस्य चाभ्युपायो यो
   न तदज्ञानमुच्यते।
   ज्ञानमेव तु तत्सूक्ष्मं
   परं त्विच्छात्मकं मतम्।। —उपरिवत् 1/144

8. अपरोक्षे भवत्तत्त्वे सर्वतः प्रकटे स्थिते।
   यैरुपायाः प्रतन्यन्ते नूनं त्वां न विदन्ति ते।। —*तं०आ०वि०*, भा० 2, पृ० 184 पर उद्धृत

9. उपायोपेयभावस्तु
   ज्ञानस्य स्थौल्यविभ्रमः।
   एषैव च क्रियाशक्ति-
   र्बन्धमोक्षैककारणम्।। —*तं०आ०* 1/145

10. योगो नान्यः क्रिया नान्या
    तत्त्वारूढा हि या मतिः।
    स्वचित्तवासनाशान्तौ
    सा क्रियेत्यभिधीयते।। —उपरिवत् 1/151

11. संवित्तिफलभिच्चात्र
    न प्रकल्प्येत्यतोऽब्रवीत्।
    कल्पनायाश्च मुख्यत्व-
    मत्रैव किल सूचितम्।। —उपरिवत् 1/227

12. तत्रापि स्वपरद्वार-
    द्वारित्वात्सर्वशोंशशः।
    व्यवधानाव्यवधिना
    भूयान्भेदः प्रवर्तते।। —उपरिवत् 1/43

13. अनुपायेऽपि चैतस्मिन् किंचित्सांबंध्यवृत्तितः।
    उपायस्योपदेशोऽयं शास्त्रेऽत्र बहुधाकृतः।। —*मा०वि०वा०* 2/121

14. इति शक्तित्रयोपायं
    यज्ज्ञानं तत्र पश्चिमम्।
    मूलं तदुत्तरं मध्य-
    मुत्तरोत्तरमादिमम्।। —*तं०आ०* 1/241

15. तन्मुखा स्फुटता धर्मि-
ण्याशु तन्मयतास्थितिः।।
त एव धर्माः शक्त्याख्या-
स्तैस्तैरुचितरूपकैः।
आकारैः पर्युपास्यन्ते
तन्मयीभावसिद्धये।। —उपरिवत् 1/205-06

16. *तं०आ०वि०*, भाग 2, पृ० 315-16.

17. अतः कंचित्प्रमातारं
प्रतिपद्यते विभुः।
पूर्णमेव निजं रूपं
कंचिदशांशिकाक्रमात्।। —उपरिवत् 1/140

18. उपरिवत् 1/146-49.

19. अभेदोपायमत्रोक्तं
शाम्भवं शाक्तमुच्यते।
भेदाभेदात्मकोपायं
भेदोपायं तदाणवम्।। —उपरिवत् 1/230

20. अभेदोपायमत्रोक्तं ··· । —उपरिवत् 1/230

21. विभुशक्त्यणुसंबन्धात्समावेशस्त्रिधा मतः।
इच्छा-ज्ञान-क्रियायोगादुत्तरोत्तरसंभृतः।। —*तं०आ०वि०*, भा० 2, पृ० 255 पर उद्धृत

22. *तं०आ०* 1/245.

23. तस्माद्विश्वेश्वरो बोध-
भैरवः समुपास्यते।
अवच्छेदानवच्छिद्भ्यां
भोगमोक्षार्थिभिर्जनैः।। —उपरिवत् 1/123

24. याजमानी संविदेव
भाव्या नान्येति चोदितम्।
न त्वाकृतिः कुतोऽप्यन्या
देवता न हि सोचिता।। —उपरिवत् 1/133

25. यच्चतुर्धोदितं रूपं
विज्ञानस्य विभोरसौ।
स्वभाव एव मन्तव्यः
स हि नित्योदितो विभुः।। —उपरिवत् 2/4

26. संविद्रूपे न भेदोऽस्ति
वास्तवो यद्यपि ध्रुवे।

तथाप्यावृतिनिर्ह्रास-

तारतम्यात्स लक्ष्यते।। —उपरिवत् 1/138

27. यो हि यस्माद् गुणोत्कृष्टः स तस्मादूर्ध्वं उच्यते। —*मा०वि०तं०* 2/60

28. एवमस्यात्मनः काले कस्मिंश्चिद्योग्यतावशात्।

शैवी संबध्यते शक्तिः शान्ता मुक्तिफलप्रदा।।

तत्संबन्धात्ततः कश्चित्तत्क्षणादपवृज्यते। —उपरिवत् 1/42-43

29. अनुपायं हि यद्रूपं

कोऽर्थो देशनयात्र वै।

सकृत्स्यादेशना पश्चा-

दनुपायत्वमुच्यते।। —*तं०आ०* 2/2

सकृदिति-न पुनरुपायानुभवः पौनःपुन्येनेत्यर्थः। —*तं०आ०वि०*, भा० 2, पृ० 312

30. उपरिवत्, पृ० 312.

31. उपरिवत्, पृ० 313.

32. अनुपायमिदं तत्त्व-

मित्युपायं विना कुतः।

स्वयं तु तेषां तत्तादृक्

किं ब्रूमः किल तान्प्रति।। —*तं०आ०* 2/3

33. *तं०आ०वि०*, भा० 2, पृ० 313.

34. तत्त्वज्ञस्य तृणं शास्त्रं ...।

नात्यन्ततज्ज्ञो नो मूर्खः सोऽस्मिञ्छास्त्रेऽधिकारवान्। —उपरिवत्, पृ० 314

35. तं ये पश्यन्ति ताद्रूप्य-

क्रमेणामलसंविदः।

तेऽपि तद्रूपिणस्ताव-

त्येवास्यानुग्रहात्मता।। —*तं०आ०* 2/40

36. एतत्तत्त्वपरिज्ञानं

मुख्यं यागादि कथ्यते।

दीक्षान्तं विभुना श्रीम-

त्सिद्धयोगीश्वरीमते।। —उपरिवत् 2/41

37. *मा०वि०तं०* 11/2.

38. *तं०आ०* 2/14.

39. उपरिवत् 2/11.

40. उपरिवत् 2/16-17.

41. उपरिवत् 2/18-19.

42. उपरिवत् 2/24-26.

43. इति ये रूढसंवित्ति-

    परमार्थपवित्रिताः।

    अनुत्तरपथे रूढा-

    स्तेभ्युपायनियन्त्रिताः। —*तं०आ०* 2/34

44. उपायो नापरः कश्चित्स्वसत्तावगमादृते।

    तामेवानुसरन्योगी स्वस्थो यः स सुखी भवेत्।। —*तं०आ०वि०*, भा० 2, पृ० 339 पर उद्धृत

45. मत्त एवोदितमिदं मय्येव प्रतिबिम्बितम्।

    मदभिन्नमिदं च···।। —उपरिवत् पृ० 339 पर उद्धृत

46. *तं०आ०* 2/36.

47. ततोऽपि परमं ज्ञान-

    मुपायादिविवर्जितम्।

    आनन्दशक्तिविश्रान्त-

    मनुत्तरमिहोच्यते।। —उपरिवत् 1/242

48. प्रकाशमात्रं यत्प्रोक्तं

    भैरवीयं परं महः।

    तत्र स्वतन्त्रतामात्र-

    मधिकं प्रविविच्यते।। —उपरिवत् 3/1

49. अकिंचिच्चिन्तकस्यैव

    गुरुणा प्रतिबोधतः।

    उत्पद्यते य आवेशः

    शाम्भवोऽसादुदीरितः।। —उपरिवत् 1/168

50. अकिंचिच्चिन्तकस्येति

    विकल्पानुपयोगिता।

    तया च झटिति ज्ञेय-

    समापत्तिर्निरूप्यते।। —उपरिवत् 1/171

51. तेनाविकल्पा संवित्ति-

    र्भावनाद्यनपेक्षिणी।।

    शिवतादात्म्यमापन्ना

    समावेशोऽत्र शांभवः।। —उपरिवत् 1/178-79

52. तदस्मिन्परमोपाये

    शाम्भवाद्वैतशालिनि।

    केऽप्येवं यान्ति विश्वासं

    परमेशेन भात्रिताः।। —उपरिवत् 3/288

53. पूजकाः शतशः सन्ति भक्ताः सन्ति सहस्रशः।

    प्रसादपात्रमाश्वस्ताः प्रभोर्द्वित्रा न पंचषाः।। —*तं०आ०वि०*, भा० 2, पृ० 612 पर उद्धृत

54. *तं०आ०* 3/291.

55. उपरिवत् 3/292.

56. भाविन्योऽपिह्युपासास्ता

 अत्रैवायान्ति निष्ठितिम्।

 एतन्मयत्वं परमं

 प्राप्यं निर्वर्ण्यते शिवम्।। —उपरिवत् 3/293

57. उपरिवत् 3/280.

58. एवं पंचाशदामर्श-

 पूर्णशक्तिर्महेश्वरः।। —उपरिवत् 3/196

59. निर्विकल्पे परामर्शे

 शाम्भवोपायनामनि।

 पंचाशद्भेदतां पूर्व-

 सूत्रितां योजयेद्बुधः।। —उपरिवत् 3/274

60. उपरिवत् 1/196; द्रष्टव्य *मा०वि०तं०* 2/2-7.

61. *तं०आ०वि०*, भा० 2, पृ० 611.

62. तदप्यकल्पितोदार-

 संविद्दर्पणबिम्बितम्।

 पश्यन्विकल्पविकलो

 भैरवीभवति स्वयम्।। —*तं०आ०* 3/277

63. उपरिवत् 6/271-72.

64. अविकल्पपथारूढो

 येन येन पथा विशेत्।

 धरासदाशिवान्तेन

 तेन तेन शिवीभवेत्।। —उपरिवत् 1/211

65. *तं०आ०वि०*, भा० 2, पृ० 182.

66. *तं०आ०* 1/210.

67. *तं०आ०वि०*, भा० 3, पृ० 618.

68. विकल्पः संस्कृतः सूते

 विकल्पं स्वात्मसंस्कृतम्।

 स्वतुल्यं सोऽपि सोऽप्यन्यं

 सोऽप्यन्यं सदृशात्मकम्।। —*तं०आ०* 4/3

69. उपरिवत् 4/4-6.

70. उपरिवत् 4/7.

71. अथ शाक्तमुपायमण्डलं
    कथयामः परमात्मसंविदे।। —उपरिवत् 4/1

72. शाक्तोऽथ भण्यते चेतो-
    धी-मनोहंकृति स्फुटम्।
    सविकल्पतया माया-
    मयमिच्छादि वस्तुतः।। —उपरिवत् 1/214

73. अभिमानेन संकल्पा-
    ध्यवसायक्रमेण यः।
    शाक्तः स मायोपायोऽपि
    तदन्ते निर्विकल्पकः।। —उपरिवत् 1/215

74. उपरिवत् 1/215-219.

75. उपरिवत् 1/220.

76. *तं०आ०* 1/289-290.

77. सत्तर्कः शुद्धविद्यैव
    सा चेच्छा परमेशितुः।। —उपरिवत् 4/34

78. उपरिवत् 4/13-14.

79. श्रीपूर्वशास्त्रे तत्प्रोक्तं
    तर्को योगाङ्गमुत्तमम्।
    हेयाद्यालोचनात्तस्मा-
    त्तत्र यत्नः प्रशस्यते।।
    मार्गे चेतः स्थिरीभूतं
    हेयेऽपि विषयेच्छया।
    प्रेर्य तेन नयेत्ताव-
    द्यावत्पदमनामयम्।। —उपरिवत् 4/15-16

80. किरणायां यदप्युक्तं
    गुरुतः शास्त्रतः स्वतः।।
    तत्रोत्तरोत्तरं मुख्यं
    पूर्वपूर्वउपायकः। —उपरिवत् 4/41-42

81. स तावत्कस्यचित्तर्कः
    स्वत एव प्रवर्तते।।
    स च सांसिद्धिकः शास्त्रे
    प्रोक्तः स्वप्रत्ययात्मकः। —उपरिवत् 4/40-41

82. उपरिवत् 4/42-43.

83. उपरिवत् 4/44-45.

84. उपरिवत् 4/47-48.
85. *तं०आ०वि०*, भा० 2, पृ० 669.
86. *तं०आ०* 4/51-52.
87. *तं०आ०वि०*, भा० 3, पृ० 676.
88. *तं०आ०* 4/52.
89. उपरिवत् 4/69-70.
90. उपरिवत् 4/71.
91. उपरिवत् 4/72-73.
92. शुद्धविद्यात्मकं सर्व-
    मेवेदमहमित्यलम्।
    इदं विकल्पनं शुद्ध-
    विद्यारूपं स्फुटात्मकम्।।
    प्रतिहन्तीह मायीयं
    विकल्पं भेदभावकम्। —उपरिवत् 4/113-14
93. उपरिवत् 4/114-16.
94. उपरिवत् 4/118-19.
95. *तं०आ०वि०*, भा० 3, पृ० 741.
96. *तं०आ०* 4/194-223.
97. उपरिवत् 4/194.
98. उपरिवत् 4/195-99.
99. उपरिवत् 4/200.
100. उपरिवत् 4/201-2.
101. उपरिवत् 4/203.
102. उपरिवत् 4/212.
103. उपरिवत् 4/213-21.
104. उपरिवत् 4/218-20.
105. परतत्त्वप्रवेशे तु
    यमेव निकटं यदा।
    उपायं वेत्ति स ग्राह्य-
    स्तदा त्याज्योऽथवा क्वचित्।। —उपरिवत् 4/273
106. *तं०आ०वि०*, भा० 3, पृ० 918-19.
107. भावनातोऽथवा ध्याना-
    ज्जपात्स्वप्नाद्व्रताद्धुतेः।

प्राप्नोत्यकल्पितोदार-

मभिषेकं महामति:।। —*तं०आ०* 4/53

108. उच्चारकरणध्यान-

वर्णस्थानप्रकल्पनै:।

यो भवेत्स समावेश:

सम्यगाणव उच्यते।। —उपरिवत् 1/170

109. अणुर्नाम स्फुटो भेद-

स्तदुपाय इहाणव:।

विकल्पनिश्चयात्मैव

पर्यन्ते निर्विकल्पक:।। —उपरिवत् 1/221

110. उपरिवत् 5/3-4.

111. *तं०आ०वि०*, भा० 3, पृ० 930.

112. *तं०आ०* 5/7-8.

113. तस्य चिद्रूपतां सत्यां

स्वातन्त्र्योल्लासकल्पनात्।।

पश्यञ्जडात्मताभागं

तिरोधायाद्वयो भवेत्।। —उपरिवत् 5/10-11

114. क्रियोपायेऽभ्युपायानां

ग्राह्यबाह्यविभेदिनाम्।

भेदोपभेदवैविध्या-

न्नि:संख्यात्वमवान्तरात्।। —उपरिवत् 1/64

115. उपरिवत्, 5/17-18.

116. *तं०आ०वि०*, भा० 3, पृ० 1054.

117. *तं०आ०* 5/20.

118. उपरिवत् 5/21.

119. *तं०आ०वि०*, भा० 3, पृ० 948-49.

120. *तं०आ०*, 5/37-38.

121. उपरिवत्, 5/39-40.

122. उपरिवत्, 5/41-42.

123. अथ प्राणस्य या वृत्ति:

प्राणनाद्या निरूपिता।

तदुपायतया ब्रूमोऽ-

नुत्तरप्रविकासनम्।। —उपरिवत् 5/43

124. उपरिवत् 5/18.

125. उपरिवत् 5/44-52.

126. उपरिवत् 5/54-61.

127. उपरिवत् 5/70-73.

128. हानादानतिरस्कार-
वृत्तौ रूढिमुपागत:।
अभेदवृत्तित: पश्ये-
द्विश्वं चितिचमत्कृते:।। —उपरिवत्, 5/74

129. उपरिवत् 5/80.

130. उपरिवत् 5/82.

131. उपरिवत् 5/152-53.

132. उपरिवत् 5/128-29.

133. उपरिवत् 5/130-31.

134. नातिरहस्यमेकत्र ख्याप्यं न च सर्वथा गोप्यं इति—हि अस्मद्गुरव:। —*तं०आ०वि०*, भा० 3, पृ० 1059

135. उपरिवत् पृ० 1058-59.

136. उक्तो य एष उच्चार-
स्तत्र योऽसौ स्फुरन् स्थित:।।
अव्यक्तानुकृतिप्रायो
ध्वनिर्वर्ण: स कथ्यते। —*तं०आ०* 5/131-32

137. *त०आ०वि०*, भा० 3, पृ० 1060.

138. *तं०आ०* 5/132.

139. उपरिवत् 5/133.

140. उपरिवत् 5/134-35.

141. *तं०आ०वि०*, भा० 3, पृ० 1063.

142. उपरिवत् पृ० 1065.

143. *तं०आ०* 5/140-41.

144. उपरिवत् 6/1.

145. *तं०आ०वि०*, भा० 3, पृ० 1090.

146. *तं०आ०* 6/1-4.

147. *तं०आ०वि०*, भा० 3, पृ० 1091.

148. अध्वा समस्त एवायं
चिन्मात्रे संप्रतिष्ठित:।

यत्तत्र नहि विश्रान्तं
तन्नभःकुसुमायते।।
संविद्द्वारेण तत्सृष्टे
शून्ये धियि मरुत्सु च।
नाडीचक्रानुचक्रेषु
बहिर्देहेऽध्वसंस्थितिः।। —तं०आ० 8/3-4

149. तं०आ०वि०, भा० 3, पृ० 1092.

150. तं०आ० 6/6.

151. सैव संविद् बहिः स्वात्म-
गर्भीभूतौ क्रमाक्रमौ।
स्फुटयन्ती प्ररोहेण
प्राणवृत्तिरिति स्थिता।। —उपरिवत् 6/8

152. उपरिवत् 6/7.

153. उपरिवत् 6/21-22.

154. उपरिवत् 6/22-24.

155. उपरिवत् 6/28.

156. उपरिवत् 7/21-24.

157. उक्तं श्रीमालिनीतन्त्रे
गात्रे यत्रैव कुत्रचित्।।
विकार उपजायते
तत्तत्वं तत्वमुत्तमम्। —उपरिवत् 7/64-65

158. उपरिवत् 7/66-68.

159. उपरिवत् 12/6.

160. उपरिवत् 12/7.

161. उपरिवत् 12/8.

162. उपरिवत् 12/9-13.

163. यथा यथा येन यत्र
स्वा संवित्तिः प्रसीदति।।
तथा तथा तेन तत्र
तत्तद्भोग्यं विधिश्च सः। —उपरिवत् 12/16-17

164. क्रमात्तु भेदन्यूनत्वे
न्यूनता स्यात्तुटिष्वपि।
तस्यां ह्रासो विकल्पस्य
स्फुटता चाविकल्पिनः।। —उपरिवत् 10/20

यथा यथा हि न्यूनत्वं

तुटीनां ह्रासतो भिदः।

तथा तथातिनैकट्यं

संविदः स्याच्छिवावधिः।। —उपरिवत् 10/214

165. शिवतत्त्वमतः प्रोक्त-

मन्तिकं सर्वतोऽमुतः।

अतएव प्रयत्नोऽयं

तत्प्रवेशे न विद्यते।।

यथा यथा हि दूरत्वं

यत्नयोगस्तथा तथा। —उपरिवत् 10/215-16

166. अन्ते ज्ञानेऽत्र सोपाये

समस्तः कर्मविस्तरः।

प्रस्फुटेनैव रूपेण

भावी सोऽन्तर्भविष्यति।। —उपरिवत् 1/231

167. उपाययोगक्रमतो

निरुपायमथाक्रमम्।

यद्रूपं तत्परं तत्त्वं

तत्र तत्र सुनिश्चितम्।। —उपरिवत् 13/257

168. एवं विचित्रेऽप्येतस्मि-

ञ्छक्तिपाते स्थिते सति।।

तारतम्यादिभिर्भेदैः

समय्यादिविचित्रता।। —उपरिवत् 13/295-96

169. *मा०वि०तं०* 2/17-19.

170. आणवोऽयं समाख्यातः शाक्तोऽप्येवंविधः स्मृतः।
एवं शाम्भवमप्येभिर्भेदैर्भिन्नं विलक्षयेत्।। —उपरिवत् 2/20
सार्धमेतच्छतं प्रोक्तं भेदानामनुपूर्वशः।
संक्षेपाद्विस्तरादस्य परिसंख्या न विद्यते।। —उपरिवत् 2/24

संदर्भ-ग्रन्थ-सूची

(देवनागरी वर्णमाला के अनुसार)

अभिनवगुप्त, *अभिनवभारती*, भरतमुनिकृत *नाट्यशास्त्र* के साथ, 4 भाग, बड़ौदा, 1926, 1934, 1954, 1956.

—, *ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी*, सम्पा० मुकुन्दराम शास्त्री, 2 भाग, काश्मीर संस्कृत ग्रन्थावलि, सं० 22/23, श्रीनगर, 1918, 1921.

—, *ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविवृतिविमर्शिनी*, सम्पा० मधुसूदन कौल, 3 भाग, काश्मीर संस्कृत ग्रन्थावलि, सं० 60/62/65, श्रीनगर, 1938, 1942, 1943.

—, *तंत्रालोक*, जयरथकृत *विवेक* के साथ, सम्पा० रामचन्द्र द्विवेदी तथा नवजीवन रस्तोगी, 8 भाग, दिल्ली, 1987.

—, *तंत्रसार*, हेमेन्द्रनाथ चक्रवर्तिकृत हिन्दी अनुवाद के साथ, वाराणसी, 1986.

—, *तंत्रवटधानिका*, सम्पा० मुकुन्दराम शास्त्री, काश्मीर संस्कृत ग्रन्थावलि, सं० 24, श्रीनगर, 1918.

—, *परमार्थसारकारिका*, योगराजकृत *विवृति* (*विवरण*) के साथ, सम्पा० जे०सी० चटर्जी, काश्मीर संस्कृत ग्रन्थावलि, सं० 7, श्रीनगर, 1916.

—, *परमार्थसार*, प्रभादेवीविरचित भाषाटीका युक्त, काश्मीर, 1977.

—, *परात्रिंशिका-विवरण*, सम्पा० मुकुन्दराम शास्त्री, काश्मीर संस्कृत ग्रन्थावलि, सं० 31, श्रीनगर, 1921.

—, *मालिनीविजयोत्तर-वार्तिका/मालिनीविजयवार्तिक*, सम्पा० मधुसूदन कौल, काश्मीर संस्कृत ग्रन्थावलि, सं० 31, श्रीनगर, 1921.

अज्ञात, शैवाष्टककोश, हस्तलिखित, MS. no. 0/E/1, राजकीय प्रत्नविद्याप्रकाश कार्यालय (रिसर्च डिपार्टमेंट), जम्मू और काश्मीर, श्रीनगर ।

आनन्दवर्धन, *ध्वन्यालोक*, अभिनवगुप्तकृत *लोचन* टीका सहित, सम्पा० महादेव शास्त्री तथा पी० शास्त्री, बनारस, 1940.

आरण्य(क), हरिहरानन्द, *पातञ्जल योगदर्शनम्* पर व्याख्या, सम्पा० रामशंकर भट्टाचार्य, दिल्ली, 1974.

उत्पल, *ईश्वरप्रत्यभिज्ञाकारिका*, स्वोपज्ञ *वृत्ति* तथा *सिद्धित्रयी* के साथ, सम्पा० मधुसूदन कौल, काश्मीर संस्कृत ग्रन्थावलि, सं० 34, श्रीनगर, 1921.

—, *शिवस्तोत्रावलि*, क्षेमराजकृत *विवृति* तथा राजानक लक्ष्मणकृत हिन्दी व्याख्या के साथ, वाराणसी, 1964.

—, *सिद्धित्रयी (अजडप्रमातृसिद्धि, ईश्वरसिद्धि, संबंधसिद्धि)*, स्वोपज्ञ तथा हरभट्टशास्त्रिकृत वृत्ति के साथ, सम्पा० मधुसूदन कौल, काश्मीर संस्कृत ग्रन्थावलि, सं० 34, श्रीनगर, 1921.

कल्लट, *स्पन्दकारिका*, स्वोपज्ञ *वृत्ति* के साथ, सम्पा० जे०सी० चटर्जी, काश्मीर संस्कृत ग्रंथावलि, सं० 5, श्रीनगर, 1916.

कविराज, गोपीनाथ, सम्पा०, *योगिनीहृदय*, अमृतानन्दकृत *दीपिका* तथा भास्कररायकृत *सेतुबन्ध* टीकाओं के साथ, वाराणसी, 1963.

—, *भारतीय संस्कृति और साधना*, दो खण्ड, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना, 1963, 1964.

—, सम्पा०, *त्रिपुरारहस्य* (ज्ञानखण्ड), श्रीनिवासकृत *तात्पर्यदीपिका* सहित, वाराणसी, 1965.

कालिदास, *अभिज्ञानशाकुन्तलम्*, व्याख्याकार हरिदत्त शास्त्री एवं शिवबालक द्विवेदी, कानपुर, 1978.

Kane, P.V., *History of Dharmasastra*, vol. V, pt. II, Poona, 1962.

कौल, मधुसूदन, सम्पा०, *नेत्र-तंत्र*, क्षेमराज की *उद्योत* टीका सहित, 2 भाग, काश्मीर संस्कृत ग्रन्थावलि, सं० 46/61, श्रीनगर, 1926, 1939.

—, सम्पा०, *मालिनीविजयोत्तर तंत्र*, काश्मीर संस्कृत ग्रन्थावलि, सं० 31, श्रीनगर, 1922.

—, सम्पा०, *मृगेन्द्र तंत्र* (विद्या-योग पाद), नारायणकण्ठकृत *वृत्ति* सहित, काश्मीर संस्कृत ग्रन्थावलि, सं० 50, श्रीनगर, 1930.

—, सम्पा०, *वामकेश्वरीमत*, जयरथकृत *विवरण* सहित, काश्मीर संस्कृत ग्रन्थावलि, सं० 66, श्रीनगर, 1945.

—, सम्पा०, *स्वच्छन्द तंत्र*, 6 भाग (भाग 5, दो खंडों में), क्षेमराजकृत *उद्योत* के साथ, काश्मीर संस्कृत ग्रन्थावलि, सं० 21/38/44/48/51/53/56, श्रीनगर, 1921, 1923, 1926, 1927, 1930, 1933, 1935.

—, सम्पा०, *भगवद्गीता*, रामकण्ठकृत *सर्वतोभद्र* टीका के साथ, काश्मीर संस्कृत ग्रन्थावलि, सं० 64, श्रीनगर, 1943.

क्षेमराज, *प्रत्यभिज्ञाहृदय*, सम्पा० जे०सी० चटर्जी, काश्मीर संस्कृत ग्रन्थावलि, सं० 3, श्रीनगर, 1911.

—, *शिवसूत्रविमर्शिनी*, सम्पा० जे०सी० चटर्जी, काश्मीर संस्कृत ग्रन्थावलि, सं० 2, श्रीनगर, 1912.

—, *स्पन्दनिर्णय*, सम्पा० मधुसूदन कौल, काश्मीर संस्कृत ग्रन्थावलि, सं० 40, श्रीनगर, 1925.

—, *स्पन्दसन्दोह*, सम्पा० मुकुन्दराम शास्त्री, काश्मीर संस्कृत ग्रन्थावलि, सं० 40, श्रीनगर, 1917.

गोयनका, हरिकृष्णदास, व्याख्याकार, *कठोपनिषद्*, *ईशादि नौ उपनिषद्* के अंतर्गत प्रकाशित, गोरखपुर, सम्वत् 2033.

Chatterjee, A.K., *The Yogacara Idealism*, Delhi, 1987.

झा, आचार्य रामेश्वर, *पूर्णता-प्रत्यभिज्ञा*, दरभंगा, संवत् 2017.

त्रिपाठी, विशाल प्रसाद, *प्रत्यभिज्ञा दर्शन और माया*, दिल्ली, 1990.

तीर्थ, स्वामी त्रिविक्रम, सम्पा०, *चिद्गगनचन्द्रिका,* तांत्रिक टेक्स्ट्स, भाग 20, कलकत्ता, 1936.

Dasgupta, S.B., *An Introduction to Tantric Buddhism,* Calcutta, 1959.

Dasgupta, S.N., *Indian Idealism,* reprint, Cambridge, 1962.

Dyczkowski, Mark S.G., *The Doctrine of Vibration,* SUNY Series in Kashmir Shaivism, ed., Harvey P. Alper, Albany, 1987.

—. *The Canon of the Saivagama and the Kubjika Tantras of the Western Kaula Tradition,* SUNY Series in Kashmir Shaivism, ed., Harvey P. Alper, Albany, 1987.

द्विवेदी, व्रजवल्लभ, सम्पा०, *नित्याषोडशिकार्णव तंत्र,* शिवानन्दकृत *ऋजुविमर्शिनी* एवं विद्यानन्दकृत *अर्थरत्नावली* टीकाओं के साथ, वाराणसी, 1968.

—. *आगममीमांसा,* नई दिल्ली, 1982.

—, सम्पा०, *नेत्र-तंत्र,* क्षेमराजकृत उद्योत टीका सहित, दिल्ली, 1985.

धर्मकीर्ति, *प्रमाणवार्तिक,* मनोरथनन्दि की *वृत्ति* सहित, सम्पा० स्वामी द्वारिकादास शास्त्री, वाराणसी, 1968.

—, *सम्बन्धपरीक्षा,* प्रभाचन्द्रकृत *व्याख्या* सहित, सम्पा० स्वामी द्वारिकादास शास्त्री, वाराणसी, 1972.

धर्मराजाध्वरीन्द्र, *वेदान्त-परिभाषा, परिभाषाप्रकाशिका* टीका के साथ, सम्पा० अनन्तकृष्ण शास्त्री, कलकत्ता, 1930.

Padoux, André, *Vac: The Concept of the Word in Selected Hindu Tantras,* trans. Jacques Gontier, Albany, 1990.

पंडित, वलजिन्नाथ, *काश्मीर शैवदर्शन,* जम्मू, 1973.

—. *Aspects of Kashmir Saivism,* Srinagar, 1977.

Pandey, K.C., *Abhinavagupta: An Historical and Philosophical Study,* sec. rev. and enl. edn., Varanasi, 1963.

—, *शैवदर्शनबिन्दु,* वाराणसी, 1964.

पुण्यानन्द, *कामकलाविलास,* सम्पा० मुकुन्दराम शास्त्री, काश्मीर संस्कृत ग्रन्थावलि, सं० 12, श्रीनगर, 1918.

Potter, Karl H., *Presuppositions of India's Philosophies,* Englewood Cliffs, 1963.

Basu, Patricia Leons, *Study of the Hindu Concept of Vac: The Power of the Word in an Oral Society,* Englewood Cliffs, 1978.

भट्ट, उत्पल, *स्पन्दप्रदीपिका,* सम्पा० वामन शास्त्री इस्लामपुरकर, 1898.

—, *तंत्र-संग्रह* (प्रथम भाग) में पुनः मुद्रित, सम्पा० गोपीनाथ कविराज, वाराणसी, 1970.

भट्ट, एन०आर०, सम्पा०, *मृगेन्द्रागम* (*क्रियापाद-चर्यापाद*), नारायणकण्ठकृत वृत्ति सहित, पाण्डिचेरी, 1962.

भट्ट, जगद्धर, *स्तुति-कुसुमांजलि,* रत्नकण्ठकृत *लघुपंजिका* तथा प्रेमवल्लभ त्रिपाठीकृत हिन्दी अनुवाद सहित, काशी, 1964.

भट्ट, जयन्त, *न्यायमञ्जरी,* सम्पा० गंगानाथ झा, प्रिंस ऑफ वेल्स सरस्वती भवन स्टडीज़, सं० 17, बनारस, 1925.

भट्ट, नारायण, *स्तव-चिन्तामणि,* क्षेमराजकृत *विवृत्ति* के साथ, सम्पा० मुकुन्दराम शास्त्री, काश्मीर संस्कृत ग्रन्थावलि, सं० 10, 1918.

भट्ट, भास्कर, *शिवसूत्र-वार्तिक*, सम्पा० जे०सी० चटर्जी, काश्मीर संस्कृत ग्रन्थावलि, सं० 4, श्रीनगर, 1916.

—, *भगवद्गीताभाष्य* (भगवद्गीता का *भगवदाशयानुसरण* नामक भाष्य), सम्पा० सुभद्र उपाध्याय, वाराणसी, 1965.

भास्करकण्ठ, *चित्तानुबोधशास्त्र,* सम्पा० सुषमा पांडेय, वाराणसी, 1990.

—, *भास्करी,* 3 भाग, उत्पलकृत *ईश्वरप्रत्यभिज्ञाकारिका* व अभिनवगुप्तकृत *विमर्शिनी* के साथ, सम्पा० के०ए०एस० अय्यर तथा के०सी० पांडेय, इलाहाबाद, 1938, 1950, 1954.

भर्तृहरि, *वाक्यपदीय,* काण्ड 1, वृषभदेव की *वृत्ति* व *पद्धति* के साथ; काण्ड 1(दो भाग), हेलाराज की टीका के साथ, सम्पा० के०ए० सुब्रह्मण्य अय्यर, पूना, 1956, 1963, 1973.

मधुसूदन सरस्वती, *भगवद्भक्तिरसायन,* प्रथमोल्लास की स्वोपज्ञ टीका सहित, अनु० एवं विवृति० जनार्दन पांडेय, दिल्ली, संवत् 2033.

महेश्वरानन्द, *महार्थमंजरी,* स्वोपज्ञ *परिमल* टीका सहित, सम्पा० व्रजवल्लभ द्विवेदी, वाराणसी, 1972.

माणिक्यनन्दी, *परीक्षामुखसूत्र, प्रमेयकमलमार्तण्ड* सहित, मानिकचन्द्र दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला, सं० 36, 1941.

मिश्र, आद्याप्रसाद, *सांख्यतत्त्वकौमुदीप्रभा, सांख्यकारिका* तथा वाचस्पति मिश्रकृत *तत्त्वकौमुदी* की हिन्दी व्याख्या, प्रयाग, 1956.

मिश्र, केशव, *तर्कभाषा,* सम्पा० श्रीनिवास शास्त्री, मेरठ, 1991.

मिश्र, पार्थसारथि, *शास्त्रदीपिका,* सुदर्शनाचार्यकृत *प्रकाश* टीका सहित, बनारस, 1907.

Misra, Kamlakar, *Significance of the Tantric Tradition,* Varanasi, 1981.

रस्तोगी, नवजीवन, "अभिनवगुप्त के स्तोत्र : एक अध्ययन," लघु शोध-प्रबन्ध, लखनऊ विश्वविद्यालय, 1959.

—, "प्रत्यभिज्ञा दर्शन में प्रत्यभिज्ञा का स्वरूप," *दार्शनिक त्रैमासिक,* वर्ष 11, अंक 1, फरीदपुर, 1965.

Rastogi, Navjivan, "The Krama Monism of Kashmir: An Analytical Study," vol. II, Ph.D. dissertation, University of Lucknow, 1967.

—, "Recognition in Pratyabhijñā School: A Study in Epistemology" in *Annals of the Bhandarkar Oriental Research Institute,* vol. 58, Pune, 1977.

—, *The Krama Tantricism of Kashmir,* vol. I, Delhi, 1979; reprint, 1996.

—, "Some More Nyāyas as Employed by Abhinavagupta" in *Annals of the Bhandarkar Oriental Research Institute,* vol. 65, Pune, 1982.

—, *Introduction to the Tantraloka: A Study in Structure,* Delhi, 1986.

—, "Theory of Error According to Abhinavagupta" in *Journal of Indian Philosophy,* no. 14, Dordrecht, 1986.

रस्तोगी, मीरा, "अभिनवगुप्त के मंगल श्लोकों का सानुवाद अध्ययन", लघु शोध-प्रबन्ध, लखनऊ विश्वविद्यालय, 1974.

—, ''प्रत्यभिज्ञा दर्शन में प्रकाश-विमर्श का स्वरूप,'' *दार्शनिक त्रैमासिक,* वर्ष 22, अंक 4, फरीदपुर, 1976.

—, ''इच्छा-स्वातंत्र्य तथा कार्यकारण-भाव : भारतीय तत्त्वमीमांसा में काश्मीर शिवाद्वयवाद के अंतर्गत एक अध्ययन'', शोध-प्रबन्ध, लखनऊ विश्वविद्यालय, 1982.

रामकण्ठ, *स्पन्दकारिका-विवृति,* सम्पा० जे०सी० चटर्जी, काश्मीर संस्कृत ग्रन्थावलि, सं० 6, श्रीनगर, 1918.

रुय्यक, *अलंकारसर्वस्व,* जयरथकृत *विमर्शिनी* टीका के साथ, सम्पा० गिरिजा प्रसाद द्विवेदी, काव्यमाला, सं० 35, मुम्बई, 1939; विद्याचक्रवर्ती की *संजीवनी* टीका के साथ, सम्पा० वी० राघवन्, दिल्ली, 1965.

Lawrence, David Peter, "Argument and the Recognition of Śiva: The Philosophical Theology of Utpaladeva and Abhinavagupta," Ph.D. dissertation, Chicago University, Chicago, 1992.

वरदराज, *शिवसूत्रवार्तिक,* सम्पा० मधुसूदन कौल, काश्मीर संस्कृत ग्रन्थावलि, सं० 43, श्रीनगर, 1925.

वाल्मीकि, *योगवाशिष्ठ, वासिष्ठमहारामायणतात्पर्यप्रकाश* टीका सहित, सम्पा०, वासुदेव लक्ष्मण शर्मा पणशीकर, 2 भाग, दिल्ली, 1984.

Vidyabhushana, Satish Chandra, *History of Indian Logic,* Benares, 1920.

व्यास, सूर्यप्रकाश, *बौद्ध, वेदान्त एवं काश्मीर शैवदर्शन,* वाराणसी, 1986.

Sharma, L.N., *Kashmir Śaivism,* Varanasi, 1972.

शास्त्री, अनन्तकृष्ण, सम्पा०, *वेदान्तसूत्र (ब्रह्मसूत्र), भामती, कल्पतरु* तथा *परिमल* टीकाओं के साथ, पुनर्सम्पा० भार्गव शास्त्री, बम्बई, 1938.

Shastri, Dharmendra Nath, *Critique of Indian Realism,* Agra, 1964.

शास्त्री, मुकुन्दराम, सम्पा०, *विज्ञानभैरव,* क्षेमराज, शिवोपाध्याय, आनन्दकृत टीकाओं के साथ, काश्मीर संस्कृत ग्रन्थावलि, सं० 8/9, श्रीनगर, 1918.

शास्त्री, के० साम्बशिव, सम्पा०, *महानयप्रकाश,* चित्रोदयमंजरी ग्रंथमाला, सं० 19, त्रिवेन्द्रम, 1937.

शितिकण्ठ, *महानय-प्रकाश,* सम्पा० मुकुन्दराम शास्त्री, काश्मीर संस्कृत ग्रन्थावलि, सं० 21, श्रीनगर, 1918.

शंकराचार्य, *दक्षिणामूर्तिस्तोत्र,* स्वयंप्रकाशयतिकृत *तत्त्वसुधा,* सुरेश्वराचार्यकृत *मानसोल्लास-*

वार्तिक तथा रामतीर्थकृत व्याख्या सहित, सम्पा० एन०एस० वेङ्कटनाथाचार्य, मैसूर, 1972.

Stcherbatsky, F. Th., *Buddhist Logic,* 2 vols., reprint, New Delhi, 1996.

श्रीनिवासाचार्य, लक्ष्मीपुरम्, *मानमेयरहस्यश्लोकवार्तिक,* मैसूर, संवत् 1925.

—, *दर्शनोदय,* मैसूर, 1933.

Sanderson, Alexis, "Purity and Power among the Brahmanas of Kashmir" in *The Category of Person: Anthropology, Philosophy, History,* ed. Michael Carrithers et al., Cambridge, 1985.

—, "Śaivism and the Tantric Tradition" in *The World's Religions,* ed., S. Sutherland et al., London, 1988.

सायण माधव, *सर्वदर्शनसंग्रह,* उमाशंकर शर्मा ऋषिकृत *प्रकाश* हिन्दी व्याख्या के साथ, वाराणसी, 1964.

Sastri, Gaurinath, *The Philosophy of Word and Meaning,* Calcutta, 1959.

सिंह, नागशरण, सम्पा०, *शिवमहापुराण,* दिल्ली, 1981.

सोमानन्द, *शिवदृष्टि,* उत्पलदेवकृत वृत्ति सहित, सम्पा० मधुसूदन कौल, काश्मीर संस्कृत ग्रंन्थावलि, सं० 54, श्रीनगर, 1934.

Sivaraman, K., *Śaivism in Philosophical Perspective,* Delhi, 1993.

Sensharma, D.B., *Philosophy of Sadhana*, Karnal, 1983.

—, *Studies in Tantra Yoga,* Karnal, 1985.

Swami, Tyāgīśānanda, *Narada Bhakti Sutra*, text with Eng. translation, Madras, 1952.

Harsh Narayan, "प्रमाणसंख्याविप्रतिपत्तिकारिकाः" in *The Journal of Benaras Hindu University,* vol. 17, no. 2, March 1972.

कोश

Abhyankar, K.V., *A Dictionary of Sanskrit Grammar,* Gaekwad Oriental Series, 134, Baroda, 1961.

Apte, V.S., *Sanskrit-English Dictionary,* Delhi, 1975.

Gode, P.K., and Karve, C.G., *Apte's the Practical Sanskrit-English Dictionary,* 3 parts, Poona, 1957-59.

Grimes, John, *A Concise Dictionary of Indian Philosophy: Sanskrit Terms Defined in English,* Albany, 1989.

झलकीकर, भीमाचार्य, सम्पा०, *अमरकोश,* दिल्ली।

—, *न्यायकोश,* सम्पा० बी०एस० अभ्यंकर, पूना, 1928.

तर्कवाचस्पति, तारानाथ, *वाचस्पत्यम्,* 6 भाग, चौखम्बा संस्कृत ग्रन्थावलि, सं० 94, वाराणसी, 1962.

त्रिपाठी, केदारनाथ, *सांख्ययोगकोश,* वाराणसी, 1974.

Drever, James, *A Dictionary of Psychology,* Middlessex, 1955.

Reyna, Ruth, *Dictionary of Oriental Philosophy,* 2 vols., New Delhi, 1984.

Runes, Dagobert D., ed., *The Dictionary of Philosophy*, London, 1942.
देव, राधाकान्त, *शब्दकल्पद्रुम*, 5 भाग, चौखम्बा संस्कृत ग्रन्थावलि, सं० 93, वाराणसी, 1961.
सरस्वती, केवलानन्द, *मीमांसा-कोश*, 7 भाग, वाई (सतारा), 1944-66.
सुखानन्दनाथ, *शब्दार्थचिन्तामणि*, 4 भाग, उदयपुर, सं० 1921-40.

अनुक्रमणिका

ग्रंथ

अजडप्रमातृसिद्धि 132
अमरकोश 200
अभिनवभारती 137, 198 (पा०टि०)

ईश्वरप्रत्यभिज्ञाकारिका (प्रत्यभिज्ञाकारिका) 12, 45, 97, 104, 186, 226
ईश्वरप्रत्यभिज्ञावृत्ति 12
ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविवृत्ति 12
ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी (विमर्शिनी) 12, 105, 130, 174, 186, 207, 225
ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविवृतिविमर्शिनी (विवृतिविमर्शिनी) 12, 70, 186, 225
ईश्वरसिद्धि 132
ईशावास्य उपनिषद् 117

कठोपनिषद् 214
कालिका-क्रम 5
किरणावली 183
कुलचूडामणि 8
कुलरत्नमाला 8
कुलार्णव 8
कुलोड्डीश 8
क्रमकेलि 5
क्रमरहस्य 5
क्रमसद्भाव 5
क्रमसिद्धि 5
क्रमस्तोत्र 5-6

खण्डनखण्डखाद्य 155

गीता 182-85, 194 (पा०टि०), 200, 213
गीताभाष्य (भट्टभास्कर) 206, 218 (पा०टि०)
गीता रामानुजभाष्य 183
गीतार्थसंग्रह 218 (पा०टि०)
गीता शांकरभाष्य 200
गुह्यसमाज तंत्र 206
गोरक्षशतक 202

चित्तानुबोधशास्त्र 191
चिद्गगनचन्द्रिका 6

तत्त्वार्थचिन्तामणि 63 (पा०टि०)
तंत्रसार 5, 204-5
तंत्रालोक 3-5, 27, 62, 71, 187-88, 200, 203, 207, 222, 224-26, 237
तंत्रालोक-विवेक 5, 106
त्रिपुरारहस्य 119

देवीपंचशतिक 5

नरेश्वरपरीक्षा 12
नामक 3
नारदीयसूत्र 183
निरुक्त 98 (पा०टि०), 207
नेत्र-तंत्र 202, 204, 207, 209-11, 213-14

परात्रिंशिकाविवरण 4-5, 70-71, 73
पर्यन्तपंचाशिका 5
पाञ्चरात्र आगम 183
पातञ्जल योगसूत्र 202
प्रकरणस्तोत्र 5
प्रकरण-विवरण 5
प्रत्यभिज्ञाहृदय 5, 215

भागवतपुराण 183-85

महानयप्रकाश 128 (पा०टि०)
मालिनीविजय/मालिनीविजयोत्तर तंत्र 3-4, 74, 185, 199-200, 202-7, 209, 211-12, 225-28, 230, 232, 239
मालिनीविजयवार्तिक 4-5, 62, 203
महाभारत 200-201
महार्थमंजरी 2, 6
महार्थमंजरी-परिमल 6

मैत्रायणी उपनिषद् 206
मृगेन्द्रागम 207

यतीन्द्रमतदीपिका 183
योगभाष्य 213

रस-सार-संग्रह 158 (पा०टि०)

विशिष्टाद्वैतकोश 183
विष्णु संहिता 206
विज्ञानभैरव तंत्र 174, 203-04
वीरावलि 205
वेदान्तसूत्र 182
वेदान्तसूत्र शांकरभाष्य 182
वैखानससूत्र 206
व्यासभाष्य 213

शब्दकल्पद्रुम 43, 183
शाण्डिल्यसूत्र 183
शिवदृष्टि 12, 55 (पा०टि०), 59, 72, 102, 185, 198 (पा०टि०)
शिवदृष्टि-वृत्ति 46, 56 (पा०टि०)
शिवसूत्र 4, 10-11, 58-60, 63 (पा०टि०), 102, 185, 211-12, 222, 234
शिवसूत्र विमर्शिनी 5, 46, 204, 211
शिवसूत्र-वार्तिक 63 (पा०टि०)
शिवस्तोत्रावली 118, 186, 188
शिवस्तोत्रावली-विवृति 5
शैवाष्टककोश 215
श्रीभाष्य 183
श्रीमालिनी तंत्र 238; और भी दे० *मालिनीविजय/मालिनीविजयोत्तर तंत्र*
श्रुतप्रकाशिका 183
श्वेताश्वतर उपनिषद् 90, 182

सम्बन्धसिद्धि 132, 137 (पा०टि०)
सम्बन्धपरीक्षा 132, 138 (पा०टि०)
सर्वतोभद्र 213, 220 (पा०टि०)
सर्वमंगलाशास्त्र 155
सार्धशतिक 5
सिद्धा 3
सिद्धयोगेश्वरीमत 4
सिद्धयोगेश्वरी तंत्र 3
सेकोद्देश टीका 206
स्तवचिन्तामणि 188
स्पन्दकारिका 10-11, 58-62, 63 (पा०टि०)
स्पन्दकारिकावृत्ति 58
स्पन्दकारिकाविवृत्ति 213
स्पन्दसूत्र 10, 63 (पा०टि०)
स्पन्दनिर्णय 5, 10, 58, 204, 215
स्पन्दप्रदीपिका 10, 58, 63 (पा०टि०)
स्पन्दविवरण 10
स्पन्दसन्दोह 5, 10, 58
स्पन्दसर्वस्व 10
स्वच्छन्द तंत्र 202, 211-12
स्वच्छन्दतंत्रोद्योत 5, 211
स्वायम्भुवागम 207

हठयोगप्रदीपिका 202

ग्रंथकार

अनन्त शक्तिपाद 5
अभिनवगुप्त (अभिनव) 3-10, 12, 14, 35-36 यत्र-तत्र
अर्धत्रैयम्बक 3, 8

आमर्दक 3
आरण्य(क), हरिहरानन्द 200-201, 212

उत्पल (उत्पल वैष्णव, भट्ट उत्पल) 5, 10-11, 43, 45, 47, 55 (पा०टि०), 58-60, 70, 79, 104-5, 109, 132, 136, 137 (पा०टि०), 148, 173-74, 176, 185-86, 188-89, 192

एरक 5

कल्लट 10, 58-59, 63 (पा०टि०), 201, 222
कल्याणिका 5
कविराज, गोपीनाथ 125, 192, 200, 218 (पा०टि०)
काणे 200, 202, 206
कॉव, डॉ० 167
काशकृत्स्न 99 (पा०टि०)

काशिकाकार 200
केयूरवती 5

क्षेमराज 5, 10–12, 58–62, 63 (पा०टि०), 106, 185, 200–201, 204, 207–9, 215, 217 (पा०टि०)

गीताकार 182, 200
गुरुटू, नीलकण्ठ 143
गोविन्दराज 5
गौरांग महाप्रभु 192

चक्रभानु 5
चटर्जी, जे०सी० 2
चटर्जी, एस०सी० 166

जयरथ 3, 5, 106, 118, 185, 207, 217–18 (पा०टि०), 226, 230, 237

त्रैयम्बक 3, 7–8

दिङ्नाग 12
देवभट्ट 5
द्विवेदी, व्रजवल्लभ 208

धर्मकीर्ति 12, 132
धर्मराजाध्वरीन्द्र 164 (पा०टि०)

नाडोपाद 206
नारायणकण्ठ 207
निम्बार्क 140 (पा०टि०)
निष्क्रियानन्दनाथ 5

पतंजलि 99 (पा०टि०), 199–200, 205, 209
पंडित, बलजिन्नाथ 125–26, 161 (पा०टि०)
पॉटर 137 (पा०टि०)
पाणिनि 90, 200
पाण्डेय, कान्तिचन्द्र 8, 17, 125–26
प्रद्युम्न भट्ट 5, 11, 60
प्रभाचन्द्र 138 (पा०टि०)

ब्रैडले 140 (पा०टि०)

भट्टनारायण 188, 192
भर्तृहरि 12, 34, 37, 39, 45, 47, 62, 66, 70, 75, 78–79, 132, 149, 168
भानुक 5
भास्कर 5, 58–59, 63 (पा०टि०), 147–48, 155, 175, 178 (पा०टि०), 206, 218 (पा०टि०), 222
भास्करकण्ठ 12, 119, 191, 207
भोजराज 5

मच्छन्दनाथ 8
मदनिका 5
मधुसूदन सरस्वती 183
महानयप्रकाशकार 119
महेश्वरानन्द 2, 5–6, 58, 63 (पा०टि०), 144–45, 204, 215
मिश्र, कमलाकर 160 (पा०टि०), 167

यास्काचार्य 99 (पा०टि०)
योगराज 12

रम्यदेव 5
रामकण्ठ 10–11, 58–60, 63 (पा०टि०), 199–200, 213, 218 (पा०टि०)

लक्ष्मणगुप्त 5

वरदराज 222
वसुगुप्त 10, 58, 201
वाचस्पति 213
विवेककार 229–30, 237
व्यास 200–201

शम्भुनाथ 8, 235
शंकर 125, 182
शर्मा, लक्ष्मीनिधि 125–26
शितिकण्ठ 5
शिवरमन, के० 151
शिवस्तोत्रावलीकार 189
शिवानन्द 4–5
शिवानन्द द्वितीय 5
शिवोपाध्याय 5, 174
श्रीवत्स 5–6
श्रीनाथ 3

सद्योज्योति 12
सम्बन्धपरीक्षाकार 138 (पा०टि०)

सम्बन्धसिद्धिकार 138 (पा०टि०)
सिद्धनाथ 5-6
सुमतिनाथ 8
सुरेश्वराचार्य 139 (पा०टि०)
सेनशर्मा 160 (पा०टि०)
सैण्डर्सन 1, 4
सोमानन्द 5, 45, 55 (पा०टि०), 72, 185, 197 (पा०टि०)
सोमदेव 8
सोमराज 5
स्तवचिन्तामणिकार 190

ह्रस्वनाथ 5
हेमचन्द्र 34

शब्द

अकल्पित 232-33
अकल्पितकल्पक 233
अकिञ्चित्-चिन्तक 228
अकुल 9-10, 107
अक्रम 16, 51, 96, 111, 152, 176
अक्रमतत्त्व; दे० अक्रम
अख्याति 144, 150, 158
अचित् 214
अचित 124
अचिन्त्यभेदाभेद 192
अज्ञान 26-27, 29, 123, 149-51, 154, 158, 167, 172, 176, 225; *और भी* दे० मल, अविद्या, अख्याति, अपूर्णख्याति
अज्ञानशक्ति 105
अणु 15, 105, 224, 234
अद्वय 24, 34-35, 50, 60, 62, 69, 104, 107-10, 117-18, 121, 200-01, 203, 207-08
अद्वयतत्त्व; दे० अद्वय
अद्वयनय; दे० अद्वय
अद्वयवाद; दे० अद्वय
अद्वय संवित् 209
अद्वैत 2-4, 7, 10, 17, 27, 34, 50, 59-61, 66, 69, 96, 108, 120, 124-25, 142, 153-54, 177, 188, 190-92, 201, 223, 228, 231
अद्वैत चेतना/चैतन्य 124
अद्वैततत्त्व; दे० अद्वैत
अद्वैत दृष्टि; दे० अद्वैत
अद्वैत वाद/वादी; दे० अद्वैत
अद्वैतवेदान्त 94, 107, 123, 169; *और भी* दे० वेदान्त
अधिकारिभेद 26, 28
अधिकारिवैचित्र्य; दे० अधिकारिभेद
अध्यवसाय 76, 145, 173, 209, 231
अध्यवसाय शक्ति 76
अध्यास 72, 75-77
अध्वों 238
अनन्योन्मुखता 91, 118, 237
अनाख्या 143
अनाख्याचक्र 7
अनात्मवादी 12
अनाहत 70
अनिवार्य संबंध 137 (पा०टि०)
अनुग्रह 6, 96, 110, 120, 143, 152, 176, 186, 188, 229, 232-33
अनुग्रह कृत्य 150, 187, 233
अनुग्रहशक्ति 29, 106, 190, 222
अनुत्तर 4, 7, 28, 73, 107, 120, 143, 148
अनुत्तर चक्र 235
अनुत्तरत्रिक 3, 13, 224
अनुत्तर योग 204
अनुत्तर षडर्धार्थक्रम 3
अनुत्तरा 107
अनुपलब्धि प्रमाण 156
अनुपाय 176, 193, 203-04, 209-10, 223-25, 230
अनुभव 54, 57 (पा०टि०), 168, 172, 174, 178 (पा०टि०)
अनुभाव 173
  चार विभाग 174
अनुमान 20-22, 137, 168, 173
अनुमिति 21
अनुव्यवसाय 78
अनुसंधान 13-14, 36, 48-49, 54, 57 (पा०टि०), 90-91, 94-95, 135-36, 144, 155, 171-72, 175, 177 (पा०टि०), 185, 227, 238

अनुस्मृति 206
अन्तरंग योगांग 212
अन्तात्मता 96
अन्त:करण 69, 71, 110
अन्त:परामर्श 79
अन्त:प्रत्यय 122
अन्त:प्रवेश 119
अन्त:विस्तार 120
अन्त:संकल्परूपा 71
अन्तर्बहिष्करण-स्वातन्त्र्य; दे० स्वातन्त्र्य
अन्तर्याग 7
अन्यनिरपेक्षता 48, 91, 118-20, 122
अन्योन्याभाव 144-45, 155-56, 163 (पा०टि०), 169
अंशग; दे० सांसिद्धिक
अपकर्षक (प्राणायाम) 211
अपवेद्य सुषुप्त 213
अपरा 3-4
अपरिच्छिन्नप्रकाशता 110
अपरिच्छिन्नप्रकाशसारत्व 90
अपरिच्छिन्न भासन 46
अपरोक्षानुभूति 167, 169
अपान 200, 208-9, 213, 236
अपूर्ण ज्ञान 150
अपूर्णख्याति 142, 150, 158
अपेक्षापारतन्त्र्य 133
अपोह 157
अपोहन 54, 78, 105, 142, 149, 151-54, 158, 162 (पा०टि०), 175
अपोहनशक्ति 23, 105, 152-53, 162 (पा०टि०)
अभाव 36, 135, 154, 156, 163 (पा०टि०) तादात्म्याभाव 163 (पा०टि०); व्यतिरेकाभाव 163 (पा०टि०); संसर्गाभाव 163 (पा०टि०); अन्योन्याभाव 156, 163 (पा०टि०)
अभिन्नयोनिमालिनी 74; *और भी* दे० मालिनी
अभिमर्श 52
अभिलपन/अभिलाप 15, 18, 52, 68-70, 72, 77-79, 168
अभिव्यक्ति 137
अभेद/अभेदन 4, 6, 13, 21, 39, 48, 71, 76, 94, 135, 142, 148-50, 155, 157-58, 159 (पा०टि०), 161 (पा०टि०), 171, 175-77, 185, 203, 224, 231
अभेद, दशा 62; बुद्धि 48
अभेदवादी 142
अभेदोपाय 155
अमृतेश 209
अमृतेशत्व 210
अर्थ 14, 39, 51, 72, 74-79, 155, 168, 173, 177, 228
अर्थक्रिया 14, 37, 103, 109, 170
अर्थक्रिया-कारित्व/कारी; दे० अर्थक्रिया
अर्धत्रैयम्बक 7-8
अर्धनारीश्वर 192
अवभास 38, 162 (पा०टि०)
अवभासन; दे० अवभास
अवमर्श 52, 70
अवयव-अवयवी संबंध 135
अविकल्प 238
अविद्या 38, 50, 149, 151, 154, 188
अव्युत्थान समाधि 209
अशुद्धविद्या 151
अशुद्ध सृष्टि 147-48, 150
अष्टांग प्रक्रिया 210
अष्टांगयोग; दे० योग
अष्टांगयोगी 207
असंप्रज्ञात समाधि 214
अस्मद्दर्शन 13, 29
अहन्ता 119, 123, 173, 175, 209
अहम् 47, 52, 68, 149, 175, 181 (पा०टि०)
अहम्-इदंविमर्श 173
अहंकार 71, 149, 190, 204
अहंचेतना 20, 68
अहंपरामर्श 47, 53, 121, 233, 237
अहं-प्रकाश/प्रकाशन 36, 47, 50, 69
अहंप्रत्यवमर्श 96
अहंबोध 47
अहंभाव; दे० अहम्
अहं-विमर्श 45, 47, 54, 68, 75-76

आकांक्षाराहित्य 119
आकांक्षाशून्य/ता 117, 119, 126
आक्षरी सृष्टि 73
आगम 2-3, 5, 19, 21, 29, 49, 51, 62, 74-75, 168, 199, 237

आगम-तन्त्र परम्परा 102, 107
आगम/आगमिकपरम्परा 59-60
आगम प्रमाण 70, 75
आगमिक धारा; दे० आगमपरम्परा
आगन्तुक संबंध 137 (पा०टि०)
आणव अज्ञान; दे० आणव मल
आणवमल 108, 150, 176, 225
आणव-योग; दे० योग
आणव समाधि; दे० समाधि
आणव समावेश; दे० समावेश
आणवोपाय 108, 155, 176, 204-05, 209, 223-25, 229, 231, 234-35, 237, 239
आत्मप्रत्यभिज्ञा/न; दे० प्रत्यभिज्ञा
आत्मप्रत्य 68, 109
आत्मबल 61, 63
आत्मविमर्शन 50
आत्मविश्रान्ति 91
आत्मशक्ति 105
आत्मसाक्षात्कारात्मक 173
आत्मिकयोग 204
आत्मोच्छलन 143
आदियाग 8-9
आधार, षोडश (सोलह) 208
आनन्द/-मयता,-वाद 7, 9-10, 45-48, 53, 56 (पा०टि०), 60, 69, 90, 93, 103, 110, 115 (पा०टि०), 118-23, 125-26, 187, 189, 191, 193, 224, 230, 236; *और भी* दे० विविध स्तर…
आनन्द चक्र 7
आनन्दतत्त्व 10, 108
आनन्दयोग 10, 203
आनन्दरस 188
आनन्दशक्ति 105, 108, 121, 224
आनन्दात्मता; दे० आनन्द
आन्तराभिलपन/आन्तराभिलाप/आन्तराभिलापात्मक 47, 51-52, 68
आन्तरिक संबंध 131
आन्तरी प्रतिभा 96
आन्तर्य 121, 177 (पा०टि०)
आभास 14, 18, 26-27, 35, 38, 52, 95, 133, 136, 138 (पा०टि०), 146, 152, 171-72, 185
आभासक 111
आभासन 14, 16, 50, 60, 146, 148, 154, 162 (पा०टि०)
आभासन सामर्थ्य; दे० सामर्थ्य
आभासपरकभेदाभेदवाद 138 (पा०टि०)
आभासपरमार्थवस्तुवाद 2
आभास-भेद 152, 159
आभासमानता; दे० आभास
आभासवस्तुवाद 2
आभास-वाद/०वादी 13, 17-18, 46, 139 (पा०टि०)
आमर्श 53, 70, 229
आवरण 149, 151, 154
आवेश 186-87, 225; *और भी* दे० समावेश
आसन 205-6, 209, 211, 218 (पा०टि०)
आस्था बुद्धि 186
आस्वाद(न) 173, 187, 189, 191, 193
आस्वाद्य-आस्वादकभाव सम्बन्ध 136
आह्लाद 137, 189, 191; *और भी* दे० आनन्द

इच्छा 4, 9, 16, 19, 27, 37, 49, 52-53 यत्र-तत्र
इच्छा शक्ति 27, 71, 103, 105, 208, 224
इच्छा-स्वातन्त्र्य 16, 25, 29, 91
इच्छोपाय 224
इतरेतर सम्बन्ध 135
इदन्ता 119, 147, 175, 209
इदन्ताविमर्श 47
इन्द्रिय/इन्द्रियार्थ-सन्निकर्ष 19, 168

ईक्षण 218 (पा०टि०)
ईश्वर 6, 24, 28, 44, 75, 91, 94-95, 104, 108, 148, 151, 192, 228, 230; *और भी* दे० परमेश्वर, महेश्वर, परमशिव
ईश्वर तत्त्व 175
ईश्वरत्व; दे० ईशितृत्व
ईश्वरवाद 23
ईश्वरविज्ञान 44
ईश्वरात्मवाद 23
ईश्वराद्वयनय 17, 20, 23
ईश्वराद्वयवाद 13, 24
ईश्वरैकात्मवाद 23
ईशितृत्व 48, 91, 103-4· *और भी* दे० ऐश्वर्य

उच्चार(ण) 69, 155, 190, 203, 231, 235, 237
चिदात्म 235, प्राणात्म 235
उच्छलत्ता 143
उत्कर्षक (प्राणायाम) 211
उत्पत्ति 137, 237
उत्प्रेक्षा 39, 173, 237
उत्साह शक्ति 143
उदान 208, 236
उद्यम 96, 103
उन्मीलन समाधि 215
उन्मेष 4, 11, 60-62, 69, 96, 106, 121; *और भी* दे० स्पन्द
उन्मेषनिमेषमयी इच्छा 49
उन्मेष शक्ति 106
उपचार सत्ता 79
उपमान 168
उपाय 4, 6, 28, 108, 155, 176, 192-93, 208, 210, 215, 222-31, 233-35, 239
उपाय चतुष्टय 209, 222, 225; *और भी* दे० चतुर्विध उपाय
उपाय परम्परा 4, 108, 222
उपायमण्डल 6, 231, 234
उपाय-योग 204
उपायोपेयभाव 223, 228, 230
उभयमेलन/-आत्मकप्रक्रिया 169, 171-72, 193
उमा 103

ऊर्मि 96
ऊर्ध्वता 9
ऊह 168, 206, 218 (पा०टि०)

एकप्रकाशवाद 2, 18, 22-23, 35, 47
एकरसता 119, 126; *और भी* दे० सामरस्य

ऐश्वर्य 48, 70, 91, 93, 98-99 (पा०टि०), 104, 122-23, 132, 151, 176

ओज 9, 96

औन्मुख्य 11, 59-61, 64 (पा०टि०)
औन्मुख्यभाव; दे० औन्मुख्य
औन्मुख्यवृत्तिता; दे० औन्मुख्य
औन्मुख्यावस्था; दे० औन्मुख्य

कञ्चुक 27; *और भी* दे० पंच कञ्चुक
कन्दभूमि 208
करण 20, 50, 69, 92, 96, 113 (पा०टि०) 155, 237
करणता 50, 69
कर्ता 14, 18, 44, 69, 104, 113 (पा०टि०), 118, 136-37
कर्ता-क्रिया-कर्म 50, 54
कर्तृकर्मभाव/संबंध 13, 15-16, 38, 132, 136-37
कर्तृता 15, 24, 68, 122
कर्तृता-स्वातन्त्र्य 26
कर्तृत्व 51, 69, 108, 118, 121, 123, 125-26, 176, 215
कर्तृत्व शक्ति 105, 108
कर्म 15, 44, 137, 187, 200, 222
कर्मयोगी 200
कर्मानुष्ठान 200
कर्मेन्द्रिय 69, 78
कलन 46, 61, 172, 238
कलनपञ्चक 6; *और भी* दे० कृत्यपञ्चक
कला 73; *और भी* दे० विकल्प
कल्पना 109, 149, 168, 175
पञ्चविध कल्पना (नाम, जाति, गुण, क्रिया, द्रव्य) 168
कल्पनाजन्य प्रत्यभिज्ञा 179 (पा०टि०)
कल्पित अर्चा 232
कवित्वसामर्थ्य 110
कापालिक 8
कारण 15, 20, 109, 135, 137, 148-49, 175
कारणता सम्बन्ध 132
कारणकार्य/कार्यकारण भाव 15, 137, 165, 223
कारणनिबन्धना सिद्धि 18
कार्ममल 108, 151, 223, 225
कार्य 15, 107, 109, 137
काल 136, 149, 172, 175
कालकर्षिणी 54
कालक्रम 163 (पा०टि०)
काल-शक्ति 89, 104-05, 172
कालसंकर्षण 238
कालसंकर्षिणी; दे० कालकर्षिणी

कालाध्व 238
काली 7, 61, 238
काश्मीर शिवाद्वयवाद 1-4, 6, 12-13, 18-27, 34-35, 43-44, 47, 49 यत्र-तत्र
काश्मीर शैवदर्शन; दे० काश्मीर शिवाद्वयवाद
किञ्चिदुच्छूनता 60-61
कुण्ड 235
कुण्डलिनी 10, 202
 नाद० 204; प्राण० 204; बोध० 204
कुण्डलिनी योग 9, 204
कुब्जिका काली 7
कुम्भकवृत्ति 236
कुल 2-4, 7-10
कुलचर्या 8-9
कुलपूजा 9
कुलप्रक्रिया 3, 9, 202, 208
कुल-मत/-सम्प्रदाय 7-9, 57 (पा०टि०), 62, 96, 106-7
कुल-विधि/०साधनाविधि 8-9
कुलेश्वर 7, 10
कुलेश्वरी 7, 10
कैवल्य 122, 126, 167, 201
कौलतत्त्व 7
कौलमत 55 (पा०टि०)
कौलिकी शक्ति 9-10, 57 (पा०टि०), 90, 96, 107
कौलिकी सिद्धि 9
कृत्यपञ्चक 6, 16, 61, 93; *और भी दे०* पञ्च-कृत्य
कृत्रिम योग 205
क्रम 2, 4, 6, 11, 16, 19, 20, 54, 62, 69, 71-72, 74, 97, 106, 111, 153, 157, 172, 176
क्रम-चतुष्टयार्थ 6, 144, 152; ०पंचार्थ 6; *और भी दे०* चतुष्टयार्थ क्रम
क्रमदर्शन; दे० क्रम सम्प्रदाय
क्रमनय; दे० क्रम सम्प्रदाय
क्रम मत; दे० क्रम सम्प्रदाय
क्रम मुक्ति 6
क्रममुद्रा 215
क्रम सम्प्रदाय 2-6, 10, 60, 62. 152; *और भी दे०* क्रम
क्रिया 4, 15, 19, 20, 25-27, 37, 45, 49, 50, 54 यत्र-तत्र
क्रिया-कारक संबंध 135
क्रियाशक्ति 15, 20, 49, 71, 73, 96, 105-6, 108, 113 (पा०टि०), 163 (पा०टि०), 171, 208, 224
क्रियात्मिका शक्ति 62, 162 (पा०टि०)
क्रियासामर्थ्य 48-49, 104, 107, 214
क्रियासामान्य 49
क्रियोपाय 223

क्षणवाद 139 (पा०टि०)
क्षणिकवादी 14
क्षुब्ध 120
क्षोभ 144

खेचरी 7, 208
खेचरी शक्ति 57 (पा०टि०), 105

गतिपरक/-मत्ता/-मयता/-शीलता/-मान 2, 11, 13-14, 19, 25, 46, 53, 58, 60-61, 63, 94, 101, 106
गतिमान् 94
गतिविच्छेद 211
गतिसामर्थ्य 61, 92, 103, 106
गत्यात्मकता 49, 67
गुण 163 (पा०टि०)
गुण-गुणिभाव 96
गुरु 229, 232-33, 237
 सद्० 206; अकल्पित० 232
गुरुवक्त्रपरम्परा 8
गुर्वाम्नाय 8
गोचरी शक्ति 105
गौडीय वैष्णव 193
ग्राहकग्राह्य/ग्राह्यग्राहक/०भाव 70, 105, 121, 124-25, 174

चक्र/चक्रात्मक 6-7, 208, 235
 अनाख्या० 7; अनुत्तर० 235; अष्टार० 235; असंख्यारसहस्र० 235; आनन्द० 7; चतुरार० 235; चतुष्षष्टिशतार० 235; पञ्चार० 235; पञ्चाशदर० 235; प्रकाश ० 7; भासा० 7; मूर्ति० 7; वृन्द० 7; षट्० 208; षडर० 235; सहस्रार० 235; संवित्० 235; संहार० 7; सृष्टि० 7; स्थिति० 7
चक्रप्रणिधान 204

चक्रेशत्व 103
चक्रेश्वर 6
चतुर्विध उपाय 155, 176, 210
चतुर्विध योग 203, 210
चतुष्टयार्थ क्रम 6, 144
चमत्कार-आत्मक-/आत्मकता 45-46, 52, 93, 107, 173, 189, 191-93, 214, 237
चरम कर्तृत्व 215
चर्या/क्रम 3, 199
चर्यात्मक अनुष्ठान 236
चार्वाक 177 (पा०टि०)
चित्/चिति 44-45, 49-50, 53, 103, 106-07, 107, 121-26, 154, 192, 214-15, 224, 235, 237
चित्तत्त्व 36, 53, 90, 95, 209
चित्प्रमातृता 201
चित्स्वरूप 190
चित्-/चिति-/चिद्रूपा शक्ति 20, 61, 154, 163 (पा०टि०), 214, 234
चित्-क्रिया 96
चित्त 183, 185, 193, 204-05, 212-13, 231, 234
 विशुद्ध० 124; व्युत्थित० 214; शुद्ध० 124; समाहित० 214
चित्तनिरोध 211
चित्तप्रलय 204
चित्तभेद 212
 तत्त्वज्ञानमय 212; वैषयिक 212
चित्तविश्रान्ति 204
चित्तवृत्ति 206, 239
चित्तवृत्ति-निरोध 200-201
चित्तवृत्ति-संस्कार 201
चित्तसंबोध 204
चिदद्वैत 38
चिदात्मा उच्चार 235
 चित्प्रधान० 235; विमर्शप्रधान० 235
चिदानन्द 189, 224, 236
चिदानन्दलाभ 191, 223
चिदानन्दरूपता 192
चिदैकात्म्य/चिदात्मैक्य 185, 237
चिद्भाव 204
चिद्भूमि 203
चिद्रूपता/-प्रकाशन 154, 202
चिद्रूप-व्यवस्था 39
चिद्वृत्ति 204
चेतन 14-16, 23, 38, 45-46, 67, 69, 95, 133, 137
चेतना 2, 7, 14, 16, 34, 44, 53, 60-61, 63, 66-68, 78, 109, 123-25, 165, 204, 214, 234, 238; *और भी दे०* चित्
चैतन्य 15, 34, 43-45, 49-50, 62, 79, 106, 109, 122; *और भी दे०* चित्

छन्दन 45-46
छुम्मा 9
छुम्मक विधि 208

जगत्-प्रसार/जागतिक प्रसार 46, 49-50, 104
जगत्-विकास 53
जगत्-संहार/जागतिकसंहार 50, 53
जगदानन्द 10, 189, 192, 203, 236
जडाभास 147
जडब्रह्मवाद 2, 23, 25-26
जडविवर्तवाद 26
जन्माधार 208
जन्य-जनकसंबंध 135
जप 208, 213, 233-34, 238
जागतिक प्रमाता; दे० प्रमाता
जाग्रत् 11, 62, 190, 213
जाति 17, 136, 157; *और भी दे०* सामान्य
जालन्धर (पीठ) 7
जीवन शक्ति 236
जीवाभास 147
जीवन्मुक्ति 191, 204, 230, 234
जैन मत 140 (पा०टि०)

ज्ञाता 43, 50, 54, 118, 124, 137, 174, 188-89, 225; *और भी दे०* ग्राहक, प्रमाता
ज्ञातृता 11, 24
ज्ञातृत्व 121-23, 125-26, 136, 176
ज्ञातृत्व शक्ति 108, 122
ज्ञान/ज्ञानात्मक 4, 13, 15-22, 24-26 यत्र-तत्र
ज्ञानक्रिया/-मय/-मयता 2, 23-24, 44
ज्ञानक्रियासामर्थ्य, 48-49, 111, 215, 226
ज्ञानक्रिया स्वातन्त्र्य 188, 226
ज्ञानचतुष्क 225; *और भी दे०* उपायचतुष्टय

ज्ञानमार्ग 182, 192
ज्ञान/ज्ञानात्मिका शक्ति 28, 49, 71-72, 96, 104-5, 152, 162 (पा०टि०), 171, 208, 211
ज्ञानेन्द्रिय 69, 78
ज्ञेय 43, 54, 124-25, 152, 188, 222, 225, 228; *और भी दे०* प्रमेय

तत्त्व 24, 109, 146-49, 204, 222-23, 229
छत्तीस (षट्त्रिंश) 104, 109, 111, 146-47, 151
तत्त्वविकास 105, 109
तत्त्वसर्ग 203
तत्त्व-सृष्टि 148
तन्त्र 1, 3, 102, 192, 206, 211; *और भी दे०* आगम
बौद्ध० 206; वैष्णव० 206; शैव० 206
तन्त्र-प्रक्रिया 3, 7, 9, 192, 202
तन्त्रयोग 205-7, 211
तर्क 28, 205-7, 212, 218 (पा०टि०), 232; *और भी दे०* सत्तर्क
तांत्रिक धारा/पद्धति/परम्परा/संस्कृति 1, 3, 7-8, 12, 193, 199
तांत्रिक शिवाद्वयवाद 10
तिरोधान 96, 102, 143, 151-54, 158, 162 (पा०टि०), 222; *और भी दे०* अनाख्या, अपोहन
तिरोभाव 95-96
तुर्य 176
त्रिक/-दर्शन/-धारा/-मार्ग/-शासन/-शास्त्र 2-4, 7, 172, 206, 213-14, 224
त्रिक-प्रक्रिया 4, 9
त्रिक योग 203-207, 210, 214-15; *और भी दे०* अनुत्तर योग
त्रिविध योग 203, 209-10

दक्षिण पीठ 8
दास्य भाव 191-92
दिक् 136, 149, 172
दिक्चरी 7; शक्ति 105
दीक्षा 6, 155, 176, 187-88, 192, 227, 228, 232
ज्ञानमयी शिवदीक्षा 215; योग० 214-15; शिव०(शांकरी०) 214; सद्यो० 221 (पा०टि०)
देव 93, 99 (पा०टि०), 103
देवी 1, 3, 94, 102
देह 7, 9, 28, 192, 234, 237-38
स्थूल 7; सूक्ष्म 7; परम 7

दैशिक 229; *और भी दे०* गुरु
द्योतन 99 (पा०टि०)
द्रव्य 136, 149, 151, 163 (पा०टि०), 172
द्वादशान्त 208, 211-12, 236
द्वैत 25, 34, 73, 94, 123, 146, 176, 183, 190, 192, 222, 224, 231-32
द्वैताद्वैत 3-4, 94, 224; *और भी दे०* भेदाभेद

धर्मधर्मी-भाव/संबंध 96, 122
धर्मिप्रत्यभिज्ञान 181 (पा०टि०)
धारणा 28, 204-6, 209, 211-13
तत्त्वज्ञानमयी 212; वैषयिक 212
धारणाचतुष्टय 212
आग्नेयी 212; पार्थिव 212; वायवी 212; वारुणी 212; अमृता 212; अम्बी 212; ईशानी 212; शिखी 212
ध्यान 28, 155, 169, 186-87, 190, 209, 211-13, 233-35, 238
पर 209; सूक्ष्म 209; स्थूल 209

नर 4
नाड़ी 208, 238
नाद 237
नादकुण्डलिनी 204
निजानन्द 203, 236
नित्यानित्यवस्तुविवेक 123
नित्योदित समाधि; दे० समाधि
निम्बार्क सम्प्रदाय 177 (पा०टि०)
निमीलन समाधि; दे० समाधि
निमीलनोन्मीलन समाधि; दे० समाधि
निमेष 11, 60-62, 106; *और भी दे०* स्पन्द
नियम 97, 205-6, 208, 218 (पा०टि०), 225
नियति 14, 16, 90, 172
नियति शक्ति 26, 90, 109, 134
निरानन्द 236
निरोध 62, 213, 215
निर्गुण 185
निर्बीज समाधि; दे० समाधि
निर्वाण 122, 125
निर्वृतचित् 45, 55 (पा०टि०), 104, 107, 197 (पा०टि०)
निर्विकल्प/क/ता/रूपता 18, 59, 148, 169-70, 175, 204, 229, 233

निर्विकल्प आभास 133
निर्विकल्प/क ज्ञान 18-19, 38, 57 (पा०टि०), 79, 170, 172, 175
निर्विकल्प प्रत्यभिज्ञा 174-75
निर्विकल्प बोध 169, 231, 233
निर्विकल्पक समाधि; दे० समाधि
निर्विकल्प स्मृति 170
निर्विकल्पक समावेश 230
निर्व्युत्थान समाधि; दे० समाधि
निषेध 125, 149, 152-153, 223
निषेधव्यापाररूप 106
नैयायिक 15, 17, 139 (पा०टि०), 155, 169
न्याय/-दर्शन 14, 21, 146, 155, 163 (पा०टि०), 168-69, 178-79 (पा०टि०)
न्याय-वैशेषिक 130, 138, 139 (पा०टि०), 154

पदार्थमीमांसा 20, 29
परतत्त्व; दे० परम सत्
परप्रकाशक; दे० प्रकाश
परप्रकाशन; दे० प्रकाश
पर-योग 209
परवैराग्य 205, 213
परम कौलतत्त्व 7, 9-10
परम ज्ञान 223
परम/परतत्त्व; दे० परम सत्
परम प्रमाता; दे० प्रमाता
परम प्रमातृता 208
परममहापश्यन्ती 73; दे० वाक्
परमयोगी 215
परमशिव 6, 17, 23-26, 45, 66, 105, 108, 118-19, 131, 147-48, 175, 208, 215; *और भी* दे० महेश्वर, परमेश्वर
परमसत् 6, 11-13, 34, 37, 43-53 यत्र-तत्र
परमसत्ता 117
परमात्मा 49, 200
परमाद्वय 43-44
परमाद्वैत तत्त्व 104
परमार्थ/ता 37, 79
परमार्थ-मीमांसा 2, 18, 20, 23-24, 27, 29, 49
परमार्थ सत्; दे० परमसत्
परमा शक्ति; दे० शक्ति
परमेश्वर 14, 16-17, 23, 25-26, 29, 44, 51, 62, 70 यत्र-तत्र
परमेश्वरी 11, 60
परा 3-4, 70-72, 103
पराद्वयदर्शन 28, 43-44
पराद्वैत; दे० परमाद्वय
परमाद्वैतवाद 43-44
परानन्द 236
परापेक्षा 132, 139 (पा०टि०)
परा प्रत्यभिज्ञा; दे० प्रत्यभिज्ञा
परामर्श 53, 70, 73, 75-77, 79, 134, 176, 185, 187, 228-30; *और भी* दे० प्रत्यवमर्श
पर/पराशक्ति 10, 61, 106, 208, 238
पर/परा सिद्धि 103, 188
परिमित सिद्धि 103
पशु 54, 90, 109, 148, 174
पशुत्व; दे० पशु
पशु प्रमाता; दे० प्रमाता
पशुभाव 176
पश्यन्ती 29, 51, 62, 70-73, 77-78, 173; *और भी* दे० वाक्
पश्यन्ती तत्त्व 78
पंच-कञ्चुक 149-50
पंचकृत्य 79, 93, 96, 152, 162 (पा०टि०)
पंचभूत 28, 211
पंचविधकृत्य; दे० कृत्यपञ्चक
पंचशक्ति 103, 105, 113 (पा०टि०); *और भी* दे० शक्तिपंचक
पंचार्थ 6
पातंजल योग; दे० योग
पातंजल अष्टांग योग; दे० योग
पारतन्त्र्य 93, 132-33, 138 (पा०टि०), 223
पारमेश्वरशास्त्र 23
पारमेश्वरी शक्ति 238
पारमैश्वर्य 227
पाँच, मुख 108; शास्त्र 108; स्रोत 108
पीठ 7, 9
पुरुष 19, 22, 28, 73, 92, 125, 167, 214
पूजन/पूजा/-विधि 187, 189-94
पूरक 209, 211, 236
पूर्ण 2, 27, 29, 48, 92-94, 117-21, 125-26, 231, 236-38
पूर्ण तत्त्व; दे० पूर्ण
पूर्णाद्वैत 2

पूर्णाहन्ता 189, 229
पौरुष अज्ञान 150-51, 162 (पा०टि०), 176; *और भी* दे० आणवमल
पृथ्वी तत्त्व 73, 149
प्रकाश/न 2, 13, 15, 21-26, 34-40 यत्र-तत्र
प्रकाशविमर्श/०मय 2, 16, 21, 23-26, 34, 37, 44-45, 48-49, 55, 66, 79, 90, 92, 107, 120-21, 154, 175
प्रकाशविमर्शात्मा; दे० प्रकाशविमर्श
प्रकाशन शक्ति 39
प्रकाश-स्वातन्त्र्य 35, 37-38
प्रकाशन-सामर्थ्य; दे० सामर्थ्य
प्रकाशमानता; दे० प्रकाश
प्रकाशात्मता; दे० प्रकाश
प्रकृति 13, 22, 34, 131, 167, 214
प्रज्ञा 167, 205
प्रतिबिम्ब 34-35, 79
प्रतिबिम्बन 22, 34-36, 228
प्रतिबिम्बनसहिष्णुता 13, 37
प्रतिबिम्बन-सामर्थ्य 13, 40 (पा०टि०), 92
प्रतिभा 36, 51-52, 70, 74-75, 106, 153
प्रतीकोपासना 182
प्रतीत्यसमुत्पाद 13, 139 (पा०टि०)
प्रत्यक्ष 19-21, 145, 156, 168-69, 173, 178 (पा०टि०)
प्रत्यक्षात्मवाद 23
प्रत्यभिज्ञा/प्रत्यभिज्ञान 13, 27, 29, 34, 62, 96-97, 104, 131-32, 136, 143, 155, 165-77, 179-81 (पा०टि०), 192, 226; भेद/प्रकार, (अनुभवांश व स्मृत्यंश की प्रधानता के आधार पर) 174; (तत्त्वमीमांसा की दृष्टि से) 174; (प्रवर्तन की दृष्टि से) 174
प्रत्यभिज्ञाग्रन्थ 215
प्रत्यभिज्ञादर्शन 2-3, 10, 13, 27, 45, 52, 57 (पा०टि०), 59-60, 62, 96, 107, 150, 154-55, 158, 178 (पा०टि०), 226
प्रत्यभिज्ञा शास्त्र; दे० प्रत्यभिज्ञादर्शन
प्रत्यभिज्ञा सम्प्रदाय; दे० प्रत्यभिज्ञादर्शन
प्रत्यवमर्श 13, 50, 52-53, 62-63, 67-68, 70, 77-79, 173, 175
शुद्ध 175; सूक्ष्म 79
प्रत्यवमर्शन; दे० प्रत्यवमर्श
प्रत्याहार 204-6, 209, 212
प्रथम नाद 71
प्रथम सामर्थ्य 68
प्रभाकर मीमांसक 131
प्रभाकर सम्प्रदाय 164 (पा०टि०)
प्रमा 21, 39
प्रमाण 7, 14, 15, 19-21, 24, 39, 54, 75, 77, 168-69, 172
प्रमाण पद 150
प्रमाता 7, 13-16, 18-23, 26-29, 36-37, 44, 47 यत्र-तत्र
देह० 175, 235; परम० 69, 159 (पा०टि०), 174; प्रलयाकल० 151; प्राण० 235; बुद्धि० 235; मन्त्रमहेश्वर० 148; माया०/मायीय० 55, 134, 147, 159 (पा०टि०); विज्ञानाकल० 148, 151; विद्येश्वर० 147-48, शिव० 148; सकल० 151; सदाशिव० 147; संसारी० 62, सीमित० 77
प्रमातृता; दे० प्रमाता
प्रमातृप्रकाश; दे० प्रकाश
प्रमातृ प्रमेय वर्ग 52
प्रमातृत्व 94
प्रमातृस्वातन्त्र्य 105
प्रमात्रवस्था 11, 62
प्रमेय 7, 14-16, 18, 19, 21-25, 47, 54, 69, 78, 95, 104, 148, 150, 173-75, 236
प्रमेयप्रकाश; दे० प्रकाश
प्रशान्तकुम्भक 211
प्रसार 73, 103, 106, 109, 143-44, 157
असंकुचित प्रसार 144; संकुचित प्रसार 144
प्रसिद्धि 51, 74
प्रह्वता 186-87
प्रह्वीभाव; दे० प्रह्वता
प्राण 39, 77, 105-6, 155, 189, 200, 211, 235-38
प्राणक्रिया 72
प्राणकुण्डलिनी 204
प्राणतत्त्व-समुच्चार 235
प्राणपथ 9
प्राणप्रमाता 235
प्राण वायु 66, 213, 236
प्राणवृत्ति 211, 236, 238
प्राण शक्ति 66, 105, 238

प्राणायाम 28, 204-6, 211-12, 219 (पा०टि०)
अपकर्षक० 211; आचमन० 209; कुम्भक० 211; कुम्भन० 211; पूरक० 209, 211, 236; पूरण० 211; प्रशान्तकुम्भक० 211; रेचक० 209, 211; रेचन० 211; सुप्रशान्त० 211
प्राणात्मना० 235; चिदात्मना० 235

बन्ध 55, 62, 106, 228
बन्धन ~~150,~~ 158, 187
बहुत्ववाद 94
बाह्यताभास; दे० आभास
बिन्दु 203
बिम्बात्मिका सृष्टि 73
बीज 54, 56 (पा०टि०), 73-74
सृष्टि बीज 237; संहार बीज 237
बीज मन्त्र 237-38; *और भी दे०* मन्त्र
बुद्धि 51, 78, 149, 171, 187, 205, 224, 231, 235
बोध 38, 48, 50, 77, 121, 126, 187, 189, 193, 231
बोध कुण्डलिनी 204; *और भी दे०* कुण्डलिनी
बौद्ध 1, 12-15, 21-22, 34, 122-25, 131-33, 139 (पा०टि०), 157, 169, 200
०तंत्र 206; ०नैयायिक 137; माध्यमिक० 146; योगाचार 125; विज्ञानवाद/-वादी 12, 18, 34, 124-25, 139 (पा०टि०), 146; वैभाषिक 146; शून्यवादी/शून्यतावादी 123, 146; सौत्रान्तिक 146
ब्रह्म 107, 123, 167, 182-83
ब्रह्मविवर्तवाद 26
ब्रह्मानन्द 192, 236
ब्रह्मानुभूति 191

भक्त 184, 187-93
अर्थार्थी 184; आर्त 184; जिज्ञासु 184; ज्ञानी 184
भक्ति 182-94
अकृत्रिम० 191; अद्वैत० 190; अपरा० 187-88, 190; कृत्रिम० 191; ग्यारह प्रकार (*नारदीय सूत्र* के अनुसार) 183; दास्य० 188, 191, 193; द्वैत 191; नौ प्रकार (*भागवतपुराण* के अनुसार) 184; परा० 190, 192; पल्लव, कुसुम, फल 191; माधुर्य० 192; रुद्र० 185; शक्तिपातैकलक्षण० 188; शान्त० 193; सगुण 182, 185; समावेशमयी 190, 193; साधनरूप० 192; सेव्यसेवकभाव० 121
भक्तिमार्ग 182, 191, 194 (पा०टि०)
भक्तिसिद्धान्त 182
भवत्ता 47, 79; *और भी दे०* सत्ता
भाट्ट मीमांसक 155
भावना 122, 182, 194 (पा०टि०), 204-5, 228, 232-33, 236
भुक्ति; दे० भोग
भूचरी 7, 105
भेद 4, 6, 35, 50, 52, 71-72, 76, 135, 142-58, 161 (पा०टि०), 163 (पा०टि०)
भेदन 48, 94, 152-53
भेदाभेद 4, 148-49, 171, 174-76, 203, 224; *और भी दे०* द्वैताद्वैत
भेदाभेद, दशा 62; बुद्धि 48
भेदाभेद-व्यवस्था 50
भेदाभेदवाद सम्बन्ध; दे० सम्बन्ध
भेदाभेदवाद 138 (पा०टि०), 140 (पा०टि०), 157
भेदाभेदात्मक; दे० भेदाभेद
भेदाभेदोपाय 155, 231
भैरव 8, 10, 103, 231
भैरवतन्त्र 55 (पा०टि०)
भैरवभूमि 203
भैरवसमापत्ति 185
भैरवीभाव 230
भैरवीमुद्रा 215, 236
भोग 117-18, 173, 188, 204
भ्रान्ति 56 (पा०टि०), 145, 149-50, 154, 172

मठिका 3, 7
अर्ध-त्रैयम्बक 3, 7; आमर्दक 3; त्रैयम्बक 3; श्रीनाथ 3
मण्डल 235, 238
मध्यनाड़ी 238
मध्यमा 51, 71-73; *और भी दे०* वाक्
मन 71, 149, 156, 184
मन्त्र 53, 66, 187, 207-9, 215, 229, 234, 237
मन्त्रवीर्य 208, 232
मल 27, 149-51, 154, 176
महार्थक्रम 4
महाद्वैत/०वादी 27, 121
महानन्द 236
महापश्यन्ती 73; *और भी दे०* वाक्

महाभूत 149
महाभ्रान्ति 150, 158
महामाया 148, 151
महायोग 215
महाविद्या 188
महाव्याप्ति 236
महासत्त्व 37, 48, 131
महासत्ता; दे० महासत्त्व
महासंबंध 171
महासिद्धि 188
महासृष्टि 73
महासंवित् 223
महेश्वर 16, 18, 20–21, 24, 28, 44, 51, 93, 103, 107, 110, 120, 176, 186; *और भी* दे० परमशिव, परम सत्
महेश्वरदास्यभाव 186
महेश्वरी 103
मातृका 10, 53, 71, 74, 105
मातृकुल 8
मातृकाक्रम 74
मातृकाशक्ति 105
माधुर्यभाव 192; *और भी* दे० भक्ति
माध्व सम्प्रदाय 177 (पा०टि०)
मानसिक योग 204
माया 25, 27, 47, 71, 73, 92–94, 123, 125, 142, 144, 148–52, 154, 158–59 (पा०टि०), 162 (पा०टि०), 164 (पा०टि०), 188–89
  अपरामाया 161 (पा०टि०)
मायातत्त्व; दे० माया
मायाशक्ति 47, 94, 105, 107, 150–52, 161 (पा०टि०)
  अपरा मायाशक्ति 151; परा मायाशक्ति 151
मायीय प्रकाश; दे० प्रकाश
मायीय प्रमाता; दे० प्रमाता
मायीयमल 108, 151, 223, 225
मायीय वर्ण 237
मालिनी/-शक्ति 10, 53–54, 71, 105
  अभिन्नयोनिमालिनी 74; भिन्नयोनिमालिनी 74
मुक्ति; दे० मोक्ष
मुद्रा 187, 208, 229, 234
मूर्तिचक्र 7
मूर्तिवैचित्र्य 14
मृत्युंजय-/मृत्युजित् भट्टारक 208–9
मोक्ष 27–29, 36, 55, 62, 96–97, 110, 117–18, 122, 142, 158, 187–90, 222–23, 228

यन्त्र 208
यम 205–6, 210, 218 (पा०टि०)
याग 234, 238
यामल 9, 107, 110, 119, 121, 155
योग 3, 6, 28, 60, 131, 146, 182, 185, 190, 199, 215, 218 (पा०टि०)
  अकृत्रिम० 205; अनुत्तर० 204; अष्टांग० 205, 207, 209–10; आत्मिक० 204; आणव० 202–4; उपाय० 204; कुंडलिनी० 9, 204; कृत्रिम० 205; चतुर्विध० 203, 209–10; तंत्र० 206–07; त्रिक० 204–07, 210, 215; त्रिविध० 209; निर्बीज० 214; पर० 208–10, 214; पातंजल अष्टांग० 208–09; पातंजल० 199, 201–02, 204–06, 210–12, 214–15; महा० 215; मानसिक० 204; मित० 215; राज० 202; शक्ति० 204–5; शाक्त० 202–5; शारीरिक० 204; शांकर० 214, 232; शांभव० 202–4; शैव० 205; षडंग० 28, 202, 205–7, 210, 218 (पा०टि०); सबीज० 214–15; सविकल्प० 214; सूक्ष्म 205, 207–10; स्थूल० 205, 207, 209–10; हठ० 202, 211
योगचतुष्टय 209
योगदर्शन 232
योगदीक्षा 215
योगनिष्ठा 185
योगप्रक्रिया 10, 215
योगमार्ग 182
योगविधि 10
योगांग 206, 213, 232
योगिनी 8
योगिनीवक्त्रपरम्परा 8
योगिनीशक्ति 208
योगी 15, 20, 199, 203, 207–9, 213–15, 232, 236
योनि 54, 73–74

रजस् गुण 105
रस 173–74, 192

रसना 173; व्यापार 136; सम्बन्ध 137
रसात्मक अनुभूति/बोध 97, 192-93
रसानुभूति 118, 173
रसास्वाद/न 173
रहस्य विधि 8-9
राग तत्त्व 73
राजयोग 202
रुद्र 89, 110
रुद्रभक्ति 185
रुद्रशक्ति 189
रेचक 209, 211, 236
रेचन 209

लकुलीश पाशुपत सम्प्रदाय 200
लय 13, 16, 24, 173
लिङ्ग 62, 93, 238
लिङ्गपूजा 234

वर्ण 53, 73-74, 78, 203, 229, 235, 237
वाक् 11, 50-52, 66-73, 75, 79, 173, 187, 228
वाक्-तत्त्व; दे० वाक्
वाक्-दर्शन 168
वाक्-मीमांसा (शैव) 51, 70
वाक्-सृष्टि 39, 52, 105
वागीन्द्रिय 77
वाचक; दे० वाचकवाच्य
वाच्य; दे० वाचकवाच्य
वाचकवाच्य 4, 10, 51, 71-72, 75-77, 79, 103, 168-69
वाच्यवाचकभाव; दे० वाचकवाच्य
वासना 22, 50, 173
विकल्प 6, 11, 15, 39, 62, 68, 72-73, 75, 77, 79, 108, 120, 123, 130, 152-54, 162 (पा०टि०), 164 (पा०टि०), 168-71, 204, 225, 228, 231-34, 238
विकल्पात्मक; दे० विकल्प
विकल्पीकरण; दे० विकल्प
विज्ञानवाद/वादी 12, 19, 25, 34, 124, 146; *और भी* दे० बौद्ध
विद्या 71, 73, 151, 188
विमर्श स्वातन्त्र्य 54, 91
विमर्शन/शक्ति 13, 39, 44-47, 71, 78 यत्र-तत्र
विमर्श/न-सामर्थ्य 92, 135
विमोहन व्यापार 148
वियोजन 13-14, 48-49, 90-91, 94-95, 111, 135-36
विवर्त 79, 136
विवर्तवाद 13, 138 (पा०टि०)
 जड० 26; ब्रह्म० 26
विविध स्तर, आनन्द के 10, 236-37
 चिदानन्द 236; जगदानन्द 10, 192, 236; निजानन्द 236; निरानन्द 236; परानन्द 236; ब्रह्मानन्द 236; महानन्द 236
विवेकख्याति 167
विशिष्ट सत्त्व 48
विशिष्टाद्वैत/वादी 146, 157, 164 (पा०टि०), 169
विशेषणविशेष्यभाव संबंध 76
विश्वप्रकाशात्मा 74
विश्वमय 16-17, 24-27, 56 (पा०टि०), 95, 109-10, 117, 121, 235
विश्वमयता 105, 117, 125-26, 192, 235
विश्वविमर्शात्मा 74
विश्वसंघट्ट 103
विश्वोत्तीर्ण 16-17, 25, 27, 46, 56 (पा०टि०), 95, 109-10, 117, 121, 125, 192
विसर्ग 10, 62, 90, 96, 106, 111, 236
वीक्षण 207, 218 (पा०टि०)
वीर्य 9
वेदान्त (अद्वैत)/वेदान्ती 2, 12-13, 25, 34, 60, 122-25, 139 (पा०टि०), 146, 156, 164 (पा०टि०), 166-67, 169
 निम्बार्क० 140 (पा०टि०), 177 (पा०टि०); भास्कर० 140 (पा०टि०); रामानुज० 140 (पा०टि०); शांकर० 157
वैखरी 29, 62, 72, 74-75
वैयाकरण 78, 136
वैशेषिक 22, 146, 155-57; *और भी* दे० न्यायवैशेषिक
वैष्णव सम्प्रदाय 188
वृत्तिरोध 201; *और भी* दे० चित्तवृत्ति-निरोध
व्यक्ताव्यक्त 62
व्यवस्था 13, 38-39, 131, 134
 चिद्रूप० 39; भावाभाव० 38, 50, 154; भेदाभेद० 50, 154; वस्तु० 39; विषय० 38; स्वरूप० 39

व्याकरण शास्त्र 142
व्याकरण सम्प्रदाय 107
व्यान 235-36
व्यापकता/व्यापकत्व 117-19
व्याप्ति 21, 137
व्योम-वामेश्वरी 7
व्रत 185, 233-34

शक्ति 1, 4, 6, 9-10, 13-16, 20, 24-25, 29, 39, 44, 50, 53 यत्र-तत्र
अज्ञान० 105; अध्यवसाय० 76; अनुग्रह० 105; अपरा माया० 151; अपोहन० 105; आत्म० 105; आनन्द० 105, 108, 121, 224; आवरण 149; इच्छा० 15, 27, 71, 103, 105-6, 163 (पा०टि०), 208, 224; उत्साह० 143; उन्मेष० 106; कर्तृत्व० 105, 108, 122; क्रिया०/क्रियात्मिका० 15, 20, 26-27, 29, 49, 62, 71, 73, 96, 104-8, 113 (पा०टि०), 163 (पा०टि०), 171, 208, 223-24; कौलिकी० 9-10, 57 (पा०टि०), 90, 96, 107; खेचरी० 105; गोचरी० 105; चित्० 105, चिति० 61, 208; जीवन० 236; ज्ञातृत्व० 108, 122; ज्ञान० 27, 29, 49, 71, 96, 104-5, 107, 152, 162 (पा०टि०), 171, 208, 211; तर्क० 205; तिरोधान० 105, 151-52, 162 (पा०टि०); दिक्चरी० 105; देह 105; निमेष० 106; नियति० 14, 17, 26, 90, 109, 134; उपरा माया० 151; परा० 10, 61, 106; पंच० 103, 105, 107-8, 113 (पा०टि०); पारमेश्वरी० 238; प्रकाश० 39; प्रभु० 105; प्राण० 66, 105, 208; भूचरी० 105; मन:० 105; मन्त्र० 143; मातृका० 105-6; माया० 47, 95, 105, 151-52; मालिनी० 105; रुद्र० 189; विद्या 105; विमर्श० 39, 108, 155; विक्षेप० 149; विसर्ग० 10, 96; समवायिनी० 96; सृष्टि० 105; संहार० 105; स्थिति० 105; स्मृति० 105, स्पन्द० 11, 59-60; स्वातन्त्र्य० 90-92, 96, 105, 108, 113 (पा०टि०), 122, 151-52, 161 (पा०टि०)
शक्तिपात 6, 97, 105, 108, 110, 155, 176, 186-89, 191-92, 205, 223-24, 226-27, 239
अपर० 188; तीव्र० 9, 110, 229; तीव्रतीव्र० 227-29; पर० 188; मध्य० 110; मन्द० 110
शक्तिपंचक 118
शक्ति-शक्तिमान् 44, 50, 61, 96, 104, 108, 110, 120, 154
शब्द 13, 50, 53, 67-78, 155, 168, 173, 228
शब्द प्रमाण 21, 173
शब्दब्रह्म 107
शब्दब्रह्मवादी 52, 72
शब्द-भावना 18, 79
शब्दराशि 10, 66, 74
शब्द-विमर्श/विमर्शन 75
शब्द शक्ति 106
शब्दाद्वयवाद/शब्दाद्वैत 12, 62, 66, 132, 136
शब्दार्थ/शब्द-अर्थ 78, 154, 228
शब्दार्थमयता 79
शाक्त, तत्त्व 11, 60; दृष्टि 7, 58, 103; धारा/परम्परा 7, 10; बल 211
शाक्त समाधि; दे० समाधि
शाक्ताद्वय-वाद/वादी 58, 61, 104
शाक्तोपाय 4, 6, 9, 108, 155, 176, 203, 208-9, 223-25, 231, 234, 239
शांकर योग; दे० योग
शान्त भक्ति 193
शान्तभाव 192-93, 225
शान्तरस 192, 197 (पा०टि०)
शांभव योग; दे० योग
शांभव समाधि; दे० समाधि
शांभव समावेश; दे० समावेश
शांभवोपाय 9, 108, 155, 176, 203, 209, 215, 223-25, 227-31, 234, 239
शिव 1, 4, 13, 17-18, 20, 24-26, 29, 38, 44, 46, 53-54, 62, 72 यत्र-तत्र
शिवदीक्षा (शांकरी दीक्षा); दे० दीक्षा
शिवपद 39
शिव प्रमाता 54, 147-48
शिवभाव 176
शिवशक्ति 192
शिवाद्वयदर्शन 21
शिवाद्वयनय 20
शिवाद्वय योग 201
शिवाद्वयवाद; दे० काश्मीर शिवाद्वयवाद
शिवाद्वयवादी दृष्टि; दे० काश्मीर शिवाद्वयवाद
शिवैकात्म्य 190-91

शुद्धविद्या/शुद्धा विद्या 151, 175, 201, 205, 209, 232-34
शुद्ध सृष्टि 147-48, 150-51
शून्य 39, 124-25
शून्यता 121-22
शैव दृष्टि 103; धारा 102; सिद्धान्त 12
शैव-शाक्त 122
शैवागम 143-44
शृंगाररस 192
श्रद्धा 187, 193, 205

षट्त्रिंशत्तत्व; दे० तत्त्व
षडर्धशास्त्र 2
षडध्व 238

सकल प्रमाता; दे० प्रमाता
सक्रमा क्रिया; दे० क्रिया
सगुणोपासना 182
सच्चिदानन्द 123
सत् 2, 6, 12, 14, 16-18, 26, 34, 37-38, 47, 49, 54, 60, 62, 66-67, 75, 109, 121-22, 125-26, 132
सत्तर्क 29, 207, 215, 233
सत्ता; दे० सत्त्व
ज्ञानात्मक० 12, 147, 162 (पा०टि०); मूल० 131; वस्तु० 147; व्यावहारिक० 147
सत्तास्वातन्त्र्य 26; *और भी* दे० स्वातन्त्र्य
सत्त्व 12-14, 18, 34, 36, 47-48, 60, 75, 105, 132
सामान्य० 48; विशिष्ट० 48
सत्त्वगुण 34, 105, 110
सदाशिव 109, 131, 147-48, 175, 190
सद्यःमुक्ति 215
सप्तविध प्रकाशन 147-48
अप्रकाशात्मना (प्रकाशन) 148; प्रकाशात्मना (प्रकाशन) 148; सबसे अव्यतिरिक्त रूप से (प्रकाशन) 148; सबसे व्यतिरिक्त रूप से (प्रकाशन) 148; कतिपय से अव्यतिरिक्त रूप से (प्रकाशन) 148; कतिपय से व्यतिरिक्त रूप से (प्रकाशन) 148; षड् प्रकारों से पूर्ण रूप से (प्रकाशन) 147
सबीज योग; दे० योग
समवाय 133, 136, 139 (पा०टि०)
समवायिनी शक्ति 96
समाधि 28, 188-89, 200-201, 204-7, 209-11, 214, 237
अनुपायक सततोदित० 210; अविकल्पोपायक शांभव० 210; असंप्रज्ञात० 213; ध्यानोपायक आणव० 210; नित्योदित० 215; निमीलन० 215; निमीलोन्मीलन० 215; निरोध० 213, 215; निर्बीज० 214; निर्विकल्पक० 215; निर्वितर्का० 213; निर्व्युत्थान० 215; विचारानुगत० 213; वितर्कानुगत० 213; व्युत्थान० 215; शुद्ध-विकल्पोपायक शाक्त० 210; सबीज० 214-15; सविकल्पक० 215; सवितर्का० 213; संप्रज्ञात 213; संस्कारशेषरूप० 213
समाधि चतुष्टय 209
समावेश 4, 9, 120-21, 176, 186-193, 225-27, 229, 239
आणव० 202, 229, 234, 239; शाक्त० 202, 230, 239; शांभव० 202, 227, 229-31, 239
सम्बन्ध 130-37, 138-39 (पा०टि०), 149, 170-72; अध्यास० 77; अनिवार्य० 137 (पा०टि०); अभाव० 135; अवयव-अवयवी० 135; आगन्तुक० 137 (पा०टि०); आन्तरिक० 131; आश्रयत्व० 138 (पा०टि०); आस्वाद्य-आस्वादक भाव० 136; इतरेतर० 135; कर्तृकर्मभाव० 16, 132, 136-37; कारणता० 132, 137; क्रियाकारक० 135; जन्यजनक० 135; ज्ञापकता० 132; ज्ञाप्यज्ञापकभाव० 136-37; बाह्य० 131; भेद० 135; भेदाभेद० 131, 133, 135-36, 140 (पा०टि०); महा० 171; रसना० 137; वाचक-वाच्य० 77; विषमपरिमाणी० 131; विषममितीय० 135; विशेषण/विशेष्यभाव० 134; समपरिमाणी० 131; सममितीय० 135; समवाय० 133, 136, 139 (पा०टि०); सुदृढ़ आश्रयत्व० 138 (पा०टि०); संख्या० 136; स्वस्वामी० 135
सविकल्प, ज्ञान 18, 169, 231; प्रत्यक्ष 168-69
सविकल्प योग; दे० योग
सर्जन 69, 74, 96, 102, 106
सर्वशिवता 103
सर्वसर्वगततावाद 2, 17, 25
सर्वानुभवान्तर्मुखैकस्वतन्त्रसंविद्दर्शन 23
सर्वावभासन-सामर्थ्य 51
सहृदय 173

संकोच 11, 24, 60, 71, 73, 95, 102, 150, 154
संघट्ट 7, 9–10, 74, 93, 107, 121, 192
संप्रज्ञात समाधि; दे० समाधि
संयोजन 13–14, 37, 48–49, 90–91, 94–95, 111, 135–36
संवर्तिता शब्दभावना/शाब्दी भावना 18, 79
संवित्/संवित्ति 16, 29, 50–51, 70, 77, 120–21, 142, 144, 152, 170, 173, 201, 209, 222, 225–27, 229, 231, 235–38
संविद्ब्रह्मवाद 2, 14, 23, 25–26
संवेदन 50, 57 (पा०टि०), 69
संसारी/सांसारिकप्रमाता; दे० प्रमाता
संस्कार 19, 22, 104, 107, 168, 230
संस्कार भूमि 36
संहार 6, 24, 73, 96, 102–103, 143
संहारचक्र; दे० चक्र
संहार शक्ति 105
सापेक्षकारणतावाद 139 (पा०टि०)
सामरस्य 79, 92, 103, 108, 118–19, 121, 123, 126, 142, 154, 159 (पा०टि०), 173, 193, 200
सामर्थ्य 61, 79, 91, 102, 106–7, 109–10, 118–20
आभासन० 15, 25; अवभासन० 92; कवित्व० 110; क्रमनिर्भासन० 111; क्रियात्मक० 96; क्रिया० 48–49, 69, 105, 107; गति० 61, 92, 103, 106; ज्ञानक्रिया० 48–49, 111, 215, 226; ज्ञानात्मक० 96; प्रकाश०/प्रकाशन० 16, 91; प्रतिबिम्बन० 13, 40 (पा०टि०) 92; सर्जन० 101, 106; सर्वकर्तृत्व० 91, 109; सर्वावभासन० 51; स्फुरण० 60
सामान्य 76, 78, 157, 172
सामान्याभास 229
सार 53, 60
सालम्बन वृत्ति 213
सांख्य 13, 15, 18, 21–22, 27, 34, 46, 94, 107, 125, 131, 139 (पा०टि०), 146, 167, 214
सांख्य/सांख्यीय योग 131, 201
सांसिद्धिक 215, 232–33
सिद्धि 18
सुदृढ आश्रयत्व संबंध 139 (पा०टि०)
सुप्रशान्त प्राणायाम; दे० प्राणायाम
सुषुप्ति 11, 62
सुषुम्णा/-मार्ग 202, 208, 238
सूक्ष्म प्रत्यवमर्श; दे० प्रत्यवमर्श
सूक्ष्म योग; दे० योग
सेव्य-सेवकभाव 122
सृष्टि 6, 15–16, 24, 70–71, 73, 96, 105, 143, 146, 167
सृष्टिचक्र; दे० चक्र
सृष्टि, पद 150; प्रसार 70; शक्ति 105; संकोच 70–71
सृष्टि प्रक्रिया 14; (द्विविध) 16, 73
सृष्टि बीज; दे० बीज
स्थान/०प्रकल्प 235, 237–38
स्थिति 6, 16, 96, 105
स्थूल योग; दे० योग
स्थूलोपाय 208
स्पन्द 2–3, 10–11, 25, 45, 53, 58–63 (पा०टि०) यत्र-तत्र
स्पन्द सम्प्रदाय/सिद्धान्त 3, 10–11, 53, 58–61, 96, 106
स्फुरण 69
स्फोट 75
स्मरण 78, 167, 179 (पा०टि०)
स्मृति 18–19, 22–23, 104, 157, 166, 169–70, 172–74
स्वच्छन्द/०त्व 13, 46, 54, 92
स्वच्छन्द वृत्ति; दे० स्वच्छन्द
स्वप्न 8, 11, 35, 62, 190, 233
स्वप्नावस्था 213
स्वप्रकाश/क/ता/न; दे० प्रकाश
स्वरूपगोपन 105, 151
स्वरूप भेद 164 (पा०टि०)
स्वरूप-व्यवस्था; दे० व्यवस्था
स्वलक्षण 14, 18, 20, 26, 76, 171
स्वतन्त्र 16, 24, 90, 93, 118–20, 123
स्वतन्त्रता 123; *और भी* दे० स्वातन्त्र्य
स्वसंवित्तिदेवियाँ 232
स्वस्वभाव 60–61
स्वस्वामी संबंध; दे० सम्वम्ध
स्वाच्छन्द्य; दे० स्वच्छन्द
स्वातन्त्र्य 2, 9, 11, 13, 16, 24, 27, 29, 35, 37, 45–49, 51, 54, 61 यत्र-तत्र

स्वातन्त्र्यवाद/वादी 2, 23-24, 46, 90, 222
स्वात्मगोपनकृत्य 109
स्वात्मचमत्करण/स्वात्मचमत्कार; दे० चमत्कार
स्वात्म चेतना 123
स्वात्मदेवता विमर्शन 234
स्वात्मपरामर्शन 46, 106
स्वात्मपूजन 187, 238
स्वात्मप्रकाशन; दे० प्रकाश
स्वात्मप्रत्यभिज्ञान 136
स्वात्मप्रत्यवमर्श/प्रत्यवमर्शन 67, 106
स्वात्ममात्रपरामर्श; दे० स्वात्मपरामर्शन
स्वात्ममात्रविश्रान्ति 48, 91, 109-10, 118
स्वात्मविश्रान्ति; दे० स्वात्ममात्रविश्रान्ति
स्वात्मविभव 13
स्वात्म-विमर्श/विमर्शन 123, 125
स्वात्मसंवित् 225, 229, 233
स्वात्मोच्छलन 46, 53, 143

हठयोग 202, 210-11
हठयोगी 211
हुति 233-34
हेतुता 52
होम 208, 233-34
हृदय 53, 60, 69, 188, 211, 236-37
हृदयस्पन्दनात्मक उपाय-पद्धति 203
हृदयोच्चार 203, 236

Books of related interest

Essence of the Exact Reality or Paramārthasāra of Abhinavagupta
The Mirror of Self-Supremacy or Svātantrya Darpaṇa
Specific Principles of Kashmir Saivism
B.N. Pandit

History of Indian Erotic Literature
Narendra Nath Bhattacharyya

History of Indian Literature, 2 vols
Vol. I: Introduction, Veda, National Epics, Purāṇas and Tantras
Vol. II: Buddhist Literature and Jaina Literature
Maurice Winternitz

Tantra Yoga
Nik Douglas

Tantras: Their Philosophy and Occult Secrets
D.N. Bose

Munshiram Manoharlal Publishers Pvt. Ltd.
New Delhi
Website: www.mrmlbooks.com

ISBN 81-215-0818-5
9 788121 508186
Rs 450